और इनका स्वाद तथा सुगंध भी मनमुताबिक ही होगी। अंगूर के फल पहले से ज्यादा मीठे और गुच्छेदार तथा सेब पकने पर भी हरे या सुर्ख लाल हो सकते हैं। कृषि वैज्ञानिक चाहें तो एकवर्षीय फल-वृक्षों की छह महीने में पकने वाली अति उत्पादक किस्में भी तैयार कर लेंगे। यह सब जीन प्रौद्योगिकी की ही देन है जिसकी बदौलत खेती में 'डिजाइनर फसलों' का युग आ रहा है।

लाभकारी खेती के लिए उत्पादन और उत्पादकता की दृष्टि से बेहतर प्रजातियाँ तैयार करने का सिलसिला बहुत पहले शुरू हो चुका है। देश में हरित क्रांति भी इसी का नतीजा थी किन्तु वह तरीका पूरी तरह से जीन प्रौद्योगिकी पर आधारित नहीं था। अधिकांश या कहें कि लगभग सभी सुधरी हुई किस्में दो, तीन या अधिक अच्छे गुणों वाली किस्मों के संकरण से तैयार की गयी थीं। नब्बे के दशक में (एक दशक पहले) इस मुहिम में और भी तेजी आयी और कृषिवैज्ञानिकों ने अपनी सक्रियता बढ़ा दी। साथ ही दुनिया के कई अन्य देश भारत की हरित क्रान्ति को आदर्श मानकर शोधकार्य में जुट गए। 1991 में मैक्सिको स्थित अंतर्राष्ट्रीय गेहूँ और मक्का अनुसंधान केन्द्र के वैज्ञानिकों ने गेहूँ की उत्तम किस्म ईजाद की जो तब तक बोयी जा रही गेहूँ से ज्यादा पैदावार देने के साथ-साथ विकासशील देशों में मौजूद पर्यावरणीय दवाओं व हानिकारक रोगों के बीच बेहतर साबित हुई। फिलीपीन्स (मनीला) के अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान से संबंधित कृषिवैज्ञानिकों ने इसके कुछ समय पश्चात् एक सुपरराइस तैयार किया। वैज्ञानिकों ने दावा किया कि धान की यह प्रजाति 100 से 120 दिनों की अवधि में तैयार होगी। पता चला है कि यह किस्म हरित क्रांति के दौरान विकसित धान की बौनी प्रजातियों से 25 प्रतिशत अधिक उत्पादन क्षमता और कीटरोधी गुणों से युक्त हैं। इसके दाने अन्य धानों से वजनी हैं और कुटाई के दौरान कम टूटते हैं। बहरहाल, अभी विश्व स्तर पर कृषिवैज्ञानिकों का प्रयास जारी है और हाल ही में एक अन्य 'सुपरराइस' जारी होने की उम्मीद है।

कृषि वैज्ञानिक जितनी तीव्र गति से नए-नए अध्ययन-अनुसंधानों को अंजाम दे रहे हैं, वह एक सुखद संकेत हैं किन्तु अधिकांश स्थितियों में यह लाभकारी अनुभव आम आदमी के लिए, आम किसान के ज्ञान में शामिल नहीं हो पाते और प्रयोगशालाओं तक सीमित होकर रह जाते हैं। लगभग दो वर्ष बीतने वाले हैं, वेल्लयानी कृषि विद्यालय केरल के वैज्ञानिकों ने मूँगफली की दो प्रजातियों, आईईएस 383 व जेएल 24 के संकरण से 'स्नेहा' नामक प्रजाति विकसित करने की खबर दी। बताया गया कि यह प्रजाति अब तक बोई जा रही सभी किस्म की मूँगफली से ज्यादा उत्पादन करने वाली है तथा बहुत कम समय में तैयार होती है किन्तु इतना समय बीतने के बावजूद भी इसके बीजों और फसल का कहीं अता-पता नहीं है।

फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि खेती के दिन बहुरेंगे और खेती पुनः एक उत्तम पेशा बन जायेगी। इसका रास्ता चाहे जीन आधारित प्रौद्योगिकी से निकले या किसानों की परंपरागत शैली से। बहरहाल जानने योग्य बात यह है कि वैज्ञानिकों ने जीनियागरी के काम की शुरुआत सबसे पहले चना और सदाबहार की नई प्रजातियाँ तैयार करने के लिए की है। व्यावसायिकता की अंधी दौड़ में शामिल हो चुकी खेती के लिए यह विशेष बात है कि कृषिवैज्ञानिक पुनः पोषक फसलों की तरफ मुखातिब हो रहे हैं। चना प्रमुख दलहनी फसल है, जिसकी उत्पादकता और उत्पादन बढ़ाकर कुपोषण जैसी गंभीर समस्या को टाला जा सकता है। सदाबहार, जिसे वैज्ञानिक तौर पर कैथेरैंथस रोजियम कहते हैं, अपने कैंसररोधी गुणों के कारण वैज्ञानिकों का आकर्षण बना हुआ है। उम्मीद की जा सकती है कि इसमें भविष्य में कैंसर की अचूक औषधि मिल जाए।

कुछ भी हो, खेती का भविष्य अब जीन के जंजाल में उलझ चुका है। यह रास्ता कितना सुगम होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता है। लेकिन, कृषि वैज्ञानिकों ने जो सपना सँजोया है उसमें किसानों के परंपरागत ज्ञान को शामिल किए बगैर समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। जीन का 'जिन्न' क्या चमत्कार करने वाला है यह देखना अभी शेष है।

डी–1/7 न्यू कोंडली
दिल्ली--96

रसायन विज्ञान का भावी स्वरूप

✍ डॉ0 आशुतोष मिश्र

अगले पच्चीस वर्षों में रसायन विज्ञान का जैसा स्वरूप संभावित है, उसको लेकर रसायन विज्ञानी अभी से परस्पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। अब से पचहत्तर वर्ष पूर्व रसायन विज्ञान के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात हुआ था– ऐसे युग का जिसमें नई प्रविधियों (New technologies) तथा नवीन यंत्रीकरण (New instrumentation) का उदय हुआ था जिससे आणविक संरचना एवं क्वांटम यांत्रिकी (Quantum mechanics) ने परमाणुओं के आचरण की सही सही तस्वीर प्रस्तुत की। वस्तुतः इसी आणविक संरचना पर सारा ध्यान केन्द्रित करने से रसायन विज्ञान अन्य विज्ञानों से पृथक दिखने लगा। इस तरह रसायन विज्ञान ने अपनी अद्वितीय क्षमता का परिचय दिया है जिससे यह अति उपयोगी तथा सृजनात्मक विज्ञान सिद्ध हुआ है। इसी सफलता के कारण शंकाएँ भी उठने लगी हैं कि भविष्य में इसका स्वरूप क्या होगा?

सम्प्रति द्रव्य या सामग्री विज्ञान (materials science), पर्यावरणीय विज्ञान (Environmental Sciences), जैव रसायन (Biochemistry), तथा आणविक जीव विज्ञान (Molecular Biology), जैसे क्षेत्र हैं जिनमें रसायन विज्ञान बहुत बड़े घटक के रूप में समाविष्ट है। तो क्या रसायन विज्ञान इन सारे विज्ञान विभागों को अपने में समेट सकेगा ?

ऐसी संभावना व्यक्त की जा रही है कि भविष्य में रसायन विभागों की संख्या घटेगी किन्तु रसायनज्ञों की संख्या कम नहीं होगी। ऐसा भी हो सकता है कि संसार भर में विश्वविद्यालयों में रसायन विभाग न भी रहें किन्तु रसायनज्ञ तो रहेंगे ही, और वे होंगे जीव-प्रक्रमों से सम्बद्ध विभागों में। यदि हम रसायन विज्ञान को केन्द्रस्थ विज्ञान मानते हैं तो फिर इन विभिन्न क्षेत्रों में रसायन का ही बोलबाला होगा।

फलतः प्रश्न उठता है कि "रसायनज्ञ (Chemist) की परिभाषा कैसे की जाय ? वह कौन सा गुण है जो रसायनज्ञ को अनोखा बनाता है ? क्या ऐसा भी समय होगा जब रसायनज्ञ नहीं होंगे? रसायनज्ञ नई चीजें बनाते हैं और अभिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह ऐसा कार्य है जो कभी समाप्त होने वाला नहीं। इसके लिए लोगों को रसायनज्ञों पर सदैव निर्भर रहना होगा। रसायनज्ञों की सबसे विचित्र बात है कि वे सब एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही मूलभूत विज्ञान में साझेदारी करते हैं। अतः वे जो करते हैं उसी के बारे में एक दूसरे से बातें करते हैं। वे इसके बारे में आश्वस्त होना चाहते हैं कि भावी पीढ़ियाँ वही करें जो वे स्वयं करते रहे थे। वे उससे विलग न हों।

भले ही विदेशों में या हमारे देश में ही कहीं कहीं भौतिकी विभागों को समाप्त क्यों न कर दिया जाय किन्तु रसायनज्ञों को जब तक कार्य मिलता रहेगा, रसायन विभाग बन्द होने वाले नहीं, न ही छात्रों की कमी होगी। अतः अगले 25 वर्षों तक सारे रसायनज्ञ रसायन विज्ञान में रत रहेंगे। वे न केवल परम्परागत रसायन विभागों में कार्यरत रहेंगे अपितु वे अन्य अनेक विभागों में कार्य करेंगे। किन्तु वहाँ वे कौन सा शोध कार्य करेंगे, और अब की अपेक्षा तब क्या सम्पन्न कर सकेंगे? ऐसा अनुमान है कि अगले 25 वर्षों में जीव विज्ञान के आसपास तथा द्रव्य सामग्री विज्ञान के इर्द-गिर्द कार्य होगा। जीव विज्ञान के क्षेत्र में रसायन विज्ञान का सम्प्रयोग भावी शोध का नवीन क्षेत्र होगा। रसायनज्ञों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती होगी "जीवन का निर्माण"। ऐसे तन्त्र का निर्माण जो स्वतः पुनरावृत्तिशील (Self replicating) तथा स्वतः

संगठनशील (Self organising) हो– जो अन्य वस्तुओं में जीवन विकसित कर सके। जीवन का सृजन शायद रसायन विज्ञान की चरम अभिव्यक्ति हो जिससे वह जीव विज्ञान की दिशा में मुड़ जाय। हम जैवनिक मानव (Bionic man) की दिशा में बढ़ रहे हैं जिससे मनुष्य तथा मशीन एक स्तर पर आ सकेंगे, विशेषतया चिकित्सा के क्षेत्र में, जब हम यह बता सकेंगे कि मोटरकार की तरह शरीर की कब चिकित्सा शुरू कर दें।

यह स्वतःसिद्ध है कि रसायनज्ञ जीवन को सुधारने में अग्रसर हैं, भले ही वे जीवन उत्पन्न न कर सकें। वे वैकल्पिक औषधि की तैयारी में हैं। प्रकृति में प्राप्य ओषधीय पौधों के विविध यौगिकों को सुधरे निदानसूचक उपकरणों (Diagnostic Tool) से पहचान सकते हैं। यही नहीं, अब तो "जीन चिकित्सा" (Gene Therapy) या प्रोटीन थेरैपी की चर्चा की जाने लगी है। इसका अर्थ यही हुआ कि रसायनज्ञ लघु अणुओं की खोज में हैं जिन्हें नियामकों (Regulators) के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।

अन्य क्षेत्र जिनमें अगले 25 वर्षों में रसायन विज्ञान महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाने जा रहा है वह है तन्त्रिका विज्ञान (Neuroscience)। तन्त्रिका रसायन तब तक मस्तिष्क के कार्य एवं स्मृति की प्रकृति के विषय में काफी कुछ बताने में समर्थ हो सकेगा। इसके फलस्वरूप वह नशीली दवाओं की लत, भूख, क्रोध तनाव, मानव बुद्धि, विद्या आदि के विषय में ढंग से दखल दे सकेगा। इस तरह रसायन विज्ञान तथा मस्तिष्क (मन) के संबंध के बारे में बहुत कुछ सीखा जा सकेगा। अभी हम "नींद" को ठीक से नहीं समझ सके हैं। लोग अभी जितने समय तक सोते हैं, उतने की आवश्यकता नहीं होती। यदि सही रसायनों के मिश्रण का प्रयोग किया जाय तो सम्भव है कि रात में केवल एक घंटा सोने की आवश्यकता पड़े। इन सबका एकमात्र हल रासायनिक होगा।

अगले 25 वर्षों में संश्लेषण कार्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की सम्भावना है। उदाहरणार्थ जटिल कार्बोहाइड्रेटों का संश्लेषण आवश्यक है। सारे ऐंटीजेन (Antigens) जटिल कार्बोहाइड्रेट हैं। इस तरह इनका ओषधीय प्रयोग हो सकेगा। यही नहीं, जैविक प्रणालियों का उपयोग उन यौगिकों को उत्पन्न करने के लिए किया जावेगा जिनकी माँग है। हम आनुवंशिक अभियांत्रिकी (Genetic engineering) के तट पर खड़े हैं।

अगले 25 वर्षों में रासायनिक सक्रियता (Chemical activity) की जानकारी के फलस्वरूप महत्वपूर्ण प्रगति की संभावना है। कम्प्यूटरों की सहायता से शीघ्र ही सम्पूर्ण अभिक्रिया का अध्ययन सम्भव हो सकेगा। इस तरह से किसी अभिक्रिया को चालू करने के लिए किस तरह के उत्प्रेरक की आवश्यकता होगी, इसका भी पूर्ण ज्ञान हो सकेगा। यह बताया जा सकेगा कि दो पदार्थों के बीच कौन सी अभिक्रिया होगी, जिसका अभी तक हमें ज्ञान नहीं है। तब नये उत्प्रेरकों का अभिकल्पन होने लगेगा। भविष्य में नूतन वैश्लेषिक प्रविधियों (Synthetic techniques) पर ध्यान दिया जा सकेगा। लघु से लघुतर मात्राओं को– एक अणु जितने परिमाण को मापा जा सकेगा। यहाँ तक कि एक एक अणु की स्पेक्ट्रोस्कोपी की जा सकेगी। भविष्य में द्रव्य/सामग्री विज्ञान (Materials Science) के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रगति की संभावना व्यक्त की जा रही है। उदाहरणार्थ, पुल बनाने के लिए ऐसी सामग्री तैयार की जा सकेगी जो इच्छित अवधि तक टिकाऊ रह सके।

1996 में फुल्लरीनों (Fullerenes) की खोज से आणविक इलेक्ट्रानिकी (Molecular electronics) की शुरुआत हो चुकी हे। इससे नैनोट्यूब बनाये जा सकेंगे।

और तो और, भोजन तथा ऊर्जा जो मनुष्य जाति के अस्तित्व के लिए मूलभूत कारक हैं, उनका समाधान रसायन विज्ञान ही कर सकेगा। यदि हमें तेल जलाना बन्द करना है तो अन्य प्रकार का तरल ईंधन तैयार करना होगा। हाइड्रोजन इसका विकल्प है किन्तु हाइड्रोजन को संचित करना नितान्त असुरक्षित है। हाइड्रोजन के बाद भी प्रचुर तरल ईंधन की आवश्यकता पड़ेगी। वैसे तो ऊर्जा का सर्वोत्तम साधन

(शेष पृष्ठ 27 पर)

नयी सहस्राब्दि में गणित के आयाम

✍ डॉ0 संतशरण मिश्र

गणित विज्ञान प्राचीन काल से समस्त विद्याओं में मोर के सिर पर कलंगी के समान समझी जाती रही है। समय बीतने के साथ गणित के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुप्रयोग की स्थिति निरन्तर परिवर्तनशील बनी रही। बीच के काल में तो ऐसा लगा कि गणित की स्थिति वैसी होती जा रही है जैसी भाषाओं में संस्कृत की। पाश्चात्य विकसित देशों द्वारा कम्प्यूटर प्रोग्राम संस्कृत भाषा में प्रारम्भ कर देने से इसके भी दिन बदलने लगे हैं।

व्यवहार (Real-life), अनुप्रयोग (Application) एवं रोजगार (Employment) ये तीन कारक किसी भी विषय अथवा भाषा के अध्ययन के महत्व का निर्धारण करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। इन तीनों अथवा कुछ से नजदीकी सम्बन्ध रखने वाले क्षेत्रों का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है जबकि शेष विषयों के अध्ययन-अध्यापन में शिक्षकों तथा विद्यार्थियों की रुचि क्षीण होती जा रही है। इन तीन कारकों के अतिरिक्त एक कारक और है जिसको "परम्परागत अध्ययन" की संज्ञा दी जा सकती है जो अध्ययनकर्ता को ज्ञान की धारा को एक काल अवधि से दूसरी काल अवधि तक ले जाते रहने (अपने अध्ययन के मुख्य उद्देश्य) हेतु प्रेरित करता है। इस कारक के अन्तर्गत भी अनेक विषयों का अध्ययन "ज्ञान न मरने पाये" की कोटि में जारी है।

तमाम विषयों के अध्ययन क्षेत्र में आधुनिकतम परिवर्तन एवं विकास सम्भव हुए हैं। उदाहरणस्वरूप– रसायन शास्त्र का जीव रसायन में, जीव विज्ञान का सूक्ष्म जीव विज्ञान में, भौतिकी का इलेक्ट्रानिकी एवं जीव भौतिकी में, जेनेटिक विज्ञान का जेनेटिक टेक्नोलॉजी में। इसी तरह जीव के साथ जीव गणित, मेडिकल के साथ मेडिकल गणित, मैनेजमेंट के साथ मैनेजमेंट गणित, कम्प्यूटर विज्ञान के साथ कम्प्यूटेशनल गणित, उद्योगों के विकास के साथ औद्योगिक गणित का विकास निरन्तर होता रहा। इस परिवर्तन एवं विकास का मुख्य उद्देश्य अन्य विज्ञानों एवं विषयों का पोषण करना ही था।

भारत ने तमाम क्रान्तियों जैसे हरी, सफेद, काली, नीली एवं गुलाबी इत्यादि को देखा है तथा इनके प्रभावों से यह लाभान्वित भी हुआ है। नयी सहस्राब्दी में मुख्य रूप से दो नयी क्रान्तियों ने हमारे समाज को प्रभावित किया है। ये क्रान्तियाँ हैं– जेनेटिक इंजीनियरिंग एवं सूचना प्रौद्योगिकी। सूचना प्रौद्योगिकी तक अपना विचार सीमित रखना चाहूँगा जिसका प्रसंग यहाँ समीचीन है।

सूचना प्रौद्योगिकी का विकास भौतिकी, इलेक्ट्रानिकी एवं कम्प्यूटर विज्ञान पर आधारित है। कम्प्यूटर विज्ञान के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। एक हार्डवेयर, दूसरा साफ्टवेयर। साफ्टवेयर का एक मुख्य आधार गणित एवं गणित प्रक्रियायें हैं तथा हार्डवेयर का मुख्य आधार भौतिकी एवं इलेक्ट्रानिकी है। कम्प्यूटर से सम्बन्धित किसी प्रकार की भाषा का मशीन भाषा में रूपान्तरण एक गणितीय प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित होता है। साथ ही, किसी क्षेत्र की समस्या का मात्राकृत करना (Quantification) तथा संगणनात्मक विश्लेषण जो कम्प्यूटर द्वारा किया जाता है वह संगणनात्मक गणित (Computational Mathematics) के क्षेत्र में आता है। इसके अन्तर्गत एल्गारिथ्म (Algorithm) का विकास कर कम्प्यूटर प्रोग्राम बनाये जाते हैं। इस संगणनात्मक विधि से किसी भी क्षेत्र की समस्या का हल सम्भव हो जाता है। यह "विशुद्ध" (Exact) एवं "आप्टिमल"

(Optimal) दोनों प्रकार का हो सकता है। आप्टिमल हल विशुद्ध के नजदीक माना जाता है जो दी गयी परिस्थितियों में व्यावहारिक एवं श्रेष्ठ होता है। चाहे चार्ल्स बावेज का कैलकुलेटर हो या फिर आज का सुपर या क्वाण्टम कम्प्यूटर, गणित के योगदान के बिना इनकी प्रभावी कार्यक्षमता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

कृत्रिम बुद्धि (Artificial Intelligence) कम्प्यूटर में कैसे विकसित की जाय, यह प्रयास नयी सहस्राब्दि में जोरों पर है। कृत्रिम रूप से कम्प्यूटर को बुद्धिमान बनाने हेतु तीन मूलभूत सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ती है। ये सिद्धान्त हैं–

1. फजी लॉजिक
2. न्यूरल नेटवर्क
3. जेनेटिक एल्गारिथ्म

फजी लॉजिक का कार्य कम्प्यूटर मशीन को सोचने एवं कारण ढूँढने, न्यूरल नेटवर्क का कार्य सीखने एवं अनुशीलन करने तथा जेनेटिक एल्गारिथ्म का मुख्य कार्य कोई चीज सोचने तथा व्यावहारिक हल खोजने का होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फजी लॉजिक गणित की आधुनिक शाखा है जिसका उपयोग निर्णय की अशुद्धता के मापन में किया जाता है। गणित के इसी गुण के कारण इसका इस्तेमाल ''वाशिंग मशीन'' में तथा फिगंर प्रिंट्स तथा हस्ताक्षर विश्लेषण में भी हो रहा है।

आज का जीवन अनिश्चितता के घेरे में है। जीवन की कोई घटना हो, रोग का कम होना तथा इसका फैलाव या कोई शोध की घटना हो प्रत्येक क्षेत्र में अनिश्चित तत्व इस हद तक घुलमिल गये हैं कि इनका अध्ययन उतना आसान नहीं रहा जितना साधारण एवं सरल समाज में था। आज के जटिल समाज में आवश्यक जीवन सामग्री का वितरण हो या फिर डॉक्टर की क्लीनिक पर भविष्य में रोगियों की आने वाली संख्या हो, या फिर हेपाटाइटिस-बी का, एड्स का फैलाव हो, सर्वत्र अनिश्चित सा वातावरण बना हुआ है। परन्तु इन समस्याओं के समुचित एवं प्रभावी अध्ययन की पूर्ण सुविधा नयी सहस्राब्दी के गणित में पायी गयी है। गणित के ये सिद्धान्त हैं प्रायिकता बंटन, एनट्रापी एवं फजी इत्यादि जिनके आधार पर ऐसी समस्याओं का प्रभावी अध्ययन किया जा रहा है।

आज व्यापार, उद्योग एवं प्रबन्धन की समस्यायें सरल नही हैं फलतः इनका हल खोज पाना भी उतना आसान नहीं जितना पूर्व में था। आने वाले समय में तो ये समस्यायें अत्यन्त जटिल होकर हमारे गणितज्ञों, प्रबन्धकों एवं वैज्ञानिकों के समक्ष चुनौती के रूप में होंगी। ऐसी स्थिति में हमारी गणित ने " पूर्ण शुद्ध हल" के स्थान पर "व्यावहारिक हल" जैसे सबसे खराब में "खराब", सबसे अच्छा के स्थान पर " उससे अच्छा" या "सबसे अच्छा" के समीप इत्यादि प्रकार के हलों का प्रतिपादन कर समस्याओं की जटिलता का द्रवीकरण कर उनके हल को सम्भव बनाया है। इस गणित की शाखा को " सक्रिय विज्ञान" के रूप में जाना जाता है। इस गणित का उपयोग प्रबन्धन, नियोजन, यहाँ तक कि पंचवर्षीय योजनाओं के सूत्रीकरण में प्रभावी ढंग से किया जा रहा है।

उपर्युक्त विभिन्न क्षेत्रों में गणित के सामर्थ्य एवं योगदान से यह बात समझी जा सकती है कि भले ही आज गणित की स्थिति सर्वोपरि नहीं देखी जा सकती परन्तु कहीं उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह प्रत्येक अध्ययन क्षेत्र में "नींव का पत्थर" जैसी बन चुकी है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि "लैब कल्चर" से सीधे बने शोध निष्कर्ष के अतिरिक्त अन्य शोध क्षेत्रों में गणित के योगदान के बिना सार्थक, निर्णयात्मक शोध एवं व्यावहारिक अध्ययन सम्भव नहीं। कम्प्यूटर में गणित योगदान के कारण कम्प्यूटर की क्षमता में व्यक्ति की मौलिक क्षमता से कई गुना वृद्धि हो जाती है न कि मौलिक क्षमता का हनन होता है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रख्यात गणितवेत्ता रोजर पेनरोज ने अपनी कृति "द अंपायर ऑफ न्यू माइण्ड" में साफ तौर पर बताया है कि मानवीय मस्तिष्क विश्व चेतना से सम्बन्धित है और गणित इसका एक मौलिक तत्व

(शेष पृष्ठ 25 पर)

क्या है मानव का अन्तिम अभीष्ट

✍ डॉ0 अरविन्द मिश्र

महान चिन्तक, दार्शनिक अरस्तू का मानना था कि मानव मात्र का अन्तिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। आखिर कौन नहीं चाहता सुख ! पशु-पक्षी, नर-वानर, ऋषि-मुनि, सभी तो सुख चाहते हैं। हाँ, यह बात दीगर है कि पशु पक्षियों में सुख की वह अनुभूति नहीं होती जैसी कि प्रकृति की श्रेष्ठतम कृति मानव में होती है। किन्तु पशुओं में सुखानुभूति महज एक जैवीय "उद्दीपन प्रतिक्रिया" के ही दायरे में सीमित होती है। मानव ने अपनी अद्वितीय और अद्भुत सांस्कृतिक विकास की यात्रा में कई तरह के "सुखों" के अन्वेषण-अनुभूति के पड़ाव तय किये हैं– सांसारिक (भौतिक सुख), आध्यात्मिक (मानसिक सुख), और यहाँ तक कि "परमानन्द (सच्चिदानन्द) की प्राप्ति का सुख जिसके पश्चात् फिर किसी और सुख की चाह ही नहीं रह जाती। यही मोक्ष (निर्वाण) है। मोक्ष यानी एक उस "परम सत्ता" में स्व-अस्तित्व का समाहित हो जाना जो शाश्वत है, नित्य है, अजर है, जिसके बखान में उपनिषदों की अकथ (फिर भी अधूरी) व्याख्यायें हैं और जिसके स्वरूप के निर्धारण का विचार-मन्थन आज चल भी रहा है– चरैवेति, चरैवेति....। मान्यता है कि परमसत्ता ही परम सर्जक है, ब्रह्माण्ड-रचयिता है। उसी के अंश मात्र में स्थित मानव को पुनः उसी में लीन हो जाना है।... तो फिर मानव अस्तित्व, उसके जीवन काल, धरती पर उसके प्रादुर्भाव-अवसान की आवश्यकता ही क्या ? जब मोक्ष ही परम अभीष्ट है, तो मानव जन्मता ही क्यों है? विश्व भर के दार्शनिकों-अध्यात्मविदों ने इन प्रश्नों का समय समय पर अपने अपने ढंग से जवाब दिया है, जिसके फलस्वरूप, पुनर्जन्म, भूत-प्रेत, लोक-परलोक, मृत्यूपरान्त जीवन जैसी अनेक रोचक अवधारणाओं का जन्म और विकास हुआ है।

पर इस विषय में विज्ञान का नजरिया क्या है?

सबसे पहले यह बात स्पष्ट कर देनी होगी कि विज्ञान के पास हर प्रश्न का जवाब नहीं है– उसकी अपनी एक विशिष्ट कार्यपद्धति है– विज्ञान की पद्धति यानी, जिज्ञासा, प्रश्न, प्रेक्षण, संकल्पना, जाँच-परख, सत्यापन और निष्कर्ष के सोपानों को पार कर जो उत्तर मिलता है वही विज्ञान का उत्तर है– विज्ञानसम्मत उत्तर है। इसीलिए "ईश्वर" का प्रश्न विज्ञान के समक्ष अनुत्तरित है– ईश्वर को विज्ञान की कसौटी पर नहीं उतारा जा सकता। ऐसा कोई प्रयोग या परीक्षण आज तक अवधारित नहीं हो सका जो 'ईश्वर' की जाँच विज्ञान की पद्धति पर करे। अतः विज्ञान इस सम्बन्ध में मौन है– वह न तो यह कहता है कि ईश्वर है, और न ही यह कहता है कि ईश्वर नहीं है। इन दोनों पक्षों की पुष्टि में प्रायोगिक प्रमाण नहीं हैं। यहाँ लाचार है बिचारा विज्ञान। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जाता है कि जो कुछ प्रमाणपूर्वक झुठलाया न जा सकता हो, उसे सप्रमाण साबित भी नहीं किया जा सकता। विज्ञान की पद्धति से "ईश्वर" को न तो झुठलाया जा सकता है और न ही प्रमाणित किया जा सकता है क्योंकि इसके लिए चाहिये प्रमाण जो अभी तक उपलब्ध नहीं है।

चार्ल्स डार्विन ने बहुत ही प्रभावपूर्ण तरीके से स्पष्ट कर दिया था कि मानव किसी सृजन का परिणाम नहीं बल्कि एक लम्बी सतत विकास प्रक्रिया का उच्चतम उत्पाद है। यह विकास प्रक्रिया एककोशीय जीव से शुरू होकर अपने में पूरी पृथ्वी के जीव-जन्तुओं को समेटे हुए है। जीवनोद्भव और विकास का यह सिलसिला धरती पर स्पष्ट रूप से लगभग एक अरब

वर्ष पहले शुरू हुआ लगता है। करीब साठ करोड़ वर्ष पुराने सूक्ष्मजीव समूहों के जीवाश्म वैज्ञानिकों ने ढूँढ निकाले हैं। विकास की प्रक्रिया एक बार जो शुरू हुई तो फिर थमी नहीं। विविध जीवों के अवतरण के पश्चात् भी विकास की क्रियाविधि अभी भी चल रही है– आज के आदमी, जानवर सभी विकास पथ पर ही अग्रसर हैं किन्तु बहुत धीमी गति से शनैः शनैः । पर प्राणियों के इस "जैवीय" विकास में बड़ी अनहोनी (!) मानव के साथ घटी है। उसका एक और विकास अचानक ही शुरू हो गया–सांस्कृतिक विकास, जिसने कालान्तर में मानव की कई संस्कृतियों को जन्म दे डाला। शायद यह मानव की जैवीय सत्ता से पृथक उसकी विशिष्ट बुद्धि से सृजित एक नये ढंग के विकास की प्रक्रिया है। आज मानव के इस वैविध्यपूर्ण अनूठे विकास की झलकियाँ, धरती के विभिन्न द्वीपों-महाद्वीपों में दृष्टव्य हैं – मानव का यही सांस्कृतिक विकास उसे अपने अन्य जैवीय सहचरों से एक पृथक विशिष्ट पहचान देता है। निश्चय ही, मनुष्य उस परम सत्ता (मैं उसे प्रकृति कहूँगा) की एक विशिष्टतम् कृति है.. शायद इस कृति के अवतरण में प्रकृति का कोई हेतु छिपा है.. कोई खास मकसद।

अब यदि मानव अस्तित्व के इस विशेष हेतु/प्रयोजन का पता लग जाय तो उसके अन्तिम अभीष्ट का भी कुछ आकलन संभव हो सकता है। प्रख्यात विज्ञान कथाकार आइजक आसिमोव ने अपनी एक चर्चित कहानी "द लास्ट ऐन्सर" में बड़े ही मनोहारी तरीके से मानव अस्तित्व से जुड़े इन कई शाश्वत प्रश्नों के उत्तर पाने की कोशिश की है। कहानी का भौतिकीविद नायक मृत्यूपरान्त ब्रह्माण्ड नियामक (परम सत्ता) से यह जानना चाहता है कि उसकी उत्पत्ति का हेतु क्या था? जवाब मिलता है– "महज मेरी इच्छा, केलि, क्रीड़ा, कौतुक और कुछ नहीं।" इस बेतुके जवाब पर यह नायक क्रोधित हो उठता है और कहता है-

"मात्र मनोरंजन के लिए मेरी उत्पत्ति की आपने, यानी मैं आजीवन केवल क्रीड़ा का पात्र बना रहा आपका". फिर एक उत्तर, उस असीम सत्ता की ओर से "वह तो तुम अभी भी हो,.. पहले साकार, अब निराकार रूप में।"

"यानी मैं आपका बन्धक हूँ, बधुँआ प्राणी मात्र.. मैं इस बन्धन से मुक्ति चाहता हूँ" झुँझलाये नायक का प्रतिवाद था।

"हूँ, खूब!बहुत खूब! सस्ते में ही निर्वाण चाहते हो –पड़े रहो इसी तरह.."

संवाद अनवरत चलता है.. यहाँ मृत्यु के उपरान्त भी नायक को छुटकारा नहीं है। यहाँ वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह उस असीम सत्ता का ही प्रतिकार करता है, विद्रोह कर देता है.. उससे प्रतिवाद करता है। ठीक आधुनिक मानव की तरह, जिसने प्रकृति के प्रतिकार को ही अपनी जीवनचर्या/दर्शन बना लिया है।

यहीं एक यह प्रश्न भी उठता है कि क्या "प्रकृति पर विजय" का अभियान मानव का उसकी "प्राकृतिक दासता" से मुक्ति का प्रयास है? क्या वह प्रकृति के बँधे बँधाये क्रम से स्वतंत्र हो अपना अलग विकास (सांस्कृतिक विकास?) चाहता है? पर इस सूझ की प्रेरणा उसे मिली कहाँ से ? उसकी यह नयी विकास यात्रा भी प्रकृति से अनुप्राणित तो नहीं है? दूसरे शब्दों में, क्या मानव का "सांस्कृतिक विकास" प्रकृति की ही कोई गुप्तगुंफित योजना तो नहीं है? तो क्या मानव का उत्कर्ष-अवसान उसके सांस्कृतिक विकास में ही निहित है? क्या मानव महाविनाश की ओर बढ़ रहा है? प्रकृति के इस या ऐसे किसी गुप्त नियोजन (?) की भनक क्या उसे है?

किन्तु भला प्रकृति मानव का सम्पूर्ण विनाश क्यों चाहेगी? वह तो जीवन के सतत संवहन की पक्षधर रही है। संतत प्रवाह ही उसका एक प्रमुख ध्येय है।

प्रथम दृष्टि में तो यह सच सा लगता है कि सुख शान्ति की खोज में बेचैन मानव की सुख शान्ति ही उससे दिन ब दिन छिनती जा रही है - उसके सांस्कृतिक विकास ने उसे कई महारोगों की सौगात

दे डाली है– आज वह चिन्ताग्रस्त है, तनावग्रस्त है–"सुख" उसके लिये मरीचिका है। अर्थात् प्रकृति से अलग हटना, स्वयं मानव के लिए आत्मघाती हो सकता है। शायद इसीलिए दार्शनिक रूसो ने "प्रकृति की ओर लौटो" का नारा बुलन्द किया था। गोस्वामी जी की यह बहु उद्धृत उक्ति कि "सबसे भले वें मूढ़ जिन्हें न व्यापहि जगत गति..." भी शायद मानव की जैवीय, प्रकृतिसम्मत तरीके से ही जीवनयापन की व्यंजनात्मक सीख देती है।

आज का मानव सांस्कृतिक विकास के बावजूद भी अपने पाशविक अतीत से मुक्त नहीं है– उसकी पशु-विरासत उसके आचार-व्यवहार में क्षण-क्षण दर्शित होती रहती है। उसकी अति आक्रामकता, कामुकता उसकी पाशविक पृष्ठभूमि का चीख चीख कर ऐलान करती है। विश्व भर में बढ़ती हिंसा और अपराधों पर एक दृष्टिपात तो कीजिए। गुफा मानव तो गुस्से में महज पत्थर के आयुधों का ही संधान करता था.. पर आज का "संस्कृत मानव" तो परमाणु बम तक चला देता है। गुफा मानव अपने शिकारी दल के साथ पकड़े शिकार को साम्यवादी तरीके से मिल बाँटकर खाता था... पर आज के "धन कुबेर" सारी सम्पदा हड़पने को आमादा हैं... क्या मानव का यही अभीष्ट है? तो फिर सांस्कृतिक विकास का क्या अर्थ रह जाता है ?

मानव के सांस्कृतिक विकास के साथ हमारे आदि चिन्तकों, ऋषि-मुनियों ने अनेक "सुनहले नियम" बनाये थे... "समस्त प्राणियों के साथ समान व्यवहार करो" (आत्मवत् सर्वभूतेषु समाचरेत) "धन/सम्पदा संग्रह कदापि न करो" (मा गृधः कस्य स्विद् धनम्) किन्तु आदमी ने उन सभी सीखों को आज ताक पर रख दिया है। वह निरन्तर आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी बनता जा रहा है। वह तेजी से भाव प्रवणता, चेतना, और संवेदना को तिलांजलि दे रहा है। वह फिर से अपनी उसी "जैवीय" अस्मिता के वशीभूत होता रहा है। या फिर "बुद्धिजीविता" का ही यह प्रतिउत्पाद है कि उसका संवेदना स्रोत सूख रहा है। किन्तु पशु पक्षियों में बुद्धिरहित नैसर्गिक संवेदन के उदाहरण आज भी हैं। पशु-पक्षी आज भी अपने कई व्यवहार प्रतिरूपों में स्वजाति रक्षा या "वात्सल्य देखभाल" का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस तरह क्या "बुद्धि" और "संवेदना" परस्पर विरोधी भाव तो नहीं हैं ? आज का बुद्धिमान मानव कितना संवेदनाहीन हो गया है!

आज की यह आम (समूह) अनुभूति है कि मानव का सुख-चैन उससे छिन गया है। उसे शान्ति नहीं है। जापान में "हाराकिरी" (आत्मघात) की घटनायें विश्व में सबसे ऊपर हैं। पश्चिम के सांस्कृतिक रंग ढंग में डूबे अनेक जन "शान्ति" की तलाश में भारत की कितनी गह्वर कन्दराओं, प्राचीन शहरों (जैसे बनारस) की धूल फाँकते नजर आते हैं। बुद्धिमानव की यह दशा क्यों है? अन्य सहचरों से अलग-थलग होने पर अब उसे क्या चाहिये - कैसी मरीचिका में भटक रहा है वह? कभी तो लगता है, प्रकृति उसे सजा दे रही है, प्रकृति देवी का बदला (नेमेसिस) है यह सब। मानव द्वारा प्रकृति के निरन्तर प्रतिरोध/प्रतिकार का प्रकृतिजनित प्रतिशोध ही है यह। प्रकृति के आगे आज भी बौना है मानव और उसकी तथाकथित संस्कृति या सभ्यता। एक प्रतिप्रश्न यहाँ फिर उभरता है कि अगर मानव का सांस्कृतिक विकास प्रकृति की ही कोई गुप्त योजना है तो फिर वह आज बदले पर क्यों उतर आयी है?

आज यह स्पष्ट हो चला है कि मानव मात्र के लिये स्वयं मानव के सांस्कृतिक विकास ने कई नये संकटों का जन्म दे दिया है। पशुओं की दुनिया में "जनसंख्या विस्फोट" का महा संकट नहीं है क्योंकि उनकी संख्या कुदरती तौर पर नियंत्रित-नियमित होती है- वहाँ कमजोर का गुजारा नहीं है। सन्तति प्रवाह के लिए वहाँ पौरुष-स्फूर्ति चाहिये। पर हमारी सांस्कृतिक दुनिया में कमजोर भी बादशाह बने बैठे हैं - कमजोरों की संख्या बढ़ाते जा रहे है - यहाँ सब का गुजर-बसर है- जीवनदायिनी औषधियों ने उन शिशुओं को भी जीवनदान दे दिया है जो अन्यथा कालकवलित होते। किन्तु क्या अकेले मानव के मामले में प्रकृति शारीरिक शक्तियों के बजाय केवल "बुद्धि"का वरण कर रही है कि केवल बुद्धिमान जियें शेष कालकवलित हो जायें ? केवल बुद्धिमान जीवित रहें भले ही जीवन भर दवाएँ खा कर !

(शेष पृष्ठ 23 पर)

गोबर व गोमूत्र पर आधारित सरल प्रौद्योगिकी

✍ शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

गाय को भारत में 'माता' का स्थान प्राप्त है। भारत के कई प्राचीन ग्रंथों में अनेक स्थानों पर पढ़ने को मिलता है कि 'गोबर में लक्ष्मीजी का निवास होता है'। यह कथन, मात्र 'शास्त्र वचन नहीं है', यह एक वैज्ञानिक सत्य है।

इस यथार्थता के महत्व को समझते हुए भारतीय वैज्ञानिकों ने 1953–54 में विकसित, प्रथम बायोगैस संयंत्र का नामकरण 'ग्राम लक्ष्मी' किया है। इस भारतीय माडल को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है।

भारत में आज भी, गोबर को शुद्ध मानते हुए धार्मिक अनुष्ठानों व पूजा अर्चना के समय उपयोग किया जाता है– पूजा स्थल लीपने, दीप स्थापन, पंचामृत बनाने आदि के लिए। इसके अलावा सभी भारतीय ग्रामीण घरों को नियमित रूप में गोबर से लीपने की प्रथा आज भी सर्वत्र विद्यमान है।

कुछ दशक पूर्व तक, प्रायः सभी भारतीय घरों में 'गो मूत्र' सँभाल कर रखने की परंपरा थी, जिसका उपयोग औषधीय गुणों से युक्त होने के कारण शुद्धिकरण (अर्थात् रोगाणुनाशी क्षमता) के लिए किया जाता था– रजस्वला स्त्री की छूत से बचने के लिए, जो निरोधा (क्वारनटीन) नियम पालन करते हुए घर के एक विशिष्ट भाग में उस दौरान अलग रहती थी; नवजात शिशु की माता को पिलाने, आदि।

लेकिन आधुनिक बनने व दिखने की दौड़ में इन परंपराओं के पीछे छिपे वैज्ञानिक पक्ष से अनभिज्ञ होने के फलस्वरूप, इन्हें अंधविश्वास की संज्ञा प्राप्त हो चुकी है, जिसे निर्मूल करना आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में गोबर व गोमूत्र सर्वत्र सहजता से मिलने वाला पदार्थ है। फिर इन दोनों को समुचित व्यावहारिक उपयोग में लाने के लिए कई सरल व प्राचीन ग्रामीण प्रौद्योगिकियाँ भारत में उपलब्ध हैं, जिनके माध्यम से कृषि संवर्धन व स्वास्थ्य संरक्षण क्षेत्र में भरपूर लाभ उठाने के साथ साथ गैस व बिजली जैसे अधिक ऊष्मा क्षमता युक्त आधुनिक ईंधनों का उत्पादन कर स्थानीय ऊर्जा माँग के एक बड़े भाग की पूर्ति की जा सकती है।

पिछले कुछ वर्षों से भारत में कई स्वंयसेवी संस्थाओं ने प्राचीन काल से चली आ रही गोबर व गोमूत्र पर आधारित कृषि व रोग उपचारक पद्धतियों को वास्तविक रूप में अपना कर अपने सफल प्रदर्शन द्वारा सभी का ध्यान इनके अधिक से अधिक उपयोग को अपनाने की ओर आकृष्ट किया है। इनमें से कुछ प्रमुख संस्थाओं के नाम हैं- 1. श्राफ फाउन्डेशन, कच्छ 2. अखिल भारतीय कृषि गो सेवा संघ, गोपुरी, वर्धा, 3. दीनदयाल शोध संस्थान, चित्रकूट । इसके अलावा भी कई अन्य संस्थाएँ इस क्षेत्र में गम्भीर प्रयास द्वारा भारतीय ग्रामों में वास्तविक प्रदर्शन के माध्यम से आर्थिक लाभ उठाते हुए सफलता प्राप्त कर रही हैं और इसका लाभ आसपास के गाँव उठाने लगे हैं। इसके फलस्वरूप, इन क्षेत्रों में जीवाश्म-ईंधन व रासायनिक उर्वरकों की खपत में कमी होने के साथ-साथ जैविक कृषि उत्पादन (स्वास्थ्यवर्धक एवं स्वादिष्ट) में वृद्धि होने लगी है और पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण में भी सफलता मिल रही है।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर ज्ञात होता है कि गाय के एक ग्राम गोबर में 100 करोड़ से लेकर 1000 करोड़ विविध क्षमता युक्त सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान

होते हैं। वास्तविक परीक्षणों से यह देखने में आता है कि कैसा भी गंदा/विषाक्त कचरा क्यों न हो, गोबर में समाए सूक्ष्मजीवाणु उसे ठीक कर देते हैं। एक टन कचरे में 10 किलोग्राम गोबर मिलाने पर ये सूक्ष्म जीवाणु सक्रिय हो कर, कुछ ही दिनों में कार्बनिक खेती के लिए उत्तम खाद तैयार कर देते हैं।

मुम्बई में आयोजित (1997) भारतीय जनता पार्टी के सम्मेलन स्थल पर श्राफ फाउन्डेशन ने मानव मल-मूत्र सफाई का कार्य किया था। इस कार्य को पर्यावरण समकक्ष विधि से कार्यान्वित करने के लिए, मल के साथ गोबर और राक फास्फेट (प्राकृतिक उर्वरक खनिज) मिलाया था। इस मिश्रण के फलस्वरूप 15 मिनटों में दुर्गन्ध समाप्त होने के अलावा मच्छर व मक्खी पैदा होने की समस्या से छुटकारा भी हासिल हुआ। फिर 15 दिनों के भीतर सम्पूर्ण मल-मूत्र का कायापलट एक अमूल्य खाद में हो गया, जिसे अब 'सोन खाद' के नाम से जाना जाता है। सोन खाद का उपयोग करने पर फसल वृद्धि देखने में आई है, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो इसके माध्यम से सफल बनाया जा सका है, वह है भूमि सुधार। इस महत्व को समझते हुए श्राफ फाउन्डेशन ने दुर्गन्ध-रहित पखाने व सूखे संडासों की डिजाइन विकसित की है और इसके प्रचार के लिए कच्छ के कई ग्रामों में इसका निर्माण भी किया है।

श्राफ फाउन्डेशन, अखिल भारतीय कृषि गोसेवा संघ और कई अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा किए जा रहे वास्तविक परीक्षणों से स्पष्ट हो गया है कि एक गाय अथवा बैल, 1 हेक्टेयर भूमि-सुधार के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार भारत में 14.2 करोड़ हेक्टयर कृषि भूमि के लिए 14.2 करोड़ गाय/बैल की आवश्यकता होगी। गाय/बैल गोबर-गोमूत्र आधारित कृषि प्रचार, भारत में करना बहुत लाभदायक सिद्ध होगा।

यद्यपि गोबर व गोमूत्र से खाद और कीटनाशक निर्माण के लिए स्थानीय परिवेश के अनुरूप कई प्राचीन विधियाँ उपलब्ध हैं, यहाँ पर कुछ सरल विधियों का वर्णन प्रस्तुत है–

1. एक माटी के मटके में 15 किलोग्राम गोबर, 15 लीटर गोमूत्र और 15 लीटर पानी तथा एक किलोग्राम गुड़ डाल कर उसे अच्छी तरह मिला लें, फिर उस मटके का मुख एकदम सील कर दें। 10 दिनों के पश्चात् इस खाद में 5 गुना पानी (230 लीटर) मिलाकर, इस तरल मिश्रण को खेत में नालियों के माध्यम से छोड़ दें। यह फार्मूला एक एकड़ भूमि के लिए है।

   इस खाद का उपयोग चार बार करने पर, रासायनिक खाद की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। प्रथम उपचार बुआई के 10 दिन बाद और फिर 15–20 दिनों के अंतर में दो बार करना आवश्यक है।

2. एक भारतीय गाय से औसतन 10 किलोग्राम गोबर और 17 लीटर गोमूत्र प्रतिदिन प्राप्त होता है। इन्हें शहरी कचरे व मिट्टी के साथ घोल कर एक 3x 2x 1 मीटर गड्ढे में 75 दिन दबा कर रखने पर 'नेडेप' कम्पोस्ट खाद प्राप्त होती है। इस खाद के माध्यम से कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

3. गोमूत्र में 10 गुना पानी मिलाकर उसका छिड़काव प्रति सप्ताह फसलों पर एक बार करने से सभी फसलें स्वस्थ व हानिकारक कीटाणुओं से सुरक्षित रहती हैं।

4. फसल उगने के पश्चात् जब अच्छी तरह बढ़ने लगती (पत्ते व टहनियाँ निकलने पर) हैं, उस समय एक लीटर गोमूत्र में 20 लीटर पानी मिलाकर छिड़काव करना चाहिए। फिर पौधे विकसित होने पर फूल निकलने के पूर्व एक लीटर गोमूत्र में 15 लीटर पानी मिला कर छिड़कना चाहिए।

   तीन बार किए छिड़काव से पेड़-पौधों का अच्छा विकास होता है, कई बीमारियों पर रोक लगती है और पेड़-पौधों को आवश्यकता के अनुसार पौष्टिक द्रव्य/खनिज प्राप्त होते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप फूल भी अधिक निकलते हैं व फलों का उत्पादन भी बढ़ता है। इसका प्रयोग गेहूँ, सीताफल, प्याज, बैगन,

पत्तावर्गीय साग-सब्जियों, केला, आम आदि में करने पर अच्छे परिणाम मिले हैं।

गोमूत्र के दो छिड़कावों के बीच या साथ में नीम पत्ती का अर्क, या पूरी रात भीगी नीम खली के पानी को छान कर, बीस गुना पानी के साथ मिलाकर छिड़काव से बीमारियों की रोकथाम की जा सकती है।

5. बीज बोने के पहले, उन्हें गोमूत्र से शोधन करना लाभकारी होता है।

गोमूत्र के रासायनिक गुण व उपचारिक क्षमता :

गोमूत्र औषधीय गुणों से भरपूर होता है। गाय के मूत्र में कार्बोलिक एसिड होता है, जो कीटाणुनाशक है। इस गुण की जानकारी के फलस्वरूप ही भारतीय मनीषियों ने गोमूत्र को शुद्धिकरण के लिए उपयोग करने की सामान्य प्रथा भारत में स्थापित की थी, जो आज भी भारतीय जन मानस में गहराई से पैठी हुई है और सर्वसाधारण स्तर पर गोमूत्र को पवित्र माना जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच करने पर ज्ञात होता है कि गोमूत्र में नाइट्रोजन, फास्फेट, यूरिक एसिड, सोडियम, पोटैशियम और यूरिया होता है। फिर जिन दिनों गाय दूध देती है, उसके मूत्र में लैक्टोस रहता है, जो हृदय और मस्तिष्क विकारों को दूर करने में उपयोगी होता है।

गोमूत्र सेवन के लिए जो गाय चुनी जाए, वह निरोगी व जवान होनी चाहिए। जंगली क्षेत्र व चट्टानीय इलाकों में प्राकृतिक वनस्पतियाँ चरने वाली गाय का मूत्र सेवन के लिए उत्तम होता है।

लेकिन भारत में गोमूत्र के चमत्कारिक वैज्ञानिक गुणों का ज्ञान कुछ सीमित सा रह गया है। इस क्षेत्र में कार्यरत भारतीय विशेषज्ञों का मानना है कि पेट के रोगों के लिए गोमूत्र रामबाण है। वर्तमान में, 30 भारतीय गोशालाओं में गोमूत्र के आधार पर 100 से अधिक रोगों (कब्ज, एसिडिटी, डायबिटीज, ल्यूकोडर्मा, गले का कैंसर, चर्म रोग, पीलिया, प्रसव पीड़ा, दाँत दर्द, आँख की कमजोरी, आदि) के इलाज के लिए दवायें बन रही हैं। इनमें से कई गोशालाएँ तो अपना पूरा खर्च केवल गोमूत्र आधारित औषधियों के निर्माण से ही निकाल रही हैं।

फिर भी सुलभ व सस्ता विकल्प होने के कारण हम गोमूत्र को दवा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस भावना को प्रचार के माध्यम से निर्मूल कर, इसके सर्वसाधरण उपयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

मुम्बई के प्रसिद्ध एक्सेल उद्योग समूह के मालिक व श्राफ फाउन्डेशन के अध्यक्ष श्री कांतिसेन श्राफ को सही मायने में एक वैज्ञानिक उद्योगपति कहा जा सकता है। उन्होंने अपने जन्म क्षेत्र 'कच्छ' को ग्राम विकास के लिए चुना है, जहाँ वे भारतीय परंपरागत ग्रामीण कृषि विकास पद्धतियों का आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों के साथ ताल-मेल बैठाते हुए व स्थानीय पारिस्थितिकीय तंत्र को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करते हुए, पिछले दो दशक से ग्रामीण विकास का सफल प्रदर्शन कर, एक उदाहरण बन चुके हैं।

लेकिन गोबर-गोमूत्र पर आधारित प्राचीन भारतीय कृषि पद्धतियों को विश्व स्तर की मान्यता दिलाने के लिए भारतीय वैज्ञानिकों को इस विषय पर वैज्ञानिक शोध द्वारा इन्हें आधुनिक वैज्ञानिक मापदंडों के अनुरूप परखी हुई विधि के रूप में प्रस्तुत करना होगा, अन्यथा नीम, हल्दी, बासमती चावल आदि के समान विदेशी कम्पनियाँ इनका भी पेटेन्ट प्राप्त कर लाभ उठाने का प्रयास कर सकती हैं।

भारतीय गोशालाओं में कार्यरत विशेषज्ञों के अनुसार स्वदेशी नस्लों (भारतीय मूल) की गाय के गोबर व मूत्र में जो औषधीय गुण होते हैं, वे विदेशी तथा संकर नस्ल की गायों के गोबर व मूत्र में नहीं होते। इसके पीछे यह तथ्य हो सकता है कि विदेशी व संकर गायें बहुत अधिक दूध देने वाली होती हैं और उन्हें दाना भी अधिक दिया जाता है। अधिक दाना खाने के कारण उनके गोबर में ऐसे औषधीय गुण नहीं होते, जैसे कि भारतीय देशी गाय के गोबर-मूत्र में होते हैं। फिर भारतीय देशी गायें मैदानों व

जंगलों में चरती हैं, जहाँ उन्हें घास के साथ कई जड़ी बूटियाँ खाने को मिलती हैं, इसलिए उनके गोबर मूत्र में अधिक औषधीय गुण समाए होते हैं। इस अंतर को शोध द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता है और यह प्रमाणित होने पर भारत एक नए क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक लाभ उठा सकता है।

पर्यावरण विशेषज्ञ, वंदना शिवा के अनुसार वेचुर गाय के इस गुण का उपयोग करने के लिए क्लोनिंग विधि द्वारा विश्व में प्रथम भेड़ 'डाली' के निर्माता, रोइलीन इन्स्टीट्यूट ने गो-प्रजाति का पेटेन्ट प्राप्त करने के प्रयास आरम्भ कर दिए हैं। यद्यपि इस गाय पर जेनेटिक शोध कार्य त्रिचुर के पास मन्नूथी स्थित केरल विद्यापीठ में किया जा रहा है, लेकिन भारतीय शोध के परिणामों की जानकारी विदेशों में चोर रास्ते पहुँच जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। वेचुर गाय के जीन का उपयोग कर विदेशी कम्पनी अंतरराष्ट्रीय बाजार में करोड़ों डालर कमाने का स्वप्न देख रही हैं, जिसमें अंतरराष्ट्रीय व्यापार नियमों के अंतर्गत भौगोलिक उपलब्धता के अनुसार भारत का एकमात्र अधिकार होना चाहिए। अब, यह अधिकार स्थापित करना भारतीय वैज्ञानिकों के हाथ में है।

अब समय आ गया है कि हम गोबर व गोमूत्र के महत्व को गंभीरता से समझने का प्रयास कर, उसको अधिक से अधिक उपयोग में लाएँ। भारतीय वैज्ञानिकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि ये प्राचीन मान्यताप्राप्त प्राकृतिक स्रोत ही भारत को एक बार फिर से सोने की चिड़िया बना सकते हैं।

🕮 छवि निकुंज, बाँस बंगलो कम्पाउन्ड
चौथी क्रासिंग, राँची रोड
पुरुलिया (प.बंगाल)–723101

(पृष्ठ 19 का शेष)

इन दृष्टान्तों से तो ऐसा ही लगता है कि मानव भले ही आज सर्वजेता होने का दम्भ पाल बैठा है, वह आज भी प्रकृति के हाथों की कठपुतली भर है। वह निमित्त मात्र ही है (निमित्त मात्रम् भव सव्यसाचिन्)। प्रकृति जो चाहेगी वही होगा (प्रकृतिस्त्वाम् नियोक्ष्यति)। शायद इन्हीं "सच्चाइयों" के आभास से हमारे ऋषिमुनियों ने मानव को कई सीखें दी थीं..। उनके अनुसार सब कुछ नियोजित है, सब कुछ वैसा ही हो रहा है जैसा कि होना नियत था/ है, अतः मानव को अपने सुख एवं शान्ति के लिए "नियतिवादी" होना होगा.. जो कुछ जैसा है, वैसा ही स्वीकारना होगा।

"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ।

हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ।।"

(सुख दुखे समेकृत्वा लाभा लाभौ जया जयौ.)

दरअसल विज्ञान हमें सत्य का दर्शन तो कराता है पर कोई "आदर्श जीवन दर्शन" प्रस्तावित नहीं करता। मानव का आध्यात्मिक विकास, विज्ञान के इस एकांगी पहलू की ही भरपाई करता है। आज का विज्ञान जितना समृद्ध है और निरन्तर समृद्ध हो रहा है, उससे अधिक ही समृद्ध हमारा आध्यात्मिक चिन्तन है। मानव के अन्तिम अभीष्ट के महाप्रश्न को तय करने में हमें विज्ञान और अध्यात्म दोनों की शरण में जाना होगा।

🕮 ए 2/21, संजय अपार्टमेंट
काटन मिल कम्पाउण्ड
चौकाघाट, वाराणसी–2

वर्ष 2000 के 'डॉ० गोरख प्रसाद विज्ञान पुरस्कार' घोषित

वर्ष 2000 के पुरस्कार विजेता इस प्रकार हैं -

1. डॉ० के.एन. उत्तम (इलाहाबाद), 2. श्री निमिष कपूर (लखनऊ), 3. सुश्री अनुराधा श्रीवास्तव (लखनऊ) 4. श्री सूर्यभान सिंह 'सूर्य' (दिल्ली), 5. श्री शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय (पुरुलिया, प. बंगाल) - सम्पादक

भाँग : औषधि भी विष भी

✍ डॉ० एन.के. बौहरा

भाँग का उपयोग राजस्थान एवं पड़ोसी राज्यों में शिवरात्रि एवं होली पर होता है। इस त्योहार पर लोग भाँग पीकर खूब नाचते गाते हैं। भाँग की कुछ मात्रा का सेवन वस्तुतः औषधि के रूप में काम करती है परन्तु इसकी अधिक मात्रा एवं इसके अन्य उत्पाद, जैसे चरस, गाँजा, हेरोईन आदि जीवन को नष्ट भी कर सकते हैं। भाँग को वानस्पतिक भाषा में "कैनाविस सैटाइवा" कहते हैं तथा यह कैनाविनेसी कुल का पादप है। इसे सामान्य भाषा में वास्तविक हैम्प या नर्म हैम्प, हिन्दी, गुजराती एवं बंगाली में भाँग, गाँजा, चरस, सिद्धि, जिया एंवम् संस्कृत में भंग या विजया कहते हैं। यह एकवर्षी बूटी है जिसकी ऊँचाई 1.2 से 4.8 मीटर तक हो सकती है। यह पश्चिमी तथा मध्यवर्ती एशिया का मूलवासी माना जाता है। इस पौधे से तीन प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते है– रेशा, तेल एवं संवेदनमंदक (नार्कोटिक), भाँग गाँजा तथा चरस। इनमें से जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है उसी के अनुसार इसकी खेती की विधियाँ अपनाई जाती हैं।

भाँग का रेशा, मजबूत, चमकीला एवं टिकाऊ होता है, व्यापारिक रेशा 1-2 मीटर तक लम्बा होता है। भाँग का उपयोग बढ़िया रस्सियाँ, सुतली, पाल, जलसह कपड़ा एवं कालीन के सूत बनाने में होता है। नावों, पंपों, इंजनों एवं अन्य मशीनों की संधि बंद करने हेतु इनका उपयोग होता है। भाँग के बीजों का तेल वार्निश उद्योग एवं अलसी के तेल के स्थान पर तथा नर्म साबुन बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। रंगों को पीसने के लिए यह अति उत्तम माध्यम है तथा यह तेल खाने एवं जलाने के भी काम आता है। बीजों की खली खिलाने के काम आती है।

भाँग की औषधियाँ

भाँग के पौधे से हशीश, गाँजा एवं चरस प्राप्त की जाती है। इन औषधियों का निर्माण विभिन्न पौधों से किया जाता है तथा इनका निर्माण भी पृथक-पृथक होता है। ये औषधियाँ वस्तुतः मादा पौधे के सूखे पुष्पों एवं फलों के ऐसे शीर्ष हैं जिनसे रेजिन अलग न किया हुआ हो। अतः नर पौधों को उखाड़ लिया जाता है।

भाँग, सिद्धि, सब्जी या पत्ती एक ही पदार्थ के अलग-अलग नाम है। यह अधिकांशतः जंगली या कृष्य भाँग के नर तथा मादा दोनों ही पौधों की सुखाई हुई पत्तियों व शाखाओं से बनता है परन्तु कभी-कभी हरी पत्तियाँ भी प्रयोग में लाई जाती है, जिसमें पौधे के सम्मिश्रित बीज भी हो सकते है। भाँग, चरस तथा गाँजा की तुलना में सबसे अधिक मंद होती है तथा इसकी खेती पर तमिलनाडु, बिहार, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब के कुछ जिलों को छोड़कर कोई रोक नहीं है। इसकी पत्तियों को इकठ्ठा करने के लिए सरकारी अनुमति आवश्यक है।

भाँग निमार्ण

भाँग बनाने के निए पौधों को काटकर उन्हें बारी-बारी से धूप एवं ओस में रहने दिया जाता है। सूख जाने पर पत्तियों को दाबकर मिट्टी के घड़ों में संग्रहीत कर लिया जाता है। मैदानों में पत्तियों को इकठ्ठा करने का सामान्य समय मई से जून माह तक एवं पर्वतों में जून से जुलाई तक होता है।

कुछ स्थानों पर पत्तियाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सावधानी से एकत्र की जाती है। कुछ

नमूनों में मात्र पत्तियाँ एवं कुछ में पत्तियों के साथ फल एवं फूलों के शीर्ष भी मिले रहते हैं। इसमें से तने के आधार पर की पत्तियाँ छोड़ दी जाती हैं क्योंकि वे निष्क्रिय होती हैं। भाँग या तो ऐसे ही खाई जाती है या द्रव काढ़े के रूप में ली जाती है। इसे खाने की सरलतम विधि मसालों के साथ पीसकर इसकी गोली बनाकर निगल जाना है। यह मिठाई के रूप में भी खाई जाती है। माजून नामक मिठाई इसकी पत्तियों को काट कर उसमें चीनी मिलाकर तथा इस मिश्रण को छोटी-छोटी चौकोर बर्फियों में काटकर बनाई जाती है।

गाँजा

भाँग के मादा पौधों के सुखाये गये ऐसे फूलों एवं फलों के शीर्ष से बनता है जिनसे रेजिन विलग न किया गया हो। गाँजा की खेती सरकारी देखरेख में सीमित क्षेत्र में ही होती है।

चरस

भाँग के पौधे की पत्तियों से जो रेजिनी स्राव निकलता है, उसे चरस कहते हैं। भारत में उगाये गये पौधों से रेजिन प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होता अतः चरस का आयात किया जाता है। उत्कृष्ट कोटि के चरस में लगभग 40 प्रतिशत रेजिन होता है।

भाँग के उपयोग

संवेदनमंदक के रूप में भाँग के रेजिन का उपयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। इसका उपयोग मुख्यतः आनन्द प्राप्ति के लिए किया जाता है। इसके उपयोग से थकावट कम होती है एवं नींद आती है। इसे अल्प मात्रा मे लेने से भूख इतनी लगती है कि कभी-कभी तो केवल खाना खा लेने से ही संतोष नहीं होता है। इससे पाचन शक्ति बढ़ती है किन्तु कब्ज भी हो सकता है। यदि इनका सेवन अधिक समय तक किया जाये तो भूख मर जाती है।

भाँग से प्राप्त औषधियाँ मुख्यतः प्रमस्तिष्क पर प्रभाव डालती है। अफीम, मारफीन, गाँजा, चरस, हेरोईन आदि की लत से मनुष्य अपना मानसिक संतुलन खो देता है तथा उससे कई हानिकारक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। भाँग से प्राप्त औषधियों के अधिक सेवन से रुधिर संचार या श्वसन में क्रियात्मक परिवर्तन आ जाते हैं तथा भाँग बनाकर पीने से अधिक मूत्रता हो जाती है।

भाँग में ओषधीय गुणों का कारण इसमें पाया जाने वाला रेजिन कैनाविनोन है। भाँग की अपरिष्कृत औषधि को वर्ष तक संचित रखने पर भी कोई परिवर्तन नहीं होता। 14 वर्ष पुराने भाँग के नमूने में 70 प्रतिशत क्रियाशीलता भी पाई गई है। घोड़ों को बहुत वर्षों से कैनाविस (भाँग) शामक अथवा निद्रापक के रूप में खिलाया जाता रहा है। इसका टिंक्चर कभी कभी शल्य चिकित्सा के निद्रावहन के लिए अंतः शिरा इंजेक्शन द्वारा भी दिया जाता है। विगत कुछ वर्षों में इसका सेवन कम हुआ है। अधिक काल तक इसकी क्रियाशीलता से बड़ी आँत की पीड़ा में लाभ मिलता है। फलतः शाकाहारी लोग इसका अधिक सेवन करते हैं। भाँग औषधि भी है तथा विष भी ।

📖 प्लाट नं. 389
गली नं., मिल्कमैन कालोनी
पाल रोड, जोधपुर

(पृष्ठ 15 का शेष)

है इसकी बराबरी की कल्पना किसी पार्थिव वस्तु से नहीं की जा सकती है।

अब समय आ गया है कि गणित के विद्वान गणित की सामर्थ्य को बौद्धिक समाज के समक्ष रखें तथा नये सामाजिक एवं वैज्ञानिक विकास की संरचना के अनुसार अपने को बदलें, नहीं तो गणितज्ञों का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। पर गणित शाश्वत है।

📖 प्राध्यापक, गणित विभाग
डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय
फैजाबाद

गायब हो रही हैं मनभावन तितलियाँ

✍ विजय चितौरी

जनसंख्या विस्फोट, जंगलों के विनाश एवं कीटनाशकों आदि के कहर के कारण आज दुनिया के अनेक जीव जन्तुओं की प्रजातियाँ लुप्त होने की स्थिति में पहुँच गयी हैं। इन लुप्त प्राणियों में मनभावन तितलियाँ भी हैं, जिनकी ओर अभी तक कम ध्यान दिया गया है। खास बात यह है कि तितलियाँ किसी भी रूप में आदमी के लिए नुकसानदायक नहीं हैं। न तो ये कोई रोग फैलाती हैं, न फसलों के लिए हानिकारक है। इसके विपरीत ये पेड़ पौधों में फूलों का परागण करके मानव जाति का महान उपकार करती हैं।

भारत में करीब 1000 तरह की तितलियाँ पाई जाती हैं। इनमें बहुत कम शहरी क्षेत्र में मिलती हैं, अधिकांश ग्रामीण एवं जंगली क्षेत्रों में पाई जाती हैं। अलग-अलग आकार और रंग-बिरंगी इन तितलियों के जन्म और विकास की कहानी लगभग एक जैसी है। तितलियाँ पत्तियों अथवा टहनियों पर अण्डे देती हैं। अलग अलग किस्मों की तितलियों के अण्डों का आकार अलग अलग हो सकता है। कुछ के अण्डे गोल, कुछ के चपटे तथा कुछ के लम्बोदरे होते हैं। रंग में भी अन्तर दिखता है। तितलियों का जीवनचक्र तीन से चार सप्ताह में पूरा होता है। अण्डा की अवस्था एक सप्ताह तक, लार्वा एक से दो सप्ताह तक तथा प्यूपा की एक सप्ताह की होती है। विपरीत परिस्थितियों में तितली किसी भी अवस्था में सुसुप्तावस्था में हफ्तों निष्क्रिय पड़ी रह सकती है। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो तितली वर्ष भर में 12 बार अण्डे दे सकती है।

अण्डे से निकलने वाला लार्वा सिगार के आकार का होता है। इसके आठ जोड़े पैर होते हैं। यह टहनियों और पत्तियों पर रेंगता हुआ मुलायम पत्तियाँ खाता है। इस अवस्था में यह स्वयं अन्य जीवों, जैसे चिड़ियों आदि का अच्छा खासा भोजन होता है। पक्षी इसे खोज खोज कर खाते हैं। इस प्रकार तितली का लार्वा भोजन श्रृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है। जो लार्वा बच जाते हैं वे अपनी पूर्णावस्था प्राप्त करने के बाद किसी टहनी से चिपके निष्क्रिय पड़े रहते हैं। इस समय यह खाना पीना छोड़ देता है। यह प्यूपा अवस्था कहलाती है। प्यूपा विकसित होकर तितली बन जाता है।

तितलियों के लुप्त होने के लगभग वही कारण हैं जो अन्य जीव-जन्तुओं के। नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्र की तितलियों पर सबसे बुरा असर कीटनाशकों का पड़ रहा है। फल आई फसल में जब कीटनाशक का छिड़काव किया जाता है तो उससे सबसे ज्यादा तितलियाँ और मधुमक्खियाँ मरती हैं जबकि दोनों परागण क्रिया में प्रकृति की महान सेवा करती हैं। "बायोसाइंस" नामक पत्रिका में प्रकाशित एक शोध निबन्ध में डेविड पाइमेंटल और क्लाइव एडवर्ड्स नामक वैज्ञानिकों ने कहा है कि जब कीटनाशक फसलों पर छिड़का जाता है तो उसका मात्र एक प्रतिशत ही असली लक्ष्य तक पहुँच पाता है, शेष प्रदूषण फैलाता रहता है। वैसे भी हमारे देश का किसान कीटनाशक के सम्बन्ध में बहुत कम जानता है। कौन कीटनाशक किस सीमा तक विषाक्त है और इनके इस्तेमाल में क्या सावधानियाँ बरती जानी चाहिए इसे किसान नहीं जानता। फलतः वह अनजाने में ही फायदे से अधिक अपना व प्रकृति का नुकसान कर बैठता है।

तितलियों और मधुमक्खियों का फूलों पर मँडराने का एक निश्चित समय है। ये अक्सर दिन निकलने के बाद ही फूलों पर पहुँचती हैं और दिन

डूबने के साथ ही फूलों से गायब हो जाती हैं। यदि फसल पर कीटनाशकों का उपयोग दिन निकलने के पहले या दिन डूबने के बाद किया जाये तो तितलियों की मौत को टाला जा सकता है। कीटनाशकों के विश्वव्यापी नुकसान को देखते हुए अब वैज्ञानिकों ने कीट-नियंत्रण हेतु जैवतकनीक का इस्तेमाल करना शुरू किया है। इस तकनीक में बिना कीटनाशकों के उपयोग के कीटों पर नियंत्रण किया जाता है। इस तकनीक में कुछ ऐसे लाभदायक कीड़ों को पाला जाता है जो हानिकारक कीड़ों का सफाया कर देते हैं। यही नहीं, नीम जैसे प्राकृतिक कीटनाशकों से भी कीट नियंत्रण की विधियाँ अपनायी जा रही हैं।

यदि प्रकृति को कीटनाशकों के कहर बचाया न गया तो दुनिया कुछ वैसी ही हो जायेगी जैसी महान लेखिका रसेल कार्सन के उपन्यास 'साइलेंट स्प्रिंग' में वर्णित है- जहाँ बसंत तो आयेगा लेकिन एकदम खामोश। न पक्षियों की चहचहाहट होगी और न मनभावन तितलियों की फूलों से अठखेलियाँ।

📖 सम्पादक
'गाँव की नई आवाज' (मासिक)
घूरपुर, इलाहाबाद

(पृष्ठ 13 का शेष)

सौर ऊर्जा है। दुर्भाग्यवश बीसवीं सदी में अच्छे ईंधन सेल (Fuel cell) उत्प्रेरक विकसित नहीं किये जा सके। रसायन विज्ञान से वैद्युत मोटरकारों की खोज सम्भव हो सकेगी।

रसायन विज्ञान ने कृत्रिम भोजन तैयार करना शुरू कर दिया है। ऐसी कृत्रिम वसाएँ तैयार की जा रहीं हैं जो वसाएँ नहीं हैं।

पर्यावरण प्रदूषण के फलस्रूप 'ग्लोबल वार्मिग' से बचने के लिए अगले 25 वर्षों में "नाभिकीय शक्ति उद्योग" पुनरुज्जीवित होगा।

रसायन विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह नई नई चीजें, नये अणु, नये उत्प्रेरक, नये यौगिक बनावे। रसायनज्ञ इन परमाणुओं को नये नये तरीकों से व्यवस्थित करके नया सृजन कर सकते हैं जो अन्य विज्ञानों में नहीं किया जा सकता। अगले 25 वर्ष निश्चय ही रसायन विज्ञान के लिए "स्वर्णिम युग" होगा।

📖 प्लैनो, टेक्सास
75243—2230 (यू.एस.ए.)

क्वांटम सिद्धान्त के 100 वर्ष

आज से एक शताब्दी पूर्व सर्वप्रथम प्रख्यात भौतिकशास्त्री मैक्स प्लांक ने आदर्श कृष्णिका से होने वाली विकिरण प्रक्रिया को समझाने के लिए क्वांटम सिद्धान्त का प्रयोग किया था। बाद के वर्षों में क्वांटम सिद्धान्त के आधार पर भौतिक विज्ञान के अनेक अनसुलझे रहस्यों की व्याख्या प्रस्तुत की गई। इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले वैज्ञानिकों की एक लम्बी सूची है जिसमें हाइजेनबर्ग, श्रोडिंगर, नील्स बोर, आइंस्टीन, डीरैक, डी ब्रोगली और क्रैमर प्रमुख हैं।

आगामी वर्षों में भी क्वांटम भौतिकी के महत्वपूर्ण उपयोग संभव हैं तथा इसके आधार पर मानव चेतना व जीवन के अनेक रहस्यों के सुलझने की आशा है। शीत संलयन, स्कैनिंग टनेलिंग अल्फा क्षय, ब्लैक होल आदि को भी क्वांटम भौतिकी के आधार पर ही समझाया जा सकता है।

— देवव्रत द्विवेदी

ये अति लघु प्राणी

✍ डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान ने सदैव छोटी छोटी वस्तुओं को बड़ा करके आँका है। ऐन्डर्सन ने अभ्रप्रकोष्ठ में पाजिट्रॉन जैसे सूक्ष्म कण का अवलोकन किया, जेम्स चैडविक ने न्यूट्रॉन तथा जे.जे टामसन ने इलेक्ट्रॉन की झलक प्राप्त की। ये निरीक्षण परमाणु भौतिकी तथा वर्तमान समय से सम्बन्धित हैं। किन्तु जब गैलीलियो ने अपनी दूरबीन से जुपिटर के चार चन्द्रमाओं को देखा था तो वे भी लघु रूप में दिखे थे । यह खगोलिकी की घटना है। इसी तरह जीव विज्ञान के क्षेत्र में निरीक्षण हुए। उदाहरणार्थ एक कपड़ा व्यापारी एन्टोनी वान ल्यूवेनहाक ने 1674 में तालाब की एक बूँद को अपने सूक्ष्मदर्शी के नीचे रखकर देखा तो उसे अनेक छोटे छोटे तैरते जीव नजर आये। इस तरह उसने 1676 में जीवाणु (Bacteria) को खोज निकाला। एक अशिक्षित व्यक्ति को उसकी इन महत्वपूर्ण खोजों के लिए 1680 में रॉयल सोसाइटी का फेलो बना दिया गया। वह न तो सिद्धान्तों का ज्ञाता था, न कोई प्रयोगकर्ता था। वह एकमात्र उत्सुक प्रेक्षक तथा भाष्यकार था– विवरण प्रस्तुत करने वाला। अपनी इसी पैनी दृष्टि के कारण वह ऐसे जगत में प्रवेश कर सका जहाँ तक उसके पूर्व कोई नहीं जा सका था। इसीलिए सदियों के बाद भी उसकी गणना कोपर्निकस की श्रेणी में की जाती है।

आज हम सभी जानते हैं कि पृथ्वी ग्रहों के केन्द्र में नहीं है। केन्द्र तो सूर्य है। किन्तु मनुष्य अपने को सबसे महत्वपूर्ण प्राणी मान रहा है। वह उन क्षुद्र या लघु प्राणियों को कोई महत्व प्रदान नहीं करना चाहता जो उसके चारो ओर विद्यमान हैं। वह बड़ी-बड़ी सभाओं में संकटग्रस्त पशुओं, पक्षियों या विलुप्त हो रही जीव प्रजातियों के लिए चिन्तालु है। किन्तु कब तक? आखिर उसे लघु प्राणियों के महत्व को समझना होगा। जो लघु है वह सुन्दर है। (Small is beautiful)। मानवीय संवेदना का तकाजा है कि इन लघु प्राणियों के बारे में सोचा-समझा जाय। अभी तक हम जिस जीव जगत से परिचित हैं वह वास्तविक जीव जगत का केवल 3 प्रतिशत ही है। ऐसा क्यों?

ज्ञात हो 1661 में मात्र 40 प्रकार के भृंग (beetles), 70 प्रकार की मक्खियाँ और 100 प्रकार की तितलियाँ ज्ञात थीं किन्तु 40 वर्ष बाद एक अंग्रेज वर्गीकरणविद् जान रे (John Ray) ने लिखा कि भृंगों तथा तितलियों की संख्या असंख्य है क्योकि अकेले इंग्लैण्ड में 150 से ज्यादा प्रकार के समुदाय प्राप्त हैं। लिनियस (Linnacus) ने अपनी पुस्तक में भृंगों की 654 प्रजातियों की चर्चा की। 1850 ई. में इनकी संख्या 77000 पहुँच गई और 1982 में स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूशन के भृंग विशेषज्ञ टेरी एल. एर्विन ने उपोष्ण जंगलों को कीड़ों-मकोड़ों में अति समृद्ध बताते हुए भृंगों की 340,000 प्रजातियों का उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध विज्ञानी जे.बी.एस. हाल्डेन ने यहाँ तक कह डाला है कि यदि ईश्वर है तो उसने सचमुच ही भृंगों के प्रति अपनी अतिशय रुचि दर्शाई है। एर्विन ने पनामा क्षेत्र के जंगलों के भृंगों का विशद अध्ययन किया है। उसने बताया है कि हर प्रकार के वृक्ष में 1000 भृंग प्रजातियाँ पाई जाती हैं। उसने विस्तृत गणना करके बताया है कि उपोष्ण जंगलों में वृक्षों की 50 हजार प्रजातियाँ हैं फलतः इन सारे जंगलों में भृंगों तथा कीड़ों-मकोड़ों, मटों, मकड़ियों तथा अन्य संधिपादों (Arthropods) की 300 लाख प्रजातियाँ होंगी। यह संख्या इसके पूर्व विज्ञापित संख्या से 290 लाख अधिक है। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्वभर में जंगली क्षेत्रों में पाये जाने वाले लघु प्राणियों के गहन अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। सचमुच ही जंगल कीड़ों मकोड़ों से पटे हुए हैं। विल्सन नामक

वैज्ञानिक ने बड़े ही भावात्मक ढंग से ठीक कहा है कि "ये नगण्य प्राणी ही संसार का संचालन करते हैं।" उसने बताया कि उनमें न केवल विविधता है अपितु उनका शरीर भार भी महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण चीटियों तथा मटों का शरीर भार समस्त जीव भार का एक तिहाई है। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी की सारी चीटियों का भार समस्त मानव जाति के भार से अधिक है। कुल चीटियों की संख्या लगभग 10 हजार ट्रिलियन (10^{16}) होगी। इतनी बड़ी संख्या और इतना भार ! तो सचमुच यह संसार इन्हीं लघु प्राणियों द्वारा संचालित है। मनुष्य झूठे ही सिरताज बना बैठा है। अब इन प्राणियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

📖 प्रघानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

(पृष्ठ 9 का शेष)

6. क्या सॉफ्टवेयर प्रयोग हेतु किसी खास प्रशिक्षण की आवश्यकता है? यदि हाँ, तो क्या प्रशिक्षण की लागत सॉफ्टवेयर की लागत से ही जुड़ी है अथवा यह कीमत खरीदार को अलग से चुकानी होगी?

7. अगर कोई मूलभूत बदलाव जरूरी हो तो क्या विक्रेता के लिए संभव है कि वह सॉफ्टवेयर में बदलाव कर सके ? यदि हाँ, तो कीमत और समय कितना लगेगा ?

सॉफ्टवेयर उत्पाद, जो खरीदार को मिलने चाहिए-

सॉफ्टवेयर उत्पाद मुख्यतः दो भागों में विभाजित हैं-

1. मशीन पर कार्य न कर सकने वाली सामग्री

यह सामग्री कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर की प्रमाण प्रलेख सामग्री है जिसमें ये सम्मिलित हैं-

- लिखित दस्तावेज
- प्रोग्राम की तालिका
- परीक्षण आँकड़े
- परीक्षण जाँच

2. मशीन पर कार्य योग्य सामग्री

यह सामग्री कम्प्यूटर पर प्रयुक्त की जाती है और इस प्रकार की होती है कि जिसे मशीन (कम्प्यूटर) पढ़ सकता है:

- फ्लॉपी डिस्क
- सी.डी. रोम
- मैग्नेटिक फीता
- हार्ड डिस्क
- प्रकाशीय चक्का

📖 मुख्य कार्यकारी
सिस्टम एण्ड ऐप्लिकेशन साफ्टवेयर सर्विसेज
जी.आई.एण्ड एम. टी.एस., 19, सिविल लाइन्स
रुड़की–247667

सम्मान

प्रख्यात वैज्ञानिक एवं विज्ञान लेखक डॉ0 जयन्त विष्णु नार्लीकर को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा वर्ष 1999 के 'विज्ञान भूषण' पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। बधाइयाँ !

– सम्पादक

मृदाविज्ञान के क्षेत्र में भावी नीतियाँ

संकलन

1994 में अमेरिका की 'मृदा विज्ञान समिति' (एस.एस.एस.ए.) ने एक कमेटी यह पता लगाने के लिए बनाई थी कि भविष्य में मृदा विज्ञान की प्राथमिकता क्या हो? और इस सर्वेक्षण से जो परिणाम निकले वे चौंकाने वाले तो नहीं हैं किन्तु आँखें खोलने वाले अवश्य हैं– न केवल विकसित राष्ट्रों के लिए अपितु भारत जैसे विकासशील देश के लिए भी जिसका मूलाधार कृषि है। कृषि के अन्तर्गत जिन कारकों पर बल दिया जाता है वे भूमि, जल तथा फसल हैं। उनमें भूमि महत्वपूर्ण है और ये परिणाम भूमि यानी मृदा से ही सरोकार रखने वाले हैं। इनको इस प्रकार सूचीबद्ध किया जा सकता है–

1. सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उन मूलभूत मृदा प्रक्रमों को समझा जाय जो पौधों की वृद्धि तथा उनकी गुणवत्ता को नियन्त्रित करने वाले हैं। फलस्वरूप मृदा के भौतिक, रासायनिक तथा जैव प्रक्रमों को अच्छी तरह से समझने के लिए अध्ययन किये जाने चाहिए।
2. मृदा, कृषि तथा पारितन्त्र (ecosystem) को उपयोग में लाने वाली प्राकृतिक पद्धतियों के अंतःसम्बन्धों को ठीक से समझने की जरूरत है।
3. यद्यपि पर्यावरणीय मुद्दे महत्वपूर्ण हैं किन्तु मृदा विज्ञान एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन पर अधिक बल देना होगा।
4. निजी क्षेत्र के लिए मृदा विज्ञानियों को अपना परामर्श जारी रखना चाहिए।
5. मृदा विज्ञानियों को अपने अध्यापन कार्य तथा शोध कार्यक्रमों में सुदूर संवेदन तथा कम्प्यूटर अनुकरण (सिमुलेशन) मॉडलों का प्रयोग करना चाहिए।
6. मृदा विज्ञानियों को चाहिए कि समाज विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा विधिक जैसे विषयों से लगातार सम्पर्क बनावें।
7. मृदा उर्वरता का मुद्दा अहम है अतः ऐसे मृदा उर्वरता विशेषज्ञों को प्रशिक्षित किया जाये जो शोध कार्य को ऐसी भाषा दे सकें जिसे किसान आसानी से समझ सकें।
8. वैज्ञानिकों को चाहिए कि वे अपने शोधपत्र देशी विदेशी शोध जर्नलों में छापने के साथ-साथ लोकप्रिय पत्रिकाओं, व्यापारिक जर्नलों तथा वर्ल्ड वाइड वेब के लिए भी सामग्री तैयार करें जो सामान्य जनता की समझ में आ सके।
9. मृदा विज्ञानियों को चाहिए कि वे अपने मित्रों या सम्बन्धियों को मृदाविज्ञान का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करें।

स्पष्ट है कि मृदाविज्ञानियों को अपने किये जाने वाले कार्य तथा जीवन के प्रति समर्पण की भावना अपनानी होगी।

मंगल कामना

नव वर्ष एवम् तृतीय सहस्राब्दी का आगमन विज्ञान के समस्त पाठकों में नवीन आनन्द, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करे।

–संपादक

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : जड़ी - बूटियों का संसार
लेखक : डॉ0 दीनानाथ तिवारी
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, 4/19 आसफ अली रोड नई दिल्ली – 110002
संस्करण : प्रथम, वर्ष : 2000, मूल्य : 250 रुपये
पृष्ठ : 172

आलोच्य पुस्तक "जड़ी–बूटियों का संसार" के विद्वान लेखक डॉ0 दीनानाथ तिवारी लब्धप्रतिष्ठ रचनाधर्मी, मनीषी, पर्यावरणविद्, प्राचीन भारतीय संस्कृति के पोषक तथा कुशल प्रशासक के रूप में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके हैं। आपकी लगभग साढ़े तीन दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस प्रकार आपका व्यक्तित्व बहुआयामी है। और यदि जड़ी-बूटियों के चिकित्सीय उपयोग पर आपने इतनी अच्छी पुस्तक की रचना की है तो इसमें आश्चर्य क्या?

पुस्तक में 50 ऐसे पादपों के विषय में विधिवत् जानकारी उपलब्ध है जिनके नाम से आम लोग भी परिचित हैं और साथ ही पादप आसानी से मिल भी सकते हैं। उदाहरण के लिए आम, आँवला, अनार, अमरूद, अशोक, इमली, खैर, गुड़हल, घीकुआर, पुदीना, बबूल, बेल, ब्राह्मी, तुलसी, नीम, हर्रा, हल्दी आदि से भला कौन नहीं परिचित हैं? इनके अतिरिक्त भी अधिकतर पौधों के नामों से हम परिचित हैं। सभी पादपों की प्रजाति, वैज्ञानिक नाम, अंग्रेजी नाम, हिन्दी नाम, क्षेत्रीय नाम, ट्रेड नाम और परिवार, क्रम से प्रारम्भ में ही दे दिए गये हैं। इसके बाद जहाँ तक संभव हो सका है प्राप्ति स्थान, पदनाम, वानस्पतिक परिचय, विवरण, संग्रहण अवधि, संग्रहण विधि, भण्डारण, गुणकर्म संबंधी विभिन्न मत, रासायनिक संरचना, आधुनिक मत एवं वैज्ञानिक प्रयोगों के निष्कर्ष, ग्राह्य अंग, मात्रा, चिकित्सीय उपयोग, उपयोग विधि आदि दिए गए हैं। अनेक पादपों के चिकित्सीय उपयोग के अलावा अन्य उपयोग भी दिए गए हैं।

पादपों अथवा उनके उपयोगी अंगों की पहचान के लिए 50 रंगीन, आकर्षक नयनाभिराम चित्र (फोटोग्राफ) भी दिए गए हैं। इसी के साथ ही चित्रों के साथ कोष्ठक में वह पृष्ठ संख्या भी दी गई है जिसका विस्तृत विवरण निर्दिष्ट पृष्ठ पर देखा जा सकता है। पुस्तक के प्रारंभ में ही अनुक्रम में हिन्दी वर्णाक्षरों के हिसाब से 50 पादपों की सूची पृष्ठ संख्या सहित दी हुई है।

ऐसा नहीं है कि इस विषय पर अच्छी पुस्तकें नहीं लिखी गई हैं। अनेक अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पुस्तकें इसके पूर्व भी लिखी गई हैं। हमारे देश की प्राचीन चिकित्सा पद्धति से सारे संसार ने लाभ उठाया है, किन्तु बदलते समय के साथ एलोपैथी चिकित्सा पद्धति की चकाचौंध ने हमारे वैद्यों और हमारी अपनी चिकित्सा पद्धति को काफी पीछे धकेल दिया है। आज हमारी जितनी आस्था 'ऐलोपैथी' में है उतनी संभवतः अन्य किसी चिकित्सा पद्धति में नहीं। किन्तु एलोपैथिक दवाओं के शरीर पर पड़ने वाले कुप्रभाव अब निश्चित रूप से चिंता का विषय बनते जा रहे हैं। एक रोग ठीक होते होते शरीर पर दूसरे कुप्रभाव (साइड इफेक्ट) दिखने लगते हैं। ऐसी स्थिति में अब हमारा ध्यान पादपों की ओर जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार इस पुस्तक का प्रकाशन सूखे में वर्षा की फुहार जैसा है।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है प्राचीन जानकारी के साथ-साथ नवीन वैज्ञानिक जानकारी का भी समावेश। इस प्रकार पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है।

"बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" के उद्देश्य से लिखी गई इस किताब का स्वागत है। आकर्षक मुख एवं अन्तिम पृष्ठ, 50 सुन्दर रंगीन चित्र, बढ़िया

मुद्रण, अच्छा कागज, पादपों के विषय में वैज्ञानिक तरीके से सिलसिलेवार वर्णन , सभी कुछ प्रशंसनीय है और इसके लिए लेखक को साधुवाद तो है ही, प्रकाशक और मुद्रक को भी साधुवाद। किन्तु एक दो बिन्दुओं की ओर मैं लेखक और प्रकाशक का ध्यान अवश्य आकर्षित करना चाहूँगा।

1. प्रारम्भ में ही (पृष्ठ 9 पर नीचे फुटनोट के रूप में) लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने पुस्तक में वैज्ञानिक नामों के देवनागरी में लैटिन उच्चारण "मानव उपयोगी वनस्पतियों और प्राणियों के वंश तथा जाति नामों का कोश" के आधार पर दिये हैं, किन्तु अच्छा होता यदि लेखक ने वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रकाशित कोश (वृहद् पारिभाषिक शब्द संग्रह विज्ञान खण्ड 1 व 2) का उपयोग किया होता।

   विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में जीव विज्ञान विषयक पढ़ाई में वैज्ञानिक नामों के उच्चारण शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित कोश के अनुसार ही मान्य हैं। प्रस्तुत पुस्तक में दिये नामों से उच्चारण में एकरूपता नहीं आ सकेगी।

2. मुद्रण की भी कुछ त्रुटियाँ हैं- यथा पृष्ठ 110 पर 15 वीं पंक्ति "क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमेहके में प्रारंभ में 'क्रि' के स्थान पर "कृ" होना चाहिए। इसी पृष्ठ पर 24 वीं पंक्ति देखें

तुलसी पित्तकृद वात कृमिर्दोगन्धनाशिनी में अंतिम शब्द कृमिर्दोगन्धनाशिनी में कृमि में 'कृ' ठीक छपा हुआ है।

3. आम लोगों के लिए पुस्तक सुलभ हो इसके लिए पुस्तक के सस्ते सस्करण की आवश्यकता है। वैसे कुल मिलाकर पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

📖 प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व अध्यक्ष, वनस्पति विभाग
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

पुस्तक : जल एवं जनचेतना
लेखक : डॉ0 डी.डी. ओझा, एच.एस. चौहान तथा एस.बी. माथुर
प्रकाशकः सांइटिफिक पब्लिशर्स (इंडिया) जोधपुर
वर्ष : 2000, पृष्ठ संख्या : 115

प्रस्तुत पुस्तक संयुक्त लेखन का प्रतिफल है। इसमें जल की उपादेयता विषयक आवश्यक सूचनाएँ सरल, सुबोध भाषा में दी गई हैं। इस पुस्तक में 10 अध्याय हैं– जल प्राप्ति के विभिन्न स्रोत, जल का रोचक विज्ञान, जल और हमारा स्वास्थ्य, जल के गुणों का ज्ञान, जल संरक्षण भविष्य की आवश्यकता, जल कैसे शुद्ध होता है, जल से होने वाले रोग, जल शुद्धिकरण की प्रौद्योगिकी तथा वैदिक शास्त्रों में जल की उपादेयता। पुस्तक के अन्त में आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली भी दी गई है। पुस्तक में आवश्यकतानुसार चित्र भी दिये गये हैं।

पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय 'जल संरक्षण–भविष्य की आवश्यकता' है। इसके पृष्ठ 37 पर जो सारणी दी गई है उसमें दैनिक जीवन में पानी के अवांछित दुरुपयोग को रोकने की ओर संकेत है। इससे स्पष्ट है कि हम दाँत साफ करते, हाथ धोते, नहाते, शौच के समय, बागवानी करते समय, कार धोते समय पानी की कई गुनी मात्रा का प्रयोग करते हैं, जो कि अनावश्यक होता है। ये बहुत ही छोटी बातें हैं, जिन पर ध्यान देने से पानी की बचत की जा सकती है और उसे अन्यत्र प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी तरह राजस्थान में जल संग्रहण की विधि दर्शायी गई है, जो कि अनुकरणीय है। पृष्ठ 51 का चित्र हैंडपम्प से होठों तक स्वच्छ पानी की श्रृंखला भी अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पृष्ठ 70 पर आर्सेनिक विषाक्तता तथा उससे सम्बद्ध चित्र अत्याधुनिक खोजों को दर्शाने वाले हैं।

निस्सन्देह यह पुस्तक जनसामान्य को जल की महत्ता, उसके संरक्षण एवं सही उपयोग बताने के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

📖 डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@nde.vsnl.net.in

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विज्ञान परिषद् प्रयाग

द्वारा आयोजित

अखिल भारतीय लेखन प्रतियोगिता 2001

ह्विटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख अथवा पुस्तक को एक हजार रुपयों का पुरस्कार

- लेख अथवा पुस्तक केवल विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
- केवल प्रकाशित लेखों अथवा पुस्तकों पर ही विचार किया जायेगा।
- लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छ्पा हो सकता है।
- लेख अथवा पुस्तक के प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
- इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख अथवा पुस्तक जनवरी 2000 से दिसम्बर 2000 माह के बीच प्रकाशित हो।
- लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख अथवा पुस्तक मौलिक है।
- विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
- वर्ष 2000 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 31 मार्च 2001 है।
- पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

प्रविष्टियाँ निम्न पते पर भेजें :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन नं. : (0532) 460001
ई-मेल : vigyan1@nde.vsnl.net.in

SSN : 0373-1200

फरवरी 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

स्वास्थ्य - चिकित्सा विशेषांक

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 86 अंक 11
फरवरी 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

ग्राफिक आफसेट
186/5 टैगोर टाउन, इलाहाबाद
फोन : 465016, 465274

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

विजय कुमार शर्मा

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@nde.vsnl.net.in
वेब साइट – www.webvigyan.com

विषय सूची

तुरीयावस्था का अध्ययन आवश्यक

✍ डॉ० बी. राममूर्ति

चार अवस्थाएँ बताई गई हैं– जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त तथा तुरीय। तुरीय अवस्था को चतुर्थ अवस्था कहा जाता है। यह सत् चित आनन्द की स्थिति है। हर व्यक्ति को अपने तथा अन्यों के हित के लिए इस अवस्था को प्राप्त करना चाहिए (सर्वभूत हिते रताः)। पतंजलि ने इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योग विधि अपनाने को कहा है। उन्होंने योग की परिभाषा दी– योगः चित्तवृत्ति निरोधः – यानी मन की तरंगों को वश में करना योग है।

मन की तरंगों के वशीकरण की इस अवस्था में व्यक्ति अपने भीतर स्थित (स्व–स्थ) रहता है (स्व अनुभूति)।

तद् द्रष्टुः स्वरूपेप्य अवस्थानम्

जबकि अन्य अवस्थाओं में व्यक्ति अपने आपको अपनी मन की तरंगों के रूप में पहचानता है–

वृत्ति स्वरूप्यम् इतरतः

दूसरे शब्दों में व्यक्ति मन नहीं है, वह स्व का अनुभव तब करेगा जब वह मन को वश में करता है। पतंजलि ने इस मुक्तावस्था को प्राप्त करने तक के अनेक चरणों का उल्लेख किया है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा तथा समाधि।

योग सुनने में अच्छा लगता है किन्तु विज्ञानियों को निरीक्षण करके मापन करना होगा और फिर विभिन्न चरणों की तुलना करनी होगी। योग में योगी को आन्तरिक आनन्द तो प्राप्त होता ही है किन्तु उसी के साथ शरीर में जो परिवर्तन होते हैं उन्हे मापा जा सकता है– यथा रक्तचाप, नाड़ी की गति, श्वास, शरीर ताप, उपापचय, मूत्र में ऐमीनों की उपस्थिति, मस्तिष्क में होने वाले वैद्युत तथा चुम्बकीय परिवर्तन। और ऐसा नहीं है कि अभी तक इन परिवर्तनों को मापा नहीं गया है। दिल्ली, मद्रास, बंगलोर तथा अन्य शहरों एवं अन्य देशों में ऐसे मापन हुए हैं।

पतंजलि का कथन है कि जब व्यक्ति विचार-मुक्त या परमचेतन अवस्था को प्राप्त होता है तो उसमें असाधारण शक्तियाँ (सिद्धियाँ) उत्पन्न होती हैं। वह काल तथा देश को पार कर सकता है, अपने को भारी या हल्का कर सकता है। यदि ऐसा है तो इनका मापन एवं पुष्टिकरण कैसे हो सकता है? भारतीय विज्ञानियों को गर्वित होना चाहिए कि यदि हम ऐसी परम्परा तथा ज्ञान के स्वामी हैं तो हमारा परम कर्तव्य है कि सभी प्रकार से ज्ञात करें कि ये बातें सत्य हैं। भले ही विज्ञानी आन्तरिक अनुभूति को न माप सकें किन्तु न्यूरोसाइंस तथा अन्य विज्ञानों ने इतनी प्रगति कर ली है कि वे योग की अवस्था में शरीर तथा मस्तिष्क में होने वाले परिवर्तनों को सरलता से माप सकते हैं।

तो फिर योग में कौन सी प्रणालियाँ निहित हैं? कौन सी ऊर्जाएँ कार्यशील हैं इसमें? चूँकि नशीली दवाओं (ड्रग्स) से भी आनन्द की अनुभूति होती है तो कहीं योग से न्यूरोकेमिकल प्रक्रियाओं का भी नियंत्रण तो नहीं होता? विज्ञानी यह पता लगा सकते हैं कि क्या मानव मस्तिष्क दूरस्थ प्रभावों को उत्पन्न कर सकता है– यथा टेलीपैथी, टेलीकम्यूनिकेशन? यदि यह सब ऐक्सनीय (axonal) या द्रुमिका संधि (den-

12–13 अक्टूबर 2000 को इलाहाबाद में आयोजित 'चेतना' संगोष्ठी के अवसर पर प्रस्तुत आलेख से साभार

dritic junction) पर क्वांटम यान्त्रिकी जैसा है तो फिर भारतीय गणितज्ञों को आगे आना चाहिए।

आज की न्यूरोफीजियोलाजी सोचने की प्रक्रिया को मस्तिष्क का सर्वोच्च स्तरीय कार्य मानती है, किन्तु मस्तिष्क की जितनी जटिल रचना है उसमें जितने न्यूरॉन, ऐक्सान तथा साइनैप्सेस निहित हैं उनको देखते हुए लगता है कि मस्तिष्क में कहीं अधिक कार्यक्षमता है। अतः विज्ञानियों को अभी तक स्वीकृत मस्तिष्क क्षमता से आगे बढ़कर शोध करना होगा। अभी तक के तर्क पर आश्रित सिद्धान्तों से उन्हें ऊपर उठना होगा। आज भौतिकी के क्षेत्र में तर्क पर आश्रित सिद्धान्तों से आगे बढ़कर भिन्न मॉडलों एवं संकल्पनाओं का सहारा लिया जा रहा है जिसका परिणाम अनिश्चितता का सिद्धान्त है। जैन, बौद्ध जन तर्क की सीमा को लाँघ कर "कोनों" पर ध्यान एकाग्र करते हैं। स्पष्ट है कि हमारे मस्तिष्क में अभी तक निरूपित शक्ति से कहीं अधिक शक्ति है। यह शक्ति कल्पना नहीं, एक वास्तविक अनुभूति है जिसे भारत, चीन तथा जापान जैसे प्राच्य देशों के ऋषियों मुनियों ने अनुभव किया है।

योगावस्था में साधक यही प्रयास करता है कि चेतना या प्रज्ञा (consciousness) में समस्त संवेदी आवेग (sensory inpulse) प्रविष्ट होने पायें। इनमें शरीर के आन्तरिक संवेदन (sensations) भी शामिल हैं। ऐसा लगता है कि शरीर में तन्त्रिक संदमन (neural inhibition) की प्रच्छन्न प्रणाली कार्यशील है। तो क्या इस प्रणाली को इच्छानुसार सक्रिय नहीं बनाया जा सकता? योगी ऐसा कर सकता है। योग शास्त्र का आधार ही है तन्त्रिक संदमन।

तुरीय अवस्था में संवेदी आवेगों का मस्तिष्क में प्रवेश पूरी तरह रुद्ध कर दिया जाता है। इसमें कुछ क्षणों के लिए निद्रा जैसी आ जाती है किन्तु योगी इस प्रवृत्ति पर क्रमशः विजय प्राप्त करता है। तुरीयावस्था कभी भी सुप्तावस्था नहीं है। उसके बाद की अवस्था है।

ध्यानकर्ता जैसे-जैसे अपने विचारों को नियन्त्रित करता है वह या तो उठने वाले अनेक विचारों में से किसी एक पर ध्यान केन्द्रित करता है अथवा फिर सभी प्रकार के विचारों को मन में प्रवाहित होने देता है। इस तरह जो विचार बाह्य हैं वे समाप्त हो जावेंगे और केवल एक विचार रह जावेगा। कुछ अधिक अभ्यास के बाद एक विचार भी मर जाता है और योगी विचारशून्य अवस्था को प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म में इसी को विपासना ध्यान कहा गया है। भगवद्गीता में भी इसी का उल्लेख है– "गुणः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते"। यह अनुभव करते हुए कि मानसिक तरंगें तथा उत्पात हमारे शरीर की प्रकृति में बसे हैं, बुद्धिमान व्यक्ति उनमें आसक्त नहीं होता।

तो ये विचार कहाँ उठते हैं?

ऐसा हो सकता है कि नवीन विचार संकल्पनात्मक विचार तथा ऐन्द्रिय उद्दीपन (sensory stimulation) के बिना उठनेवाले विचार अग्रललाटपालि (frontal lobe) तथा सम्बद्ध बल्कुट (cortex) में उठते हों। संकल्पनात्मक अमौखिक (non verbal) विचार कोर्टेक्स (thalmic) क्षेत्र से उठते हैं।

"मैं" "और" "मेरा" के भाव सम्भवतः शंखपालि (Temporal lobe) में निवास करते हैं। इस तरह विचार वे घटनाएँ हैं जो अग्रललाट तथा सम्बद्ध कार्टेक्स में घटित होती हैं और इन घटनाओं को देखने की क्षमता शंखपालि में निवास करती है तो मनुष्यों में अत्यधिक विकसित होती है।

विचारमुक्त अवस्था में क्या होता है?

कभी भी मस्तिष्क की क्रियाशीलता रुकती नहीं है। विचारमुक्त अवस्था में मस्तिष्क सामान्य वस्तुओं की परवाह न करके चेतना (consciousness) में बझ जाता है यानी मस्तिष्क मौन तथा गतिहीन होकर अचिन्त्य के विषय में संलग्न रहता है। मस्तिष्क व्यर्थ के कार्यकलापों से अपने को विलग करके 'चेतना' को समझने की शक्ति उत्पन्न करता है और वह काल तथा देश (Time space) से परे तर्क की सीमाओं से परे जाने का प्रयास करता है। यही *तुरीयावस्था* है।

शोध की दिशाएँ

स्पष्ट है कि चेतना विषयक शोध को चहुँमुखी होना है और इसमें जीवविज्ञानियों के अतिरिक्त अन्य विज्ञानियों की सहभागिता आवश्यक है।

इस दशा में शंखपालि, न्यूरो रसायन तथा मानसिक विकृतियों का अध्ययन किया जाना होगा।

शंखपालि के अग्र भाग से कुछ भाग के कार्यों में वाक् तथा श्रवण (बोलना तथा सुनना) मुख्य हैं। फलतः यदि इस पालि के आगे से 5 सेमी. अंश को काटकर हटा दिया जाय तो मनुष्य को कोई हानि नहीं पहुँचेगी किन्तु यदि इसके दोनों बगलों को हटा दिया जाय तो स्मृति संग्रह की क्षमता जाती रहती है।

स्पष्ट है कि ध्यान कर रहे व्यक्तियों की शंखपालि की सक्रियता का अध्ययन करने से महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

चूँकि मस्तिष्क के कार्य में न्यूरोकेमिकल्स तथा न्यूरोमेसेंजरों की भूमिका महत्वपूर्ण है अतः ध्यान के प्रभाव का अध्ययन करते समय न्यूरोकेमिकल प्रभावों का भी अध्ययन आवश्यक है। मस्तिष्क में तथा तन्त्रिकातन्त्र में विद्यमान न्यूरोपेप्टाइड रसायन फेफड़ों, आँतों, यकृत तथा अग्न्याशय में भी पाये जाते हैं। इसका अर्थ यही है कि मस्तिष्क सारे शरीर पर रासायनिक नियन्त्रण रखता है। अतः सम्भावना है कि योगावस्था में योगी न केवल मस्तिष्क के रसायनों को अपितु सारे शरीर के रसायनों को रूपान्तरित करके ऊर्जा प्राप्त करता हो। इस तरह होने वाले परिवर्तनों को मूत्र, थूक, पसीना आदि के परीक्षण द्वारा ज्ञात किया जा सकेगा।

योगावस्था में मस्तिष्क के बाएँ तथा दाएँ गोलार्धों का अध्ययन किया जाना चाहिए। चूँकि पुरुष-मस्तिष्क के बाएँ गोलार्ध में तर्क की शक्ति केन्द्रित है अतः मुक्तावस्था तक पहुँचने के लिए सीमा लाँघनी होगी। तो क्या स्त्रियों में, जिनमें तर्कशक्ति दाएँ गोलार्ध में केन्द्रित होती है उनके लिए इस अवस्था तक पहुँच पाना आसान होगा? आधुनिक विधियों द्वारा पागलपन (Schizophrenia) का अध्ययन करने से भी चेतना की समस्या का हल ढूँढ़ना आसान हो सकता है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि योगशास्त्र का आधार है तन्त्रिक संदमन। योगी यह संदमन केन्द्रीय संदमन प्रक्रिया का प्रयोग करके करता है या कि पूरे शरीर में यह संदमन प्रक्रिया उपस्थित रहती है? योग शास्त्र का कहना है कि मनुष्य हर्ष, शोक, पीड़ा जैसे संवेदनों की उपेक्षा कर सकता है। वह कैसे? अभ्यास के द्वारा।

📖 न्यूरोसर्जन, सी आई टी कालोनी
चेन्नई, तमिलनाडु

भारतीय विज्ञान कांग्रेस का अट्ठासीवाँ अधिवेशन सम्पन्न

'खाद्य, पोषण एवं पर्यावरण सुरक्षा पर केन्द्रित इस अधिवेशन में न सिर्फ पाँच हजार वैज्ञानिकों ने भाग लिया, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों ने भारतीय कृषि की संभावनाओं और चुनौतियों पर विस्तार से विचार किया। अधिवेशन में यह लक्ष्य रखा गया कि आगामी बीस वर्षों में देश को गरीबी, भूख और कुपोषण से मुक्त करना है। इसे कृषि वैज्ञानिकों ने इंद्रधनुषी क्रान्ति का नाम दिया है, जिसमें संपन्नता के सभी रंग होंगे। इसके लिए जहाँ ग्रामोन्मुखी नीतियों की आवश्यकता है, वहीं भूमिसुधार, गरीबी के लिए सुरक्षा और विकास की धारा को नीचे से ऊपर की तरफ ले जाने की जरूरत है। उतना ही महत्वपूर्ण यह कि अधिवेशन में कृषि को जनसंख्या और पर्यावरण के साथ जोड़कर देखा गया। इसी तरह पर्यावरण की रक्षा पर ध्यान देने की बात भी कही गई। वैज्ञानिक प्रगति को इस इंद्रधनुषी क्रान्ति का आधार माना गया है। उद्घाटन के अवसर पर प्रधानमंत्री ने कृषि वैज्ञानिकों से जीनोम क्रांति का लाभ उठाने की जो बात कही उसे स्वीकार करते हुए कहा गया है कि इक्कीसवीं सदी में भारत को जीनोम घाटी स्थापित करनी होगी।

मस्तिष्क और वाक् का सम्बन्ध

✍ डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

विगत 100 वर्षों में मस्तिष्क की रचना के बारे में विचारों में परिवर्तन होते रहे हैं। उदाहरणार्थ, 1920 के दशक में इसकी तुलना टेलीफोन एक्सचेंज से की जाती थी तो वर्तमान टेक्नॉलाजी के युग में, जब डिजिटल कम्प्यूटरों की प्रधानता है, तो भाषाविज्ञानी तथा विकासवादी जीवविज्ञानी मस्तिष्क की तुलना कम्प्यूटर से करने लगे हैं। किन्तु ऐसे अनेक तन्त्रिका शरीरविज्ञानी (Neurophysiologist) हैं जो मस्तिष्क को कम्प्यूटर के समतुल्य नहीं मानते। 1950 के दशक में चाम्स्की ने यह सिद्धान्त रखा था कि मानव मस्तिष्क में भाषा के लिए जो "भाषा अंग" (Language organs) होता है वह कम्प्यूटर के मोड्यूल जैसा है। ऐसा अंग पशुओं में नहीं होता। यह सिद्धान्त "मस्तिष्क क्षति" पर आधारित था। पॉल ब्रोका ने मस्तिष्क के जिस क्षेत्र से भाषा का सम्बन्ध ज्ञात किया, उसे ब्रोका क्षेत्र कहा जाने लगा। किन्तु ब्रोका इस निष्कर्ष तक कैसे पहुँचे, इसे समझने के लिए हमें पहले मस्तिष्क की रचना तथा उसके विकास के इतिहास को जानना आवश्यक होगा।

थोड़ी देर लिए तीन परतों वाली प्याज की कल्पना करें। जिन पशुओं के कंकाल प्राचीन सरीसृपों जैसे हैं, उनमें प्याज का सबसे भीतरी परत पाया जाता है, जिसे *गैंग्लिया* कहते हैं। बीच की परत जिसे लिम्बिक तन्त्र (Limbic system) कहा जाता है वह प्रारम्भिक स्तनियों में जिन्हें कृंतक (rodents) कहा जाता है, विकसित हुआ। सबसे बाहरी परत, जिसे नियोकोर्टेक्स (neocortex) कहते हैं स्तनियों में बहुत ही बाद में विकसित हुआ और इसका सर्वोत्तम विकास प्राइमेटों में यानी मानवों में हुआ। यहाँ तक कि चिम्पैंजी भी मनुष्य की तुलना नहीं कर पाता।

ब्रोका ने सोचा कि चूँकि मनुष्य ही बातचीत कर सकता है इसलिए वाणी या वाक् (Speech) की समस्या नियोकोर्टेक्स की क्षति से उत्पन्न होती होगी और ईर्ष्या, द्वेष, ईमानदारी तथा गणितीय निपुणता इसी भाग से नियन्त्रित होती है। आगे चलकर जर्मन न्यूरोलाजिस्ट, कार्ल वर्निक (Karl Wernicke) ने ऐसे ही तर्कों के द्वारा मस्तिष्क में नियोकोर्टेक्स के बाएँ भाग को सुनने तथा देखने के लिए उत्तरदायी ठहराया। यदि ब्रोका के या वर्निक भागों के ही आघातग्रस्त होने से वाचाघात (Aphasia) होता हो तो निश्चित रूप से उन्हें ही भाषा का स्थल होना चाहिए। किन्तु आजकल न्यूरोलाजिस्ट तथा न्यूरोसर्जन यह मानने लगे हैं कि उपर्युक्त भागों में हुए आघात से रोगी की वाक्शक्ति कुछ मासों में लौट आती है।

अब ऐसी प्रौद्योगिकी विकसित हो चुकी है जिससे इस रहस्य को हल कर लिया गया है। बहुत काल तक मस्तिष्क आघात का अध्ययन करने के लिए न्यूरोलाजिस्ट शवों को ही प्रयोग में लाते रहे। किन्तु विगत कुछ दशकों में नई प्रविधियाँ सामने आई हैं—यथा पाजिट्रॉन एमिशन टोमोग्राफी (PET) तथा फंक्शनल मैग्नेटिक रेजोनेन्स इमेजिंग (FMRI) जिससे जीवित मस्तिष्क का अध्ययन सम्भव हो सका है। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि वाक् समेत अन्य जटिल मानवीय आचरण मस्तिष्क के किसी एक ही अंग तक सीमित नहीं हैं।

मस्तिष्क कम्प्यूटर नहीं है। वह मांसपेशी (Muscle) के तुल्य है। वह जितना ही कार्य करता है, उतनी ही अधिक ऊर्जा व्यय करता है। उस व्यय (उपभोग) का मानीटरन करके PET तथा FMRI अध्ययन यह बता सकते हैं कि विभिन्न कार्यों को करते समय मस्तिष्क के कौन कौन से भाग सक्रिय रहते हैं। इस तरह मस्तिष्क के भीतर रेडियो-सक्रियता से युक्त तरल के मार्ग का अनुकरण करते हुए PET विधि मस्तिष्क की सक्रियता की तुलना बिना आघात वाले और आघात वाले मानव मस्तिष्कों में कर सकती है। फलतः मस्तिष्क के वर्निक भाग में हुए आघात से मनुष्य शब्दों का उच्चारण करता तो है किन्तु वे स्पष्ट नहीं हो पाते और जिनके मस्तिष्क का ब्रोका भाग क्षतिग्रस्त होता है वे वस्तुओं के नाम और कार्य में निहित क्रियाओं को भूलते हैं। वे किसी वाक्य के पूर्वापर में अन्तर नहीं कर पाते।

इस तरह वाचाघात न केवल "भाषा स्थल" की गलत प्रणाली है अपितु यह मस्तिष्क में व्यापक "वैद्युत विफलता" (electrical failure) है। किसी वाक्य को समझने के लिए मस्तिष्क ऐसे परिपथों (circuits) का प्रयोग करता है जो मस्तिष्क के भीतरी स्तरों को जोड़ते हैं। ये परिपथ तंत्रिकोशिकाओं या न्यूरॉनों (neurons) से बने होते हैं जो अपनी तंत्रिकाओं या ऐक्सानो (Axons) में होकर वैद्युत संकेतों का विनिमय करते हैं। परिपथों की चर्चा से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि चाम्स्की ने यदि मस्तिष्क को कम्प्यूटर कहा था, तो ठीक ही तो था। किन्तु ये तान्त्रिक परिपथ कम्प्यूटर परिपथों से सर्वथा भिन्न होते हैं। न्यूरॉनों को अन्य न्यूरॉनों के ऐक्सानों से सूचना प्राप्त होती है किन्तु दो न्यूरॉनों में सीधा सम्पर्क नहीं होता। सूचना को ऊपर जाते समय एक रिक्त स्थान (gap) को पार करना होता है जो सिनेप्स (Synapse) कहलाता है और यह ऐक्सान तथा नीचे के न्यूरॉन के बीच होता है। ऐक्सानों को हम वैद्युत तार मान सकते हैं और सिनेप्सों को वाल्यूम कन्ट्रोल (volume control) के रूप में ले सकते हैं। यदि न्यूरॉन को विभिन्न ऐक्सानों से पर्याप्त प्रबल संकेत मिलता है तो यह उस संदेश को अन्य न्यूरॉनों को प्रेषित कर देगा।

इस तरह मस्तिष्क की संरचना में दो स्तर प्रतीत होते हैं। एक स्तर पर मस्तिष्क के असंतत (discrete) अंश स्वयं ही कुछ मानसिक संक्रियाएँ कर लेते हैं। किन्तु दूसरे स्तर पर वे ही संक्रियाएँ अनेक स्वतंत्र तन्त्रिकीय परिपथों के माध्यम से मस्तिष्क के विभिन्न भागों तक पहुँच सकती हैं। उदाहरणार्थ, मेज पर रखी पेंसिल को उठाना सरल प्रतीत होता है। आप हाथ बढ़ा कर उठा लेते हैं किन्तु आपके तन्त्रिकीय परिपथों को दृश्य (visual) सूचना, स्पर्श (tactile) सूचना तथा प्रेरक (motor) सक्रियता हेतु पेंसिल के प्रति आपकी बाँह, हाथ, आँख तथा शरीर के अन्य भागों को समन्वित करना होता है। इस एक समस्या का सामना करने के लिए कम्प्यूटर चालित मशीन को हजारों आदेश लेने होंगे।

मानव आचरण में सर्वाधिक जटिल वाक् यानी वाणी है। इसमें होठ, जीभ, स्वर रज्जुओं तथा अन्य मांसपेशियों को एकसाथ काम करना होता है। इसी-लिए अनेक इंजीनियर तथा कम्प्यूटर प्रोग्रामर मिलकर भी वाक् की संरचना नहीं कर सकते।

पार्किन्सन रोग प्रायः साठवर्षीय लोगों को होता है। इसमें कंपन, मांसपेशी में कठोरता, हिलने डुलने में तकलीफ होती है। इतना ही नहीं, इस रोग के रोगियों में ब्रोका का वाचाघात भी हो सकता है– ये रोगी वाक्य को सही सही बोल नहीं पाते। वे प,द,ग, जैसी ध्वनियाँ नहीं निकाल पाते। यह देखा गया है कि एवरेस्ट पर्वत की ऊँचाइयों पर चढ़ने वालों की वाणी में पार्किन्सन रोगियों जैसा दोष आ जाता है। वे जितनी अधिक ऊँचाई पर होते हैं उतना ही उनका मस्तिष्क मन्द गति से कार्य करता है। वे छह वर्ष के बच्चे जितना ही वाक्यों को समझ पाते हैं। वे ही लोग चोटी के निचले कैम्प में पहुँचते ही सामान्य हो जाते हैं।

लोग यह जानते हैं कि यदि कुत्ते, बिल्लियाँ तथा अन्य बुद्धिमान प्राणी बोलने लगें तो वे भी मनुष्य बन जायें। हमें विवश होकर सोचना पड़ता है कि बोलने का अर्थ है सोचना और सोचने का अर्थ है मनुष्य होना। किन्तु पशु आचरण पर किये जा रहे

(शेष पृष्ठ 20 पर)

एलजाइमर रोग

❋ संकलित

अभी तक हृदय रोग को ही अति भयावह समझा जाता रहा है, किन्तु अब उसी के समकक्ष एलजाइमर (Alzheimer) रोग को भी मान्यता मिलने वाली है। अनुमान है कि सारे विश्व में इस रोग से 1 करोड़ 10 लाख लोग पीड़ित हैं, जिसमें अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके 40 लाख रोगी हैं। स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों जनसंख्या बढ़ेगी और लोगों की आयु बढ़ती जावेगी त्यों त्यों इस रोग के रोगियों की संख्या भी बढ़ती जावेगी और 2050 तक यह संख्या तिगुनी हो सकती है।

एलजाइमर रोग को इस प्रकार समझा जा सकता है– आप अपने मस्तिष्क को प्रकाश बल्बों से जुड़े घर के समान मान लें। अब कल्पना करें कि कोई इन प्रकाश बल्बों को एक एक करके बुझाता जा रहा है। एलजाइमर रोग ऐसा ही करता है। यह विचारों, भावनाओं और स्मृतियों के प्रवाह को मस्तिष्क के एक कक्ष से दूसरे कक्ष तक पहुँचने से रोकता है। अभी तक कोई ऐसी विधि नहीं निकली है जो प्रकाश बल्बों को बुझने से रोक सके। बड़ी दयनीय स्थिति होती है इसके रोगी की।

ऐसा माना जाता है कि कि एलजाइमर रोग होने की सर्वाधिक सम्भावना 65 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले व्यक्तियों में रहती है और इस भयानक रोग के रोगी 20 वर्षों तक जीवित रह सकते हैं। स्पष्ट है कि परिवार वालों के लिए रोगी की देखभाल के साथ ही उपचार में भी धन खर्च करना पड़ सकता है। अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका प्रतिवर्ष इस रोग से ग्रस्त रोगियों पर 100 बिलियन डालर व्यय करता है।

कुछ लोग इसे ''बुढ़ापे का रोग'' मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। यह रोग प्राचीन काल से लोगों पर कहर ढाता रहा है। ग्रीस तथा रोम के लेखकों ने इस रोग के लक्षणों का उल्लेख किया है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है शेक्सपियर के नाटक 'किंग लियर' का मुख्य पात्र किंग लियर, जो अपनी स्मृति खोकर असामान्य आचरण करते दिखाया गया है। एक तरह से उसे एलजाइमर रोग ही था किन्तु इसे स्पष्ट रूप से रोग सिद्ध करने का श्रेय जर्मनी के डाक्टर एलॉइस एलजाइमर (Alois Alzheimer) को दिया जाता है जिसने 1901 में फ्रैंकफर्ट अस्पताल में आई रोगिनी में अनेक लक्षण देखे जिनमें स्मृति क्षय, पागलपन तथा विभ्रम मुख्य थे। 1906 में जब यह रोगिनी मर गई तो इस डाक्टर ने उसके मस्तिष्क की परीक्षा की तो उसमें कुछ विशेष ऊतक बढ़े हुए मिले जो असामान्य प्रोटीनों का गुच्छा जैसे थे। बाद में इसे बीटा ऐमीलाइड कहा गया जो न्यूरॉनों के लिए उसी तरह घातक हैं जैसे कि रक्त वाहिनियों के लिए कोलेस्टेराल है।

विभिन्न रोगियों में इस रोग की शुरुआत तथा बाद में प्रकट होने लक्षणों में भिन्नता हो सकती है किन्तु जो क्षतिकारक शक्तियाँ होती हैं वे मिलकर न्यूरॉनों को अशक्त बनाती हैं जिससे वे ग्लुकोस को ऊर्जा में परिवर्तित नहीं कर पाते। इस तरह वे अपनी मरम्मत न कर पाने से अन्ततोगत्वा अन्य न्यूरानों से अपना सम्पर्क नहीं रख पाते। कभी कभी तन्त्रिका

कोशिकाएँ स्थान स्थान पर मृत हो जाती हैं। ये न्यूरॉन किस तरह संचार करने की शक्ति खोते हैं और उनमें से कुछ न्यूरॉन किस तरह संचार करने की शक्ति खोते हैं तथा उनमें से कुछ न्यूरॉन किस तरह मृत हो जाते हैं– यही उद्देश्य है आधुनिक एलजाइमर के बारे में हो रही शोधों का। इंगलैंड में 1976 में पीटर डेविस तथा ऐंथनी जे.एफ. मैलोनी ने डेविड एम. बावेन के साथ मिलकर यह सिद्ध किया कि एलजाइमर रोग के रोगियों के मस्तिष्क में जिस एक रसायन का संश्लेषण नहीं हो पाता वह ऐसिटिल कोलीन नामक एंजाइम है। इसके पूर्व यह प्रदर्शित किया जा चुका था कि स्मृति के मामले में ऐसीटोकोलीन युक्त न्यूरॉन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालते देर न लगी कि ऐसीटोकोलीन की कमी ही इस रोग के लिए उत्तरदायी हो सकती है। बाद में यह खोज हो सकी कि ऐलजाइमर के रोगी में क्रोमोसोम में पाया जाने वाला प्रोटीन ऐमीलायड प्रिकर्सर प्रोटीन (APP) का जीन कोड परिवर्तित हो जाता है। गहन शोध के फलस्वरूप क्रोमोसोम–19 के भी एक जीन को इस रोग से सम्बद्ध पाया गया जो एपोलिपोप्रोटीन के उत्पन्न होने में निर्देशक है। यह एपोलिपोप्रोटीन (ApoE) रक्त में कोलेस्टेराल पर नियंत्रण रखता है। कुछ शोधकर्ताओं ने क्रोमोसोम–1 तथा–14 की जीनों में आने वाले दोषों को भी ऐल्जाइमर रोग से जोड़ा है।

इतने पर भी कोई पहले से यह नहीं बता सकता कि यह रोग किस स्वस्थ व्यक्ति को और कब आ घेरेगा। इसके लिए जीनी परीक्षण की सलाह नहीं दी जाती क्योंकि चिकित्सकों के पास ऐसे परीक्षणों के परिणामों की व्याख्या करने के साधन अभी उपलब्ध नहीं हैं। धनात्मक परीक्षण इस रोग के होने की गारंटी नहीं देता। सम्भावना यही है कि निकट भविष्य में कुछ दवाएँ बन जायँ।

चूँकि यह रोग अति जटिल व्यतिक्रम है अतः अच्छा करने में जीनी तथा पर्यावरणीय कारक लाभप्रद हो सकते हैं। अभी तक केवल दो दवाएँ संस्तुत हैं, टैक्रीन (1993) तथा डोनेपेजिल (1997)। इनसे मस्तिष्क के भीतर ऐसीटोकोलीन का विघटन मन्द पड़ जाता है, किन्तु टैक्रीन से यकृत क्षतिग्रस्त हो सकता है। हाल ही में पार्किन्सन रोग के लिए प्रयुक्त होने वाली दवा सेलेगिलीन को इस रोग में भी लाभप्रद बताया गया है।

कुछ शोधकर्ताओं का विचार है कि एलजाइमर रोग में शोथ (सूजन) की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं अतः शोथरोधी औषधियाँ, यथा इबुप्रोफेन, भी लाभप्रद हो सकती हैं।

कुछ शोधकर्ताओं ने हृदयाघात तथा एलजाइमर रोग में संबंध खोजने का प्रयत्न किया है। विशेषज्ञों को बहुत पहले से सन्देह रहा है कि मस्तिष्क में प्रतिबंधित रक्त आपूर्ति के कारण यह रोग उत्पन्न हो सकता है। किन्तु वे इसे सिद्ध नहीं कर पाये।

अब तो इसी के प्रयास हो रहे हैं कि इस रोग की शुरुआत को विलम्बित किया जा सके। यदि इसे 5 वर्ष के लिए भी विलम्बित किया जा सके तो रोगियों की संख्या घट कर आधी हो जावेगी। किन्तु इसका अन्तिम उपचार जीनी आधार होगा।

तो भी कुछ शोधकर्ता बीटा ऐमीलायड पेप्टाइड के निर्माण को रोकने के लिए कुछ रंजकों यथा कांगो रेड का प्रयोग कर रहे हैं। दक्षिणी सैन फ्रांसिस्को के डेल शेन्क तथा उनके सहयोगी बीटा-ऐमीलायड पर आधारित वैक्सीन की खोज में लगे हैं।

स्मरण रहे कि बुढ़ापे का स्मृति दोष (विस्मृति) एलजाइमर रोग का संकेत कदापि नहीं किन्तु जिन्हें यह रोग होता है उनमें विस्मृति भी एक लक्षण है।

निर्वाचित

विज्ञान परिषद् प्रयाग के पूर्व सभापति श्री गजानन्द आर्य परोपकारिणी सभा अजमेर के प्रधान निर्वाचित किये गये हैं। इस उपलब्धि पर विज्ञान परिषद् प्रयाग उन्हें शुभकामनाएँ प्रेषित करता है।

–सम्पादक

बंध्यता की समस्या

आई.सी.एम.आर. पत्रिका से संकलित

विश्व का कोई भी देश बंध्यता की समस्या से अछूता नहीं है, हालाँकि, भौगोलिक एवं सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण से इनके कारण और विस्तार में भिन्नता हो सकती है। प्रजननशील आयु वर्ग के लगभग 8–10 प्रतिशत दम्पति साधारणतया शिशु जन्म देने में असफल होने के दो वर्षों के भीतर चिकित्सीय सहायता प्राप्त करते हैं। अनुमानतः विश्व में प्रति वर्ष 6–8 करोड़ दम्पति बंध्यता की चपेट में आते हैं जिनमें लगभग 1.5–2 करोड़ दम्पति केवल भारत में ही हैं। इस समस्या के विस्तार पर तत्काल काबू पाना जरूरी है, विशेषतया जब बंध्यता की अधिकांश घटनाएँ रोकी जा सकती हैं।

विगत वर्षों में अशुक्राणुता, डिम्बवाहिनी नली के अवरुद्ध होने अथवा अज्ञात कारणों से हुई बंध्यता के इलाज में बहुत सफलता नहीं मिलती थी। निःसन्तान दम्पति को कारगर सहायता प्राप्त करने का बहुत कम अवसर प्राप्त था। पिछले कुछ वर्षों में जानकारी तथा विशिष्ट नैदानिक विधियों की उपलब्धता बढ़ जाने के साथ बंध्यता के चिकित्सा प्रबन्ध में काफी सुधार आया है। विशेषज्ञता के साथ बंध्यता का उपचार करने वाली अनेक क्लीनिकें खुल गई हैं जिनमें इलाज के कई विकल्प उपलब्ध हैं। विश्व के सर्वप्रथम 'टेस्ट ट्यूब' शिशु लूइज़ ब्राउन का जन्म वर्ष 1978 में हुआ था जहाँ डिम्बाणुजन कोशिका (ऊसाइट) का निषेचन, शरीर के बाहर किया गया था और भ्रूण की वृद्धि माता की कोख में हुई थी। यह घटना बड़ी संख्या में बंध्य दम्पतियों के लिए आशा की नई किरण ले आई। उसके बाद से सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों में बड़ी प्रगति हो गई जिससे शुक्राणुरहित पुरुषों, पूर्णतया अवरुद्ध डिम्बवाहिनी नली अथवा अन्तर्गर्भाशय अस्थानता सहित महिलाओं और कई अन्य निराश दम्पतियों को संतान प्राप्ति का अवसर प्राप्त हुआ है। केवल ब्रिटेन में ही मौजूद 76 केन्द्रों में प्रतिवर्ष अन्तःपात्र विधि द्वारा निषेचन के 30,000 से अधिक चक्रों का संचालन होता है। वित्तीय प्रतिबन्धों के बावजूद भी चिकित्सा जगत में सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों के क्षेत्र में हुई प्रगति नवीन प्रगतियों से अप्रभावित नहीं है। वैज्ञानिक रूप से प्रलेखित भारत की प्रथम 'टेस्ट ट्यूब' बेबी (हर्षा) का जन्म वर्ष 1986 में हुआ था।

बंध्यता के इलाज के लिए सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों हेतु सुविधाएँ स्थापित करना महँगी प्रक्रिया है। आजकल ऐसी अधिकांश सेवाएँ निजी क्षेत्र द्वारा प्रदान की जा रही हैं जिससे इन उन्नत विधियों का लाभ संभ्रान्त आबादी तक ही सीमित है। प्रश्न उठता है कि एक अरब की आबादी वाले देश में जिसकी एक तिहाई आबादी संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित गरीबी की रेखा पर अथवा उससे नीचे है, क्या सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों के प्रयोग के माध्यम से राज्य द्वारा प्रायोजित बंध्यता प्रबन्धन सेवाएँ स्थापित की जानी चाहिए? अथवा क्या इन विधियों का लाभ केवल संभ्रान्त लोगों तक ही सीमित होना चाहिए? भारत में प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में शिशु और बच्चे मुख्यतः स्वच्छ पेय जल, स्वच्छता सुविधाओं तथा टीकाकरण के अभाव में मौत का शिकार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में बंध्यता के महँगे इलाज पर धन व्यय करना कहाँ तक नैतिक एवं व्यावहारिक है, जबकि यह न तो जानलेवा है और न

ही बड़ी संख्या में लोगों को इसकी जरूरत पड़ेगी। सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों के माध्यम से बड़ी संख्या में विशेषतया अल्प साधनसम्पन्न समुदायों के बंध्य व्यक्तियों की पहचान करना और उनका चिकित्सा प्रबन्ध करना स्वास्थ्य सेवाओं के प्रदानकर्ताओं के लिए एक चुनौती है। इस आलेख में सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकियों की उपयोगिता तथा अल्प साधनसम्पन्न देशों में बंध्यता के चिकित्सा प्रबन्ध हेतु ऐसी विधियों की आवश्यकता और औचित्य का विवरण प्रस्तुत है।

बंध्यता के इलाज की आवश्यकता

बंध्यता की दुःखद स्थिति चाहे स्वतः हो अथवा प्रेरित, किसी दम्पति को प्रजननशील आयु में प्रजनन से रोकती है। प्राथमिक बंध्यता के अन्तर्गत किसी दम्पति के एक बार भी गर्भधारण नहीं होता। इसके विपरीत द्वितीयक बंध्यता के अन्तर्गत किसी दम्पति में कम से कम एक बार गर्भधारण होता है परन्तु दसो वर्षों अथवा अधिक अवधि के बाद उनमें सगर्भता नहीं हो पाती। बंध्यता की केवल 5 प्रतिशत घटनाएँ शरीर रचना, आनुवंशिक, अन्तःस्राव प्रणाली और प्रतिरक्षा सम्बन्धी समस्याओं के कारण होती हैं जबकि शेष घटनाएँ यौन संचारित रोगों, परजीवी रोगों, स्वास्थ्य सम्बन्धी हानिकर विधियाँ और नीतियाँ अपनाने, असुरक्षित गर्भपात, और प्रयुक्त पदार्थों की विषाक्तता जैसी स्थितियों के कारण होती हैं, जिनसे बचा जा सकता है।

बंध्यता-एक रोग

महिलाओं में बंध्यता अथवा बाँझपन के कारणों में डिम्बवाहिनी नली से सम्बद्ध रोग, डिम्बक्षरण क्रिया की गड़बड़ी, अन्तर्गर्भाशय अस्थानता, प्रतिरक्षा सम्बद्ध कारकों, जन्मजात असामान्यताओं और यौन क्रिया में गड़बड़ी जैसी स्थितियाँ सम्मिलित हैं अथवा कारण अज्ञात भी हो सकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के नैदानिक मापदण्ड पर आधारित 25 विकसित और विकासशील देशों में 34 केन्द्रों से 8456 बंध्य दम्पतियों के आँकड़े प्राप्त किए गए जिसके परिणामस्वरूप बंध्यता की अधिकांश (लगभग 41 प्रतिशत) घटनाओं में डिम्बवाहिनी नली में अवरोध अथवा उसकी अन्य असामान्यताओं का हाथ था। यह स्थिति बहुधा यौन संचारित रोगों (गोनोरिया और क्लैमाइडिया संक्रमणों), उदर के क्षयरोग, प्रसव और गर्भपात के बाद होने वाले संक्रमणों से हुए चिरकारी श्रोणि शोथज रोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। अफ्रीका के 85 प्रतिशत, लैटिन अमरीका के 44 प्रतिशत, एशिया के 39 प्रतिशत और विकसित देशों में 36 प्रतिशत बंध्य दम्पतियों में बंध्यता का एकमात्र कारण डिम्बवाहिनी नली दोष पाया गया।

महिलाओं में बंध्यता का दूसरा सबसे सामान्य (38 प्रतिशत) कारण अन्तःस्रावी ग्रंथि से सम्बद्ध पाया गया जिसमें डिम्बक्षरण से असम्बद्ध अल्पऋतुस्राव, अन्तर्जात जननग्रंथिज एवं पीयूषिका हॉर्मोनों के असामान्य अथवा निम्न स्तरों से उत्पन्न ऋतुस्राव न होने की स्थिति, और डिम्बक्षरण से असम्बद्ध और अनियमित चक्रों जैसी स्थितियाँ सम्मिलित हैं। लगभग 35 प्रतिशत महिलाओं में बंध्यता का कारण अज्ञात बताया गया। इस वर्ग की कुछ महिलाओं में श्रोणि के भागों के परस्पर जुड़ने, डिम्बवाहिनी नली में दोष अथवा अन्तर्गर्भाशय अस्थानता जैसी स्थितियाँ रही होंगी परन्तु लैप्रोस्कोपी (अन्तरुदरदर्शन) विधि द्वारा जाँच न होने की वजह से ये स्थितियाँ प्रदर्शित नहीं थीं।

बंध्य पुरुषों की लगभग आधी संख्या में सबसे सामान्य रूप में मौजूद किसी कारण की पहचान नहीं की गई। कुछ अध्ययनों में तो 80 प्रतिशत तक बंध्य पुरुषों में कोई कारण नहीं बताया गया है। पुरुष बंध्यता के लगभग 24 प्रतिशत मामलों में शुक्राणु दुष्क्रिया का हाथ बताया गया है। इससे संभवतः पुरुष प्रजनन शारीरिकी और विकृतिविज्ञान सम्बन्धी जानकारी का अभाव होना प्रदर्शित होता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के तत्वाधान में 6000 बंध्य दम्पतियों पर सम्पन्न एक अध्ययन में 51.1 प्रतिशत में पुरुष बंध्यता की स्थिति की पहचान की गई। पुरुष बंध्यता के विभिन्न कारणों में दोषपूर्ण शुक्राणु उत्पादन, शुक्राणु दुष्क्रिया और परिवहन में कमी जैसी स्थितियाँ सर्वाधिक पाई गईं। दोषपूर्ण शुक्राणुजनन के पीछे पीयूषिका विकारों, आनुवांशिक कारकों, वृषण में कैंसर,

जनन कोशिका का विकसित नहीं होना, वृषणकोश में सूजन, कुछ औषधियों, पर्यावरणी एवं चिकित्सीय कारकों अथवा जीवविष (टॉक्सिन) का हाथ हो सकता है शुक्राणु और उसके जमाव में दोष जन्मजात, प्रतिरक्षा, संक्रामक, तंत्रिकाजन्य अथवा मनोवैज्ञानिक कारकों से उत्पन्न हो सकता है।

बंध्यता सम्बद्ध कारण लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं और कुछ हद तक भौगोलिक स्थान पर भी निर्भर करते हैं। विकासशील देशों में प्रेरित बंध्यता की घटनाएँ अपेक्षाकृत काफी अधिक हैं। निम्न आर्थिक स्तर के कम शिक्षित लोगों में इसकी घटना उच्च है। इसके विपरीत विकसित देशों में अथवा उच्च सामाजिक-आर्थिक स्तर के व्यक्तियों में बंध्यता के पीछे मुख्यतः आनुवंशिक, शरीररचना, अथवा अन्तःस्रावी प्रणाली सम्बद्ध दोष जिम्मेदार पाए गए हैं।

बंध्यता-एक दुःखद स्थिति

बंध्यता जानलेवा स्थिति नहीं होती परन्तु इसके साथ सामाजिक कलंक और वैयक्तिक कमी की एक हीन भावना जुड़ी होती है। इससे दम्पति व्यक्तिगत प्रसन्नता, बच्चों के साथ सम्बन्ध, पितृत्व की अनुभूति और वृद्धावस्था की सुरक्षा से वंचित रहता है और व्यक्ति को गहरे मानसिक आघात की पीड़ा पहुँचाती है। भले ही पुरुष दम्पति बंध्यताग्रस्त हो परन्तु आमतौर पर महिला दम्पति इस समस्या के लिए स्वयं को दोषी मानती हैं। अधिकांश महिलाएँ बंध्यता को सबसे बदतर स्थिति मानती हैं। कुछ विशिष्ट समाजों के अन्तर्गत न्यूक्लियर परिवार (केवल पति, पत्नी और उनके बच्चे) से बाहर खून के रिश्ते अधिक महत्व नहीं रखते। वहाँ बंध्यता का मुद्दा केवल दम्पति तक ही सीमित रहता है। बच्चे की चाहत बाहरी हस्तक्षेप के बिना दम्पति का अपना निर्णय होता है। फिर भी, अधिकांश विकासशील देशों में बंध्यता दम्पति की व्यक्तिगत समस्या नहीं होती। बंध्य दम्पति के माता-पिता, रिश्तेदार, पड़ोसी और संभवतः समुदाय के सभी लोग चिन्तित होते हैं।

बंध्यता का इलाज

बंध्य दम्पति पहले से गहन मनोसामाजिक दबाव से ग्रस्त होता है। केवल गोद लेने को उचित बता कर और उसके लिए उन्हें प्रेरित करके बंध्यता की समस्या दूर नहीं की जा सकती। किसी बंध्य दम्पति की आवश्यकताओं को कम प्राथमिकता देते हुए यह तर्क देना उचित नहीं कि हमारे ग्रह की जनसंख्या अत्यधिक हो गई है। अपने शिशु का पितृत्व प्राप्त करने की प्रबल अपेक्षा होती है और यह दम्पति का मौलिक अधिकार होता है, तथा इसका कोई भी विकल्प सनतोषजनक नहीं हो सकता। कभी-कभी बंध्यता के बाद बच्चे की मौत हो जाने के कारण पुनः प्रजननशील अवस्था प्राप्त करने की इच्छा होती है। उस स्थिति में डिम्बवाहिनी नली की सूक्ष्म शल्यक्रिया महत्वपूर्ण होती है। परन्तु पूर्व संक्रमित नलिकाओं की सूक्ष्म शल्यक्रिया अधिकांशतः क्षय रोगग्रस्त महिलाओं में विफल हो सकती है। उस स्थिति में प्रजनन प्रौद्योगिकी का सहारा लेना उनका अन्तिम विकल्प होता है। पुरुष बंध्यता की स्थितियों में भी तरह-तरह के इलाज के उपरान्त स्पष्ट सुधार नहीं होता। उनके लिए भी सूक्ष्मस्तरीय प्रक्रिया को अपनाना एकमात्र उम्मीद होती है।

ये तथ्य किसी बंध्य दम्पति के इलाज हेतु सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकी प्रदान करने के महत्व और आवश्यकता पर बल देते हैं, हालांकि सभी दम्पति बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के सदैव प्राकृतिक विषमलिंगी सम्बन्ध के माध्यम से ही शिशु जन्म को वरीयता देंगे। अतः दम्पतियों को बंध्यता की समस्या से निपटने के लिए सहायक प्रजनन प्रौद्योगिकी का सहारा लेने की आवश्यकता से अवगत कराना आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि सरकारी कानूनों द्वारा यह सुनिश्चित हो कि सुरक्षा और नैतिक मानदण्डों का अनुपालन हो, और चिकित्सक धन कमाने हेतु गुप्त रूप से इस पेशे में लिप्त न हो जाएँ।

सेहत पर कीटनाशकों का प्रभाव

✍ डॉ0 राम निवास यादव

विकास की मान्यताओं ने बढ़ती जनसंख्या का पेट भरने के लिए कृषि के क्षेत्र में जिस नुस्खे का ईजाद किया उसे हम हरित क्रन्ति के नाम से जानते हैं। अधिक सिंचाई, रासायनिक उर्वरक व कीटनाशकों का इस्तेमाल 'हरित क्रान्ति' की स्थापना की आवश्यक शर्तें हैं फलस्वरूप रासायनिक उर्वरक व कीटनाशकों का अविवेक पूर्ण ढंग से अंधाधुंध प्रयोग प्रारम्भ हुआ। आज स्थिति यह है कि कीटनाशकों का इस्तेमाल करना किसान की मजबूरी हो गई है क्योंकि यदि कीटनाशकों का प्रयोग बन्द का दिया जाए तो सारी फसल कीड़े-मकोड़े चट कर जाएँ। इतनी ही नहीं, कीटों में दिन-प्रतिदिन बढ़ती प्रतिरोध क्षमता ने कीटनाशकों के अधिकाधिक प्रयोग की अनिवार्यता को और भी बढ़ा दिया है।

पूरे विश्व में कृषि क्षेत्र में कीटनाशकों के व्यापक प्रयोग के परिणामस्वरूप मानव जीवन और पर्यावरण विनाश की ओर बढ़ रहा है। खाद्य और कृषि संगठन (एफ0ए0ओ0) के अनुसार तीसरी दुनिया के देशों में खतरनाक कीटनाशक दवाओं के इस्तेमाल से विपरीत परिस्थितियाँ पैदा हो गई हैं और ये देश कीटनाशक दवाओं के गोदाम बनने जा रहे हैं। कीटनाशकों के अविवेकपूर्ण इस्तेमाल का दुष्परिणाम कितना भयावह है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पूरे विश्व में प्रतिवर्ष 4 से 20 लाख व्यक्ति कीटनाशकों की विषाक्तता की गिरफ्त में फँसते हैं जिनमें से 2 लाख 20 हजार अपनी जिन्दगी से भी हाथ धो बैठते हैं।

भारत में कीटनाशकों की खपत सन् 1960 में 8620 टन, 1970 में 24325 टन, 1980 में 58980 टन तथा 1990 में 87670 टन व 1999 में 119670 टन प्रतिवर्ष थी। इस तरह विगत 39 वर्षों में कीटनाशी रसायनों की खपत 15 गुना के लगभग बढ़ कर चिन्तनीय स्थिति में पहुँच गई है। जिन कीटनाशकों का इस्तेमाल सबसे ज्यादा बढ़ा है वे हैं, डी.डी.टी. एवं बी.एच.सी.। इनकी सालाना खपत कुल कीटनाशकों की खपत की 60 प्रतिशत है। मजे की बात यह है कि ये दोनों ही कीटनाशक विकसित देशों में प्रतिबन्धित हैं, फिर भी तीसरी दुनिया के देशों में इनका इस्तेमाल दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान समय में तीसरी दुनिया के देशों में 35 हजार से अधिक कीटनाशी नुस्खों का इस्तेमाल हो रहा है। इनमें से कई नुस्खे विकसित राष्ट्रों में प्रतिबन्धित हैं, किन्तु भारत तथा अन्य गरीब देशों में धड़ल्ले से प्रयोग किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में पर्यावरण में लगातार जिस गति से प्रदूषण बढ़ रहा है उसे यदि समय रहते न रोका गया तो भविष्य में गम्भीर परिणाम होंगे।

कीटनाशकों ने मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण के साथ बड़ी बेरहमी से खिलवाड़ किया है। आज जमीन, हवा, पानी तथा अनाज ही नहीं, दूध और अण्डों तक में कीटनाशकों का खतरनाक जहर घुला है। हालत यह है कि गर्भ में पल रहे शिशु भी सुरक्षित नहीं हैं। कीटनाशकों की विषाक्तता की चपेट में मनुष्य तो है ही, जानवर भी इससे नहीं बच पाये हैं। केन्द्रीय खाद्य तकनीकी अनुसन्धान संस्थान द्वारा किये गये अध्ययनों में जो तथ्य उभर कर सामने आये हैं वे

काफी चौकाने वाले हैं। इन अध्ययनों के अनुसार दूध के 16 नमूनों में से 13 नमूनों में डी.डी.टी. की मात्रा 0.02 पी.पी.एम. पाई गई। मुर्गी के अण्डों में भी डी.डी.टी. की मात्रा चिन्ताजनक स्तर तक पाई गई है।

कीटनाशक मानव शरीर में कई प्रकार से प्रवेश करते हैं। खेतों में छिड़काव के समय नाक, कान, मुँह और साँस द्वारा ये शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इसके अलावा अनाज, फल व सब्जियों द्वारा और कीटनाशक प्रयुक्त चारा खाने वाले पशुओं के दूध व मांस के जरिये कीटनाशकों के अंश हमारे शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय कोयम्बटूर की एक अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार सम्पूर्ण राज्य में गायों एवं महिलाओं के दूध में कीटनाशकों के अंश निर्धारित सीमा से अधिक मिले। इसी प्रकार पंजाब की महिलाओं के दूध के नमूनों में डी.डी.टी. तथा बी.एच.सी. के अंश पाये गये हैं। 'वर्ल्ड वाच आर्गेनाइजेशन' के अनुसार माँ के दूध के जरिये बच्चे हर रोज सुरक्षित स्तर से 21 गुना अधिक खतरनाक रसायनों का विषपान कर रहे हैं। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान द्वारा किये गए अध्ययन के अनुसार दिल्लीवासियों के वसा ऊतकों में डी.डी.टी. की मात्रा 4.7 पी.पी.एम. मौजूद है।

कीटनाशकों ने जल प्रदूषण की समस्या को भी बढ़ाया है। वैसे भी धरती पर पीने योग्य कुल पानी की मात्रा 0.3 प्रतिशत ही है। ऐसे में जल प्रदूषण की समस्या ने पूरे विश्व में पेय जल के संकट को और भी गम्भीर कर दिया है। विभिन्न माध्यमों से होने वाले प्रदूषण के कारण इस समय भारत की लगभग सभी नदियाँ प्रदूषण के गिरफ्त में हैं। देश का 70 प्रतिशत पानी प्रदूषित हो चुका है। कीटनाशकों के कारण धरातलीय एवं भूमिगत जल-स्रोत भी प्रदूषित हो गए हैं। आज जल में विद्यमान फास्फेट, कैल्शियम, मैग्नीशियम, सल्फेट, फ्लोराइड, नाइट्रेट, साइनाइड, आर्सेनिक, पारा, टिन, मैंगनीज, जस्ता, ताँबा आदि का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इन रसायनों की काफी बड़ी मात्रा कीटनाशक उद्योगों के जरिए जल में पहुँचती है। जल के साथ-साथ कीटनाशकों ने हवा में भी जहर घोला है। क्लोरीन, सायनाइड, फीनोल, डी.डी.टी., बी.एच.सी., मैलाथियान, फोरेट, एण्डोसल्फान आदि हवा में मिलकर वायु प्रदूषण की समस्या को निरन्तर बढ़ा रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत कीटनाशी हादसों के मामले में तीसरे स्थान पर है।

वर्षा के जल के साथ कीटनाशकों की बची-खुची मात्रा तालाबों, नदियों, झीलों और समुद्रों में चली जाती है। इससे जलीय जीव-जन्तुओं को काफी नुकसान हो रहा है। जल प्रदूषण के मामले में पारे की मात्रा बहुत अधिक हानिकारक पाई गई है। जल स्रोतों में मौजूद मछली खाने वाले विभिन्न रोगों से जूझ रहे हैं। दिल्ली स्थित श्रीराम औद्योगिक शोध संस्थान ने कुछ दिनों पहले दूध, चावल, गेहूँ और फूलगोभी का सर्वेक्षण किया तथा पाया कि सभी खाद्य पदार्थों में कीटनाशकों की मात्रा का स्तर काफी ज्यादा है। शोध संस्थान ने पाया कि ये कीटनाशक केन्द्रीय स्नायु तन्त्र को प्रभावित करने के साथ-साथ मांसपेशीय विकृतियाँ भी पैदा करते हैं और कैंसर का कारण बनते हैं। बी.एच.सी. द्वारा रक्तचाप बढ़ता है और डी.डी.टी. के प्रभाव से जिगर बढ़ जाता है। पर्यावरण चेतना के क्षेत्र में कार्य कर रही हरियाणा पर्यावरण संरक्षण एवं शोध समिति के शोधकार्यों में भी यह पाया गया कि भिवानी जिले के विभिन्न गाँवों के तालाबों व जोहड़ों में कीटनाशकों की पर्याप्त मात्रा मौजूद है। ये कीटनाशक वर्षा के जल के साथ खेतों से बहकर तालाब व जोहड़ों में पहुँच जाते हैं।

कीटनाशक रसायनों का बड़ा दुर्गुण यह है कि ये वर्षों तक अपने जहरीले रूप में बने रहते हैं। यही कारण है कि फसलों पर छिड़के गए कीटनाशकों का अधिकांश हिस्सा मिट्टी, हवा तथा जल में जहर घोल रहा है। भारत में कीटनाशी रसायनों से पर्यावरण को जो हानि हो रही है उसकी स्थिति यह है कि जमीन बंजर होनी शुरू हो गई। पंजाब के लुधियाना और गुजरात के राजकोट जिले की दशा तो काफी शोचनीय है। इन स्थानों पर हरित क्रान्ति के आगमन के बाद कीटनाशकों का प्रयोग जिस अविवेकपूर्ण ढंग से बढ़ा है उसका नतीजा यह है कि भूमि का बंजरपन दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। कीटनाशकों का

अंधाधुंध इस्तेमाल इसी तरह जारी रहा तो देश के अन्य भागों की जमीनें भी अपनी उर्वराशक्ति खो देंगी।

अमरीकी कीटनाशी विशेषज्ञ डेविड पाइमेण्टल ने 'बायोसांइस' नामक एक रिसर्च जर्नल में प्रकाशित एक शोधपत्र में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जब कीटनाशी रसायनों का प्रयोग पेड़-पौधों, फलों व साग-सब्जियों पर किया जाता है तो उनका मात्र एक प्रतिशत भाग ही अपने सही लक्ष्य पर प्रभावी होता है जबकि शेष 99 प्रतिशत पर्यावरण को प्रदूषित करता है। कीटनाशकों के मामले में एक बहुत बुरा पक्ष यह है कि धीरे-धीरे कीटनाशकों का असर कीट-पतंगों पर घटता जाता है। दरअसल जब किसी रसायनन का प्रयोग किसी कीट विशेष को खत्म करने के लिए लगातार काफी दिनों तक होता है तो उस कीट के अन्दर भी उस रसायन विशेष से लड़ने का धीरे-धीरे विकास होने लगता है। यही कारण है कि डी.डी.टी. जैसे विषैले कीटनाशक का असर अब मच्छरों पर उतना प्रभावी नहीं रहा। परिणामस्वरूप कीटनाशकों का प्रयोग बढ़ा दिया जाता है।

कीटनाशकों के अंधाधुंध प्रयोग के चलते उन प्राकृतिक तरीकों पर भी गाज गिरी है जो परम्परागत रूप से सदियों से कीड़े-मकोड़ों से फसलों को बचाने के लिए इस्तेमाल किए जाते रहे हैं। मिट्टी, पानी, हवा और फसलों के मध्य जो निरापद अन्योन्याश्रित संबंध था, रासायनिक खेती ने उस पर वज्रपात किया है। इस पूरे कुचक्र से मित्र कीड़े नष्ट हो रहे हैं और पौधों की रोग प्रतिरोधी क्षमता घट रही है।

एक अनुमान के अनुसार लगभग एक हजार कीटों में से एक कीट हानिकारक होता है और उसके चक्कर में अनेक लाभदायक कीट भी कीटनाशकों का शिकार हो जाते हैं। केचुओं, तितलियों और मधुमक्खियों को भी कीटनाशकों का शिकार होना पड़ता है। उधर कीटनाशकों के लगातार प्रयोग के कारण कई हानिकारक कीटों पर कीटनाशक अपना प्रभाव नहीं डाल पाते हैं। सन् 1938 में कीटनाशक दवाओं के प्रति प्रतिरोध क्षमता पैदा करने वाले कीट-पतंगों की संख्या मात्र 7 थी जो अब बढ़कर 500 तक पहुँच गयी है। अतः कीटनाशकों के बढ़ते प्रयोग पर यदि रोक नहीं लगाई गई तो पर्यावरण में घुलता जहर मनुष्य तक के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर सकता है। अब यह बहुत जरूरी हो गया कि कीटनाशकों का कोई निरापद विकल्प तलाशा जाए। इस दिशा में प्राचीन परम्परागत तरीकों को वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाना भी काफी फायदेमंद हो सकता है। कीटनाशकों से होने वाले नुकसान के मद्देनजर यह भ्रम अब त्याग देने की जरूरत है कि इनके इस्तेमाल से उपज बढ़ेगी और किसान खुशहाल होंगे।

📖 महासचिव
हरियाणा पर्यावरण संरक्षण एवं शोध समिति
पर्यावरण भवन, चरखी दादरी (हरियाणा)

भुज में भयानक भूकम्प

26 जनवरी 2001 को प्रातः 8 बजकर 46 मिनट पर गुजरात राज्य में भूकम्प के भीषण झटके लगे। इस भूकम्प का केन्द्र भुज नगर के पास था। इसका प्रभाव राजस्थान, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली व पंजाब तथा पाकिस्तान के सिंध, पंजाब व उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त तक महसूस किया गया। इस भूकम्प की तीव्रता रिक्टर पैमाने पर 6.9 मापी गई है। इस कारण गुजरात के अनेक नगरों में जन-धन की भारी क्षति हुई है। मृतात्माओं के प्रति विज्ञान परिषद् परिवार शोक व्यक्त करता है।

– सम्पादक

विषैले पौधे

✍ प्रदीप शर्मा

विषैले पौधों के बारे में मानव की जानकारी अति प्राचीन समय से है जो उसने समय-समय पर संयोग से, अनुभव द्वारा अथवा अनुसंधान द्वारा एकत्र की। ये पौधे जहाँ एक तरफ मानव तथा जानवरों के जीवन और शारीरिक क्रियाओं के लिए घातक व खतरे से भरपूर हैं वहीं दूसरी तरफ उनमें से कई पौधे नियमित मात्रा में अपने प्रभावकारी औषधीय गुण दर्शाते हैं और अनेक व्याधियों से छुटकारा दिलाने में सहायक होते हैं। कई पौधे जो कीटों तथा असमतापी प्राणियों के लिए विषालु होते हैं तुलनात्मक रूप से मनुष्य तथा समतापी प्राणियों के लिए हानिरहित होते हैं, जिन्हें आमतौर पर कीट तथा नाशकजीवों के विरुद्ध प्रयोग में लाया जाता है।

आदि मानव खाद्य पदार्थों की तलाश में विषैले पौधों के समीप भी अवश्य आया होगा और जल्दी ही उसने संयोगवश व अपने अनुभव द्वारा ऐसे पौधों को अपने भोजन में सम्मिलित करना रोक दिया होगा। पौधे के सभी भाग अनिवार्य रूप से विषैले नहीं होते, गुलाब के कुल वाले अनेक पौधों के बीजों में प्रूसिक अम्ल के घातक अंश होते हैं जबकि फलों के गूदेदार भाग साधारणतः खाने के काम आते हैं, जैसे कि खुमानी। कभी-कभी ऐसा भी पाया गया कि जानवरों की एक जाति के लिए एक घातक विषैला पौधा जानवरों की ही दूसरी जातियों के लिए एक साधारण यानी अविषालु पौधा ही रहता है, जैसे कि बेलाडोना। बेलाडोना कई जानवरों के लिए विषैला होने के बावजूद खरगोश के लिए अधिक मात्रा में भी विषालु नहीं होता।

कुछ विषैले पौधों का यदि सेवन कर भी लिया जाए तो वे किसी अंग विशेष पर ही अपना कुप्रभाव दर्शाते हैं और इतने घातक नहीं होते कि उनसे तुरंत मृत्यु अथवा शरीर में कोई भारी क्षति हो जाए, बल्कि वे अंग अपना कार्य करने में ढीले पड़ जाते हैं और जीवन लीला समय से पूर्व समाप्त हो जाती है। कुछ पौधे केवल ताजी अवस्था में ही मानव और प्रणियों के लिए विषैले होते हैं और शुष्क होने पर अथवा पकाने पर खाद्य होते हैं जैसे कि *डायोस्कोरिया* तथा अरवी कुल के पौधे।

कुछ पौधे जो साधारणतः मनुष्यों तथा जानवरों को महत्वपूर्ण खाद्य उपलब्ध कराते हैं वे विशेष अवस्थाओं में कुछ विषैले पदार्थ पैदा करते हैं जो घातक सिद्ध होते हैं। जैसे आलू अंकुरित होने पर सोलेनीन नामक घातक ऐल्कलॉयड पैदा करता है। इसी प्रकार गेहूँ कुल के अनेक पौधों में शुष्क अवस्था में और मुरझाते समय हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण पशुधन की हानि होती है और पूरे विश्व में गंभीर परिणाम सामने आये हैं। ज्वार इसका एक उदाहरण है। इसके अतिरिक्त जंगली मटर का अधिक मात्रा में लम्बे समय तक सेवन करने से विकृतिजन्य स्थिति पैदा हो जाती है। यदि सभी अथवा विशेष परिस्थितियों में किसी पौधे (सम्पूर्ण पौधा अथवा पौधे के किसी भाग) का सेवन करने पर अथवा उसका स्पर्श करने पर घातक प्रभाव सामने आये और उसमें उपस्थित अभिज्ञात अथवा अनभिज्ञात पदार्थों के कारण तुरंत अथवा कालांतर में मृत्यु हो जाए तो वह पौधा विषैला कहलाएगा।

विषैले पौधों के प्रकार

1. क्षोभक विष : इस वर्ग में आने वाले पौधे शरीर के जिस भाग के संपर्क में आते हैं उस भाग पर शोथ पैदा कर देते हैं। यदि इन्हें भूल से भी निगल लिया जाए तो ये सम्पूर्ण जठर आंत्र पथ में शोथ पैदा कर पीड़ा, मचली, वमन, रेचन, और यहाँ तक कि प्रलाप, कोमा, निपात और मृत्यु तक ला सकते हैं।

2. तंत्रिका-पेशी विष : तंत्रिका तथा पेशी विष तंत्रिका पेशी अंगों पर प्रभाव डालते हैं। इस वर्ग के अंतर्गत कई शक्तिशाली विष जैसे कि ऐल्कलॉयड तथा ग्लुकोसाइड आते हैं जो अल्प मात्रा में ही भंयकर प्रभाव डालते हैं। इनमें एक तो वे होते हैं जो तंत्रिका तंत्र को अत्यधिक उद्दीपित करके ऐंठन तथा आक्षेप उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के तौर पर कुचला से प्राप्त स्ट्रिकनीन तथा बेलाडोना से प्राप्त एट्रोपीन। दूसरे वे होते हैं जो अवसाद पैदा करके चिर निंद्रा अथवा कोमा अथवा अंगघात की स्थिति ला देते हैं। जैसे कि अफीम में विद्यमान मॉरफीन। तीसरी तरह के वे होते हैं जो सीधे ह्रदय पर असर डालते हैं तथा ह्रद विष कहलाते हैं, जैसे कि *डिजिटैलिस* और *स्ट्रोफैन्थस*।

3. रक्त विष : रक्त विष वे होते हैं जो सीधे रक्त के घटकों पर प्रभाव डालते हैं। ये श्यामता, एकीमासिस, तथा त्वचा का विवर्णन करते हैं। रक्त विष पैदा करने के लिए क्रमशः अरंड, जमालगोटा तथा रत्ती में विद्यमान रिसिन, क्रोटिन तथा एब्रिन उत्तरदायी होते हैं। प्रूनस जातियों के सायनोजनित ग्लुकोसाइड युक्त पौधों में विद्यमान हाइड्रोसायनिक अम्ल भी रक्त विष का काम करते हैं।

विषालु तत्व

पौधों में विषैलापन पैदा करने के लिए पौधों में उपस्थित कुछ अन्य विषालु तत्व भी उत्तरदायी होते हैं, जैसे कि एमीन, प्यूरीन, ग्लुकोसाइड, सैपोनिन, तिक्त पदार्थ, विषालु प्रोटीन, अवाष्पशील तेल, सगंध तेल, रेजिन, कार्बनिक अम्ल, टैनिन तथा सेलीनियम व फ्लोरीन यौगिक।

कनेर, हॉप, गाजर, धतूरा, भाँग, *एपियम ग्रेवियोलेंस*, तथा *एनागैलिस आर्वेन्सिस* की पत्तियों, शतावर के नये तनों, आक व *यूफोर्बिया* जातियों से निकलने वाले दूध, भाँग व गाजर के फूलों व फलों, तथा काजू की फलभित्ति तथा स्तंभ से निकलने वाले रस से त्वकशोथ हो जाता है।

यौगिकों का एक महत्वपूर्ण वर्ग नाइट्रोजन युक्त वनस्पति बेस बनाता है जिसके अंतर्गत एमीन, प्यूरीन तथा ऐल्कलॉयड आते हैं। एमीन साधारण प्राकृतिक बेस हैं जो मुख्य रूप से अमीनों अम्ल से निकाले जाते हैं। ये *रोडोडेन्ड्रान फ्लेवेसेन्स* तथा *क्लैविसेप्स पर्प्यूरिया* में पाये जाते हैं।

चाय, कॉफी तथा कोको में सक्रिय तत्व के रूप में पाया जाने वाला नाइट्रोजनी यौगिक प्यूरीन है। ऐल्कलॉयड जटिल विषमचक्रीय नाइट्रोजनी यौगिक हैं जो विषालु तथा अविषालु दोनों प्रकार के होते हैं। विषालु ऐल्कलॉयड एकोनिटीन एकोनाइट की जड़ों से तथा मारफीन अफीम से प्राप्त किये जाते हैं। स्ट्रिकनीन कुचला (बीज) से तथा निकोटीन तम्बाकू से प्राप्त किये जाते हैं।

ग्लूकोसाइड स्वयं यद्यपि न्यूनाधिक घातक होते हैं लेकिन अत्यंत विषालु हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करते हैं। कड़वे बादामों में एमिग्डेलिन; अलसी तथा डफिन बीन में फेज़ियोल्यूनेटिन, जंगली चेरी में प्रूनेसिन होते हैं। विभिन्न घासों में, जो सामान्यतः चारे के काम आती हैं, सायनोजनित ग्लूकोसाइड होता है। कुकरबिटेसी यानी खीरा, ककड़ी वाले कुल के अनेक पौधों में तिक्त स्वाद वाले तत्व पाये जाते हैं। शिम्बी कुल के पौधों में विषालु प्रोटीन पाया जाता है, जैसे कि रत्ती व *केसिया*। यूफोर्बियेसी कुल में जमालगोटा, अरंड तथा जैट्रोफा में विषालु प्रोटीन रक्त विष होता है तथा वह लाल रक्त कोशिकाओं को समूहित तथा अवक्षेपित कर देता है।

अवाष्पशील तेल सामान्यतः मृदुविरेचक होते हैं, लेकिन कुछ अवाष्पशील तेल घातक रेचन क्रिया दर्शाते हैं, जैसे कि जमालगोटा तथा एरंड। संगध तेल अधिक मात्रा में सम्पूर्ण जठर आंत्र पथ में तीव्र शोथ के लिए उत्तरदायी होते हैं और पीड़ा, वमन तथा प्रवाहिका

प्रारंभ कर देते हैं। नटमैग में होने वाले सगंध तेल सीधे तंत्रिका तंत्र पर प्रभाव डालते हैं। सगंध तेल के प्रभाव से केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र पहले उद्दीपित तथा बाद में अवनमित हो जाता है।

रेज़िनों में विरेचक गुण होते हैं जो सिट्रुलस *कोलोसिन्थिस* में पाए जाते हैं। फफोले तथा छाले और शोथ पैदा करने वाले रेज़िन काजू तथा रस जातियों में पाए जाते हैं। *टैफरोसिया* जाति तथा ऑक और भाँग में पाए जाने वाले रेज़िन कीटनाशक तथा विषालु होते हैं,

विषालुता दर्शाने वाले कार्बनिक अम्लों में आक्सैलिक अम्ल प्रमुख है जो बहुसंख्यक पौधों में कैल्सियम, सोडियम तथा पोटैशियम ऑक्सलेट के रूप में पाया जाता है। कुछ पौधों में शोथ पैदा करने वाला फार्मिक अम्ल भी पाया जाता है। बहुत से पौधों की पत्तियों, छालों तथा विकृतिजन्य रचनाओं में टैनिन पाया जाता है जिसके कारण पशुधन में विषाक्तन होने की संभावनाएँ रहती हैं, जैसे एकोरस तथा ओक की पत्तियाँ।

कुछ पौधों में ऐसे तत्व होते हैं जो प्रकाश से प्रभावित होते हैं। जब ये पशुधन द्वारा खा लिये जाते हैं तो उन्हें प्रकाश के प्रति संवेदनशील बना देते हैं। ऐसे पशु चारा चरने के उपरांत प्रकाश में आने पर गंभीर लक्षण दर्शाते हैं। ऐसा केवल उन्हीं पशुओं के साथ होता है जिनकी त्वचा वर्णरहित होती है। प्रकाश से प्रभावित होने वाले ये तत्व *बकव्हीट, फेगोपायरम एस्कुलेंटम, ट्राइबुलस टैरिस्ट्रिस* तथा *ट्राइफोलियम* व *पालीगोनम* की कुछ जातियों में पाये जाते हैं।

सेलीनियम युक्त भूमि में उगने वाले कुछ पौधों में सेलीनियम की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वे विषैले हो जाते हैं। गेहूँ जो साधारणतः अविषालु होता है सेलीनियम युक्त भूमि पर उगाए जाने के बाद विषालु हो जाता है, जिसके कारण गोपशुओं में 'ऐलकली डिज़ीज' तथा 'ब्लाइंड स्टैगर्स' नामक बीमारियाँ हो जाती हैं। भूमि में फ्लोरीन की मात्रा अधिक होने के कारण फ्लोरोसिस होने की संभावनाएँ रहती हैं।

सौरघम तथा अन्य घासों की कुछ जातियों में नयी अवस्था में मुरझा जाने पर अथवा उनमें वृद्धिरोध हो जाने पर हाइड्रोसायनिक अम्ल की अत्यधिक मात्रा पैदा हो जाती है। मकोय के कच्चे सरसफल विषालु होते हैं जबकि पके हुए खाद्य होते हैं। निषेचन से पूर्व क्राइसेन्थमम के पुष्पमुंडों में पायरेथ्रिन की मात्रा अधिक होती है जबकि बीज बनते समय यह कम हो जाती है।

बहुत से पौधों में विभिन्न किस्मों के हानिकर पदार्थ पाये जाते हैं। ये हानिकर तथा विषैले पदार्थ पौधे के पोषण के लिए वास्तव में आवश्यक नहीं होते और न ही पौधे की वृद्धि तथा विभेदन में कोई भूमिका निभाते हैं। ये हानिकर पदार्थ पौधों में उपापचयी क्रियाओं के दौरान अन्त्य उत्पाद के रूप में पैदा होकर पत्तियों, तनों, जड़ों व अन्य भागों में एकत्रित हो जाते हैं।

हमारे देश में चारण शाकभक्षी भूमि पर एक बड़े क्षेत्र में विभिन्न किस्मों के पौधे चरते हुए पाये जाते हैं, पर थोड़े ही समय में वे हानिकर पौधों का स्वतः अंदाजा लगाने में सक्षम होते हैं और उनका बहिष्कार कर देते हैं।

रामफल के बीज क्षोभक होते हैं तथा गर्भपात के लिए उत्तरदायी होते हैं। लाल पोस्त के बीजों में पीले रंग का तिक्त गुणों वाला तेल होता है। यह पौधा आंत्र संबंधी विकार पैदा कर देता है और अधिक मात्रा में खाने पर मृत्यु का कारण बनता है। सरसों के पौधों के परागकण कुछ लोगों में एलर्जी पैदा कर देते हैं। पीली हुर-हुर के बीज और पत्तियाँ त्वक्‌रक्तकारी और क्षोभक होती हैं। अलसी के बीजों में (विशेषकर कच्चे) सायनोजनित ग्लुकोसाइड तथा फंज़ियोल्यूनेटिन होते हैं जिन्हें भेड़ बकरियों को लम्बे समय तक खिलाने पर उनकी मृत्यु हो जाती है।

अमलतास की पत्तियों व फल का गूदा अत्यधिक रेचक होता है। मेंहदी के परागकण एलर्जी पैदा कर देते हैं तथा पत्तियों के स्पर्श से त्वक्‌शोथ की संभावना रहती है क्योंकि उनमें हैनोटैनिक नामक ग्लुकोसाइड विद्यमान रहता है। लेजरस्ट्रोमिया स्पेशियोसा के बीजों

में नार्कोटिक प्रभाव होता है। पपीते के बीज अधिक मात्रा में लेने से गर्भपात हो जाता है। गाजर के बीज भी गर्भपात के लिए उत्तरदायी होते हैं, तथा इनसे प्रत्यूर्जक त्वक्शोथ की भी संभावना रहती है। *एजीरेटम* **कोनीज़ॉयडीज़** के परागकण भी एलर्जी पैदा करते हैं। चाँदनी के बीज रेचक तथा अत्यंत स्वापक व विषैले होते हैं और प्रलाप व धतूरे के समान गुण दर्शाते हैं। टमाटर के तने व पत्तियों में सोलेनीन होता है जो रक्तसंलयन करता है तथा फलों की अम्लता कुछ लोगों के हाथ में एक्ज़ीमा कर देती है।

सावधानियाँ

1. हरे आलू नहीं खाने चाहिये क्योंकि ये विषैले होते हैं। ग्वारपाठे की नई पत्तियों से भी त्वक्शोथ की संभावना रहती है। मक्का के परागकण भी एलर्जी करते हैं।
2. विषैले पौधों के फूलों पर मधुमक्खियाँ रस चूसने आती हैं तो विषैले पदार्थ ले जाकर छत्ते की शहद को भी विषैला बना देती हैं। ऐसा तभी होता है जब उन्हें अन्य फूल आसानी से उपलब्ध नहीं होते।
3. बच्चे अज्ञानतावश अथवा खेल खेल में कुछ विषैले पौधों के संपर्क में आ जाते हैं और उनकी पत्तियों तथा फलों को खा लेते हैं जिनसे विषाक्तन की संभावना रहती है। ये हैं लेबर्नम, कैस्टर बीन, बेरी तथा यिऊ। टमाटर, आलू व बैंगन, जो एक ही कुल के सदस्य हैं, उनके अन्य सदस्य बच्चों को अधिक आकर्षित करते हैं और बच्चे उन्हें खाकर बीमार पड़ जाते हैं। अरंडी के पौधे में उपस्थित विषालु प्रोटीन रिसिन पौधों में पाये जाने वाले अत्यधिक तीव्र विषों में से एक है। यदि इंजेक्शन के द्वारा इसको शरीर में प्रवेश करा दिया जाए तो बहुत अल्प मात्रा में भी यह घातक सिद्ध हो सकता है।
4. जहाँ तक हो सके किसी भी प्रकार के विषालु पौधे के सेवन से बचना चाहिये, चाहे वह कम विषालु ही क्यों न हो। विष का प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होता है। एक ही व्यक्ति के जीवनकाल में विभिन्न अवस्थाओं में भी विष का प्रभाव भिन्न-भिन्न हो सकता है।

   अब सवाल यह उठता है कि पौधे का कौन सा भाग विशेष रूप से विषैला होता है ? कुछ पौधे जैसे कि धतूरा व कनेर पूर्णतः विषैले होते हैं। यहाँ तक कि उनके फूलों के मकरंद भी। कुछ अन्य पौधों में विष पौधे के कुछ विशेष भागों तक ही सीमित रहता है। वाटर हैम्लॉक की जड़ें तथा निचले भाग ही विषालु होते हैं जबकि पॉयजन हैम्लॉक की जड़ें अल्पतम विषालु होती हैं पर पत्तियों फल और बीजों में विष प्रचुर मात्रा में होता है,• यिऊ (टैक्सस) के पौधे में सर्वाधिक विषैले पदार्थ पर्णसमूहों तथा बीजों में होते हैं। रत्ती के बीज अत्यधिक विषैले पदार्थों से युक्त होते हैं।
5. भाँग के मादा पुष्पों में अधिकतम विषैले रेज़िन होते हैं यद्यपि अन्य भाग भी विषैले ही समझे जाते हैं। इस पौधे की विषालुता समय के साथ-साथ बढ़ती जाती है। लार्कस्पर की नई पत्तियाँ अत्यधिक विषैली होती हैं। बाद में चलकर पौधा अल्प विषालु रह जाता है।
6. रस (पॉयज़न आइवी) का पौधा सर्वथा ही विषैला बना रहता है, यहाँ तक कि पत्तियाँ गिर जाने के बाद तक भी। अतः ताजे तथा शुष्क दोनों ही प्रकार के पौधों से बचना चाहिये।

पौधे अपनी उपापचयी क्रियाओं के दौरान खाद्य पदार्थ ही नहीं अपितु ऐल्कलॉयड, ग्लुकोसाइड, विषैले प्रोटीन, सगंध तेल, रेज़िन तथा तिक्त तत्व भी बनाते हैं, जो कभी-कभी, विशेषकर अधिक मात्रा में इतने शक्तिशाली और विषैले होते हैं कि यदि वे मानव या प्राणी तंत्र में पर्याप्त रूप से प्रवेश पा जाएँ तो मृत्यु तक का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए विषैले पौधों और उनके हानिकारक गुणों के बारे में अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

📖 वैज्ञानिक, राष्ट्रीय विज्ञान संचार संस्थान
सी.एस.आई.आर.,के.एस. कृष्णन मार्ग,नई दिल्ली-110012

रक्ताधान

✍ सूर्यभान सिंह 'सूर्य'

रक्ताधान क्या है?

दुर्घटना या ऑपरेशन के दौरान सीमित मात्रा से अधिक रक्त (खून) का बह जाना जानलेवा साबित हो सकता है, यदि तत्काल इसकी भरपाई न की जाए। इस समस्या से निबटने के लिए देश के विभिन्न स्थानों पर 'ब्लड बैंक' स्थापित किए गए हैं, फिर भी कई बार रक्त की कमी आड़े आ जाती है। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार भारत में रक्ताधान हेतु प्रति वर्ष लगभग 35 लाख यूनिट रक्त एकत्रित होता है जबकि आवश्यकता 60 लाख यूनिट की होती है। यह बहुत गंभीर स्थिति है। लेकिन आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक ही रक्त से कई लोगों की जरूरत पूरी की जा सकती है और ऐसा करके हम उतने ही रक्त से चार-छह मरीजों को भला-चंगा कर सकते हैं, जितना एक मरीज को दिया जाता है।

शरीर में रक्त की कमी हो जाने पर बाहर से आपूर्ति करने की प्रक्रिया रक्ताधान कहलाती है। यह चिकित्सा प्रक्रिया गत सदी (बीसवीं) से थोड़ा पीछे मुड़ कर देखें तो उस समय तह बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में थी और मनुष्य को को कुछ अन्य प्रजातियों का रक्त भी चढ़ा दिया जाता था। तब न तो रक्त समूह (ब्लड ग्रुप) की जानकारी थी, न ही इसके अन्य अवयवों की। पुनः कई बार खतरनाक परिणाम भी सामने आते रहे। इस प्रक्रिया में शनैः शनैः परिमार्जन हुआ और मनुष्य का रक्त दिया जाने लगा। इस दशा में भी अक्सर प्रदाता के रक्त के थक्के बन जाते थे तथा परिणाम बुरा होता था। रोशनी की किरण सन् 1901 में फूटी जब मानव रक्त को चार समूहों में बाँटा गया। यह महत्वपूर्ण खोज महान वैज्ञानिक कॉर्ल लैण्डस्टीनर ने की। इसके साथ ही यह भी तय हो गया कि अमुक रक्त समूह वाले व्यक्ति का रक्त अमुक रक्त समूह वाले को दिया जा सकता है तथा अन्य को नहीं। इसके फलस्वरूप रक्ताधान संबंधी खतरे बहुत कम हो गए।

हालाँकि अब वैज्ञानिकों ने यह साबित कर दिखाया है कि सिर्फ उन मामलों को छोड़कर जिनमें पूरा रक्त बदलने की जरूरत होती है, अधिकांश मरीजों को सिर्फ रक्त के किसी विशेष घटक की आवश्यकता होती है, पूरा रक्त देना जरूरी नहीं होता। रक्त में मौजूद अलग-अलग घटक-लाल रक्त कोशिकाएँ, श्वेत रक्त कोशिकाएँ, प्लेटलेट्स व प्रोटीन घटक-अलग-अलग व्यक्ति का जीवन बचा सकते हैं और इस तरह हम पाते हैं कि एक ही खून कई मरीजों को दिया जा सकता है। इसके अलावा देखा गया हे कि खास रक्त प्रोटीन की जरूरत में प्लाज्मा का संचारण कई बार 'साइड इफेक्ट' भी डालता है। इसलिए यह तरीका संपूर्ण रक्त चढ़ाने की अपेक्षा ज्यादा सुरक्षित होने के साथ-साथ खून की बचत में भी सहायक होगा।

रक्त के मुख्य घटक

हमारी नस-नस में प्रवाहित रहने वाला रक्त ही वास्तव में हमारे जीवित रहने की पहचान है। इसमें प्लाज्मा नामक एक तरल पदार्थ पाया जाता है, जिसमें तीन प्रकार की कोशिकाएँ तैरती रहती हैं। इन्हें लाल रक्त कोशिकाएँ, श्वेत रक्त कोशिकाएँ एवं प्लेटलेट्स के नाम से जानते हैं।

(अ) **लाल रक्त कोशिकाएँ** : इनमें हीमोग्लोबिन पाया जाता है और इसकी वजह से ही मानव शरीर का रक्त लाल होता है। इन्हें इरिथ्रोसाइट्स भी कहते हैं। हीमोग्लोबिन एक लौहयुक्त रंजक होता है जो ऊतकों में ऑक्सीजन के परिवहन के लिए उत्तरदायी है।

(ब) **श्वेत रक्त कोशिकाएँ** : इन्हें ल्यूकोसाइट्स के नाम से भी जानते हैं और रोगों से शरीर का बचाव ही इनका मुख्य काम है। ल्यूकोसाइट्स को पुनः तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है– ग्रैन्यूलोसाइट्स, लिम्फोसाइट्स तथा मोनोसाइट्स।

(स) **प्लेटलेट्स** : प्लेटलेट्स या थ्रम्बोसाइट्स रक्तस्राव पर नियंत्रण पाने में मददगार होती हैं, क्योंकि ये थक्के जमाने (ब्लड क्लॉटिंग) का काम करती हैं। रक्त प्लेटलेट्स की संख्या कम रह जाए तो दुर्घटना इत्यादि के पश्चात् रक्त का बहना बंद नहीं होता और व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है।

(द) **प्लाज्मा** : एल्ब्युमिन, ग्लोब्युलिन व फाइब्रिनोजेन प्लाज्मा के मुख्य घटक हैं और ये प्रोटीन अवयव हैं।

एल्ब्युमिन का काम वसा, अम्ल व हार्मोन जैसे पदार्थों का परिवहन करना तथा रक्त परासरण दाब बनाये रखना है जबकि ग्लोब्युलिन में पाया जाने वाला इम्यूनोग्लोब्युलिन शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था को रोगजन्य जीवाणुओं के विरुद्ध सक्रिय रखता है और गैर इम्यूनोग्लोब्युलिन लिपिड व स्टेरॉयड्स को जोड़ता है।

राष्ट्रीय प्लाज्मा प्रभाजन केन्द्र

मुम्बई के ई.एम. अस्पताल स्थित ब्लड बैंक में सन् 1988 में **राष्ट्रीय प्लाज्मा प्रभाजन केन्द्र** की स्थापना के बाद इस दिशा में कुछ जानकारी बढ़ी है। यहाँ हर वर्ष 10 लीटर प्लाज्मा का प्रभाजन होता है, जिसके लिए स्वीडन की एक एजेंसी से तकनीकी सहायता ली जाती है। इस विधि का सूत्रपात डा0 ई. जे. कोहन ने सन् 1946 में किया था। रक्त से प्लाज्मा व प्रोटीनों को अलग करने के लिए क्रोमैटोग्राफी व कोहन विधि का इस्तेमाल होता है। ब्लड बैंकों में अब रक्त प्लाज्मा व सभी रक्त प्रोटीन तथा रक्त कोशिकाएँ अलग-अलग उपलब्ध होंगी तथा इनका इस्तेमाल अलग–अलग परिस्थितियों में किया जा सकता है।

- चिकित्सा-विज्ञानियों का मानना है कि सान्द्रित लाल रक्त कोशिकाएँ देना उन मरीजों के लिए सुरक्षित व लाभकारी है जिनमें रक्त की कमी होते हुए भी प्लाज्मा सामान्य या इससे अधिक है।
- जिन रोगियों में प्लेटलेट्स की कमी के कारण रक्तस्राव होता है उन्हें प्लेटलेट्स दिया जाना लाभकारी है।
- थैलेसीमिया अथवा अंग प्रत्यारोपण के चलते जिन्हें लम्बे समय तक रक्त देना हो उनके लिए कम सफेद रक्त कोशिकाओं वाला रक्त ही लाभकारी रहता है।
- लीवर के सिरोसिस और उदर के ऑपरेशन में अथवा जलने पर एल्ब्युमिन की जरूरत पड़ती है।
- यदि रोगी के खून में एण्टीबॉडीज की कमी है तो ग्लोब्युलिन की आपूर्ति की जा सकती है।

इस तरह रक्त की एक यूनिट में पाए जाने वाले विभिन्न अवयव एक-एक यूनिट की जरूरत वाले कई रोगियों के काम आ सकते हैं और ऐसा करना संपूर्ण रक्त चढ़ाने से कहीं ज्यादा सुरक्षित भी है हालाँकि कुछ लोग ऑपरेशन करने से पहले उसी रोगी का खून निकालकर ऑपरेशन के पश्चात् उसी को चढ़ा देते हैं। इसे **स्वरक्त संचारण** कहा जाता है।

रक्त संरक्षण

रक्त के तमाम घटकों को पृथक-पृथक करके इस्तेमाल करने में मिली सफलता चिकित्सा विज्ञान में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें मुख्य तौर पर हल्के पीले द्रव प्लाज्मा में प्रोटीन, लिपिड, अमीनो एसिड्स, कार्बोहाइड्रेट्स, हारमोन्स तथा विटामिन्स के अतिरिक्त लोहा, ताँबा, मैग्नीशियम, कैल्सियम, सोडियम, पोटैशियम इत्यादि खनिज एवं लवण भी उपस्थित रहते हैं। आज

हम चाहें तो किसी भी घटक को अत्याधुनिक रक्त बैंक से प्राप्त करके रोगी को दे सकते हैं परन्तु इन्हें सुरक्षित रखना कितना दुष्कर काम है तथा सम्भव कैसे हुआ, इसकी कहानी बहुत लम्बी है।

पहले रक्त संरक्षण में काफी दिक्कतें थीं। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशक तक हम हीमोग्लोबिन को तो दो-तीन दिन सही सलामत रख सकते थे, किन्तु रखा हुआ खून चढ़ाने लायक नहीं रहता था। एथिलीन डाईएमीन टेट्राएसीटिक एसिड के उपयोग से रक्त को प्रयोगशाला में एक-दो दिन सुरक्षित रखा जा सकता था लेकिन मरीज को चढ़ाने के गंभीर परिणाम सामने आए- आक्सैलेट्स जैसे जानलेवा विष पैदा हो जाते थे, प्लेटलेट्स की संख्या कम हो जाती थी तथा लाल रक्त कण फूल जाते थे, अतः इसके इस्तेमाल से रोगी की मौत हो सकती थी।

लुइस एगट, डी वेकी, रिचर्ड लिविसान तथा आर. वील नामक चार चिकित्सा वैज्ञानिकों ने मिलकर सन् 1914 में एक क्रांतिकारी खोज की। उन्होंने पता लगाया कि सोडियम साइट्रेट एक बेहतर और बिल्कुल सुरक्षित रक्त-प्रतिरक्षी है। सन् 1915 में लिविसान ने इस तरीके से संरक्षित रक्त 22 लोगों को चढ़ाया, जिसमें वे पूर्णतः कामयाब रहे। यह पहला अवसर था जब मनुष्य का रक्त संरक्षित रखे जा सकने में व्यावहारिक सफलता मिली। बाद में कुछ और अनुसंधान हुए तथा आइसोडाइज्ड साइट्रेट डेक्सट्रोज का इस्तेमाल सोडियम साइट्रेट के स्थान पर किया जाने लगा। इसमें लगभग 1.47 ग्राम डेक्सट्रोज, 1.32 ग्राम सोडियम साइट्रेट, 0.44 ग्राम साइट्रिक एसिड तथा 100 मिलीलीटर जल होता है। वैज्ञानिकों ने तय किया इसकी 75 मिली मात्रा 300 मिली (एक यूनिट) खून को 21 दिन तक पूर्ण सुरक्षित रखने में सक्षम है। 1947 में महान चिकित्साविज्ञानी गिल्लसन एक सप्ताह सुरक्षा अवधि पुनः बढ़ाने में सफल रहे। उन्होंने इस घोल में फास्फेट मिलाया तथा साइट्रेट फास्फेट डेक्सट्रोज (CPD) नाम दिया। अब इसकी मदद से रक्त और इसके घटक शून्य से 100 डिग्री कम तापमान पर वर्षों तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

📖 डी–1/7, न्यू कोंउली
दिल्ली–96

(पृष्ठ 5 का शेषभाग)

अध्ययनों से पशु तथा मनुष्य के बीच की दूरी निरन्तर कम होती जा रही है। किन्तु साथ ही नित नई खोजों से मस्तिष्क के नये नये भागों के कार्यों का पता चलता जा रहा है। पचास लाख वर्ष पूर्व चिम्पैंजी तथा मनुष्य का पूर्वज एक था। सत्रहवीं सदी के अनेक लोग चिम्पैंजियों को बोलने का प्रशिक्षण देते रहे हैं किन्तु असफलता ही उनके हाथ लगी है। यह सच है कि चिम्पैंजी में ध्वनि उत्पादन की क्रिया मनुष्य से सर्वथा भिन्न है। यदि उन्हें किसी तरह मनुष्य का मस्तिष्क दे दिया जाय तो वे मानव वाक् जैसी वाणी पा सकते हैं। हमारे जबड़े छोटे हैं, जिनमें बुद्धि के दाँत होने से संदूषण की गुंजाइश रहती है। हमारे दाँत छोटे होने से चबाने की क्षमता सीमित है अतः एक कौर से सीमित मात्रा में पोषक तत्वों को निचोड़ पाते हैं। हमारा स्वर यंत्र ऐसा घुमावदार है कि हमारा दम घुट सकता है किन्तु इन सब न्यूनताओं के बावजूद हमारे पूर्वजों ने हमें एक लाभ दिया है वाक् या वाणी जो सारे अभावों को दूर कर देता है। वाणी के कारण ही विचार करने या सोचने की क्षमता आई जो इसके पूर्व कभी नहीं थी। इससे सारा संसार बदल गया। प्रारम्भ में शब्द ही था।

📖 'द साइंसेज' पत्रिका में प्रकाशित
फिलिप लिबर मान के निबन्ध पर आधारित

गुँथा हुआ यथार्थ - क्वांटम अवगुंथन

✍ डॉ0 चन्द्रमोहन भंडारी

ईश्वर जुआ नहीं खेलता - आइंस्टीन
ईश्वर न केवल जुआ खेलता है अपितु कभी-कभी पासों को ऐसी जगह डाल देता है जहाँ उन्हें कोई नहीं देख सकता - स्टीफन हाकिंग

मानव के इतिहास पर नजर डालें तो साफ नजर आता है कि दो बातों ने मानव के चिंतन और व्यवहार को परिभाषित किया है- जिज्ञासा और जिजीविषा-यानी जानने की उत्कट इच्छा और जीने की उत्कट चाह। मानव के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के पिछले पाँच-दस हजार सालों के इतिहास पर नजर डालने पर यह बात साफ नजर आती है। जब भी सोचने का समय मिला सवालों और संभावित जवाबों का एक अंतहीन सिलसिला शुरू हो गया। रात दिन, मौसम के परिवर्तन, सूरज, चाँद, तारे और इन्द्रधनुष- क्या कुछ नहीं था सवालों की उस लम्बी सूची में। तब से अब तक पूछे गये हजारों सवालों में कुछ के उत्तर मिले, कुछ के आंशिक उत्तर मिले और कुछ अनुत्तरित ही रह गये। कुछ सवाल थे जो सबसे पहले पूछे गये और आज भी पूछे जा रहे हैं पर उत्तर की तलाश अभी नहीं हुई। ऐसे चार मौलिक प्रश्न हैं–

1. ब्रह्मांड की उत्पत्ति कब और कैसे हुई?
2. जीव की उत्पत्ति कैसे हुई?
3. चेतना की उत्पत्ति कैसे हुई?
4. यथार्थ का वास्तविक स्वरूप क्या है?

तब से अब तक की हजारों सालों की बौद्धिक विकास यात्रा में सबसे मौलिक ये प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं। यह अवश्य है कि बीसवीं सदी में विकसित नयी विज्ञान दृष्टि ने पहली बार इन प्रश्नों के वैज्ञानिक उत्तर ढूँढने की दिशा में कुछ सफलता प्राप्त की है और आज विज्ञान के हाथों में ऐसी सैद्धान्तिक अवधारणा है जो उपर्युक्त हर प्रश्न के संभावित उत्तरों में कहीं न कहीं शामिल है और जो स्वयं पूरी तरह स्पष्ट न होते हुए भी विश्व प्रक्रियाओं के ताने-बाने में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। वह अवधारणा है **क्वांटम भौतिकी** की।

वस्तुपरकता और विश्लेषणपरकता

विश्व प्रक्रियाओं को समझने का वैज्ञानिक प्रयास मूलतः विश्लेषणपरक है जिसमें किसी वस्तु, घटना या प्रक्रिया को उसके अवयवों में विभाजित कर समझने पर आग्रह है। यह विश्लेषणपरकता आधुनिक विज्ञान का प्रबल आधार है और पिछली सदियों में उसके त्वरित विकास का मूल कारण भी है। इस बात को सैद्धांतिक और व्यावहारिक आधार पर जाँचा-परखा गया है और न केवल विज्ञान में ही अपितु विज्ञानेतर संदर्भों में भी स्वीकारा गया है। द्रव्य जगत द्रव्य प्रधान है और अंततः हर द्रव्य छोटे अविभाज्य कणों का ही तो खेल है जिन्हें परमाणु कहते हैं। परमाणु आज अविभाज्य नहीं रहा है परन्तु अधिकतर संदर्भों में उसे द्रव्य की एक आधारभूत इकाई माना जा सकता है।

विश्व एक जटिल ताने-बाने का निष्कर्ष है जो द्रव्य के मूल कणों और उनके बीच लग रहे बलों का ही प्रतिफल है। आज की हमारी जानकारी के अनुसार लगभग दो दर्जन मूल कण और चार प्रकार के मूल बल विश्व और विश्व प्रक्रियाओं को पूरी तरह परिभाषित करते हैं। यह जानकारी आधुनिक विज्ञान की यात्रा-कथा का एक स्वर्णिम अध्याय है और पहली बार मानव को उस मोड़ पर लाकर खड़ा करने का

श्रेय उसे है जहाँ से भौतिक जगत के यथार्थ का आकलन करने की बात कुछ संभव लगने लगी है जबकि कुछ दशक पहले यह कल्पना भी करना मुश्किल था।

विश्लेषण के साथ एक और आग्रह था नयी विज्ञान दृष्टि में। यथार्थ प्रेक्षक निरपेक्ष है यानी प्रेक्षक कोई भी हो जो यथार्थ है वह है और प्रेक्षक के होने या न होने से अप्रभावित है। यह दृष्टि वस्तुपरक दृष्टि का आधार है जो आधुनिक विज्ञान के केन्द्र में है।

सूक्ष्म जगत की घटनाओं को समझने के प्रयास में जो बात खुलकर सामने आई वह थी सामान्य तर्कदृष्टि से अव्यावहारिक प्रतीत होती अवधारणाओं की स्वीकृति की बात। उलझन को बढ़ाती पर समस्या को हल करती प्रतीत होती कई अवधारणात्मक उलझनें इस नयी दृष्टि को परिभाषित करती हैं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं–

1. कण तरंग द्वैत–कण और तरंग दो विरोधी प्रतीत होती प्रवृत्तियों के एकसाथ अस्तित्ववान होने की बात। इस अंतर्विरोध को स्वीकारने की कीमत चुकानी पड़ती है हाइजनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त के रूप में जिसके अनुसार सूक्ष्म कणों के संदर्भ में किसी कण की स्थिति और संवेग का एकसाथ सही मापन नहीं किया जा सकता। वस्तुपरकता पर भी एक प्रश्नचिन्ह लगाता है यह सिद्धान्त। यह अनिश्चितता अन्य कई चर युगलों पर भी लागू होती है– जैसे कण की ऊर्जा और जीवनकाल या फिर कण के कोणीय संवेग के अवयव।

2. व्यतिकरण प्रयोगों द्वारा तरंगरूपी प्रवृत्ति की पहचान होती है। दो छिद्रों वाले इलेक्ट्रान व्यतिकरण प्रयोग में कण - तरंग के सामने दो छिद्रों से होकर गुजर रहे कण तरंग पर्दे पर चमकदार और काली पट्टियों का एक पैटर्न बनाते हैं। यह पैटर्न तरंगों के अध्यारोपण से ही प्राप्त हो सकता है और किसी एक छिद्र को बंद करने पर लुप्त हो जाता है।

3. एक अन्य स्थिति में व्यतिकरण पैटर्न लुप्त हो जाता है। अगर हम जानने का प्रयास करें किस मार्ग से कण जा रहे हैं– छिद्र संख्या एक से या दो से। इसके लिए प्रकाश डालकर और उसके कण द्वारा विकीर्णन से यह जानकारी उपलब्ध हो सकती है। ऐसा करने पर भी पैटर्न लुप्त हो जाता है। क्यों होता है यह? इसका उत्तर बोह्र ने अनिश्चितता सिद्धान्त के आधार पर दिया। वे प्रकाश कण जो जानकारी उपलब्ध कराने में प्रयुक्त हो रहे थे विकीर्णित होकर प्रेक्षक तक पहुँचते हैं और कण की स्थिति की जानकारी कि वह छिद्र 1 से या 2 से जा रहा है देते हैं। अनिश्चितता सिद्धान्त के अनुसार स्थिति की अनिश्चितता कम होने पर संवेग की अनिश्चितता बढ़ जाती है और संवेग की यह अनिश्चितता व्यतिकरण पैटर्न को लुप्त करने के लिए पर्याप्त होती है क्योंकि यह संवेग कण के परदे पर पहुँचने के स्थान को अनिश्चित कर देता है।

सूक्ष्म कणों के गुणों की सार्थकता

इसके अतिरिक्त भी कुछ जो नया है और सामान्य सहज बुद्धि से परे भी। हम एक प्रयोग की चर्चा करेंगे जिसे स्टर्न-गेरलाक प्रयोग कहते हैं (यह प्रयोगकर्ताओं के नाम आधार पर है)। आरम्भिक प्रयोग में सिलवर परमाणुओं का एक पुंज z दिशा में भेजा जाता एक असमांगी चुम्बकीय क्षेत्र से होकर, जिसका मान x दिशा में बढ़ता है। इस प्रयोग के सैद्धांतिक और प्रायोगिक निष्कर्ष समान हैं जिसके अनुसार पुंज के परमाणु आधे $+x$ दिश की ओर विस्थापित होते हैं और आधे $-x$ की ओर। असमांगी चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा परमाणु के बाहरी इलेक्ट्रॉन के स्पिन संवेग पर लगने वाले प्रभाव से इस विस्थापन की सही व्याख्या हो जाती है।

जब सभी ठीक है तो असहज क्या है इसमें? बात आगे बढ़ाते हुए सवाल उठता है कि चुम्बकीय क्षेत्र में गुजरने के पहले कण के स्पिन संवेग के x अवयव की क्या स्थिति रही होगी? सामान्य उत्तर है आधे परमाणुओं के संवेग का x अवयव एक ओर रहा

होगा और आधे परमाणुओं का दूसरी ओर। चुम्बकीय क्षेत्र इन दोनों प्रकार के परमाणुओं को अलग दिशा में विस्थापित कर अलग कर देता है।

लेकिन सही बात कुछ और है जिसके विस्तार में गये बिना निष्कर्ष बताया जा सकता है। निष्कर्ष है कि क्षेत्र में गुजरने के पहले स्पिन संवेग का x या अन्य कोई अवयव परिभाषित ही नहीं था और यह क्षेत्र से गुजरते समय तय हुआ कि किसे ऊपर की ओर जाना है और किसे नीचे की ओर। तात्पर्य यह कि उपकरण मापन की प्रक्रिया में मापनीय गुणों को प्रभावित करता है यानी मापन की प्रक्रिया में निकाय से छेड़छाड़ होती है।

उसी का अगला सवाल है कि मापन के पहले परमाणु की स्थिति संवेग के अवयव के संदर्भ में क्या होगी? उत्तर है यह स्थिति उन दो बाद की स्थितियों का एक अध्यारोपण होगा जिसमें दोनों संभावनाएँ निहित होंगी। इस प्रकार संवेग में मापन के पूर्व दो संभावनाएँ हर परमाणु में निहित होंगी और केवल मापन के दौरान ही संभावना का रूपान्तरण वास्तविकता में होगा।

4. अब तक चर्चित अवधारणाओं और निष्कर्षों में एक और खास निष्कर्ष है जो दो कणों के संवेगों के आपसी संबध को लेकर है। कुछ पदार्थों से दो इलेक्ट्रॉन एकसाथ निकलकर विपरीत दिशा में गति करते हैं और उसके स्पिन संवेग में एक सम्बन्ध होता है– एक के स्पिन संवेग का x अवयव ऊपर है तो दूसरे का x अवयव नीचे। किसका ऊपर है यह नहीं कह सकते क्योंकि यह मापन के दौरान तय होता है। एक गतिमान कण के संवेग का मापन कर अगर संवेग अवयव x up है तो दूसरे का x down होना निश्चित है। मान लें दोनों गति करते हुए बहुत दूर जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमें एक कण संवेग का मापन कर जो भी अवयव प्राप्त हो दूसरा उसी के अनुसार अपना अवयव निर्धारित कर लेगा। यह सम्बंध तात्कालिक है दूरी के व्यवधान से परे और प्रकाश के वेग की सीमा रेखा का उल्लंघन करता हुआ। यह अस्थानीयता (Nonlocality) क्वांटम भौतिकी के साथ अंतरंग रूप से जुड़ी है और सहज चिन्तन की सहजता को उलझाती है।

और यह सब महज सोच के आधार पर खड़ा हो ऐसा भी नहीं। विज्ञान अंततः प्रायोगिक निष्कर्षो का आधार लेकर सैद्धांतिक जानकारी की पुष्टि करता है। बीसवीं सदी केवल क्वांटम यांत्रिकी के सैद्धांतिक पक्ष से ही अनुप्रमाणित रही हो, ऐसा नहीं। प्रौद्योगिकी का विस्तार और विकास भी उससे जुड़े हैं। आज शायद ही ऐसा कुछ हो जो क्वांटम अवधारणा के दायरे से अछूता रहा हो। माइक्रो इलेक्ट्रॉनिकी ने आज हमारे जीवन को संचार और सूचना प्रौद्योगिकी में हुई क्रान्ति के कारण अत्यधिक प्रभावित किया है। इलेक्ट्रान के व्यवहार पर आधारित जो भी सैद्धांतिक व्याख्या है क्वाटम भौतिकी के नियमों से ही संचालित होती है। बात सिर्फ प्रौद्योगिकी की नहीं अपितु अन्य अनुशासनों में भी स्थिति यही है। अतिचालकता स्थूल निकायों का क्वांटम यथार्थ है और एक भावी प्रौद्योगिकी का आधार भी। नाभिकीय विखंडन और नाभिकीय संलयन और इससे जुड़ी प्रौद्योगिकी और इससे आगे सूक्ष्म कणों का अद्भुत संसार सभी कुछ क्वांटम भौतिकी के अधिकार क्षेत्र में आ जाता है।

इन्हीं सब बातों का असर था कि पहली बार मानव उन सवालों के उत्तर खोजने की दिशा में सार्थक पहल करने की स्थिति में आ गया। ब्रह्मांड विज्ञान (cosmology) भौतिकी की इन्हीं सैद्धांतिक मान्यताओं और सामर्थ्य की अप्रतिम देन है। यह कहना कि ब्रह्मांड का जन्म 15 करोड़ साल पहले एक महा विस्फोट में हुआ था और यह कि ब्रह्मांड तब से निरन्तर फैलता जा रहा है ठोस प्रायोगिक और सैद्धांतिक जानकारियों के आधार पर विश्वास के साथ कहा जा सकता है। यों विज्ञान में नई जानकारियाँ पुरानी अवधारणाओं को बदल भी सकती हैं पर जो कुछ जाना-समझा गया है वह किसी ठोस बुनियाद पर ही खड़ा है। चार मौलिक प्रश्नों में पहला प्रश्न जो ब्रह्मांड की उत्पत्ति से जुड़ा है क्वांटम यथार्थ के दायरे से बाहर नहीं। सामान्य तापनाभिकीय क्रियाओं से लेकर

नक्षत्रीय जीवन चक्र की विविधताओं तक क्वांटम अवधारणाओं का विस्तार है और उसकी परिणति न्यूट्रॉन स्टार तथा कृष्ण विवर जैसे अद्भुत निकायों से जुड़ जाती है।

जीवन का विकास कैसे हुआ इसकी जानकारी डार्विन के विकासवाद के आधार पर जानी समझी गई है। आणविक परमाण्विक स्तर पर लगने वाले आपसी बलों का ही तो खेल है यह विकास क्रम, जिसमें प्रोटीन के अणुओं का विकास हुआ। सहसंयोजकता बल जो हाइड्रोजन के अणु की रचना के लिए जिम्मेदार है क्वांटम अवधारणा के बिना नहीं समझा जा सकता। दरअसल कोई भी बल – गुरुत्वीय, विद्युतचुम्बकीय, प्रबल युकावा बल और निर्बल नाभिकीय बल – अंततः क्वांटम क्रियाओं के आधार पर ही समझे जा सकते हैं। इसलिए यह कहना समीचीन होगा कि दूसरा मौलिक प्रश्न जो जीव की उत्पत्ति से संबंधित है उसका उत्तर भी क्वांटम यथार्थ के दायरे से बाहर नहीं है।

चेतनता को वैज्ञानिक आधार पर समझने के प्रयास आज कई दिशाओं से ही हो रहे हैं–कम्प्यूटर से जुड़ी कृत्रिम बुद्धि की बात, न्यूरोचिकित्सकों की जानकारी जो मस्तिष्क की कार्यविधि से सीधे संबधित है आज चर्चा का विषय है और इस सबसे आधारभूत एकता और सामंजस्य तलाशती क्वांटम भौतिक चेतना के सवाल से सीधे या परोक्ष रूप में जा जुड़ती है।

और चौथा महत्वपूर्ण प्रश्न जो यथार्थ की प्रकृति से संबंधित है स्वयं क्वांटम अवधारणाओं के दायरे से बाहर नहीं। सूक्ष्म जगत की प्रक्रियाओं को समझने में जरूरी क्वांटम यथार्थ अक्सर स्थूल जगत में उतना साफ नहीं दिखायी देता। सूक्ष्म जगत की विशेषता क्या है जरा संक्षेप में देखें। कण तरंग का पूरकत्व, एक कण की कई अस्मितायें, एकसाथ कई स्थितियों में रहने की संभावना और मापन के समय क्वांटम कूद, तरंगफलनों की अस्थानीयता– इस दामन में क्या कुछ है! दामन हाथ में आने की जरूरत है। लेकिन वह हाथ में आ नहीं सकता, केवल झलक दिखा कर गायब हो जाना उसका स्वभाव है। यह बात अलग अलग तरीके से कही जाती रही है।

व्यतिकरण से जुडे अत्यंत आधुनिक प्रयोगों से नई बातें उभर रही हैं– जैसे यह कि व्यतिकरण प्रयोग में कण के पथ की जानकारी का प्रयास व्यतिकरण को लुप्त कर देता है, निर्विवाद है और इसका उत्तर नील्स बोह्र ने अनिश्चितता सिद्धांत के आधार पर दिया, जिसके अनुसार कण की स्थिति की सही जानकारी उसके वेग को उस सीमा तक अवश्य ही अनिश्चित कर देती है जिसमें उसका व्यतिकरण लुप्त हो जाता है।

गुँथा हुआ, उलझा हुआ

हाल ही के प्रयोगों में कण का पथ जानने के लिए दृश्य प्रकाश की जगह माइक्रोवेव तरंग ली गयी। माइक्रोवेव फोटॉन की ऊर्जा अत्यधिक कम होती है और यह गणना के द्वारा देखा जा सकता है कि इस तरंग द्वारा दिया गया वेग उस वेग की बीस हजारवाँ हिस्सा है जो व्यतिकरण को लुप्त करने के लिए चाहिये : यानी व्यतिकरण लुप्त होने का सवाल ही नहीं है। फिर भी व्यतिकरण पहले की तरह लुप्त होता है। निष्कर्ष यह कि हाइजनबर्ग का अनिश्चितता सिद्धान्त अपनी जगह सही हो सकता है पर कण पथ जानने के प्रयास में व्यतिकरण लुप्त होने का कारण नहीं। तब फिर क्या कारण हो सकता है उसका? यह उत्तर आसान नहीं है–कुछ वैसे ही जैसे कणों के बीच तात्कालिक संबंध की बात। जैसे कि ब्रह्मांड के एक सिरे में जो घट रहा है वह कुछ परिस्थितियों में तुरन्त ब्रह्मांड के दूसरे हिस्से पर प्रकाश के वेग की मान्य सीमा रेखा को चुनौती देता हुआ जाना जा सकता है।

उपर्युक्त प्रयोग में पैटर्न का लुप्त होना और तात्कालिक संबंध की बात सामान्यतया क्वांटम अवगुंथन के नाम स चर्चित होते हैं जो एक प्रकार के उलझे गुथे हुए यथार्थ की ओर इशारा करते हैं जिसकी उलझी हुई लटों को अलग करना संभव नहीं दीखता पर जितना भी संभव है उतना जानने का प्रयास वैज्ञानिक करते रहे हैं और करते रहेंगे।

प्रोफेसर
भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

स्वस्थ परंपरा है जैव खाद्य पदार्थों का प्रचलन

✍ विजय चितौरी

जैव खाद्य वे खाद्य हैं जिनके उत्पादन में कीटनाशकों एवं उर्वरकों का उपयोग नहीं होता। दुनिया के अनेक हिस्सों और हमारे अपने देश में भी बड़ी संख्या में लोग आधुनिक खेती को छोड परंपरागत खेती की ओर मुड़ रहे हैं। यह परंपरागत खेती जिसमें आधुनिक कीटनाशकों, उर्वरकों व संकर बीजों का उपयोग नहीं होता, प्राकृतिक खेती, आर्गेनिक फार्मिंग या "नेचुरल फार्मिंग" कहलाती है।

यह बात अब किसी से छिपी नहीं है कि खेती में अंधाधुन्ध कीटनाशकों के उपयोग से धरती के सारे स्रोत प्रदूषित हो चुके हैं। प्रदूषण का यह असर ध्रुवीय प्रदेशों तक भी जा पहुँचा है। अब तो माँ के गर्भ से पैदा होने वाला हर बच्चा गर्भ से ही डी.डी.टी. जैसा विषाक्त रसायन लेकर आता है। यह कीटनाशकों का ही असर है कि धरती का सफाईकर्मी गिद्ध आज लुप्त होने के कगार पर पहुँच चुका है। ऐसा भी नहीं कि आधुनिक खेती से किसान की माली हालत सुधरी हो और वह सुखी हुआ हो। पिछले कुछ वर्षों में कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि में किसानों द्वारा सैकड़ों की संख्या में आत्महत्याएँ हुई हैं। ये खेती के वे क्षेत्र हैं जहाँ "हरित क्रांति" का पदार्पण हो चुका है और जहाँ किसान आधुनिक खेती कर रहे हैं। तो फिर किसानों ने आत्महत्याएँ क्यों कीं? इसका जवाब है "आधुनिक खेती"। कपास जैसी नकदी फसल के चक्कर में किसानों की खेती की लागत लगातार बढ़ती गयी जो कीटनाशकों और उर्वरकों के अधिक प्रयोग के कारण थी। उसके बावजूद जब फसल को कीड़ों से बचाया नहीं जा सका या भाव इतने कम हो गये कि किसानों को अपनी लागत भी नहीं मिली तो उनके सामने आत्महत्या के अलावा भला और कौन सा रास्ता हो सकता है?

कुछ इन्हीं परिस्थितियों में लोगों का ध्यान पुनः अपनी परंपरागत खेती की ओर गया। इस तरह की सोच पश्चिम में ही पहले पैदा हुई क्योंकि पश्चिम के लोग आधुनिक खेती के कारण फैले प्रदूषण से ज्यादा प्रभावित हुए। लेकिन पश्चिम के प्रयासों से अलग अपने देश में भी कुछ लोग हुए जिन्होंने परंपरागत खेती में नये नये प्रयोग करके इसे ही आधुनिक खेती के विकल्प के रूप में खड़ा करने का प्रयास किया। इनमें एक जाना-पहचाना नाम है सावे गुरु जी का। सावे गुरु जी ठाणे (मुंबई) जिले की सरहद पर स्थित देहरी गाँव के निवासी हैं। 1952 में उन्होंने आधुनिक रासायनिक खेती शुरू की थी। लेकिन उन्होंने देखा कि इसमें लागत लगातार बढ़ती ही जा रही है। वैसे भी गुरु जी गांधी और विनोबा की विचारधारा के व्यक्ति हैं। उन्हें महसूस हुआ कि धरती माता को निचोड़ कर की जाने वाली खेती की विधि ठीक नहीं है। इस तरह 1957–58 से गुरु जी ने आधुनिक खेती को पूरी तरह तिलांजलि देकर परंपरागत या प्राकृतिक खेती शुरू की। उन्होंने देखा कि वर्षों से लगातार रासायनिक खादों के उपयोग के कारण जमीन की आदत बिगड़ी हुई है इसीलिए शुरू के तीन साल उत्पादन स्थिर रहा, फिर बढ़ना शुरू हो गया। इस बीच उन्होंने अपने खेतों में लगातार गोबर की खाद तथा मुर्गीखाने और सुअर फार्मों की खाद का उपयोग शुरू किया। उन्होंने धान, गेहूँ एवं फसलों की संकर

किस्मों की जगह देशी किस्मों को बोना शुरू किया। देशी किस्मों में रोग कम लगते हैं। जब रोगों का प्रकोप हुआ तो नीम जैसे प्राकृतिक कीटनाशकों का उपयोग किया। गुरू जी ने साढ़े चार एकड़ से कार्बनिक खेती शुरू की थी। आज यह 45 एकड़ है। उनके भाई व लड़के मिलकर कुल 100 एकड़ कार्बनिक खेती कर रहे हैं। उनके उत्पादनों की बम्बई व अन्य स्थानों पर भारी माँग है जिसे लोग अधिक दाम खर्च कर के भी खरीदने के लिए लाइन लगाये रहते हैं। कारण, जैव खाद्य का प्राकृतिक स्वाद जिसके मुँह लगा वह फिर इसे छोड़ ही नहीं पाया।

उत्तर भारत में तो अभी नहीं लेकिन दक्षिण भारत में जैव खाद्य पदार्थों के उत्पादन का अच्छा वातावरण बन रहा है। बेंगलूर के एक किनारे स्थित दुकान "एकोनेट" जैव खाद्य पदार्थ बेचने की दुकान है। यहाँ सब्जियाँ, फल, अनाज वगैरह जो भी चीजें हैं सब प्राकृतिक खेती से उत्पन्न होती हैं। इस दुकान के खाद्य पदार्थों की शहर भर में एक अलग ही पहचान है जहाँ लोग अधिक दाम खर्च करके भी खाद्य पदार्थ खरीदना चाहते हैं। बम्बई इंडो बायोटेक फूड्स कंपनी की पूरे बम्बई में हजारों शाखाएँ हैं। सभी शाखाओं पर जैव खाद्य ही बिकते हैं। इसका कारोबार यहाँ प्रतिवर्ष करोड़ों में है। दक्षिण के शहरों में जैव खाद्य पदार्थों की माँग के कारण किसानों का एक वर्ग विकसित हो रहा है जो प्राकृतिक खेती करने लगा है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जैव खाद्यों का यद्यपि कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है लेकिन ये खाद्य अब हर जगह अपनी उपस्थिति अवश्य दर्ज करवा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केन्द्र (आई.टी.सी.) के अध्ययन के अनुसार जैव खाद्यों का व्यवसाय 800 अरब रुपयों के बराबर हो चुका है। यह लगातार बढ़ता ही जा रहा है। पश्चिमी यूरोप, अमेरिका तथा जापान के बाजारों में जैव खाद्यों की माँग बहुत तेजी से बढ़ रही है। यहाँ इनका व्यवसाय 1997 में 11 अरब डालर से बढ़कर अब 13 डालर हो गया है।

जैव उत्पादों के व्यवसाय में सबसे बड़ी बाधा परीक्षण उपकरणों और प्रमाणीकरण तकनीक की है। भारत से बाहर भेजे गये जैव उत्पाद अक्सर अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में परीक्षण का सामना नहीं कर पाते और उन उत्पादों को वापस कर दिया जाता है। भारत के अपने बाजारों में भी जैव खाद्यों की विश्वसनीयता का कोई तरीका नहीं है। कोई कैसे मान ले कि अमुक खाद्य रासायनिक खेती का है और अमुक प्राकृतिक खेती का ? प्रमाणीकरण के क्षेत्र में अभी तक विदेशी तकनीक का ही उपयोग होता है जो काफी महँगा है। लेकिन पिछले दिनों अखबारों में एक सुखद समाचार पढ़ने को मिला जिसके अनुसार लखनऊ स्थित औद्योगिक विष विज्ञान अनुसंधान केन्द्र के वैज्ञानिकों ने खाद्य पदार्थों में कीटनाशकों की सूक्ष्म मात्रा के परीक्षण की नवीन और सस्ती तकनीक खोज निकाली है। इस तकनीक से जैव खाद्यों के परीक्षण की समस्या के हल होने की आशा है।

सम्पादक "गाँव की नई आवाज"
घूरपुर, जिला इलाहाबाद – 212110

विज्ञान दिवस

"रामन प्रभाव" के खोजकर्ता एवं भौतिक शास्त्र के नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ० चन्द्रशेखर वेंकट रामन के 114 वें जन्म दिन के अवसर पर उन्हें विज्ञान परिषद् प्रयाग की विनम्र श्रद्धांजलि । डॉ० रामन के महान शोधकार्यों को याद करते हुए कृतज्ञ राष्ट्र उनके जन्म दिन 28 फरवरी को प्रतिवर्ष 'विज्ञान दिवस' के रूप में मनाता है।

गहरे पानी पैठ

✍ देवव्रत द्विवेदी

कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय की भौतिकी स्नातक परीक्षा में पूछा गया एक प्रश्न इस प्रकार था--

"बैरोमीटर की सहायता से आप एक गगनचुम्बी इमारत की ऊँचाई कैसे ज्ञात करेंगे?

एक छात्र ने उत्तर दिया था–

"बैरोमीटर के एक सिरे पर एक लम्बी रस्सी बाँध कर इमारत की छत से उसे नीचे लटका दें। जब बैरोमीटर भूमि को स्पर्श करे उस समय लटकी हुई रस्सी की लम्बाई नाप लें। इस तरह रस्सी तथा बैरोमीटर की लम्बाई का जो योग आवेगा वही इमारत की ऊँचाई होगी।"

इस अति मौलिक उत्तर को पढ़कर परीक्षक इतना क्रोधित हुआ कि उसने छात्र को अनुतीर्ण कर दिया। आहत छात्र ने विश्वविद्यालय में यह आवेदन किया कि उसका उत्तर निर्विवाद रूप से सत्य है। फलतः विश्वविद्यालय ने इस समस्या के समाधान हेतु एक निष्पक्ष निर्णायक की नियुक्ति कर दी। इस निर्णायक ने फैसला दिया कि यद्यपि छात्र का उत्तर सही है किन्तु इस उत्तर से छात्र का भौतिक विज्ञान संबंधी ज्ञान प्रकट नहीं होता।

इस समस्या को हल करने के लिए निश्चय हुआ कि छात्र को बुलाया जाय और उसे छः मिनट का समय दिया जाय जिसमें वह मौखिक रूप से प्रश्न का ऐसा उत्तर दे जिससे भौतिकी के सिद्धान्तों के प्रति उसके न्यूनतम ज्ञान का पता चल सके।

बुलाये जाने पर वह छात्र पाँच मिनट तक सिर झुकाए शान्त बैठा रहा। जब निर्णायक ने उसे याद दिलाया कि समय समाप्त होने वाला है तो छात्र ने कहा कि उसके पास कई अत्यंत सटीक उत्तर हैं, किन्तु वह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि उनमें से कौन सा उत्तर दे।

जब निर्णायक ने उससे शीघ्रता करने के लिए कहा तो छात्र बोला–

"सर्वप्रथम, आप बैरोमीटर को इमारत की छत पर ले जाकर उसे वहाँ से नीचे गिरा दें। बैरोमीटर के भूमि तक गिरने का समय t माप लें। फिर भवन की ऊँचाई $H = 0.5gt^2$ सूत्र से ज्ञात कर लें। किन्तु बैरोमीटर तो चकनाचूर हो जायेगा।"

"अथवा, यदि आकाश में सूर्य चमक रहा हो। तो आप बैरोमीटर की ऊँचाई माप लें तथा सूर्य के प्रकाश में इसकी छाया नाप लें। तब आप इमारत की छाया नाप लें और सामान्य समानुपाती अंकगणित के सूत्र से इमारत की ऊँचाई ज्ञात कर लें।"

"किन्तु यदि आप अत्यंत वैज्ञानिक विधि का उपयोग करना चाहते हों तो आप बैरोमीटर को एक छोटी सी रस्सी के सिरे पर बाँध दें और एक पेंडुलम की भाँति इसे पहले भूमि सतह पर तथा बाद में इमारत की छत पर दोलन करावें। इस प्रकार भवन की ऊँचाई का मापन गुरूत्वीय प्रत्यानयन बल

Gravitational Restoring force $T = 2\pi\sqrt{\frac{l}{g}}$

(शेष पृष्ठ 31 पर)

पुस्तक समीक्षा

रेकी विद्या : लेखक – मोहन मक्कड़
अनुवादक : प्रवीण शर्मा
प्रकाशक : ग्रन्थ अकादमी, 1686, पुराना दरियागंज, नई दिल्ली–120002
प्रथम संस्करण : सन् 2000, पृष्ठ : 219, सचित्र
मूल्य : दो सौ रुपये

मोहन मक्कड़ द्वारा लिखित एवं प्रवीण शर्मा द्वारा हिन्दी में अनूदित पुस्तक रेकी विद्या उशुई पद्धति पर आधारित क्रमिक रूप से व्यक्त प्रतीक एवं शक्तिपात तकनीक की एक अनूठी रचना है।

विश्व भर में प्रचलित उपचार की विविध विधियों यथा–आयुर्वेद, यूनानी, होमियोपैथी, एलोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा, योग, ध्यान मनोचिकित्सा, एक्यूपंक्चर, एक्यूप्रेशर, सम्मोहन, प्राणिक हीलिंग, अप्रत्यक्ष उपचार (एबसेन्टी हीलिंग) आदि अनेक विधियों के साथ ही रेकी विधि (शक्तिपात) का भी उपचार के लिए अपना महत्वपूर्ण योगदान है। इस विधि में केवल माध्यम के सहयोग से ब्रह्मान्डीय ऊर्जा को घनीभूत करके असाध्य से असाध्य रोगों का उपचार सफलतापूर्वक किया जाता है।

यद्यपि रेकी विद्या पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं किन्तु मोहन मक्कड़ की पुस्तक की विशेषता यह है कि यह कक्षा-शिक्षण विधि से लिखी गई है, साथ ही अत्यन्त सरल, सुबोध एवं भावगम्य है। लेखक का दावा है कि मात्र पुस्तक को पढ़कर ही रेकी कोर्स पूरा किया जा सकता है, पत्र व्यवहार से प्रश्न हल करके प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सकता है तथा एक बार किसी पूर्व रेकी मास्टर से शक्तिपात कराकर मास्टर की डिग्री और प्रमाण पत्र प्राप्त किया जा सकता है।

'रेकी' दो शब्दों– 'रे' (REI) तथा 'की' (KI) से मिलकर बना है। 'रे' का अर्थ है सार्वभौम अथवा ब्रह्माण्ड तथा 'की' का अर्थ है ऊर्जा। अतः 'रेकी' का अर्थ हुआ 'ब्रह्माण्ड ऊर्जा'।

ब्रह्माण्ड ऊर्जा ब्रह्माण्ड के निर्माण के पूर्व से ही विद्यमान है। अनादि काल से भारतीय मनीषियों को इस ऊर्जा भण्डार का ज्ञान प्राप्त था। संस्कृत साहित्य में उपलब्ध पूर्व के भोजपत्र पर अंकित श्लोक और सूत्र इसके प्रमाण हैं। पहले यह विद्या गुरु–शिष्य परम्परा से मौखिक रूप से बहुत सीमित लोगों को गुप्त रूप से दी जाती थी अतः इस विद्या का प्रचार प्रसार बहुत अधिक नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जापान के डॉ० मिकाओ उशुई ने इस प्राचीन रेकी चिकित्सा पद्धति का ज्ञान बौद्ध भिक्षुओं से प्राप्त किया और इसका पुनरुद्धार किया। डॉ० उशुई के बाद उनके निकट सहयोगी डॉ० हयाशी उनके उत्तराधिकारी बने। उनके बाद श्रीमती हवायो टकाटा उत्तराधिकारिणी बनीं। इन्होंने कनाडा तथा अमेरिका में बाईस ग्रैण्ड मास्टर बनाये। इसी क्रम में आज विश्वभर में चार हजार से भी अधिक रेकी मास्टर हैं।

'रेकी' अर्थात् ब्रह्माण्डीय ऊर्जा सभी जीवों तथा पदार्थों में उपस्थित तथा सक्रिय है। जब किसी व्यक्ति का इस ऊर्जा से तालमेल किसी पूर्व माध्यम द्वारा करा दिया जाता है तब वह स्वयं जीवन भर के लिए रेकी का माध्यम बन जाता है। तब वह दूसरों पर शक्तिपात करने और आरोग्य प्रदान करने के सुयोग्य हो जाता है।

रेकी का समग्र प्रभाव पड़ता है। यह अस्तित्व के सभी स्तरों तक पहुँच कर संतुलन बनाने का प्रयास करती है। रेकी माध्यम इस ऊर्जा का उपयोग मात्र

सामंजस्य बनाने के लिए करता है। उसके अपने हाथों में कोई ऊर्जा नहीं होती। इस ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का अपना स्वयं का मन और मस्तिष्क होता है जो स्वयं निर्णय करता है कि कितनी ऊर्जा की आवश्यकता उपचार के लिए आवश्यक है। कोई भी माध्यम इस ऊर्जा को घटाने या बढ़ाने में सक्षम नहीं होता। इस प्रक्रिया में ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का अपना स्वयं का विवेक कार्य करता है– ऐसा लेखक का कथन है।

प्रेम के समान रेकी भी एक अहसास है जो हमें पूरी सृष्टि के साथ एकात्म भाव से जोड़ती है। व्यापक रूप से रेकी ऐसी चिकित्सा पद्धति है जिसमें शारीरिक विकारों के उपचार के साथ ही साथ व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास भी होता है। रेकी पद्धति का किसी धर्म, भूतप्रेत, देवी-देवता, रहस्य, तन्त्र-मन्त्र अथवा सम्मोहन आदि से दूर तक का भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें न तो रोगी को कोई दवा दी जाती है और न ही किसी प्रकार की प्रार्थना ही की जाती है। फिर भी इसके अनुकूल परिणाम सामने आते हैं।

मोहन मक्कड़ ने रेकी के तीन दिवसीय प्रशिक्षण के लिए पुस्तक को छः भागों में बाँटा है। प्रत्येक दिन दो भागों का शिक्षण दिया जाता है। प्रथम दिन के पहले भाग में रेकी के बारे में जानकारी, रेकी का इतिहास, श्वास-प्रश्वास तकनीक, प्रत्यक्ष ध्यान, सफेद प्रकाश पर ध्यान, रेकी के पाँच नियम, जीवन जीने की कला, रेकी एलाइन्स, लिली जलाशय पर ध्यान, चक्रों की जानकारी, आत्म उपचार तकनीक, रेकी में क्या करें, क्या न करें, शरीर में ठंडे भाग के बारे में क्या करें, ध्यान लगाने की गिलास तकनीक, स्वास्थ्य और रंग, 'ॐ' साधना तथा अंत में सारांश का वर्णन किया गया है।

पुस्तक के भाग 2 में रेकी के ए.,बी., तथा बी.,ए., गम्भीर मामले, सामूहिक उपचार, ध्यानावस्था, किन स्थितियों में रेकी नहीं, ध्यान लगाना, आपके सलाहकार, प्रत्यक्ष ध्यानावस्था, आपकी प्रयोगशाला, ध्यानावस्था, अब तक का सारांश तथा परीक्षा का विवरण दिया है।

दूसरे दिन भाग 3 में आत्म उपचार, रेकी अनुभवों पर चर्चा, दूसरी डिग्री क्यों, रेकी के तीन प्रतीक, प्रतीकों का महत्व, रेकी मंत्रों का उच्चारण, मन पर नियंत्रण, उपचार तकनीक की जानकारी, ध्वनि ध्यानावस्था, मेडिपिक उपचार विधि, प्रकाश उपचार, प्रत्यक्ष ध्यानावस्था तथा यूनिवर्सल बैंक का विवरण दिया है।

भाग 4 में रेकी को दूसरे दिन के लिए अप्रत्यक्ष उपचार विधि, रेकी संक्षिप्त विधि, रेकी बाक्स, रेकी विस्तृत विधि, रेकी के विभिन्न रूप, ऊर्जा संचरण क्रिया, व्यावहारिक क्रिया, ऐबसेन्टी (अप्रत्यक्ष) उपचार, प्रत्यक्ष ध्यानावस्था-सूक्ष्म शरीर से यात्रा, प्रत्यक्ष ध्यानावस्था-वायवीय शरीर को सक्रिय बनाना, पिन और येन- पीड़ानाशक पद्धति, पिन और येन-उपचार विधि और अन्त में सबका सारांश तथा परीक्षा प्रश्न दिए गये हैं।

भाग 5 में रेकी तीन ए में परिचर्चा, रेकी तीन ए क्या है? प्रतीक मास्टर, प्रतिगमन की आवश्यकता, कृतज्ञ होकर जीवन बिताना तथा प्रश्न उत्तर दिए हैं।

भाग 6 में रेकी 3 बी में शक्तिपात तैयारी, तकनीक, बीस मिनट की ध्यानावस्था, सारांश, समस्यायें, क्या करें क्या न करें, प्रत्यक्ष ध्यानावस्था–गुब्बारे और पत्थर, बीस मिनट की ध्यानावस्था, यदि कोई परिणाम सामने न आये, नकारात्मक और सकारात्मक मन, प्रमाण पत्र की आवश्यकता, सारांश, प्रमाण पत्रों का प्रस्तुतीकरण तथा प्रत्येक दिन के समापन प्रश्नों के शीर्षक दिये गये हैं।

पुस्तक में बावन चित्रों के माध्यम से रेकी विद्या को सुबोध बनाया गया है। इसके साथ ही साथ रेकी के तीन मंत्रों, तथा तीनों प्रतीकों को बनाकर सुबोध बनाया गया है।

पुस्तक का आवरण अत्यन्त आकर्षक, पुस्तक संग्रहणीय, पठनीय, मार्गदर्शक एवं अच्छे जीवन के लिए लाभदायक है।

📖 डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल'
सचिव, उत्तर प्रदेश थियोसॉफिकल फेडरेशन
439ए, वासुकी खुर्द, दारागंज, इलाहाबाद–6

विज्ञान वार्ता

ई-गवर्नेन्स

सरकारी कामकाज में तेजी एवं पारदर्शिता लाने तथा काम-काज में जवाबदेही के उद्देश्य से 15 अगस्त 2000 को भारत सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी मन्त्रालय में 'ई-गवर्नेन्स' केन्द्र की स्थापना की। इस तरह सूचना प्रौद्योगिकी के बल पर प्रशासनिक कार्यों में पारदर्शिता तो आयेगी ही, देश के नागरिक भी तेजी से वांछित सूचना प्राप्त कर सकेंगे– परिवहन, विद्युत, स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा नगर सुविधाओं जैसी जन सेवाओं में सुधार हो सकेंगे। इसका अर्थ हुआ कि आम आदमी को सूचना प्रौद्योगिकी की सहायता से अनेक सरकारी सेवाएँ अच्छे ढंग से उपलब्ध कराई जा सकेंगी।

उदाहराणार्थ, यदि आम जनता को राशन कार्ड बनवाना हो तो आन-लाइन में अर्जी डालकर सही स्थिति जानकर राशन कार्ड का प्रिंटआउट ले सकेगी। इसी प्रकार चाहे पेंशन हो, या प्राविडेंट फण्ड- इनकी जानकारी मिल सकेगी। पानी, बिजली आदि के बिलों के भुगतान की जानकारी भी इंटरनेट पर मिल जावेगी। किन्तु इसके पूर्व कि ये सेवाएँ उपलब्ध हों सरकार, दूरसंचार, सूचना प्रौद्योगिकी आदि विभागों को मिल-बैठ कर विचार करना होगा जिससे इसे व्यावहारिक जामा पहनाया जा सके।

टेलीमेडिसिन

यह टेलीकम्यूनिकेशन तथा इनफार्मेशन टेक्नोलॉजी की मदद से दी जाने वाली स्वास्थ्य सेवा प्रणाली है जिसमें डाक्टर दूर स्थित मरीजों की जाँच करता है, रोग का निदान एवं इलाज करता है। इस प्रणाली में मरीज और डॉक्टर एक दूसरे को देख सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं, पूछ सकते हैं। ई.सी.जी. एक्सरे, कैट स्कैन, एम.आर.आई. की इमेज कम्प्यूटर वीडियो फाइल खोल कर डाक्टर उनकी जाँच सकते हैं। हजारों किलोमीटर दूर से ही डाक्टर डिजिटल कैमरों से शरीर के भीतरी भागों तक की जाँच कर सकते हैं और डिजिटल स्टेथेस्कोप से हृदय की धड़कने सुन सकते हैं। तात्पर्य यह कि दूर स्थित डॉक्टर किसी मरीज का इलाज कर सकता है। यह दूर संचार प्रौद्योगिकी का कमाल है। किन्तु इसके लिए बिजली का होना आवश्यक है जो सर्वत्र उपलब्ध नहीं है, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में अभी इससे लाभ उठाने की संभावनाएँ कम हैं।

हैकिंग

इंटरनेट पर सबसे बड़ी समस्या उपस्थित होती है हैकिंग की। हैकिंग का अर्थ है किसी का पासवर्ड चुरा कर आँकड़ों और फाइलों तक पहुँचना। वैसे तो पासवर्ड किसी का गुप्त संकेत होता है फिर भी स्मार्ट कम्प्यूटर साफ्टवेयर का जानकार इसे आसानी से पढ़ सकता है। यह पासवर्ड मानीटर पर सितारों के रूप में प्रदर्शित होता रहता है जिसे दूसरों के लिए देख पाना असम्भव है।

चूँकि सभी कमांड आँकड़ों के रूप में परिवर्तित होकर आगे बढ़ते हैं इसलिए ये पासवर्ड भी आँकड़ों में बदल जाते हैं और साफ्टवेयर विशेषज्ञ यह अवश्य जानता है कि कौन सा आँकड़ा किस अक्षर के लिए है। ऐसे में कई बार क्रेडिट कार्डों के नंबर भी चुरा लिए

जाते हैं और उनका दुरुपयोग कर लिया जाता है। हैकिंग में इन्टरनेट का अपना भी योगदान है। इस पर 30 हजार से भी अधिक साइटें हैं जो हैकिंग के टिप्स देती हैं।

हैकिंग की घटनाएँ युद्ध क्षेत्र में भी घटित होती हैं। कारगिल युद्ध के दौरान पाकिस्तानी कम्प्यूटर विशेषज्ञों ने लगभग 250 भारतीय साइटों को हैक कर लिया था।

अब हैकिंग से निपटने के लिए प्रतिरोधी क्षमता 'फायरवाल' का विकास किया जा रहा है।

कृत्रिम जीन वाला बंदर

अमेरिका में ऑरगन हेल्थ साइंसेज युनिवर्सिटी ने 'एंडी' नामक एक बंदर तैयार किया है जिसके जीनों में उन्होंने अपनी ओर से कुछ परिवर्तन किये हैं। इस बंदर में फ्लोरोसेंट जेलीफिश से लिये गये जीनों को प्रविष्ट कराया गया था। विज्ञानियों का कहना है कि डी.एन.ए. में सफलतापूर्वक परिवर्तन के फलस्वरूप स्तन कैंसर, एलजाईमर तथा डायबेटीज जैसी बीमारियों को खोजने में मदद मिलेगी। नई सहस्राब्दी में जैव प्रौद्योगिकी की यह अनुपम देन है।

विश्व प्रसिद्ध ब्रह्माण्ड विज्ञानी का भारत आगमन

डॉ0 स्टीफेन हाकिंग ने 'ए ब्रीफ स्टोरी आफ टाइम' पुस्तक लिखकर अपना नाम न्यूटन तथा आइंस्टीन की श्रेणी में सबसे आगे कर लिया है। 58 वर्षीय हाकिंग शारीरिक रूप से अपंग होते हुए भी चिन्तन, मनन और सृजन में अग्रणी हैं। वे सूचना प्रौद्योगिकी, जनसंख्या विस्फोट तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण उत्पन्न संकट के प्रति प्रबुद्धजनों को आगाह कर रहें है। उनकी रुचि न केवल ब्रह्माण्ड में अपितु संसार के इतिहास के बारे में भी है। उन्होंने गतमास बम्बई तथा दिल्ली में अपने महत्वपूर्ण भाषण दिये। भारत के प्रति एक सर्वोच्च वैज्ञानिक की यह रुचि उल्लेखनीय है।

(पृष्ठ 27 का शेषभाग)

के अन्तर द्वारा ज्ञात हो सकता है।

"अथवा यदि इमारत में बाहर की ओर आपात कालीन सीढियाँ हों तो यह आसान होगा कि आप ऊपर चढ़ते हुए बैरोमीटर की लम्बाई से इमारत को नापते चलें और इन लम्बाइयों को जोड़कर इमारत की ऊँचाई ज्ञात कर लें।"

"किन्तु यदि आप दकियानूसी एवम् उबाऊ तरीका अपनाना चाहते हैं तो आप इमारत की छत पर तथा भूमि सतह पर वायु का दाब बैरोमीटर द्वारा माप लें और वायु दाबों के अन्तर को मिली बार से फीट में परिवर्तित कर ऊँचाई ज्ञात कर लें।"

"परन्तु हम छात्रों को सदैव स्वतंत्र विचारों का प्रयोग करने एवं वैज्ञानिक तरीके अपनाने की शिक्षा दी जाती है अतः निस्संदेह सर्वोत्तम विधि यह होगी कि हम भवन के प्रहरी के पास जाएँ और उससे कहें – "यदि तुम्हें एक नया और अच्छा बैरोमीटर चाहिये तो मैं तुम्हें दे सकता हूँ किन्तु तुम्हें बदले में इस भवन की ऊँचाई बतानी होगी।"

जानते हैं– इस छात्र का नाम था नील्स बोर – जो भौतिक विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले डेनमार्क के एक मात्र व्यक्ति हैं।

विज्ञान परिषद् प्रयाग

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा वर्ष 2000 का डॉ0 आत्माराम पुरस्कार डॉ0 विष्णुदत्त शर्मा (गाजियाबाद) तथा गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार श्री हरिमोहन मालवीय (अध्यक्ष हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद) को प्रदान किया गया है। बधाइयाँ

–सम्पादक

जैव-प्रौद्योगिकी व्याख्यानमाला का प्रथम व्याख्यान सम्पन्न

जैव प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार द्वारा प्रायोजित तथा विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित जैव प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यानमाला का प्रथम व्याख्यान चन्द्रशेखर आजाद कृषि और प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय कानपुर के कृषक सभागर में दिनांक 19.1.2001 को सम्पन्न हुआ। इसके अंतर्गत डॉ0 आर. के. पाठक, प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष मृदा विज्ञान और कृषि रसायन विभाग, च.आ.कृ.वि.वि. कानपुर ने Bitechnolgy And Agriculture An Overview विषय पर अपने विचार व्यक्त किये।

जैव तकनीकों के प्रयोग द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि की अपार संभावनाओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 पाठक के अपने व्याख्यान में टिश्यू कल्चर, एन्थर कल्चर, पोलेन कल्चर, सोमाक्लोनल वैरियेशन, माइक्रो प्रोपेगेशन, पुनयोर्जी डी.एन.ए. तकनीक, जैव उत्प्रेरित तंत्र, माइक्रोबियल उत्पाद, एक कोशीय तेल तथा प्रोटीन, स्टेरॉयड रूपांतरण आदि के बारे में विस्तार से चर्चा की मृदा जैव प्रौद्योगिकी पर अपने व्याख्यान को केन्द्रित करते हुए उन्होंने 'बायो डाइनामिक कृषि' (जैव गतिक कृषि) के क्षेत्र में किये गये शोधों के बारे में बताया कि जैव गतिक पंचाग के आधार पर गोबर व गोमूत्र तथा गाय की सींग के सहयोग से बनी खाद के प्रयोग से कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि पाई गई है। जैव प्रौद्योगिकी द्वारा पौधों की बीमारियों पर नियंत्रण की संभावनाओं पर भी उन्होने विचार व्यक्त किये। व्याख्यान के अन्त में में डॉ0 पाठक ने श्रोताओं की शंकाओं का समाधान भी किया।

व्याख्यान के पूर्व विज्ञान परिषद् प्रयाग के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने व्याख्यानदाता एवं श्रोताओं का स्वागत किया। डॉ0 पी.एस. केन्दुरकर ने कार्यक्रम का संचालन किया। व्याख्यान के आयोजन में डॉ0 ईश्वरी प्रसाद पाण्डेय का विशेष योगदान रहा।

विज्ञान परिषद् की सभापति का प्रयाग आगमन

20 जनवरी 2001 को प्रयाग के अपने व्यस्त कार्यक्रम के बीच सभापति डॉ0 (श्रीमती) मंजु शर्मा ने विज्ञान परिषद् की गतिविधियों पर डॉ0 शिवगोपाल मिश्र से विचार विमर्श किया। उन्होंने परिषद् द्वारा चलाई जा रही विभिन्न परियोजनाओं तथा भविष्य में होने वाले व्याख्यानों के बारे में जानकारी प्राप्त की एवं दिशानिर्देश दिये।

विज्ञान परिषद् द्वारा 'मानद फेलोशिप' तथा 'विज्ञान प्रदीप' सम्मान हेतु नामों का निश्चय

विज्ञान के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए जिन पाँच व्यक्तियों को 'मानद फेलोशिप' के लिए सर्वसम्मति से चुना गया है वे हैं–

1. डॉ0 मुरली मनोहर जोशी
   केन्द्रीय मंत्री, भारत सरकार, मानव संसाधन विकास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा महासागर विकास
2. डॉ0 एम.जी.के. मेनन
   प्रख्यात वैज्ञानिक, पूर्व केन्द्रीय मंत्री, विज्ञान व प्रौद्योगिकी
3. डॉ0 पी.एन. टण्डन
   प्रख्यात न्यूरोसर्जन,अध्यक्ष नेशनल ब्रेन रिसर्च सेन्टर
4. डॉ0 वी.पी. शर्मा
   प्रख्यात चिकित्सा विज्ञानी, पूर्व निदेशक मलेरिया अनुसंधान केन्द्र, नई दिल्ली
5. डॉ0 आर.सी.मेहरोत्रा
   प्रख्यात रसायन शास्त्री, एमेरिटस प्रोफेसर व पूर्व कुलपति इलाहाबाद, राजस्थान व दिल्ली विश्वविद्यालय

विज्ञान लेखन के क्षेत्र में विगत 5 वर्षों से हिन्दी में निरन्तर रचनाधर्मिता के निए जिन लेखकों को 'विज्ञान प्रदीप' सम्मान के लिए चुना गया है वे हैं– 1. डॉ0 जगदीप सक्सेना (दिल्ली), 2. डॉ0 डी.डी. ओझा (जोधपुर), 3. डॉ0 पीयूष पाण्डेय (कलकत्ता), 4. प्रिय कुमार चौबे (वाराणसी), 5. श्री विजय चितौरी (इलाहाबाद), 6. श्री गणेश कुमार पाठक (बलिया), 7. श्री विजय कुमार श्रीवास्तव (दिल्ली), 8. श्री राधाकान्त अन्थवाल (दिल्ली), 9. इरफान ह्यूमन (शाहजहाँपुर), 10. श्री स्मिता सिंह,

–देवव्रत द्विवेदी

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@nde.vsnl.net.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विज्ञान परिषद् प्रयाग

द्वारा आयोजित

अखिल भारतीय लेखन प्रतियोगिता 2001

ह्विटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख अथवा पुस्तक को एक हजार रुपयों का पुरस्कार

- लेख अथवा पुस्तक केवल विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
- केवल प्रकाशित लेखों अथवा पुस्तकों पर ही विचार किया जायेगा।
- लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
- लेख अथवा पुस्तक के प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
- इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख अथवा पुस्तक जनवरी 2000 से दिसम्बर 2000 माह के बीच प्रकाशित हो।
- लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख अथवा पुस्तक मौलिक है।
- विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
- वर्ष 2000 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 31 मार्च 2001 है।
- पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

प्रविष्टियाँ निम्न पते पर भेजें :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन नं. : (0532) 460001
ई–मेल : vigyan1@nde.vsnl.net.in

ISSN : 0373-1200

मार्च 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

विज्ञान परिषद् प्रयाग

ISSN : 0373-1200

मार्च 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 86 अंक 12
मार्च 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

ग्राफिक आफसेट
186/5 टैगोर टाउन, इलाहाबाद
फोन : 465016, 465274

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

विजय कुमार शर्मा

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@nde.vsnl.net.in
वेब साइट – www.webvigyan.com

विषय सूची

इस सहस्राब्दी का पहला बड़ा भूकम्प

✍ डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

पृथ्वी का हिलना कोई नवीन घटना नहीं किन्तु यह कितनी जोर से हिले इसका महत्व है और इसके परिणाम भी बुरे हो सकते हैं। भूविज्ञान की भाषा में पृथ्वी के हिलने को **भूकम्प** कहा जाता है। **भूडोल, भूचाल** तथा **जलजला** अन्य पर्याय हैं। पुराणों के अनुसार पृथ्वी का हिलना उन दिग्गजों के हिलने–डुलने से होता है जो पृथ्वी को धारण किये हुये हैं।

भूकम्प की पूर्व सूचना कुछ जीव जन्तुओं में अस्वाभाविक हलचल, उनका अपने बिलों से निकल कर बाहर आने, शोर मचाने से मिलती रही है। कहते हैं कि चीन देश में अब भी इसी विधि का इस्तेमाल होता है किन्तु इस वैज्ञानिक युग में भूकम्प के कारणों का ठीक–ठीक पता लगा लिया गया है और पूर्वानुमान भी लगाया जाता है पर उसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। हमारे देश में ज्योतिषियों का एक वर्ग आज भी यह दावा करता है कि भूकम्पों के स्थान तथा समय की भविष्यवाणी की जा सकती है किन्तु यह पूर्णतया भ्रामक एवं बहलावा है। यह ऐसा प्राकृतिक प्रकोप है जिसका कोई पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता।

26 जनवरी को गुजरात प्रदेश के कच्छ क्षेत्र में (विशेषतया भुज में) आये विनाशकारी भूकम्प ने ऐसी सारी भविष्यवाणियों को खारिज कर दिया है। देश में स्थित भूकम्प क़ी सूचना देने वाली प्रयोगशालाएँ स्तब्ध रह गई हैं। दिल्ली में 52 वें गणतन्त्र दिवस की परेड का आयोजन चल रहा था और उधर कच्छ क्षेत्र में 8.46 बजे विनाशलीला हो चुकी थी। चाहे 3 सेकेण्ड कहें या 3 मिनट, इतने में ही ऐसा विनाश हुआ जो विगत 50 वर्षों में तो हुआ ही नहीं। इसे इस सहस्राब्दी का भारत का सबसे पहला बड़ा भूकम्प कहा जावेगा। इसकी तीव्रता रिक्टर पैमाने पर 6.9 आँकी गई लेकिन मीडिया से तुरन्त ही दो प्रकार की खबरें प्रसारित हो गईं कि यह तीव्रता 6.9 नहीं 7.9 थी। वैज्ञानिकों को इस भ्रम को दूर करने में काफी माथापच्ची करनी पड़ी। भुज के आसपास 20–25 दिनों तक छोटे–छोटे झटके महसूस किये गये। प्राय: बडे भूकम्प के बाद ऐसे झटकों का आना स्वाभाविक है।

ताजी खबरों के अनुसार इस भूकम्प से 150000 लोग प्रभावित हुए, जिनमें से 16,480 लोगों की मृत्यु की पुष्टि हुई, शेष घायल हुये। इस भूकम्प से जो क्षति हुई उसका अनुमान 21000 करोड़ रुपये बताया गया है। इसमें से औद्योगिक और वाणिज्यिक क्षेत्र में 8000 करोड़ तथा मकान, सामान आदि में 11000 करोड़ की क्षति आँकी गई है। 1991 में उत्तरकाशी और 1999 में चमोली में आये भूकम्प के बाद भूकम्प पर गहन अनुसंधान की माँग उठी थी।

यह इस सदी की पहली बडी राष्ट्रीय आपदा है। राष्ट्र ने बाध्य होकर भविष्य में राष्ट्रीय आपदाओं से निपटने के लिए दीर्घकालीन रणनीति के तहत आपदा प्रबन्धन पर राष्ट्रीय समिति का गठन किया है।

राहत और बचाओ अभियान में देश की स्वयंसेवी संस्थाओं के अतिरिक्त विश्व के अनेक राष्ट्रों ने राहत सामग्री भेजी है। पीडित लोगों के पुनर्वास की समस्या देश के समक्ष है। उससे निपटने के लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन ने आगे हाथ बढाया है। फिलहाल

तम्बुओं के नीचे उन्हें बसाया जावेगा और तब भवन बनाने पर विचार होगा। सी.एस.आई.आर. के वैज्ञानिकों का दावा है कि वे मलबे को उपयोगी वस्तुओं में बदल कर भग्न भवनों पर ही भवन खड़े कर देंगे। इंजीनियरों की आँखें खुली हैं। वे भूकम्परोधी भवनों के लिये आवश्यक नियमावली की ओर नागरिकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

डाक्टरों का कहना है कि शवों के सडने से महामारी फैलने की आशंका नहीं है फिर भी डी.डी.टी. का छिड़काव किया जा रहा है। किन्तु जल स्रोत दूषित हो चुके हैं अतः पेयजल जुटाना सबसे बडी समस्या है। वैसे भुज क्षेत्र में भूकम्प के कारण मीठे जल का जो स्रोत फूट निकला है, उससे पेयजल की भरपाई की उम्मीद है। बचे हुए भूकम्प प्रभावित लोगों को परिजनों की मृत्यु देखकर जो मानसिक आघात पहुँचा है, उससे उबरने में वर्षों लग सकते हैं और मनोचिकित्सकों के समक्ष यह बहुत बड़ी चुनौती होगी।

भूकम्प का प्रतिशत बढ़ रहा है

अस्सी के दशक तक प्राकृतिक आपदाओं में भूकम्प का योगदान 11.5 प्रतिशत था किन्तु नब्बे के दशक में यह बढ़कर 28.3 प्रतिशत और 2001 में 38.3 प्रतिशत हो गया है। 1970 के दशक में भूकम्प की कुल 89 घटनाएँ हुईं, किन्तु 1980 के दशक में यह संख्या 134 हो गई, 1990 के दशक में 382 और 26 जनवरी 2001 को गुजरात के भूकम्प को लेकर यह संख्या 521 हो गई है। इस तरह तीन दशकों में 340 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई।

1990 के बाद देश में 1991 में उत्तरकाशी, 1993 में लातूर, 1997 में जबलपुर, 1999 में चमोली और 2001 में गुजरात में भूकम्प एक निश्चित अवधि में आये और इनकी तीव्रता रिक्टर स्केल पर 6 से 7 तक थी।

भारत में पिछले 100 वर्षों में 100 बड़े भूकम्प आ चुके हैं जिनमें से 23 भूकम्पों की तीव्रता रिक्टर स्केल पर 6 से अधिक रही है। इनमें लाखों लोगों की मृत्यु हुई है।

भूकम्परोधी मकान कैसे होंगे?

केन्द्रीय शहरी विकास मन्त्रालय के अधीन काम करने वाला हुडको, भवन सामग्री एवं प्रौद्योगिकी
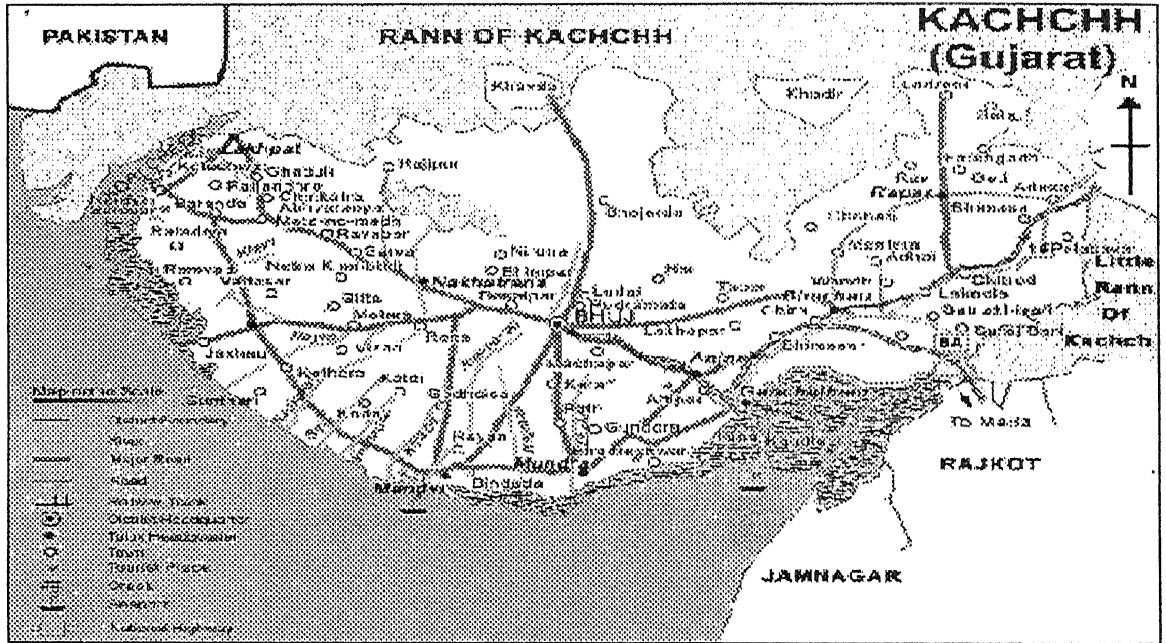
क्यों आया गुजरात का विनाशकारी भूकम्प?

26 जनवरी 2001 के दिन कच्छ में आये भूकम्प ने सन् 1956 में गुजरात राज्य के अंजार क्षेत्र में आये भूकम्प की याद ताजा कर दी है जिसमें काफी लोग मारे गये थे। साथ ही साथ इस भूकम्प ने भूविज्ञानवेत्ताओं के इस अनुमान की भी पुष्टि कर दी है कि कच्छ क्षेत्र भूकम्प की आशंकाओं से उतना ही ग्रस्त है जितना ग्रस्त हिमालय क्षेत्र है। भूविज्ञानवेत्ताओं की धारणा है कि जो घटक भूकम्प को जन्म देते हैं वे कच्छ क्षेत्र में उसी प्रकार मौजूद हैं जिस प्रकार वे हिमालय क्षेत्र में मौजूद हैं। आर0 पी0 कारन्थ नामक भूविज्ञानवेत्ता का विचार है कि इस भूकम्प की उत्पत्ति भुज से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर स्थित कच्छ मुख्य भूमि भ्रंश (कच्छ मेन लैंड फॉल्ट) की बढ़ी हुई सक्रियता के कारण हुई। इस भूकम्प ने भूविज्ञानवेत्ताओं की इस धारणा की पुष्टि की है कि इस क्षेत्र में औसत रूप से प्रत्येक 40–50 वर्ष के अन्तराल पर भूकम्प आने की संभावना रहती है।

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार कच्छ क्षेत्र में पहला बड़ा भूकम्प सन् 1819 में कच्छ के रन में आया। इसके कारण इस क्षेत्र के चट्टानों में एक विशाल भ्रंश (फॉल्ट) निर्मित हो गया जिसकी लम्बाई लगभग 140 किलोमीटर है। इस भ्रंश को अल्ला बन्द भ्रंश कहा जाता है। इसके बाद 1845 तथा 1903 में इस क्षेत्र में भूकम्प आये जिनकी तीव्रता रिक्टर पैमाने पर 6 थी।

कुछ समय पूर्व गढ़वाल भूकम्प का अध्ययन करने वाले भूवैज्ञानिकों ने भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे तथा उससे सटे क्षेत्रों के बारे में भी अपनी चिन्ता व्यक्त की थी। इस क्षेत्र में गुजरात के कई भागों के अलावा अजमेर तथा दिल्ली (अरावली पर्वत माला) का अति सक्रिय भूकंपीय क्षेत्र (सीस्मिक जोन) शामिल हैं। इन भूवैज्ञानिकों ने भविष्यवाणी की थी कि इस क्षेत्र में भंयकर तथा विनाशकारी भूकम्पों के आने की आशंका है। उनकी यह धारणा हिमालय क्षेत्र में चलाये गये पुराभूकंपीय (पैलियोसीस्मोलौजिकल) अनुसंधान से प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित थी। इन भूवैज्ञानिकों ने बड़े भूकम्पों की आंशका से ग्रस्त इस क्षेत्र के लिये एक विशिष्ट व्यूह रचना पर जोर दिया था।

सन् 1991 में उत्तरकाशी में आये भूकम्प तथा मार्च 1999 में आये चमोली के भूकम्प के विस्तृत अध्ययन के बाद अधिकांश भूविज्ञानवेत्ता इस बात से आशंकित थे कि भारतीय तथा यूरेशियन भूखण्डों के एक दूसरे के अधिक से अधिक निकट आते रहने के कारण हिमालय पर्वतमाला तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में भूकम्पों की संभावना काफी अधिक बढ़ती जा रही है। देहरादून स्थित 'वाडिया इंस्टीट्यूट ऑफ हिमालयन जियोलौजी' में समय–समय पर आयोजित संगोष्ठियों में भूवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र की नयी विवर्त्तनिक (टेक्टौनिक) हलचलों पर काफी चिन्ता व्यक्त की थी।

वाडिया इंस्टिच्यूट ऑफ हिमालयन जियोलौजी में कार्यरत डॉ0 देवेन्द्र पाल ने हिमालय क्षेत्र तथा भारत के पश्चिमी किनारे में आनेवाले भूकम्पों के संबंध में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार भारतीय भूखण्ड में भूसतह से लगभग ढाई किलोमीटर की गहराई पर एक विशाल विभंग (मेजर फंडामेंटल फ्रैक्चर) मौजूद है जिसकी चौड़ाई 65–70 किलोमीटर है। यह विशाल विभंगमाला वस्तुतः नवनिर्मित हिन्दचीन भूखण्ड (इंडोचाइना प्लेट) की पश्चिमी सीमा है। यह विशाल विभंगमाला हिन्द महासागर में प्रारम्भ होकर समुद्र के भीतर ही भीतर चागौस द्वीप पुंज, माली, लक्षद्वीप, भारत के पश्चिमी घाट के किनारे किनारे काम्बे की खाड़ी, अहमदाबाद, अजमेर तथा दिल्ली (अरावली पर्वत माला) से होती हुई हिमालय पर्वतमाला में उत्तरकाशी के नीचे समाप्त होती है। यह विशाल भ्रंशमाला भूकंपीय दृष्टि से बहुत ही सक्रिय है तथा इस भ्रंश माला के ऊपर पड़ने वाले क्षेत्रों में प्रायः भूकम्प आते रहते हैं।

✍ डॉ0 विजय कुमार उपाध्याय, इंजीनियरी कालेज, भागलपुर

प्रोत्साहन परिषद् (बी.एम.टी.पी.सी.), भारतीय मानक ब्यूरो (बी.एम.आई.एस.) और भारतीय मौसम विभाग के अनुभवों के अनुसार पक्के मकानों को भूकम्परोधी होने के लिये कुछ दिशानिर्देश हैं। यद्यपि इनके अनुसार मकान बनाने की लागत सामान्य निर्माण लागत से 20 प्रतिशत अधिक होगी किन्तु भूकम्प की दशा में निश्चिंत रहा जा सकता है। मनमानी ढंग से बनाये गये बहुमंजिले मकान, गलत भवन सामग्री का उपयोग– ये ही कारण हैं, भवनों के विनाश के। चमोली में 1999 के भूकम्प में 12 हजार मकान गिरे थे और 53 हजार क्षतिग्रस्त हुए थे।

पक्के मकान को भूकम्प से बचाने के उपाय

पक्के मकान को भूकम्प से बचाने के लिए ध्यान देने लायक कुछ महत्वपूर्ण बातें हैं–

कोई भी दीवार छह मीटर से ज्यादा लंबी न हो। दीवार की लम्बाई उसकी मोटाई से 10 गुना ज्यादा न हो। दीवार की ऊँचाई उसकी मोटाई से आठ गुना से ज्यादा कदापि न हो। अगर दीवार छह मीटर से ज्यादा लम्बी हो तो बीच में आड़ी दीवार या फिर पायों का प्रयोग करें।

एक मंजिल की ऊँचाई 2.8 मीटर से ज्यादा न हो और कमरे की लम्बाई चार मीटर तक रखना सर्वाधिक सुरक्षित है। पक्की छतों वाली दीवार की मोटाई 20 सेंटीमीटर से कम न हो। दीवार की मोटाई 45 सेंटीमीटर से भी ज्यादा न हो।

चिनाई के समय एक परत की दो ईंटों के जोड उसके ऊपर की परत की ईंटों के जोड़ की संधि में न हों। दरवाजों और खिड़कियों के ऊपर कंक्रीट की लिंटेल डालें। दीवार में दरवाजों और खिड़कियों की कुल चौड़ाई दीवार की लम्बाई के 40 फीसदी से ज्यादा न हो।

- मजबूत ठीक से पकी हुई और साफ-सुथरी ईंटें इस्तेमाल करें। चिनाई के लिए सीमेंट और रेत का अनुपात 1: 6 का रखें। 1: 3 का चूना और रेत या फिर 1 : 2 : 9 का सीमेंट, चूना और रेत का मसाला भी इस्तेमाल किया जा सकता है।
- नींव की गहराई कम से कम 50 सेंटीमीटर और चौड़ाई का डेढ़ गुना से कम कदापि न हो। नींव की सतह कंक्रीट की बनाएँ। दीवार नीचे से ऊपर तथा एक छोर से दूसरे छोर तक एकदम सीधी हो।
- दरवाजों और खिड़कियों के बीच या फिर दीवार की छोर से दरवाजे खिड़की की दूरी कम से कम 60 सेंटीमीटर रखें।
- खिड़की और दरवाजों के ऊपर 7.5 सेंटीमीटर कंक्रीट की बीम डालें। इससे फर्श से छत तक चारों दीवारें कुल तीन बीमों के मजबूत ढाँचे से बँध जायेंगी और झटके बर्दाश्त करने की उनकी क्षमता बढ़ जायेगी। मकान का आकार वर्गाकार या आयताकार ही रखें।
- दीवारों के जोड़ व मिलान सरियों के हुक द्वारा जोड़कर बनाए जाएँ। पर्वतीय इलाकों में छतें टीन की चद्दरों जैसी हल्की निर्माण सामग्री की बनाएँ और इसकी सभी यूनिटों को एक दूसरे से बाँध कर रखें। छज्जे ज्यादा बड़े न हों।

भूकम्प पूर्वानुमान की दिशा में नये चरण

भूकम्प की भविष्यवाणी करने के लिए वैज्ञानिकों को पता लगाना होगा कि महाद्वीपीय प्रतिबल (कान्टीनेन्टल स्ट्रेस) किस बिन्दु पर निर्मित हो रहा है, भूपर्पटी शैलों के विभंग बिन्दु (ब्रेकिंग प्वाइण्ट) को निर्धारित करना होगा और तब यह बताना होगा कि पृथ्वी के नीचे उन्मुक्त ऊर्जा किस दिशा में ऊपर की ओर बढ़ेगी।

इसके लिए कोई प्रत्यक्ष विधि नहीं है, अतः वैज्ञानिक अप्रत्यक्ष विधि निकालने में जुट रहे हैं। किन्तु अभी तक भूकम्प की भविष्यवाणी उस रूप में नहीं की जा सकी जिस रूप में मौसम की भविष्यवाणी सम्भव हो सकी है।

भारत के उत्तरी भाग के कुछ अंश ऐसी भूकम्प पट्टी में आते हैं जो हिन्दूकुश क्षेत्र से लेकर हिमाचल प्रदेश होते हुए, भारत–नेपाल सीमा तक, उत्तर प्रदेश से होते हुए उत्तर पूर्व में असम तक फैली

है। यह क्षेत्र ऐसा है जिसमें उपमहाद्वीप प्लेटें लगातार यूरेशियन प्लेट को धकेल रही हैं जिसकी गति 5 सेमी/वर्ष है। इसी संघर्षण के फलस्वरूप हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई, जो अब ऊपर उठ रहा है और इसी के कारण यह क्षेत्र भूकम्प की दृष्टि से सक्रिय है। इसलिये भूकम्प पूर्वानुमान में विगत आँकड़ों का प्रयोग यह बताने के लिए किया जाता रहा है कि भूकम्प किस क्षेत्र में आ सकता है। ऐसा अनुभव है कि जिस क्षेत्र में भूकम्प आते हैं वहाँ वे दीर्घकाल तक आते रहते हैं।

इस तरह वैज्ञानिक उन पूर्वगामियों (precursors) की खोज में लगे रहते हैं जहाँ बहुत समय से भूकम्प नहीं आये, क्योंकि ऐसे क्षेत्रों में धीरे–धीरे प्रतिबल (स्ट्रेस) बनता रह सकता है और ऐसे क्षेत्र भावी भूकम्प के अनुकूल होंगे।

विगत आँकड़ों के अनुसार भारत को पाँच भूकम्प की आशंका वाले मण्डलों (जोन) में विभाजित किया गया है। इनमें से क्रमशः 4 तथा 5 क्रम वाले मंडलों में भूकम्प की सर्वाधिक आशंका बनी रहती है।

शायद पूर्वगामियों की खोज से भूकम्प के समय तथा स्थान की पूर्वसूचना सम्भव हो सकेगी। ये पूर्वगामी होंगे– छोटे झटके (Pre-shock), प्रतिबल (Stress) का संचयन , प्रतिबल के परिवर्तन तथा भूपृष्ठीय शैलों, भौमजल स्तरों तथा गैस–निस्सरण पर उनके प्रभाव। छोटे छोटे झटके किसी बड़े भूकम्प के पूर्व आते हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त विधियों के आधार पर सर्वप्रथम चीनी वैज्ञानिकों ने 4 फरवरी 1975 के भूकम्प की भविष्यवाणी की थी। 1974 में भूपृष्ठ में हलचल देखी गई, कुछ माह पूर्व कुँओं के जल–तल में अन्तर आने लगा, किन्तु छोटे छोटे झटकों से ही असली भूकम्प की भविष्यवाणी की जा सकी।

पृथ्वी के नीचे बन रहे प्रतिबल से ऊपरी पृष्ठ के कुछ सेमी. टेढ़ा होने (बंकन) की घटना विकृतमापी (स्ट्रेनमीटर) से मापी जा सकती है। इसकी सूचना शैलों तथा मृदा की विद्युच्चालकता में परिवर्तन से प्राप्त की जा सकती है। रूसी वैज्ञानिकों ने कम होती विद्युच्चालकता एवं भूकम्प में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया है।

रेडान ऐसी रेडियोऐक्टिव गैस है जो नीचे के शैलों से निकलती रहती है। इसलिए चुने हुये कुँओं के जल के भीतर रेडान की सान्द्रता ज्ञात करके भूकम्प की भविष्यवाणी की जा सकती है, ऐसा जापानी वैज्ञानिक मानते हैं।

बिसोलाजी?

डॉ0 मदन मोहन बजाज, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा बिजयराज सिंह ने "बिस" (BIS) ब्रेकडाउन आफ इंटीग्रेटेड सिस्टम्स–समन्वित संरचनाओं का विखण्डन के रूप में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है उसे "नव भूकम्प–विज्ञान" अथवा "अहिंसा नवशास्त्र" या "बिसोलाजी" की संज्ञा दी गई है। यह धारणा कि सम्पूर्ण लोक में एक अभूतपूर्व संबद्धता (इंटरकनेक्टेडनेस) है, इस सिद्धान्त की आधार–भूमि है।

'बिसोलॉजी' के अन्तर्गत कहा गया है, कि विश्व में पीड़ा और करुणा की तरंगों का एक अन्तःसंबद्ध जाल बिछा हुआ है। जब इनमें असंतुलन होता है, तब प्राकृतिक विपदाएँ जन्म लेती हैं और विनाश का नग्न ताण्डव खुल कर प्रकट होता है। कत्लखाने और माँस-मण्डियाँ पीड़ा–तरंगों के अड्डे हैं। इनमें भूकम्पी तनाव (सीस्मिक स्ट्रेस) पैदा होते हैं, और सब कुछ तहस-नहस होने लगता है।

इस सम्बन्ध में इन वैज्ञानिकों ने 2 पुस्तकें लिखीं हैं– "इटिओलॉजी ऑफ अर्थक्वेक्स–ए न्यू अप्रोच (अक्टूबर 95) तथा "क्लासिकल एण्ड क्वांटम अप्रोच टू बिस इफेक्टस (दिसम्बर 97)। तीसरी किताब डॉ0 नेमीचन्द जैन की " भूकम्प की वजह" (जून 97) है। इन्हें "हीरा भैया प्रकाशन, 65 पत्रकार कालोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर–452001, मध्य प्रदेश ने प्रकाशित किया है।

कुछ जीवित प्राणी भी भूकम्प की भविष्यवाणी कर सकते हैं। यथा कुत्ते भूकने लगते हैं और सर्प अपने बिलों से बाहर निकल आते हैं। ऐसा अनुमान है कि कुछ पशुओं में कर्णातीत तरंगों को सुनने की शक्ति है, ये तरंगे भूकम्प के पूर्व उठती हैं। किन्तु जीवों के आचरण को पक्का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

नेशनल ज्योग्रैफिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट, हैदराबाद, रीजनल रिसर्च लेबोरेटरी जोरहट, जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, इण्डियन मेटेरालाजिकल डिपार्टमेंट संयुक्त रूप से भूकम्प के पूर्वानुमान की दिशा में प्रयास करते रहे हैं।

रिक्टर माप

1935 में कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट आफ टेक्नॉलाजी के डॉ0 चार्ल्स एफ. रिक्टर ने भूकम्प की तीव्रता नापने का पैमाना विकसित किया जो "रिक्टर स्केल" कहलाता है। यह भूकम्प के झटके की कम्पन शक्ति को मापता है। 1977 में इस माप में कुछ संशोधन हुए। यह स्केल लघुगणकीय होता है अतः प्रति एक अंक में वृद्धि का अर्थ है तीव्रता में दसगुनी वृद्धि।

भूकम्प की तीव्रता की माप "सीस्मोग्राफ" द्वारा की जाती है। भूकम्प से होने वाली क्षति केवल उच्च तीव्रता पर निर्भर नहीं करती। यह भूकम्प अधि-केन्द्र से दूरी, जनसंख्या के घनत्व तथा मकानों के आकार-प्रकार पर निर्भर करती है।

भूतल के हल्के परिवर्तनों को मापने के लिये लेसर किरणों का प्रयोग किया जाता है।

भूमि के भीतर उठने वाले कम्पन तरंग रूप में होते हैं- प्राथमिक तरंगें (P) तथा द्वितीयक तरंगें (S)। प्राथमिक तरंगें संपीडित होती हैं और द्वितीयक तरंगें अनुप्रस्थ दाब वाली।

सतह पर चलने वाली तरंगें भी दो प्रकार की बताई गई हैं- ऊर्ध्वाधर (रैले) तथा क्षैतिज (लव)।

ये चारों प्रकार की तरंगें भूकम्प उत्पत्ति केन्द्र

मारकेली स्केल

1931 में मारकेली ने भूकम्प तीव्रता मापने के लिए "मारकेली स्केल" की घोषणा की जो भूकम्प प्रबलता को एक (I) से लेकर बारह (XII) रोमन अंकों में विवेचित करता है। यह मापक्रम रिक्टर स्केल की अपेक्षा अच्छी सूचना देता है यद्यपि इसका निर्धारण विनाशलीला के बाद ही संभव है। इसलिए रिक्टर स्केल का ही प्रचलन है।

तीव्रता–I	कुछ व्यक्ति भूकम्प को जान पाते हैं।
तीव्रता–II	धरती पर खड़े व्यक्तियों या ऊपरी मंजिल पर खड़े व्यक्तियों को भूकम्प का अनुभव होता है।
तीव्रता–III	मकानों के अन्दर और ऊपरी मंजिल पर स्थित लोग ही इसका अनुभव कर पाते हैं कि भूकम्प कितनी देर रहा।
तीव्रता–IV	दिन के समय चलते फिरते लोग भी अनुभव करते हैं और रात में दरवाजों के खटखटाने की आवाज होती है।
तीव्रता–V	सभी लोग झटके महसूस करते हैं। दीवारों के प्लास्टर चिटक जाते हैं।
तीव्रता–VI	लोग डर कर घर से बाहर भागने लगते हैं, वस्तुएँ अपने स्थान से हट जाती हैं।
तीव्रता–VII	सभी लोग घर से बाहर भागते हैं, अच्छे मकान क्षतिग्रस्त नहीं होते, चलती मोटरें झटके का अनुभव करती हैं।
तीव्रता–VIII	साधारण मकान विशेष रूप से क्षतिग्रस्त होते हैं, चिमनियाँ टूट जाती हैं, मकान, खंभे एवं दीवार गिर जाती हैं।
तीव्रता–IX	अच्छी इमारतें ध्वस्त हो जाती हैं। पृथ्वी के भीतर पानी के नल टूट जाते हैं।
तीव्रता–X	सीमेंट से बनी इमारतों की नीवें नष्ट हो जाती हैं, पृथ्वी फट जाती है, रेल की पटरियाँ टेढ़ी मेढ़ी हो जाती हैं, लकड़ी के बने मकान नष्ट हो जाते हैं।
तीव्रता–XI	पुल नष्ट हो जाते हैं।
तीव्रता–XII	विनाशलीला।

(एपिसेंटर) से बहुत दूर पर भी पहचानी जा सकती हैं।

पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तन भी भूकम्प का सूचक है।

1929 तक भूगोलवेत्ता भूकम्प की कोई तार्किक व्याख्या नहीं दे सके थे। तभी ऐल्फ्रेड वैगनर ने प्लेट टैक्टानिक्स (प्लेट विवर्तन) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके अनुसार पृथ्वी की बाह्य सतह सात मुख्य तथा कुछ छोटी छोटी प्लेटों में बँटी है। प्लेंटे वस्तुतः 50–100 किलोमीटर मोटी होती हैं। अब तो प्रयोगशालाओं में मॉडल बनाकर भूकम्प कराये जा सकते हैं। ये प्लेटें समुद्र के भीतर भी स्थित हैं। ये इतनी कठोर होती हैं कि टकराने पर ही किनारों में विकृति आती है। जब दो प्लेटें टकराती हैं तभी भूकम्प आते हैं।

ज्वालामुखी फटने के कारण भी भूकम्प आते हैं। अब तो चन्द्रमा की कलाओं पर भी भूकम्प निर्भर करते बताये जाते हैं।

गुजरात में आये भूकम्प की तीव्रता 6.9 थी किन्तु मीडिया ने इसे 7.9 बता कर काफी उत्तेजना फैला दी। अमेरिका में रह रहे कुछ लोग भारतीय अब भी 7.9 को ही सही मानते हैं किन्तु भारतीय भूवैज्ञानिकों ने बताया कि 6.9 रिक्टर स्केल मारकेली स्केल में 7.6 के लगभग है।

टेक्टानिक भूकम्प

टेक्टानिक या विवर्तनिक भूकम्प वे हैं जो भ्रंश की सीध में पृथ्वी की पपड़ी के टूटने या फिसलने से उत्पन्न होते हैं। ये तीन प्रकार के बताये गये हैं–

सामान्य– जहाँ उद्गम की गहराई 45 किलोमीटर तक हो।

मध्यम– जहाँ केन्द्र की गहराई 45–240 किलोमीटर हो।

तीव्र– जहाँ केन्द्र की गहराई 240–1000 किलोमीटर हो।

1864 में एडवर्ड जुंस ने टेक्टानिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।
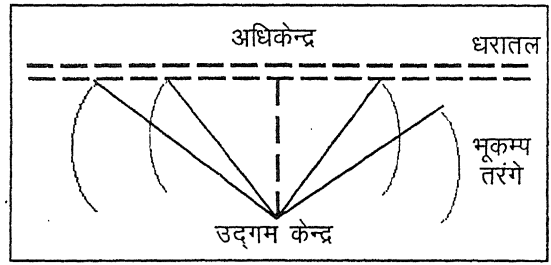
अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृतिक आपदा नियन्त्रण दिवस

यह संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रचारित अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृतिक आपदा नियन्त्रण दशक के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष अक्टूबर में दूसरे बुधवार को मनाया जाता रहा है। 1996 में आपदा नियंत्रण दिवस का विषय "शहरों को खतरा" रखा गया था।

अनुमान है कि भारत में प्रतिवर्ष सूखे, बाढ़, चक्रवात, भूकम्प, भूमिस्खलन जैसी विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं से 6 करोड़ लोग प्रभावित होते हैं। भारत की शहरी प्रणाली विश्व की सबसे बड़ी प्रणालियों में गिनी जाती है। मरुभूमि विकास, वनरोपण, मृदा एवं जलसंरक्षण, बाढ़ नियन्त्रण आदि विविध उपाय हैं इन आपदाओं को रोकथाम के।

भूकम्प आये तो क्या करें?

यदि घर के भीतर हों तो बाहर न भागें, अपितु दरवाजों के पास, मेजों, बिस्तरों के नीचे छिप जायँ। यदि घर के बाहर हों तो इमारतों, ऊँची दीवारों या लटकते बिजली के तारों से दूर रहें। क्षतिग्रस्त इमारतों में दुबारा प्रवेश न करें। यदि किसी वाहन में हों तो वाहन रोककर उसके भीतर ही रुके रहें। जितनी जल्दी हो सके आग बुझावें, हीटर बन्द कर दें।

यदि मकान टूट चुका हो तो बिजली, गैस, पानी बन्द कर दें। यदि घर में आग लग गई हो तो बाहर निकल कर आवें, बुझाने का प्रयत्न करें, पानी बचावें। बरतनों को भर लें, पालतू जानवरों को खोल दें।

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

(भूकम्प पर कुछ और सामग्री अगले अंक में)

इलेक्ट्रॉनिकी में पॉलिमर का योगदान

डॉ० डी.डी. ओझा

आज के युग में प्लास्टिक एवं पॉलिमर प्रचलित शब्द हो गये हैं। रुई, ऊन, रबर आदि वस्तुएँ प्राकृतिक पॉलिमर के रूप में पहचानी जाती हैं। उसी प्रकार टूथब्रश, प्लास्टिक की बाल्टियाँ, थर्मोकोल के तख्ते, प्लास्टिक के जूते आदि विविध प्रकार की वस्तुएँ मानवनिर्मित पदार्थों से बनाई जाती हैं। पॉलि का अर्थ है 'बहु' और 'मर' मोनोमर शब्द का अंतिम अंश है। इन दोनों से पॉलिमर शब्द बन गया है। मोनोमर से पॉलिमर पदार्थ की निर्मिति की जा सकती है।

वस्तुतः पॉलिमर का प्रारम्भ वर्ष 1839 में रबड़ के वल्कनाइजेशन से हुआ। उसके तुरन्त बाद सेल्युलोज नाइट्रेट (सेल्युलॉइड) नाम का प्लास्टिक बनाया गया। उसके चालीस वर्ष बाद वर्ष 1909 में बेकेलाइट प्लास्टिक का निर्माण किया गया। वर्ष 1920 के बाद कई मानव निर्मित पॉलिमर पदार्थ तैयार किए जाने लगे। आज से तीस वर्ष पूर्व रेडियो का केस बेकेलाइट से तैयार किया जाता था, अब टेलीविजन का केस अग्नि प्रतिरोधक तथा मजबूत पॉलिस्टायरीन से तैयार किया जाता है।

मानवनिर्मित पॉलिमर पदार्थ कतिपय कार्बनयुक्त पदार्थों से बनाए जाते हैं। उदाहरण के तौर पर स्टायरीन नामक पदार्थ कार्बनयुक्त मोनोमर है। इस स्टायरीन मोनोमर से यदि एक मणि तैयार की जाए और ऐसी असंख्य मणियों की एकसूत्र माला तैयार की जाए तो उसे पॉलिस्टायरीन कहा जाता है। उसी इथिलीन से जब पॉलिमर तैयार किया जाता है तब उसे पॉलिइथिलीन कहा जाता है। पॉलिमर की एकत्रित मणियों की माला को लिनियर पॉलिमर कहा जाता है। कभी-कभी यह माला एकरस नहीं होती। जब मालाओं की शाखाएँ एक-दूसरे से जोड़ दी जाती हैं तब शास्त्रीय परिभाषा में उसे "ब्रांच पॉलिमर" कहा जाता है। कभी-कभी ये मालाएँ एक-दूसरे में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, तब उन्हें 'क्रॉस-लिंक' कहा जाता है। एकरस तथा ब्रांच मालाओं की मणियों को थोड़ा सा गरम कर देने पर मणियाँ मुलायम एवं चिपचिपी बन जाती हैं और अपनी जगह से वे खिसक जाती हैं। ऐसे पॉलिमर पदार्थों को "थर्मोप्लास्टिक पॉलिमर" कहा जाता है। रास्ते पर प्लास्टिक के जूतों की मरम्मत करने वाला आदमी प्लास्टिक के जूते गरम सलाख से ठीक कर देता है, इसका कारण है प्लास्टिक की यही विशेषता। पॉलिमर का अन्य भेद है थर्मोसेटिंग, अर्थात् उष्णता से पॉलिमर पदार्थ का सख्त या कठोर हो जाना। ऐसे पॉलिमर पदार्थों का उपयोग धातुओं पर मुलम्मा आदि चढ़ाने के कामों के लिए किया जाता है।

पॉलिमर पदार्थ भार में हलके तथा मजबूत होते हैं। उनमें इलेक्ट्रॉनिक्स की दृष्टि से उपयोगी कई विशेषताएँ पाई जाती हैं। पॉलिमर पदार्थों में इलेक्ट्रॉनिक्स के संयंत्र के अति सूक्ष्म, लेकिन महत्वपूर्ण अंगों को हवा, वाष्प, विद्युत्दाब आदि से बचाने की क्षमता पाई जाती है। जब से पॉलिमर पदार्थों की इस क्षमता से वैज्ञानिक परिचित हो गए हैं तब से उनका उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। जैसे-जैसे इलेक्ट्रॉनिकी का ज्ञान विकसित होता गया, वैसे-वैसे उसके विकास के साथ ही पॉलिमर का उपयोग भी बढ़ता गया एवं अधिकाधिक विकसित भी होता गया। आज कई पॉलिमर पदार्थ इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग में

काम में लाए जा रहे हैं। कुछ वर्ष पूर्व जब तिलचट्टे मारने के लिए रेडियो खोल दिया जाता था तब उसमें नीले, लाल तथा जामुनी रंगों के तारों के जाल दिखाई देते थे। इनमें से कौन सा तार कहाँ जोड़ा गया है अथवा कहाँ टूट गया है, इसे खोजने में घंटों समय लगता था। इसके अलावा रेडियो का कैबिनेट भी बड़ा तथा भारी हुआ करता था और उसमें एक बड़ा भारी स्पीकर भी संलग्न रहता था। परन्तु अब धातु तथा प्लास्टिक के संयोग से अति छोटे, भार में हलके, दिखने में आकर्षक तथा रंग-बिरंगे एवं मनमोहक इलेक्ट्रॉनिक्स के यंत्र सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं।

निपसे नामक वैज्ञानिक ने वर्ष 1820 में काँच पर डामर का लेप चढ़ाकर उसे धूप में रख दिया। कुछ समय पश्चात् उसने पाया कि डामर का लेप काँच से बिल्कुल चिपक जाता है। तब उसने और एक प्रयोग करके देखा। उसने काँच पर डामर का लेप चढ़ाया और उसका आधा भाग धूप में और आधा ढककर रखा। धूप से खुले भाग में लगाया गया डामर कठोर बन गया और बचा हुआ भाग द्रव से धो डाला। इस प्रकार यह देखने में आया कि सूर्य की किरणों का उपयोग करते हुए धातु के पृष्ठ भाग पर डामर की आकृति बनाई जा सकती है।

मुद्रित परिपथ बोर्ड (Printed Circuit Board) इलेक्ट्रॉनिक यंत्र का एक अति महत्वपूर्ण भाग माना जाता है। टी.वी., वी.सी.आर., संगणक आदि में ऐसे छोटे-बड़े बोर्ड लगे रहते हैं। उनपर ताँबे की नक्काशीदार एवं बालों जैसी पतली रेखाएँ निकली रहती हैं। कहीं-कहीं रंगोली जैसे सफेद, पीले, जामुनी रंग के छोटे-छोटे भाग दिखाई देते हैं।

इस प्रकार का मुद्रित परिपथ बोर्ड कैसे बनाया जाता है, उसकी जानकारी मनोरंजक है। प्रिंटेड सर्किट बोर्ड बनाने के लिए फोटोलिथोग्राफी (पॉजिटिव या निगेटिव फोटोलिथोग्राफी) का तरीका अपनाया जाता है। प्लास्टिक के तख्ते से ताँबे की बिल्कुल पतली परत इपॉक्सी रेजिन से चिपकाई जाती है। इस परत पर पराबैंगनी किरणों से प्रभावित होनेवाले कुछ पॉलिमर पदार्थों का मुलम्मा चढ़ाया जाता है। एक दूसरी प्लास्टिक फिल्म पर पूर्वनियोजित विद्युत परिपथ रेखाएँ निकालकर, इस फिल्म को मुलम्मा (लेप) दिये हुए तख्ते पर रखा जाता है। फिर इस बोर्ड पर (पराबैंगनी) किरणों द्वारा पॉलिमर के लेप को सख्त बनाया जाता है। उसके बाद प्लास्टिक की फिल्म बाहर निकाली जाती है और पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से मुक्त पॉलिमर भाग को द्रव से धोया जाता है। उसके नीचे के ताँबे के स्तर को कतिपय रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा हटाया जाता है। अब जो भाग कठोर बन जाता है उस पर पॉलिमर का लेप बचा रहता है, उसे भी कुछ रसायनों द्वारा निकाला जाता है। अब जो पीछे बच जाती हैं वे होती हैं ताँबे की बालों जैसी दिखाई देने वाली विद्युत परिपथ रेखाएँ। इस प्रकार से निर्मित तख्त से छोटे-छोटे इलेक्ट्रॉनिक भाग चिपकाए जाते हैं। इलेक्ट्रॉनिक्स के कई छोटे परन्तु महत्वपूर्ण घटकों पर सेल्युलोज नाइट्रेट, पॉलियूरेथेन, पॉलिविनाइल क्लोराइड आदि पदार्थों के लेप चढ़ाकर उसकी वाष्प, उष्णता, विद्युत दाब आदि से रक्षा की जाती है।

टी.वी. के परदे पर प्रकाश किरणों की वर्षा से विविध रंगों की क्रीड़ा दिखाने वाले रासायनिक रंगों को पॉलिमर पदार्थ में मिलाकर उनका लेप टी.वी. की ट्यूब पर चढ़ाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप टी. वी. के चित्र विविध रंगों की छटाओं से युक्त होते हैं। उसी प्रकार अलग-अलग रंगों के बटन, ढक्कन, टेप, संगणक फ्लॉपी आदि कई प्रकार की वस्तुएँ पॉलिमर पदार्थों से बनाई जाती हैं।

टी.वी. सेट या इलेक्ट्रॉनिक यंत्र अत्यधिक सतर्कता एवं सावधानी से बनाए जाते हैं, इसलिए उनकी निगरानी करना उतना ही महत्वपूर्ण होता है। ऐसे नाजुक यंत्रों को पॉलिमर स्पंज की पैकिंग में एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुरक्षित ढंग से ले जाया जा सकता है। इसके लिए हलके, कठिन तथा अग्निरोधक स्पंज पैकिंग के काम में आते हैं। थर्मोकोल के तख्तों या स्पंज के द्वारा इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की यातायात के समय सुरक्षा की जा सकती है।

गुरुकृपा, ब्रह्मपुरी
हजारी चबूतरा, जोधपुर

विटामिनों का रोचक इतिहास

✍ डॉ0 दिनेश मणि

यह बात अब पूर्ण रूप से सत्यापित हो चुकी है कि 'विटामिन' हमारे भोजन के महत्वपूर्ण अंग हैं। ये पदार्थ हमारे शरीर की पूर्ण वृद्धि एवं उसके कार्यों के ठीक सम्पादन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। कुछ वैज्ञानिकों का तो यहाँ तक कहना है कि आजकल साधारणतया हीन स्वास्थ्य, अपूर्ण वृद्धि तथा अधिकांश रोगों की उत्पत्ति का कारण इन आवश्यक पदार्थों का उपयुक्त मात्रा में भोजन में न होना ही है।

विटामिन के विषय में हमारे ज्ञान का आरम्भ आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। मनुष्य ने जब अपना निवासस्थान छोड़कर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के प्रयत्न में नाविक कला का आविष्कार किया, समुद्र पर लम्बी-लम्बी यात्राएँ प्रारम्भ कीं और अपने प्राकृतिक भोजन को छोड़कर भाँति-भाँति के तैयार भोजनों का व्यवहार प्रारम्भ किया तभी उसने सबसे पहली बार अनुभव किया कि अच्छे स्वास्थ्य और जीवन के लिए ताजे फल और अन्य वानस्पतिक खाद्यों का हमारे दैनिक भोजन के अन्तर्गत उपयुक्त परिमाण में होना नितान्त आवश्यक है।

प्रायः यह माना जाता है कि बहुत पहले से ही व्यक्ति किसी न किसी तत्व की कमी से उत्पन्न रोग से हमेशा आक्रान्त होता रहा है। उदाहरणतया मसूढ़ों का विकृत होना तथा उनसे रक्तस्राव का होना उस समय अनेक व्यक्तियों को हुआ करता था, परन्तु इस रोग का नामकरण एवं इसकी उचित चिकित्सा इसके कई हजार वर्ष बाद सन् 1601 में जेम्स लैकास्टर द्वारा ही उसकी पुस्तिका 'ट्रीटाइज ऑफ स्कर्वी' से विदित हुई जिसमें उन्होंने इस रोग का नाम 'स्कर्वी' बताया था और इसकी चिकित्सा के लिए नींबू का प्रयोग उत्तम कहा था।

तत्पश्चात् सन् 1753 में लिंड और 40 वर्ष बाद 'ब्रिटिश एडमिरेलिटी' ने सन् 1795 में ब्रिटिश जहाजी बेड़े में नाविकों के दैनिक भोजन में नीबू का रस नियमित रूप से सम्मिलित कर दिया। परिणामतः बहुत शीघ्र ही रोगियों की संख्या में 75 प्रतिशत की कमी हो गई और लगभग दो वर्ष में स्कर्वी रोग नाविकों में से बिल्कुल जाता रहा। यही नहीं, पूर्वी देशों में चावल खाने वाली जातियों में जबसे मशीन से साफ किए गए चावल का व्यवहार प्रारम्भ हुआ, उन्हें एक नए रोग का सामना करना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चावल खाने वाली पूर्वीय जातियों में 'बेरी-बेरी' नामक रोग बड़ी शीघ्रता तथा भंयकरता से फैला। सन् 1878 और सन् 1882 ई. के बीच जापानी नाविक बेड़े के लगभग 50 प्रतिशत नाविक इस रोग से पीड़ित थे। सन् 1885 में तकाकाई नामक वैज्ञानिक ने बताया कि यह रोग भोजन में किसी आवश्यक खाद्य तत्व की हीनता से उत्पन्न होता है। भोजन में आवश्यक सुधार करते ही जापानी नाविकों का यह रोग शीघ्र ही समाप्त हो गया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हमें विटामिन हीनता से उत्पन्न हुए दो रोगों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो गया था।

विटामिन विषयक वास्तविक शोध का इतिहास सन् 1912 से शुरू होता है जब हॉपकिन्स ने अपने

प्रयोगों के परिणाम प्रकाशित किए और फंक नामक वैज्ञानिक ने प्रथम बार इन तत्वों के रासायनिक उपादान जानने का प्रयत्न करते हुए इनका नामकरण किया। ये पदार्थ एमाइन (amine) नामक विशेष रासायनिक समूह के होने तथा जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक (vital) होने से विटामाइन (vitamine) कहलाये। बाद के वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ कि ये पदार्थ 'एमाइन' समूह के नहीं हैं। इसलिए बाद में 'विटामाइन' (vitamine) शब्द के अन्त का अक्षर हटाकर इनका नाम 'विटामिन' (vitamin) कर दिया गया।

विटामिन सम्बन्धी इन प्रारम्भिक अनुसंधानों से उत्साहित होकर वैज्ञानिकों से सन् 1918 तक तीन प्रमुख विटामिनों की खोज कर ली थी, और तब से अब तक लगातार इनकी संख्या धीरे–धीरे बढ़ती ही जा रही है। अब तो हमने इनके रासायनिक संगठन एवं विशुद्धावस्था में इनके पृथक्करण और संश्लेषण के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति कर ली है।

अब तक ज्ञात प्रमुख विटामिन इस प्रकार हैं–

वसा में घुलनशील

3. विटामिन 'ई'
4. विटामिन 'के'
5. विटामिन 'एफ'

जल में घुलनशील

1. विटामिन 'सी' तथा विटामिन 'पी'
2. विटामिन 'बी'
   - विटामिन 'बी$_1$' से विटामिन 'बी$_7$' तक

विटामिन 'ए'

सर्वप्रथम सन् 1913 में ओसबोर्न और मेंडल ने वसा में घुलनशील विटामिन 'ए' की खोज की और 1917 में मैंलकालम तथा सिमंडस ने इसे वसा में घुलनशील तत्व 'ए' नाम दिया। 1925 में श्लेष्मिक कोषों में इस विटामिन की कमी से होने वाले परिवर्तन का अध्ययन किया गया। 1928 में ग्रीन और मैलनबी ने इसे एन्टीइन्फेक्टिव विटामिन नाम दिया। 1930–37 के बीच में इसके रासायनिक संगठन, पृथक्करण, संश्लेषण तथा कैरोटीन से सम्बन्ध आदि बातों की खोज पूरी हुई।

विटामिन 'डी'

विटामिन 'डी' की खोज 1645 में प्रसिद्ध वैज्ञानिक विस्लर द्वारा हुई। इस विटामिन का धूप की रोशनी से निकटतम् सम्बन्ध स्पष्ट हुआ। 1934–35 में हैस्स स्टीन बोक और कोवेल ने बहुत से ऐसे पदार्थों का पता लगाया (जैसे कार्ड लिवर ऑयल) जिनमें विटामिन 'डी' अधिकतम रहता है और इसी से अनेक रिकेट के रोगियों की चिकित्सा भी की।

विटामिन 'ई'

विटामिन 'ई' को गर्भ संस्थापक विटामिन भी कहा जाता है जिसकी खोज 1921 में ईवान्स और बिशप नामक वैज्ञानिकों द्वारा की गई। इसकी कमी से सन्तानोत्पत्ति क्रिया में बाधा पहुँचती है। सन् 1922 में इस नए खाद्य-तत्व का नामकरण विटामिन ई किया गया। 1936 में ईवान्स और इमर्सन नामक वैज्ञानिकों ने इसके पृथक्करण में सफलता प्राप्त की।

विटामिन 'के'

विटामिन 'के' रक्त जमने की क्रिया से सम्बन्धित विटामिन है। 1934 में डैम ने वसा में घुलनशील

(शेष पृष्ठ 23 पर)

बौद्धिक सम्पदा

डॉ० आशुतोष मिश्र

जब से विश्व व्यापार संगठन (WTO) के अधीन गैट { (GATT) General Agreement on Tariffs and Trade} और ट्रिप्स { (TRIPS) Trade Related Intellectual Property Right } प्रभावी हुए हैं तबसे दक्षिण एशिया के देशों को, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, गम्भीर मुद्दों का सामना करना पड़ रहा है क्योंकि अभी तक जिन्हें वे अपना एकमात्र अधिकार क्षेत्र मान रहे थे उसमें अब सेंध लग चुकी है। उदाहरणार्थ, नीम और हल्दी विषयक पेटेन्ट चौंकाने वाले साबित हुए हैं। हो सकता है कि ऐसे और भी क्षेत्र हों, जिनमें बड़े-बड़े निगमों ने पहले से पेटेन्ट प्राप्त कर लिए हों और जिनकी भनक तक किसी को न हो।

एक अध्ययन के अनुसार दर्ज कराये गये नीम के 36 पेटेन्टों में 22 अमेरिकी निगमों के थे। मजे की बात यह है कि इनमें से अधिकांश पेटेन्ट उस अवधि में दर्ज कराये गये जब 'ट्रिप्स' पर बहस चल रही थी। यद्यपि भारत में नीम का पहला व्यापारिक उपयोग 1920 में हुई शोधों के आधार पर हुआ था किन्तु उसका प्रथम पेटेन्ट 1993 में जाकर हुआ और तब तक नीम से बने जीवनाशी पदार्थों के 30 पेटेन्ट हो चुके थे। इसी तरह हल्दी, जिसका उपयोग भारत में भोजन के साथ मसाले के रूप में तथा चोट आदि के उपचार में सनातन से चला आ रहा है, उसका भारत ने कोई पेटेन्ट नहीं कराया है। अभी तक हल्दी के जो 4 पेटेन्ट हुए हैं, उनमें से तीन के पेटेन्टकर्ता देश जर्मनी, इंडोनेशिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका हैं। चौथा पेटेन्ट भारतीय मूल के एक अमेरिकी ने कराया है।

नीम और हल्दी हमारी संस्कृति के अंग हैं। इस दृष्टि से हल्दी के पेटेन्टों को लेकर भारतीय वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ने जो विरोध जताकर सफलता प्राप्त की है उससे आशा बँधी है कि हमारे देश की जैव विविधता की रक्षा हो सकेगी। रियो में सम्पन्न जैव विविधता संधि पर जिन 153 देशों ने हस्ताक्षर किये थे (यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका उसमें नहीं है), उन्होंने इसकी पुष्टि की थी कि मूल देशों का अपने जैविक संसाधनों पर एकाधिकार होगा।

जीनी संसाधनों के पेटेन्टन को लेकर लम्बी बहस चलती रही है। ट्रिप्स के आधीन जीनों के निजीकरण के फलस्वरूप इनके उपयोग पर लाइसेंस शुल्क देना होगा जिसका अर्थ होगा अपनी ही सम्पत्ति के लिए कर चुकाना जो खेतिहर देशों के लिए सम्भव नहीं है।

इसके अधीन यद्यपि सुरक्षित सामग्री का उपयोग मूलभूत शोध कार्यों के लिए किया जा सकेगा किन्तु ऐसे शोधों के परिणामों का उपयोग व्यापार के लिए नहीं किया जा सकेगा। इसके लिए लाइसेंस शुल्क अदा करना होगा क्योंकि उनकी जीनी सामग्री पहले से पेटेन्टित होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे वैज्ञानिक पादप जर्मप्लाज्म का उपयोग अपने किसानों के लिए सुधरी प्रजातियों के प्रजनन हेतु नहीं कर सकेंगे। फलस्वरूप भारत अपने देशी जैव प्रौद्योगिकी उद्योग को विकसित करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होगा। यदि हमारे वैज्ञानिक नहीं चेतते और हमारे राजनीतिक

नेता ध्यान नहीं देते और यदि भारतीय नीम के कुछ यौगिकों का पेटेन्ट विदेशी कम्पनियाँ करा लेती हैं तो भारतीय उद्योग को अपना नीम आधारित जीवनाशी (पेस्टीसाइड) उद्योग स्थापित करने के लिए रायल्टी चुकानी पड़ेगी। इस तरह हमारा स्वत्व तो जाएगा ही, किन्तु जो अन्य हानि होगी वह है जीनी ह्रास। किन्तु पेटेन्ट समर्थकों की दलील है कि जीनी ह्रास पहले ही 'हरित क्रान्ति' के फलस्वरूप हो चुका है अतः अब आगे होने की सम्भावना नहीं है, किन्तु यह थोथी दलील है।

आखिर पेटेन्ट है क्या?

यह वह एकाधिकार (Monopoly) है जो किसी सरकार द्वारा किसी व्यक्ति को उसकी अपनी पेटेन्ट की गई खोज से लाभान्वित होने के लिए प्रदान किया जाता है। एक निश्चित अवधि के पश्चात् यह जनता का हो जाता है। पेटेन्ट का उद्देश्य आविष्कार का आर्थिक लाभ सुनिश्चित करने के साथ ही राज्य हितों की सुरक्षा करना भी है। इंडियन पेटेन्ट ऐक्ट 1970 के अनुसार "जिस सिद्धान्त पर पेटेन्ट प्रणाली बनी है वह यह है कि किसी खोज का सर्वाधिकार प्राप्त करने का अवसर प्रौद्योगिकी प्रगति को चार प्रकार से प्रोत्साहित करने के लिए है–

1. यह शोध/आविष्कार को प्रोत्साहित करता है।
2. खोजकर्ता को अपनी खोज को प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित करता है, फलस्वरूप वह उसे गुप्त नहीं रखना चाहता।
3. आविष्कारों या खोजों को व्यापारिक रूप से व्यवहारिक बनाने तक जो खर्च होता है, उसका पुरस्कार मिलता है।
4. पूँजी को उत्पादन के नये क्षेत्रों में लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

पेटेन्ट अन्य सम्पत्तियों एवं अधिकारों की भाँति राज्य द्वारा स्वीकृत बौद्धिक सम्पदा का उस पर स्वामित्व अधिकार है। पेटेन्ट की अवधि में पेटेन्ट को जीवित रखने के लिए पेटेन्टधारी को वार्षिक शुल्क देना आवश्यक है अन्यथा पेटेन्ट निरस्त हो जाता है। उत्पादक गण तब तक किसी ऐसी मशीनरी का उत्पादन नहीं करना चाहेंगे जब तक उनके परिणामों का लाभ उठाने वाले लोग दण्डित न हों। वैसे "बौद्धिक सम्पदा अधिकार" का विचार अर्थोपार्जन का घटिया तरीका है और ट्रिप्स इसके लिए जिम्मेदार है।

यह विडम्बना ही है कि प्रकृति ने जो संसाधन प्रदान किये हैं और जो सबों के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं उन्हें कोई एक वर्ग यह कहकर अपने अधिकार में कर ले कि यह उसका मूल विचार है। यदि "विचार" को कोई अन्य पा ले तो इससे मूल विचार की महत्ता कम नहीं होने वाली है। इस तरह ज्ञान या विचार को प्राप्त करने में कोई अवरोध नहीं आना चाहिए। यह किसी एक का न होकर सबका बने तो इससे संसार अधिक समृद्ध हो सकता है। यही "वसुधैव कुटुम्बकम्" है। हमारे वेदों (ऋग्वेद) का आदेश है "विचारों को हर दिशा से आने दो।" अतः बुद्धि या उसके उत्पाद का पेटेन्ट कराना सामाजिक अन्याय होगा।

ट्रिप्स के फलस्वरूप स्वास्थ्य तथा सामाजिक न्याय पर जो कुठाराघात हो सकता है उसकी उपेक्षा भारत की संसद द्वारा नहीं ही होनी चाहिए। विश्व व्यापार संगठन या गैट की स्थापना मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने के लिये की गई थी किन्तु ट्रिप्स संधि के फलस्वरूप एकाधिकारों को प्रेरणा मिली है, स्पर्धाओं को धक्का लगा है और भारतीय वैज्ञानिकों को नये नये शोध कार्य करने एवं अच्छी विधियों से उत्तम उत्पाद तैयार करने पर रोक लगती है। इस समझौते से एक तरह से भारत जैसे देश के विकास कार्यक्रमों पर अंकुश लगेगा जबकि इस देश की बौद्धिक क्षमता अपार है।

यदि उत्पाद के पेटेन्ट का वैधीकरण हो जाता है तो विदेशी प्रौद्योगिकी का भारत में विस्तार होगा– यह आशंका निर्मूल सिद्ध हो सकती है क्योंकि सौभाग्यवश हमारी संसद वर्तमान समय में केवल प्रविधियों (Processes) को ही पेटेन्ट देती है, उत्पादों को नहीं। किन्तु ट्रिप्स के अन्तर्गत एकाधिकार के

कारण विदेश से आने वाली दवाओं के दामों में वृद्धि हो सकती है। यदि किसी दबाव में आकर संसद पेटेन्ट कानून में ढील देती है तो "सबों के लिए स्वास्थ्य" का सपना धरा रह जायेगा। यह ट्रिप्स के सम्मुख आत्मसमर्पण जैसा होगा (यद्यपि ट्रिप्स समझौते की धारा 7 तथा 8 में ऐसा कुछ नहीं है)।

पेटेन्ट के प्रकार

जैसा कि ऊपर बताया गया पेटेन्ट दो प्रकार के हो सकते हैं-- प्रविधि पेटेन्ट (Process patent) तथा उत्पाद पेटेन्ट (Product patent)। यदि किसी प्रविधि द्वारा ऐसा उत्पाद बने जो पुरानी विधि से बने उत्पाद से अच्छा तथा सस्ता हो तो वह प्रविधि पेटेन्ट के योग्य है और इसे प्रविधि पेटेन्ट कहा जाता है। उत्पाद पेटेन्ट का अर्थ है उस उत्पाद को उत्पन्न करने के लिये एकाधिकार की स्वीकृति प्रदान करके अन्य व्यक्ति द्वारा उसी उत्पाद का (चाहे वह सुधार हो या नई विधि से बनाया जाय) पेटेन्ट की अवधि तक उत्पन्न करने से रोका जाना।

हमारे 1970 के पेटेन्ट कानून के अनुभाग 3 में स्पष्ट कहा गया है कि कृषि या औद्यानिकी की कोई विधि, मनुष्यों, पशुओं या पौधों के उपचार में आने वाली औषधि के लिए प्रयुक्त विधि खोज या आविष्कार नहीं मानी जा सकती।

आज 90 प्रतिशत औषधियाँ/दवाएँ दस बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा तैयार की जाती हैं जो संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड तथा यू. के. में स्थित हैं। इन कम्पनियों का कहना है कि ये मनुष्य के स्वास्थ्य, पशुओं तथा पौधों की बीमारियों के लिए निरन्तर नई-नई औषधियों का ईजाद करती रहती हैं। इन शोधकार्यों में उन्हें करोड़ों डालर व्यय करने होते हैं और प्रचुर धन खर्च करने के बाद भी कुछेक खोजें ही व्यापारिक स्तर पर सफल होती हैं इसलिए आवश्यक है कि उन्हें उत्पाद पेटेन्ट की अनुमति मिले जिससे शोध में लगे धन को वे वापस पा सकें। चूँकि ये उत्पाद विश्व भर में बिकते हैं इसलिए वे एक समान पेटेन्ट कानून--उत्पाद पेटेन्ट चाहती हैं जो उन्नत राष्ट्रों के मॉडल पर हो--यानी वे चाहती हैं कि उत्पाद पेटेन्ट उन देशों में भी लागू हो जहाँ अभी नहीं हैं और भारत उनमें से एक है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि भारत में उत्पाद पेटेन्ट की अनुमति न होने से ही यहाँ पर विदेशों में तैयार दवाओं के मूल्य सब जगहों की अपेक्षा सबसे कम हैं। उदाहरणार्थ, जो दवा यहाँ 10 रुपये में मिलती है वही इंग्लैण्ड में 400 रुपये की और अमेरिका में 800 रुपये मूल्य की होती है। अतः विदेशी कम्पनियाँ ट्रिप्स के माध्यम से इसी फिराक में हैं कि भारत भी इसी पाश में आ जावे। यह तो संयोग ही कहा जावेगा कि हमारे पेटेन्ट कानूनों में केवल प्रविधि पेटेन्ट को मान्यता दी गई है, उत्पाद पेटेन्ट को नहीं, जिसके कारण विदेशी कम्पनियाँ अपनी दवाएँ यहाँ पर कम मूल्य पर बेचने को बाध्य हैं।

यह उचित नहीं होगा कि बाह्य पेटेन्टी हमारे देश में आकर ऐसे पेटेन्ट प्राप्त करें जिनसे हमारे देशी उद्योग ठप्प हो जायँ और हमारे वैज्ञानिक इच्छानुसार खोज न कर सकें। अतः बाहर से सस्ती चीज लाकर यहाँ पर बेचने के उद्देश्य से देशी उत्पादकों को कानूनन रोकना उपनिवेशवाद ही तो है!

बौद्धिक सम्पदा का यह विषय सर्वथा वैज्ञानिक विषय है जिस पर शीर्षस्थ वैज्ञानिकों को निर्णय लेना होगा।

प्लैनो, टेक्सास
(यू.एस.ए)

भारत जनगणना 2001

सारे देश में 9 फरवरी से 28 फरवरी तक पहली बार एक साथ जनगणना की गई। यह नई सहस्राब्दी की प्रथम जनगणना थी। इसमें भूकम्पग्रस्त इलाके छोड़ दिये गये। अनुमान है कि देश के विकास को दिशा प्रदान करने वाले आँकड़ों के संग्रहण में लगभग 700 करोड़ रुपये खर्च हुए। इसमें 20 लाख से अधिक प्रगणकों ने घर घर जाकर पूरी जानकारी ली। इस जनगणना की विशेषता रही है शारीरिक एवं मानसिक विकलांगता सम्बन्धी पूछताछ। कुल मिलाकर 23 प्रश्न पूछे गये।

विज्ञान कथा : क्या, क्यों, कैसे?

डॉ0 अरविन्द मिश्र

"विज्ञान कथा" अंग्रेजी में प्रयुक्त "साइंस फिक्शन" "साइंस फैंटेसी" का शब्दानुवाद है। चूँकि हिन्दी साहित्य में कहानी शब्द अधिक प्रचलित है, अतः हिन्दी साहित्यकारों ने इसे "वैज्ञानिक कहानी" का नाम भी दिया है। "विज्ञान गल्प" शब्द से भी विज्ञान कथा का बोध होता है। प्रख्यात हिन्दी विज्ञान कथाकार यमुनादत्त वैष्णव "अशोक" ने "साइंस फिक्शन" का शब्दानुवाद "विज्ञान मिथक" किया है। लैटिन भाषा के शब्द "फिक्शन" का अर्थ है – "टु इन्वेन्ट" यानी "अन्वेषण" तथा ग्रीक भाषाई शब्द "फैन्टेसी" का शाब्दिक अर्थ है "इमैजिनेशन" या "कल्पना"। इस तरह "साइंस फिक्शन" शब्द विज्ञान अन्वेषण या/और "कल्पना" का बोध कराता है। विज्ञान तो अन्वेषणात्मक होता ही है पर यहाँ "कल्पना" की क्या भूमिका है? कल्पना तो कवियों का क्षेत्र है।

दरअसल "विज्ञान कथा" में विज्ञान का अन्वेषण है तो साहित्य की कल्पना भी इसमें समाहित है। यह विज्ञान और साहित्य का मिलन है– उनका परिणय है। इस परिणय में साहित्य का भाव ही प्रबल है और इसलिये ही "विज्ञान कथा" को विज्ञान नहीं, साहित्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।

"साइंस फिक्शन" का शब्दानुवाद कथा के अन्तर्निहित गुण-चरित्र के आधार पर "विज्ञान पुराण" भी हो सकता है, बहुत कुछ हमारे "भविष्य पुराण" के ही तर्ज पर।

परिभाषा :

"विज्ञान कथा" का अर्थ "विज्ञान की कथा" कदापि नहीं है। यह वैज्ञानिक प्रक्रियाओं या सिद्धान्तों जैसे "परमाणु संलयन" "विकिरण" " अलैंगिक जनन" "विकासवाद" की "कहानी" सुनाने वाली कोई विधा भी नहीं है, और न ही वैज्ञानिक या नैसर्गिक उत्पादों की कथा का भाव ही इसमें निहित है जैसे, धातुओं की कहानी, कोयले की कहानी, टेलीफोन/टेलीविजन की कहानी या फिर मिट्टी की कहानी। यह सब "विज्ञान कथा" नहीं है। तो फिर विज्ञान कथा है क्या?

विज्ञान कथा दरअसल मानव और उसके समाज के ही विभिन्न घटकों, रूपों की यथार्थ कथा है, अन्य सामाजिक कहानियों की ही भाँति। अन्तर केवल इतना ही है कि यह विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति से प्रभावित/बदलते हुये मनुष्य और उसके समाज की कहानी है। परम्परागत सामाजिक कहानी में अतीत या वर्तमान की विडम्बनाएँ ही मुखर हो पाती हैं, किन्तु विज्ञान कथा भावी मानव समाज की खोज खबर लाती है। सामाजिक कहानी और "विज्ञान कथा" (वैज्ञानिक कहानी) में यही मूलभूत अन्तर है।

प्रख्यात अमरीकी विज्ञान कथाकार आइजक आसिमोव के शब्दों में "विज्ञान कथा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी जनित सामाजिक बदलावों की ही पूर्वानुमानित कथात्मक अभिव्यक्ति है।"

कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

"विज्ञान कथा भावी समाज का दर्पण है।"

"विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के फलस्वरूप

मनुष्य और समूचे मानव समाज में आये परिवर्तनों की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही "विज्ञान कथा" है।"

"विज्ञान कथा भविष्य की खिड़की है।"

"व्यष्टि और समष्टि पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभावों का पूर्वावलोकन ही विज्ञान कथा है।"

"मनुष्य के भावी समाज का परिकल्पित यथार्थ चित्रण विज्ञान कथा है।"

"भविष्य की विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा मानव और मानव समाज के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों और तद्जनित परिणामों का ही पूर्वाभास "विज्ञान कथा" है।"

इन सभी परिभाषाओं से मुख्यतः यही प्रगट होता है कि विज्ञान कथा मानव समाज की पूर्वानुमानित अन्तर्व्यथा/कथा है, वह मानव समाज जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हो रहे नित नूतन परिवर्तनों से प्रभावित हो रहा है, बदलता जा रहा है। यहाँ प्रौद्योगिकी और समाज दोनों में ही बदलाव का पूर्वानुमान करना होता है।

कुछ उदाहरण

विषय को और स्पष्ट करने लिये कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। आज से मात्र 100 वर्ष के पहले के ही एक भारतीय ग्रामीण समाज की तस्वीर देखिये--

आवागमन के त्वरित साधन नहीं, शिक्षा का प्रसार नहीं। बेहतर चिकित्सकीय सुविधाओं का अभाव। परिणाम--

ग्रामीणों का कहीं भी आना-जाना बहुत कम। सगे-सम्बन्धियों के यहाँ गये तो फिर जल्दी लौटने का नाम नहीं। कहीं कहीं बारातों का ठहराव कई दिनों, पखवारों तक। आतिथ्य सत्कार की एक समृद्ध परम्परा। एक और दृश्य-गाँवों में भूत प्रेतों का डेरा। हर पीपल, बरगद के पेड़ पर ब्रह्म, जिन का बसेरा। चेचक, प्लेग आदि बीमारियों का भयंकर दौर-जिसे केवल दैवी प्रकोप माना जाता था।

किन्तु इन सौ वर्षों में समाज कितना बदल गया है! आवागमन की सुविधा के चलते लोगों की भ्रमणशीलता बहुत बढ़ गयी है। आतिथ्य सत्कार की अब वह पुरानी बात नहीं। हर कोई शाम को अपने घर पहुँच जाना चाहता है। एक दिन में वापस होती हैं बारातें।

भूत-प्रेतों का ज्यादातर गाँवों से पलायन हो चुका है। इन सारे बदलावों के केन्द्र में विज्ञान और प्रौद्योगिकी ही तो है।

इसी तरह विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वर्तमान प्रगति की दर देखते हुये अनुमान लगाइये कि आगामी 50 वर्ष में मानव समाज में क्या क्या बदलाव परिलक्षित होंगे। बस इन्हीं अनुमानों को कथाओं के ताने बाने में पिरोइये। विज्ञान कथा तैयार है।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं में कल्पनात्मक सोच अनेक विज्ञान कथाओं को जन्म दे सकती है।

विषयवस्तु (थीम)

आइजक आसिमोव ने नये विज्ञान कथाकारों

कुछ संभावनायें

क्रम	संभावना	पूर्वानुमान
1.	प्राकृतिक ईंधन की समाप्ति	क्या पशुचालित आवागमन के साधनों बैल, घोड़ों की वापसी होगी या फिर किसी वैकल्पिक ऊर्जा की खोज से आवागमन में क्रान्ति की संभावना है?
2.	वैकल्पिक ऊर्जा चालित आवागमन के साधनों का विकास	क्या ऐसे साधन जोखिम भरे नहीं होंगे? पटरी से ऊपर भागती "मेगालेन ट्रेनें" क्या भयंकर दुर्घटनाओं को जन्म नहीं देंगी?

3.	शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन	घर बैठे "इन्टरनेट" से शिक्षा। स्कूल जाने की झंझट से मुक्ति। इन्टरनेट से ही परीक्षा, परिणाम एवं चयन भी।
4.	चिकित्सा जगत में अनेक क्रान्तियाँ	जन्म के पूर्व सभी रोगों के रोकथाम की मुकम्मल व्यवस्था। अल्प मृत्यु नहिं कवनउ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज शरीरा। जैसी रामराज्यीय परिकल्पना का साकार होना। आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा भी जन्म से पहले ही संभव, किन्तु वंशाणुओं में फेरबदल कर उच्च और निम्न मानव कोटियों, मालिक और गुलाम के फैक्टरी निर्माण की आशंका भी ।
5.	मानवीय गुणों-संवेदनाओं का ह्रास	मानव की मशीनी जिन्दगी उसे मानवीय गुणों से कितना दूर करेगी? वह पूर्णतया "मशीन" तो नहीं बन बैठेगा?

के लिये कई "थीम" सुझाये हैं, जिनमें प्रमुख निम्नवत् हैं:–

1. जनसंख्या नियन्त्रण – कैसे होगा जन्म पर नियन्त्रण। कोई युक्ति, परिवार नियोजन का कारगर तरीका।
2. स्थायी ऊर्जा भंडार–परमाणु ऊर्जा, सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा या फिर समुद्र की लहरों या आकाशीय बिजली को कैद करना होगा।
3. मौसम पर नियन्त्रण–चक्रवातों, तूफानों पर नियन्त्रण।
4. रोबो का विकास – घर के नौकरों की छुट्टी। रोबो आयेंगे।
5. कम्प्यूटर–हर घर में कम्प्यूटर।
6. धरती से मानव का पलायन–सागर की कोख में या फिर चन्द्र - मंगल की बस्तियों में जा बसेगा मानव।
7. मानव की कलमें–प्रयोगशाला में मनचाही सन्तानों का व्यापारिक उत्पादन।
8. अन्तरिक्ष यात्रायें–अन्तरिक्ष पर्यटन का नया शौक, छुट्टियाँ अन्तरिक्ष में बिताइये।

इनके अलावा ढेर सारी और भी संभावनायें हैं, जिन पर बेजोड़ विज्ञान कथाएँ लिखी जा सकती हैं।

कैसे लिखें विज्ञान कथायें

1. कम से कम दर्जन भर चुनिन्दा विज्ञान कथायें पढ़ें और गुनें।
2. थीम का चुनाव करें।
3. फिर कथानक बुनें।
4. शैली का निर्धारण करें।
5. पात्रों के चयन, चरित्र-चित्रण पर ध्यान दें।
6. सुखान्त या दुखान्त–निर्णय लें।
7. नाटकीयता और औत्सुक्य भाव की निरन्तरता का निर्वाह करें।
8. समस्या का हल ढूढ़ें। मात्र समस्या उठाना ही पर्याप्त नहीं।
9. वैज्ञानिक अनुसंधान, जुगत, विधि का संक्षिप्त रोचक वर्णन करें, भाषा सरल हो (कथोपकथन के जरिये)।
10. वैज्ञानिक प्रयोगों के विभिन्न परिणामों के पहलुओं पर ध्यान दें – सिक्के के दानों पहलुओं को देखें।
11. चाहे कोई भी शैली–डायरी, पत्र, आत्मकथा आदि हो, कथा का प्रवाह बना रहे।

12. आधुनिक कहानी की शुरुआत कहीं से भी हो सकती है–"फ्लैश बैक" तकनीक से कहानी का अन्त पहले भी आ सकता है।

13. कथा लिखने व पढ़ने दोनों लिहाज से एक बैठक में पूरी हो तो सर्वोत्तम। लम्बी कहानी उपन्यास का रूप ले लेती है।

14. ध्यान दें–परिवेश (वातावरण) प्रधान है तो परिवेश का चित्रण प्रमुखता पायेगा, नहीं तो पात्रों के चरित्र-चित्रण पर बल दिया जा सकता है।

लिखना शुरू करें

अधिक विचार-विमर्श नहीं, कलम उठाइये, लिखना आरंभ कीजिये। "करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान"। मित्रों के बीच लिखी रचना पर ज्यादा बहस मुबाहिसा नहीं। रचना का उचित स्थान सम्पादक की मेज है। वहाँ अपनी सद्यः सर्जित रचना पहुँचाइये। बात बनती जाय तो लिखते रहिये। नहीं तो कहीं और भाग्य आजमाइये।

शुभकामनायें!

चुनिन्दा उत्कृष्ट कृतियाँ

कृति	*लेखक/लेखिका*
फ्रेन्केन्स्टीन	आल्डुअस हक्सले
द ब्रेव न्यू वर्ल्ड	आल्डुअस हक्सले
द स्नेक	जान गुड़ी
द प्रोफेसी	डेविड सील्तजर
1984	जार्ज आर्वेल
2001 ए स्पेस ओडिसी	आर्थर सी क्लार्क
इनकाउन्टर्स	सम्पादित (मार्टिन ग्रीनबर्ग)
द बेस्ट सांइस फिक्शन आफ आइजक आसिमोव	आइजक आसिमोव
मृत्युंजयी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)	कैलाश साह
श्रेष्ठ वैज्ञानिक कहानियाँ (ग्रन्थायन प्रकाशन, अलीगढ़)	यमुनादत्त वैष्णव "अशोक"
उड़ती मोटरों का रहस्य तथा अदृश्य शत्रु (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद)	नवल बिहारी मिश्र
भविष्य (कथा संग्रह), ग्रन्थायन, नई दिल्ली	देवेन्द्र मेवाड़ी
एक और क्रौंच वध (कथा संग्रह), भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद	अरविन्द मिश्र
अजनबी (विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर)	हरीश गोयल

ए 2/21 संजय अपार्टमेंट
काटनमिल कम्पाउण्ड
चौकाघाट, वाराणसी–2

मैं कौन हूँ ? मुझे आरक्षण नहीं, संरक्षण चाहिए

✍ शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

लेख का शीर्षक पाठकों को कुछ विचित्र सा लगेगा। 55 वर्ष की उम्र तक, इस विषय में सोचने का भाव मेरे मन में कभी नहीं आया। एकाएक अगस्त 1989 में "मण्डल धमाका" हुआ और हम सब उत्तर भारतीय इसकी चपेट में आकर झुलसने लगे। मैं भी बाध्य होकर सोचने लगा कि "मैं कौन हूँ?" मेरे अन्तर मन में नाना प्रकार के विचार घुमड़ने लगे। मैं अपने स्वयं से उलझने लगा।

मैं पेशे से भूवैज्ञानिक हूँ, जिसका कार्य मुख्यतः पृथ्वी संबन्धित संसाधनों की खोज करना होता है, चाहे वह खनिज भण्डारों के लिए हो अथवा बाँध, सुरंग, सड़क, रेलवे लाइन, भारी संयन्त्र, आदि निर्माण कार्यों के लिये भू-संरचना के आँकड़े एकत्र करने का कार्य क्यों न हो। अपने व्यवसाय में सफल होने के लिये भूवैज्ञानिक को पृथ्वी के विज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है और इस क्रम में करोड़ों वर्षों का हिसाब-किताब रखने व समझने की मजबूरी का सामना करना पड़ता है।

वैज्ञानिक अनुमानों के अनुसार हमारी पृथ्वी की उम्र लगभग 450 करोड़ वर्ष आँकी जाती है और इस लम्बे समय के अंतर्गत मानव ने पृथ्वी में अपना पहला कदम 10 लाख वर्ष पूर्व ही रखा है। वर्तमान में हमारे आस-पास पाये जाने वाले सभी जीवन-स्वरूप (वनस्पतियाँ व जीव-जन्तु) पृथ्वी में बहुत पहले ही पदार्पण कर चुके थे। इसलिये हमारे पूर्वजों द्वारा पृथ्वी का जन्म व क्रमिक विकास को देख पाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

परन्तु, मानव एक बुद्धिमान प्राणी है, जो देखने, समझने व सोचने की क्षमता से युक्त होने के कारण अपने प्रयत्नों से भिन्न-भिन्न प्रयोग कर वास्तविकता जानने व उन्हें अपने समकालीन ज्ञान की कसौटी में परखने का प्रयास निरंतर करता रहा है।

पृथ्वी का इतिहास निर्माण करने के लिये वैज्ञानिकों का आधार रहा है– "वर्तमान ही अतीत की कुंजी है।" दूसरे शब्दों में वर्तमान में हो रही भौगोलिक हलचल– जैसे भूकम्प, ज्वालामुखी, बाढ़, भूस्खलन, हिमानी चाल, उल्कापात, पर्यावरण परिवर्तन, युद्ध, परमाणु विस्फोट आदि के परिणामों व गतिविधियों के प्रभाव को हम अपने जीवनकाल में स्वयं देख सकते हैं। इस प्रकार के बदलावों का अध्ययन व मूल्यांकन द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि वर्तमान अवस्था प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को भूत में किन-किन चरणों से गुजरना पड़ा होगा।

अपनी पहचान स्थापित करने के लिये मैंने भी उल्लिखित वैज्ञानिक आधार अपना कर स्वयं के भूत में झाँकना प्रारंभ किया। अपनी स्मरण शक्ति का सहारा लेते हुये मैंने अपने जीवन को विभिन्न चरणों, समय व काल के हिसाब से क्रमवार रूप में विभाजित कर उनकी व्याख्या द्वारा जानने का प्रयास किया कि "मैं कौन हूँ"?

अपने स्वयं का वर्गीकरण करने पर मैं देखता हूँ कि मैं बालक, बेटा, ब्राह्मण, विद्यार्थी, खिलाड़ी, दोस्त, यात्री, अफसर, नेता, शिक्षक, पति, भाई, बाप, पड़ोसी, श्रोता, सेवक, वैज्ञानिक, लेखक आदि न जाने

क्या-क्या हूँ। अपने इतने सारे रूप देख कर मेरी उलझन बढ़ गई है और मैं अभी तक निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि "मैं कौन हूँ"?

अपनी पृष्ठभूमि का अवलोकन करने पर केवल एक बात समझ में आयी है कि मैं एक इन्सान हूँ, इन्सान रहूँगा और इन्सान के रूप में ही प्रकृति के नियम अनुसार संसार से विदा लूँगा। पर यह मेरे अपने सोचने का तरीका है। स्वयं अपने विषय में सोचने पर मनुष्य अपने आप से पक्षपात करता है। फिर मनुष्य समाज में रहता है, इसलिए यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि समाज आपके विषय में क्या धारणा रखता है व आपका क्या वर्गीकरण करता है।

इस विषय को लेकर वर्तमान भारतीय परिवेश में काफी उथल-पुथल मची हुई है। हर व्यक्ति अपने लाभ के लिये, अपनी-अपनी पहचान ढूँढ़ने में स्वयं की ऊर्जा खर्च कर रहा है। मैं भी भारतीय हूँ व देश से अलग नहीं हूँ, इसलिए मैं भी अपनी पहचान ढूँढ रहा हूँ।

यद्यपि मैं इस समस्या को सुलझा नहीं पाया हूँ, पर अपने अनेक रूपों को देख कर मैं स्वयं अचंभित रह गया। इन सभी रूपों की वैज्ञानिक समीक्षा करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि समय और अनुभव के साथ–साथ इनमें लगातार परिवर्तन होता रहा, लेकिन सबके पीछे संस्कार की झलक है। पारिवारिक वातावरण और आसपास के पर्यावरण का सीधा प्रभाव मेरे भिन्न-भिन्न रूपों में प्राकृतिक प्रक्रिया के समान स्वतः अभिभूत होता रहा है। मेरे हर कार्यकलाप में, इस संस्कार में, समृद्ध कम्प्यूटर साफ्टवेयर ने मेरा मार्गदर्शन किया है। अर्थात् एक संरक्षण भरे परिवेश में विकास के फलस्वरूप– "मैं बन पाया हूँ एक भारतीय नागरिक। अब मैं गर्व से कह सकता हूँ कि मैं भारतीय हूँ।"

यह कोई अनहोनी बात न हो कर , सर्वमान्य प्राकृतिक प्रतिक्रिया का एक परिणाम मात्र है, जिसके अंतर्गत पृथ्वी में पाये जाने वाले सभी जीवन स्वरूपों के ऊपर समकालीन पर्यावरण प्रतिवेश की छाप स्थापित होती रहती है। फिर प्रकृति का एक अन्य नियम है कि पुरानों का स्थान नये जीवन स्वरूप लेते रहे हैं और उनमें आनुवंशिक विशिष्टता का प्रवाह पीढ़ी दर पीढ़ी स्थापित होता रहता है। इस कार्य में सम्पादक की भूमिका सामयिक पर्यावरण निभाता है, जिसका मूल सिद्धांत है– "एक विशिष्ट पर्यावरण प्रतिवेश में योग्यतम की उत्तरजीविता और उनका समूल नाश, जो अपने चारो ओर फैले साधनों का उपयोग नहीं कर पाते।"

पृथ्वी का इतिहास स्पष्ट दर्शाता है कि लगातार बदलते पर्यावरण के साथ तालमेल रखते हुये जीवन स्वरूपों में परिवर्तन होता रहा है। जीवन विकास निरन्तर परिवर्तन प्रक्रिया है, जिसकी गति सीढ़ी का प्रत्येक चरण धीरे-धीरे चढ़ने के समान है। लेकिन इस प्रकार के रूपान्तरण व अंगीकरण के लिये एक लम्बी अवधि का समय आवश्यक होता है जिसके दौरान नये जीवन स्वरूप जन्म लेते रहते हैं जो समकालीन पर्यावरण में जीवित रहने में सक्षम होते हैं। मानव भी पृथ्वी की संतान होने के कारण इससे परे नहीं है।

दूसरी ओर यह भी देखने में आता है कि साधारणः लुप्त होने के पूर्व वह जाति कुछ काल के लिए संकटापन्न स्थिति में जीवित रहती है और यदि उसे समय रहते संरक्षण मिल जाये तब उसे बचाया जा सकता है। यही संरक्षण संरक्षा का महत्व है।

अब चूँकि "मैं वैज्ञानिक हूँ" व "मैं लेखक हूँ" इसलिये मेरा धर्म बनता है कि मैं अपने पाठकों के समक्ष "आरक्षण" और "संरक्षण" की व्याख्या प्रस्तुत करूँ :–

सामाजिक उत्थान के लिये किसी भी वर्ग को आरक्षण व परिदान देना एक अवैज्ञानिक तरीका होने के कारण समाज में आपसी वैमनस्य व अकर्मण्यता को बढ़ावा देता है, जिसका लाभ केवल राजनैतिक पार्टियाँ अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये उठाने लगती हैं। इसके माध्यम से कमजोर वर्ग का उत्थान कर, मुख्य धारा के स्तर पर लाना संभव नहीं है, क्योंकि हजारों वर्षो से इस वर्ग के नागरिकों का भारत में शोषण होता रहा है और हीनता की भावना उनके संस्कारों (जीन्स) में पीढ़ी दर पीढ़ी अंगीभूत हो कर समायी हुई है। इस

हीनता की भावना को आरक्षण निर्मूल नहीं कर सकता है, जिसकी तुलना "सियार को शेर की खाल पहनाने से ही की जा सकती है" अर्थात् आरक्षण एक नकारात्मक तरीका है, जो एलोपैथी दवा के समान अस्थायी राहत तो प्रदान कर सकता है, पर यह एक स्थायी समाधान नहीं है।

इस समस्या के स्थायी समाधान के लिये हमें अपनी प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धांतों के अनुरूप कार्यक्रम निर्माण कर उन्हें अमली जामा पहनाना होगा। आयुर्वेद का अर्थ है "आयु का वेद" अर्थात् जीवन का विज्ञान। इसमें मुख्यतः रोग की जड को पहचान कर, उसे निर्मूल करने के उपाय किये जाते हैं। कमजोर वर्ग के उत्थान के लिये हमें उनके संस्कारों की जड़ को पहचान कर उसका निदान करना होगा और यह कार्य संरक्षण द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

इस संरक्षण व्यवस्था की स्थापना के लिये, कमजोर वर्ग की सम्पूर्ण सुरक्षा व विकास कार्यक्रम वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुये निर्माण करने होंगे। प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र के अंतराल संतुलन बनाये रखने में सह-अस्तित्व का विधान एक महत्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि सभी जीवन स्वरूप (मानव भी शामिल) भिन्नता के बावजूद आपस में जुड़े हैं और अपने अपने निर्धारित कार्यों को सम्पादित करते हुये एक दूसरे के परहित में कार्य करते हैं। इसमें छोटे बड़े का कोई भेदभाव नहीं है– वनस्पतियाँ तो सबकी पालनहार हैं व उनकी सीमा असीमित है। वनस्पतियाँ वायुमंडल में सभी जीवों के लिये सही वायु बनाये रखने के साथ, सभी के लिये भोजन, जल, आवास आदि का प्रबन्ध लगातार करते रहने में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। छोटे-छोटे कीड़े व मकोड़े भी मृत वनस्पतियों/जानवरों का भोजन कर (जिसे दूसरे नहीं खाते) एक ओर भूमि से अनावश्यक पदार्थों की सफाई, तो दूसरी ओर उनकी क्रिया तेज कर उनमें सन्निहित पौष्टिक पदार्थों के पुनः आर्वतन द्वारा भूमि उर्वरता में वृद्धि कर वनस्पतियों के विकास में योगदान करते हैं। अर्थात् पृथ्वी में सुरक्षित जीवन यापन के लिये प्रकृति ने "जियो व जीने दो" का संविधान स्थापित किया हुआ है। प्रकृति की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया के महत्व को ध्यान में रख ऐसे संरक्षण कार्यक्रमों का निर्माण करना होगा, जिनके माध्यम से कमजोर वर्ग के नागरिकों में आत्मविश्वास की भावना जागृत हो और आनुवांशिक रूप में समायी हीन भावना से वे छुटकारा पा सकें।

प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत, इस प्रकार के उत्थान में दीर्घकालीन समय लगेगा, क्योंकि जिस प्रकार के परिवेश में कमजोर वर्ग के नागरिक सदियों से जीवनयापन करते रहे हैं, उन्हें आरक्षण द्वारा एकाएक कम्प्यूटर युग में स्थापित नहीं किया जा सकता है। इसलिये संरक्षण कार्यक्रमों का मूल उद्देश्य होगा कि कमजोर वर्ग के नागरिकों को विकास करते हुए उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिये सीढ़ियाँ उपलब्ध हों। इस प्रकार सीढ़ी चढ़ने में उनकी ऊर्जा खर्च होगी, जिसका यथावत पुनःपूरण भी होते रहना चाहिये। इस ऊर्जा शक्ति को स्थायित्व प्रदान करना संरक्षण कार्यक्रमों का प्रथम लक्ष्य होगा क्योंकि यह सर्वविदित है कि "भूखे पेट होय न भजन गोपाला"। अतः कमजोर वर्ग के सभी नागरिकों के लिये उनकी वर्तमान क्षमता के अनुरूप स्थायी जीविकोपार्जन-स्रोत का निर्माण करना होगा, ताकि वे इस ओर से निश्चिन्त हो कर निर्माण कार्य में योगदान कर सकें। इस प्रकार की उपलब्धि से उनके आत्मविश्वास में वृद्धि के साथ साथ आगे बढ़ने के लिये प्रतिस्पर्धा की भावना को भी प्रोत्साहन मिलेगा, जो पृथ्वी में लगातार बदलते पर्यावरण के साथ तालमेल रख कर जीवित रहने का मूलमंत्र है।

भारत में कृषि एक ऐसा व्यावसायिक क्षेत्र है जिसमें रोजगार वृद्धि की अनेक संभावनायें स्पष्ट दिखाई देती हैं। आज से 100 वर्ष पूर्व भारत के वायसराय लार्ड कर्जन ने कहा था कि भारतीय अर्थव्यवस्था मानसून के बिसात पर हर साल खेला जाने वाला एक जुआ है। यह बात आजादी मिलने के 50 वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी यथावत् बनी हुई है। वर्तमान में 35 प्रतिशत सिंचाई-आधारित कृषि भूमि से 60 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन होता है और शेष 65 प्रतिशत कृषि भूमि से मात्र 40 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन होता है, जिसका सारा दारोमदार मानसून वर्षा पर निर्भर है व इन क्षेत्रों के कृषक/श्रमिक वर्ष के 100–150 दिन

बिना काम के हो कर बेरोजगारी के दिन व्यतीत करने के लिये बाध्य हो जाते हैं।

श्रम-शक्ति भारत का सबसे बड़ा ऊर्जा स्रोत है, पर भारतीय योजनाकारों ने आज तक इसकी लगातार अनदेखी की है और इसे एक समस्या के रूप में ही पहचाना है। विकास कार्यक्रमों के लिये पूँजी निवेश को ही मूल आधार बनाया है और इस विशाल श्रम-ऊर्जा के दोहन के लिये वैज्ञानिक ढंग से सोचा ही नहीं है। संरक्षण कार्यक्रमों के अंतर्गत इस बहुमूल्य श्रम-शक्ति का भरपूर उपयोग कृषि क्षेत्र में किया जा सकता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ 70 प्रतिशत जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और वे सब अपनी जीविका के लिये कृषि पर निर्भर हैं। 60 के दशक में, हमारे देश में हरित क्रान्ति अवश्य हुई थी, पर जनसंख्या में असाधारण वृद्धि के फलस्वरूप उसका प्रभाव क्षीण होता चला गया है। इसलिये भारत में एक दूसरी हरित क्रान्ति की आवश्यकता है, जिसके माध्यम से कृषि उत्पादन में वृद्धि कर सबको संतुष्ट किया जा सके, अन्यथा भारत में भी गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगेंगी।

इन्टरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टिट्यूट, ओसलो (नार्वे) द्वारा फरवरी–1999 में प्रसारित रिपोर्ट "कृषि द्वारा शान्ति-संघर्ष की दुनियाँ में कृषि" के अनुसार शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात्, राष्ट्रीयता व विचार धाराओं से अलग हर एक नये प्रकार का संघर्ष स्वरूप विश्व के विकासशील गरीब देशों में उभरने लगा है, जिसमें सैनिकों के स्थान पर देश के गरीब नागरिक भुखमरी से बचने के लिये आपस में संघर्ष करने लगे हैं। विश्व भर में लगभग 40 लाख लोग अब तक इस प्रकार के संघर्षों में मारे जा चुके हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार– ' भारत ने गरीबी के बावजूद, कृषि उत्पादन में वृद्धि कर, इस प्रकार के संघर्षों को अभी तक देश के भीतर पनपने नहीं दिया है।' इस "अभी तक" को भारत सदैव के लिये निर्मूल कर सकता है यदि अपनी अपार श्रम-शक्ति पर भरोसा कर उसे कृषि विकास का आधार बनाये। इस माध्यम से संरक्षण कार्यक्रमों का सदुपयोग भी उचित दिशा में किया जा सकेगा।

भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 329 मिलियन हेक्टेयर है, जिसके अंतर्गत केवल 142 मिलियन हेक्टेयर कृषियोग्य भूमि है। इस कृषियोग्य भूमि का तीन-चौथाई भाग सूखाग्रस्त क्षेत्र है, जहाँ कृषि उत्पादन मुख्यतः मानसून वर्षा पर निर्भर करता है। अर्थात् लगभग 110 मिलियन हेक्टेयर भूमि में कृषि भगवान भरोसे होने के कारण भारत उसका समुचित लाभ नहीं उठा पा रहा है। इस कृषि परिदृश्य को सिंचाई व्यवस्था सुदृढ कर बदला जा सकता है। अर्थात् इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जल-संभर-कौशल (वाटर शेड मैनेजमेन्ट) जैसी वैज्ञानिक तकनीकों का बृहत स्तर पर उपयोग बढ़ाना होगा।

जल-संभर-कौशल तकनीकों का उद्देश्य होता है, सम्पूर्ण स्थानीय जल-स्रोतों के संवर्धन द्वारा भूमि की नमी में वृद्धि, ताकि वर्षा के अभाव में भी कृषि उत्पादन प्रभावित न हो। इसके अंतर्गत समोच्च-रेखा घेराव (कन्टूर बन्डिंग), मेड़ व ढाल निर्माण, भूमि समतल करना, खड्डों की घेराबन्दी आदि कई कार्य करने आवश्यक होते हैं। इसके अलावा भू-जल संचयन व भण्डारण वृद्धि के लिये वृक्षारोपण, खरपतवार निष्कासन, परती भूमि को सँवारना, तेज हवा के प्रभाव को निम्न करने के लिये छोटे पेड़ों/झाड़ियों का सुरक्षा कवच आदि कार्यों को प्रभावी रूप में अंजाम देना होगा अर्थात् कृषि क्षेत्र में काम व रोजगार क्षमता की कमी नहीं है।

किसी भी कार्य योजना के निर्माण में देश, काल और परिस्थिति का अवलोकन कर ही लक्ष्य निर्धारण किये जाते हैं। वर्तमान भारतीय परिदृश्य में हमारे योजनाकारों को यह बोध होना आवश्यक है कि "जनसंख्या, एक समस्या न हो कर, भारत का सबसे समृद्ध स्वदेशी ऊर्जा स्रोत है जिसके विज्ञानसम्मत दोहन से देश के भीतर असाधारण प्रगति की जा सकती है।" इसलिये भारत में इस प्रकार की विकास योजनायें निर्माण करनी होंगी जिसमें श्रम-शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके।

संरक्षण कार्यक्रमों को प्रभावशाली विकास का

आधार प्रदान करने के लिये शिक्षा–प्रसार कार्यक्रम भी साथ साथ चलाने होंगे। अशिक्षा के कारण ही जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है, अलगाव–वाद की प्रवृत्ति उभरने लगी है, उत्पादकता वृद्धि नहीं हो पा रही है (विशेषकर कृषि क्षेत्र में), आदि। पर यहाँ पर शिक्षा का मतलब स्कूल व विश्वविद्यालय डिग्री से नहीं है– बल्कि व्यावहारिक शिक्षा ज्ञान से है अर्थात् ऐसी शिक्षा जो अपना भला–बुरा सोचने की क्षमता से समर्थ नागरिक तैयार कर सके। शिक्षा कुछ ऐसी होनी चाहिये कि व्यक्ति अपने सोचने–समझने के संकुचित दायरे से बाहर निकल सके और उसके मानसिक विकास में वृद्धि हो, उसके मानवीय गुणों में निखार आ जाये और जीविकोपार्जन क्षेत्र में भी उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि हो। कमजोर वर्ग के नागरिकों द्वारा इस प्रकार का शिक्षा स्तर प्राप्त कर लेने पर संरक्षण की आवश्यकता स्वतः समाप्त हो जायेगी और भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर विश्व का मार्गदर्शक बन सकेगा, क्योंकि यह "भारत विकास माडल" होगा।

छवि निकुंज
बाँस बंगलो कम्पाउण्ड, चौथी क्रासिंग
राँची रोड, पुरुलिया–723101

(पृष्ठ 11 का शेष भाग)

विटामिन का नाम विटामिन 'के' प्रस्तावित किया। इस विटामिन सम्बन्धी सभी प्रारम्भिक प्रयोग मुर्गी के बच्चों तक सीमित थे। 1937 में पहली बार यह मालूम हुआ कि आँतों में पित्त की अनुपस्थिति होने पर मनुष्य में इस विटामिन की कमी उत्पन्न हो जाती है।

विटामिन 'एफ'

विटामिन 'एफ' वसा में घुलनशील मुख्य विटामिनों में से एक है। यह वनस्पति और जन्तु-जनित तेलों में भिन्न-भिन्न मात्राओं में पाया जाता है। संभवतः इसकी कमी से त्वचा में खुरदुरापन आता है।

1890 में एकमैन नामक वैज्ञानिक ने यह कहा कि चावल के छिलकों में जल में घुलनशील एक पदार्थ विद्यमान है जो हमारे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लगभग 30 वर्षों पश्चात् (1920 में तथा इसके बाद) की खोजों ने स्पष्ट कर दिया कि इस पदार्थ में बहुत से खाद्य तत्व सम्मिलित हैं। यह खाद्य तत्व एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और अब विटामिन बी (काम्प्लेक्स) के अन्तर्गत वर्णित किए जाते हैं। जैस-जैसे इसकी खोज होती गई और इनके विषय में ज्ञान बढ़ता गया इनके नाम क्रमशः बी1,बी2 .... इत्यादि रखे गए।

जल में घुलनशीनल दूसरा विटामिन, विटामिन 'सी' है। यह स्कर्वीनाशक विटामिन के नाम से जाना जाता है। इस विटामिन के आधुनिक ज्ञान सम्बन्धी विस्तृत खोजें और प्रयोग बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरणों में ही हुए हैं।

विटामिन 'पी' का अनुसंधान एक घटना-चक्र पर आधारित है। कुछ वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों और अनुभवों के बीच यह देखा कि स्कर्वी रोग के कुछ रोगियों में एस्कार्बिक एसिड (विशुद्धतम विटामिन 'सी') की अपेक्षा ताजे नींबू के रस से अधिक और शीघ्र लाभ हुआ। परिणामतः उन्होंने यह सोचना प्रारम्भ कर दिया कि अवश्य ही नींबू के रस में विटामिन 'सी' से भिन्न अन्य खाद्य–तत्व उपस्थित है। 1936 में जियोरजाई तथा उसके कुछ हंगेरियन सहयोगियों ने नींबू के छिलकों से निकाले गए एक पदार्थ समूह को विटामिन 'पी' नाम दिया। ये पदार्थ एस्कार्बिक एसिड से भिन्न थे। इस विटामिन का हमारी रक्त कोशिकाओं की दीवालों के भेद्यगुण (Permeability) से विशेष सम्बन्ध है। इसका नामकरण Permeability शब्द के प्रथम अक्षर P के आधार पर हुआ

शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आर्थ्राइटिस (सन्धिवात) से बचें

राकेश पाठक

25 प्रतिशत लोग किसी न किसी प्रकार के दर्द के कारण अपने चिकित्सक के पास जाते हैं और इनमें 10 से 15 प्रतिशत लोग आर्थ्राइटिस (सन्धिवात) से किसी न किसी रूप से ग्रसित होते हैं।

शरीर के घुटनों के जोड़ों में, पैर की तथा हाथ की अंगुलियों के जोड़ों में, शरीर की अन्य सन्धियों में सूजन तथा दर्द का नाम आर्थ्राइटिस (Arthritis) या सन्धिवात है। आर्थ्राइटिस का दर्द पुराना होता है और पुराने दर्द एक अलार्म की तरह होते हैं जो समय बेसमय बज जाते हैं और इसे रोकना कठिन होता है।

यह अत्यन्त दुखदायी और यातना देने वाला रोग है। यह रोग व्यक्ति की ऊर्जा, उसकी इच्छा शक्ति, रात की नींद और दिन के चैन को दीमक की तरह खाता रहता है। यह रोग बच्चे, बूढ़े, जवान एवं स्त्री-पुरुष सभी पर बिना भेदभाव किये आक्रमण करता है। आर्थ्राइटिस केवल एक बीमारी नहीं है। यह सौ से ज्यादा लक्षणों को अपने में समेटे, जोड़ों के दर्द के रूप में प्रकट होता है।

इस रोग से मुक्ति पाने के लिए प्रतिवर्ष हमारे देश के लगभग एक से डेढ़ करोड़ मरीजों द्वारा करोड़ों रुपये की सूजन एवं दर्द-निवारक दवाओं का प्रयोग कर लिया जाता है जो मरीज को मात्र, लाक्षणिक चिकित्सा ही प्रदान करती हैं।

सन्धिवात के प्रकार

संधिवात के तीन मुख्य प्रकार हैं :–

1. ओस्टियो आर्थ्राइटिस :– यह समान्य प्रकार का सन्धिवात है जिसे लोग गठिया या आर्थ्राइटिस मान लेते हैं। वास्तव में यह 40 वर्ष या अधिक उम्र के व्यक्ति में पाया जाता है। जब हड्डियों के अन्दर स्थित, झटकों को रोकने वाले कार्टिलेज नष्ट हो जाते है और इनकी मरम्मत या निर्माण नहीं हो पाता तब जोड़ों में दर्द व जकड़न पैदा हो जाती है। ऑस्टियो आर्थ्राइटिस का प्रकोप शरीर की बड़ी सन्धियों जैसे कूल्हे, घुटने, कमर, कन्धों, कशेरुकी सन्धियों से शुरू होकर अंगुलियों आदि छोटी सन्धियों तक पहुँचता है।

2. रुमेटॉइड आर्थ्राइटिस :– हमारे शरीर की चल सन्धियाँ एक चिकनी झिल्ली से ढ़की रहती हैं तथा उनके बीच एक प्रकार का गाढ़ा चिपचिपा द्रव्य भरा रहता है। उस झिल्ली और द्रव्य को क्रमशः साइनोवियल झिल्ली और साइनोवियल द्रव्य कहते हैं। इस साइनोवियल झिल्ली में सूजन आने से अथवा उसमें कटाव हो जाने से यह रुमेटॉइड आर्थ्राइटिस का रूप धारण कर लेता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह बीमारी अधिक पायी जाती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति कमजोर और थकान महसूस करता है। धीरे धीरे इन लक्षणों की बढ़ोतरी होती रहती है। साथ ही रोगी का वजन भी गिरता जाता है।

3. गाउट :– मेटाबोलिज्म में गड़बड़ी के कारण जोड़ों में यूरिक एसिड के सुई के समान क्रिस्टल इकट्ठे होने लग जाते हैं। स्वाभाविक रूप से हमारे रक्त में यूरिक एसिड की मात्रा 3 से 7 मि0ग्रा0 होती है लेकिन गाउट की स्थिति में यह मात्रा बहुत ज्यादा बढ़ जाती है जिससे जोड़ों में गम्भीर दर्द और गाँठें हो जाती हैं।

आर्थ्राइटिस की शुरूआत लगभग समान लक्षणों से होती है इसलिए इसके प्रकार या स्वरूप का पता लगना चिकित्सक के लिए कठिन होता है। चिकित्सक की मदद के लिए मरीज को विभिन्न परीक्षण कराने आवश्यक होते हैं जिसमें खून की विभिन्न जाँचों तथा एक्स-रे के अलावा आर्थ्रोस्कोपी (एक विशेष प्रकार के कैमरे द्वारा सन्धि की अवस्था का परीक्षण करने की तकनीक। कैमरे में एक रेडियोआइसोटोप युक्त नीडल लगी होती है, जिसकी सहायता से जोड़ों को देखा जा सकता है।), थर्मोग्राफी (इसके द्वारा जोड़ों का रंगीन चित्र प्राप्त किया जाता है।) तथा जोड़ों के बीच के द्रव्यों का परीक्षण भी शामिल है।

आर्थ्राइटिस का प्रकोप जोड़ों में दर्द, अनियमित सूजन और 100°F से 102°F बुखार से शुरू होता है। जरा सी हलचल से असहज पीड़ा तथा दर्द हो जाता है। रोग के बढ़ने के साथ सन्धियों में विकृति आने लगती है तथा नाड़ियों में शिथिलता और कमजोरी आ जाती है। रोग के पुराने होने पर सन्धियों में गति शून्य हो जाती है। सन्धियों और अस्थियों में रक्त संचार कम हो जाता है। रोगी में चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, बेचैनी, अनुत्साह, अरुचि, उदासीनता आदि लक्षण आ जाते हैं। अधिक जीर्ण होने पर यह रोग सन्धियों के साथ हृदय और वृक्क पर भी अपना साम्रज्य जमा लेता है। हृदय के वाल्व और स्नायु खराब हो जाते हैं तथा वृक्क के द्वारा छनने की क्रिया बुरी तरह से प्रभावित होती है। इस तरह जोड़ों के दर्द से शुरू होकर यह रोग व्यक्ति के जीवन का अन्त कितनी निर्दयतापूर्वक करता है यह सोच मात्र ही व्यक्ति को अन्दर तक हिला देता है।

कारण

सन्धिवात का कारण अभी तक अज्ञात है। ऐसा माना जाता है कि शरीर का प्रतिरोध तन्त्र जोड़ों को निशाना बनाकर आपस में ही लड़ने लगता है तो सन्धिवात जैसे रोग का जन्म होता है। फिर भी विद्वान चिकित्सकों द्वारा मोटापा, जोड़ों पर आघात, शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, श्रम व व्यायाम का अभाव, जीवन में अनियमितता आदि कारण बताये जाते हैं।

बचाव

सन्धिवात जैसी बीमारी से मुक्ति पाने के लिए मरीज को अपने शरीर के प्रति निर्दयी हो कर, शारीरिक सुख को भूल जाना चाहिए। प्रकृति की शरण में जाकर ही हम अपने आप को इससे बचा सकते हैं। इस रोग से मुक्ति पाने के लिए मरीज को निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिए–

1. चिकित्सक से सीखकर नियमित रूप से व्यायाम एवं प्राणायाम करना चाहिए। तैरना तथा खुली एवं शुद्ध हवा में घूमना रोगी के लिए अच्छा रहता है। व्यायाम से विकृत सन्धियों का स्वरूप सही होने लगता है।
2. तली भुनी वस्तुएँ, नमकीन, मिठाई, अत्यधिक तेल, घी युक्त पदार्थ, मैदे से बने पदार्थ, चाय, कॉफी, सॉफ्ट ड्रिंक, मिर्च, मसाले, मांस, मछली, अण्डे आदि के प्रयोग को हमेशा हमेशा के लिए त्याग देना चाहिए।
3. ताजे फल, कच्ची सब्जियाँ, उनके रस, चोकर युक्त आटे की रोटी या दलिया, अंकुरित मूँग मोठ आदि का भरपूर सेवन करना चाहिए।
4. मरीज का मानसिक संतुलन और उसका विश्वास बीमारी पर स्वतः ही काबू पा लेता है इसलिए मरीज को सदा ही प्रसन्न और आशावादी बने रहना चाहिए।
5. अशांत, क्रोधी, लोभी, ईर्ष्यालु व्यक्ति इस रोग से घिरे रहते हैं। नियमित प्राणायाम और ध्यान से इन मनोवेगों को काबू करके इस रोग पर भी काबू पाया जा सकता है।
6. सन्धिवात से पूर्णतः मुक्ति पाने के लिए तथा इससे बचने के लिए हमें संयम, धैर्य के साथ आहार-विहार, विश्राम, व्यायाम, ध्यान आदि आदतों को अपने जीवन का अंग बनाना पड़ेगा।

ये स्वास्थ्यदायी आदतें ही स्थायी स्वास्थ्य लाभ दे सकती हैं, कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

📖 ई–416, हुडको कॉलोनी
कमला नेहरू नगर, जोधपुर

सूचना प्रौद्योगिकी एवं सामाजिक विकास

✍ डॉ0 के.एन. उत्तम

विकासशील देशों में 21 वीं सदी में भयावह हो रही जनसंख्या वृद्धि, खाद्यान्न एवं पर्यावरण की समस्या, चेचक, मलेरिया, कैन्सर, हेपेटाइटिस, एड्स एवं पोलियो जैसी प्राणघातक बीमारियों की रोकथाम के लिए उपलब्ध संसाधन कम प्रतीत हो रहे हैं। समाज की आधारभूत जरूरतें जैसे ऊर्जा, विद्युत, संचार, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, यातायात एवं खाद्यान्न जैसी समस्याओं के समाधान के लिए नवीनतम प्रौद्योगिकी की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस दिशा में भारतीय जन-मानस का ध्यान आकर्षित करने के लिए वर्तमान प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेई जी ने जय जवान, जय किसान, जय विज्ञान का नारा दिया और भारतीय वैज्ञानिकों को भारत को एक स्वावलम्बी, स्वाभिमानी तथा प्रौद्योगिकीयुक्त सम्पन्न, विकसित राष्ट्र बनाने के लिए प्रतिस्पर्धात्मक प्रौद्योगिकी विकसित करने का आह्वान किया। भारत सरकार के मानव संसाधन विकास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा महासागर विकास मंत्री डॉ0 मुरली मनोहर जोशी के अनुसार "हम ऐसे वैज्ञानिक भारत का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें मौजूदा संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग कर मानवता के कल्याण हेतु कुछ नवीन उपलब्धियाँ हासिल कर सकें"।

21वीं शताब्दी ज्ञान आधारित समाज से बनी होगी जिसमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण स्थान होगा। ज्ञान का अर्थशास्त्र समझने के लिए वैज्ञानिक भारत का निर्माण आवश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि दिनों-दिन हो रही विज्ञान की नवीन उपलब्धियों की जानकारी जन-मानस को कराई जाय। भारत एक कृषिप्रधान देश हैं जहाँ पर बहुसंख्यक लोग आज भी अशिक्षित हैं। भारत की वर्तमान जनसंख्या लगभग 101 करोड़ है जिसमें केवल 65 प्रतिशत साक्षर हैं और 35 प्रतिशत लोग आज भी अशिक्षित (बेपढ़े) हैं। कृषि क्रांति और औद्योगिक क्रांति के बाद सूचना-संचार क्रांति अत्यन्त उच्च प्रौद्योगिकी होते हुए भी पर्यावरण को हानि नहीं पहुँचाती है। संचार प्रौद्योगिकी की प्रगति के फलस्वरूप आज हम विश्व की सारी जानकारियाँ इंटरनेट के माध्यम से अल्प समय में एकत्रित कर उसका लाभ उठा सकते हैं। जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नित नवीन आविष्कार हो रहे हैं जिसका संचार प्रौद्योगिकी से जोड़कर उपयोग करने से खाद्यान्न उत्पादन की दिशा में सफलता मिलने की उम्मीद है। सूचना-संचार प्रौद्योगिकी को सभ्यता-संस्कृति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इंटरनेट पर मेडिकल सूचनाएँ दर्ज रहती हैं, विभिन्न देशों का सांस्कृतिक वार्तालाप मिल जाता है, सौन्दर्य मूल्यों एवं सीख का इंटरनेट पर असीमित भण्डार है। अतः सूचना प्रौद्योगिकी वर्तमान में सामाजिक विकास हेतु एक महत्वपूर्ण संसाधन सिद्ध हो सकती है।

सूचना-संचार प्रौद्योगिकी ने वर्तमान प्रदूषण कम करने, यातायात नियंत्रण, स्वास्थ्य संबन्धी समस्याओं का समाधान, अपराध नियंत्रण, शिक्षा के विकास, त्वरित डाक सुविधा, मनोरंजन की दुनिया में नवीनता प्रदान करने, व्यापार के क्षेत्र में कम लागत पर यथासमय सामान उपलब्ध कराने, बैंकिग तथा शोध एवं विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। यहाँ तक कि सरकार ने ई-गवर्नेंस लागू करने की बात की है। अधिकांश प्रतियोगी परीक्षाओं एवं दूरदर्शन में इनामी कार्यक्रमों के कारण भारतवर्ष के अधिकांश शहरों में

समय से साधारण डाक न मिलने के कारण सूचना प्रौद्योगिकी की ई-मेल सुविधा अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। ई-मेल सुविधा का लाभ उठाकर कम समय में कम लागत पर सुनिश्चित होकर अपना सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। इस सुविधा का उपयोग व्यावसायिक क्षेत्र में दूरगामी परिणाम प्रदान करता है जिससे ग्राहक लम्बे समय तक किसी एक फर्म विशेष से जुड़े रहते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी की अन्य सुविधाएँ जैसे ई–कामर्स, ई–बैंकिंग, ई–शापिंग, ई–शिक्षा अथवा साइबर शिक्षा भी अत्यधिक लोकप्रिय हैं। आज जब भारतवर्ष के लगभग हर शहर में यातायात की समस्या कठिन होती जा रही है ऐसे में संचार प्रौद्योगिकी के व्यावसायिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। ई–प्रोक्योरमेंट के आने के कारण शहरी प्रदूषणों के स्तर पर भी गिरावट आयेगी। सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ पर स्कूल कालेज नहीं हैं और न ही योग्य एवं कुशल अध्यापक हैं, साइबर शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। छात्र अपने घर में बैठकर इंटरनेट का उपयोग योग्य अध्यापकों द्वारा तैयार किये गये पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर अपना शैक्षिक ज्ञान बढ़ा सकते हैं। कृषि के क्षेत्र में कृषक भाइयों एवं ग्रामीण नागरिकों के लिए सूचना प्रौद्योगिकी एक अति महत्वपूर्ण संसाधन प्रतीत हो रही है। किसान भाई सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग कर विश्व–बाजार में अपने उत्पादों का मूल्य देखकर अपना सामान मनचाहे बाजार में बेच सकते हैं जिसमें उपज का समुचित मूल्य मिल सकता है। फसलों में लगे विभिन्न प्रकार के रोगों की रोकथाम के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग कर कृषि विशेषज्ञों से सलाह-मशविरा कर फसल को कीड़ों-मकोड़ों से बचाकर कृषि उपज बढ़ा सकते हैं जिसमें खाद्यान्न की समस्या का हल दिखाई पड़ता है। इतना ही नही, विभिन्न स्थानों पर किसान भाइयों के लिए सरकार द्वारा आयोजित कृषि मेलों, पशुओं एवं कृषि उत्पाद संबन्धी जानकारियाँ भी समय से पहुँचाई जा सकती हैं। जन जागरण की दिशा में भी सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग हो सकता है जिसमें सरकार के अति महत्वपूर्ण कार्यक्रमों की शत-प्रतिशत सफलता पाई जा सकती है। सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग प्रबन्धन अर्थात् प्राकृतिक विभीषिकाओं (बाढ़, सूखा, भूस्खलन, आग इत्यादि) के समय त्वरित रोकथाम में भी किया जा सकता है। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से विश्वभर से तकनीकी समाधान की गुजारिश की जा सकती है जिससे इन विभीषिकाओं पर अल्प समय में बचाव कार्य किये जा सकते हैं और भारी तबाही के समय बहुमूल्य जनहानि को बचाया जा सकता है। सूचना–प्रौद्योगिकी के बढ़ते उपयोग के कारण भविष्य में कार्यालयों में कागज खपत में कमी आने की उम्मीद की जा सकती है क्योंकि अति महत्वपूर्ण सूचनाएँ चुम्बकीय टेपों में कम खर्च पर लम्बे समय तक सरलतापूर्वक एकत्रित की जा सकती हैं। प्रायः कागज जंगलों से प्राप्त लकड़ी से बनाये जाते हैं। जंगल कटने के कारण पर्यावरण में परिवर्तन हो रहे हैं अतः सूचना-प्रौद्योगिकी का उपयोग कर वातावरण प्रदूषण पर नियंत्रण सम्भव है।

चिकित्सा के क्षेत्र में सूचना-प्रौद्योगिकी के दूरगामी उपयोग दिखाई पड़ रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग कर कुशल डाक्टरों की चिकित्सा-सलाह कम लागत पर सूक्ष्म समय में ली जा सकती है। अतः रोगियों के लिए सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित एक बहु उपयोगी चिकित्सा सुविधा प्रणाली विकसित की जा सकती है। इसका उपयोग कर सुदूर ग्रामीण जनता को बेहतर चिकित्सा सुविधा उत्पन्न कराई जा सकती है। इतना ही नहीं, दिन-प्रतिदिन सूचना प्रौद्योगिकी के नवीन उपयोग प्रकाश में आ रहे हैं। केवल ई-कामर्स तथा सूचना प्रौद्योगिकी-आधारित सेवाओं जैसे कालसेन्टर, मेडिकल ट्रान्सक्रिप्शन, बैंक, आफिस कामकाज का तेज विस्तार ही सूचना-प्रौद्योगिकी की सफलता की पहचान नहीं बनेगा, सूचना प्रौद्योगिकी की सफलता की असली पहचान उन सेवाओं से होगी जो आम आदमी के जीवन को प्रभावित करेगी। शिक्षा और चिकित्सा दो क्षेत्र हैं, जहाँ सूचना प्रौद्योगिकी को जनता की सेवा में उतारा जा सकता है। चिकित्सा के उभरते क्षेत्र को टेलीमेडिसिन कहते हैं और यह क्षेत्र प्रौद्योगिकी की चुनौतियों से परिपूर्ण है। विश्वभर में इस समय पायलट परियोजनाओं के माध्यम से टेलीमेडिसिन पर कार्य चल रहा है। भारतवर्ष में भी टेलीमेडिसिन को बड़े पैमाने पर उतारने के प्रयास जारी हैं।

भौतिकी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लोकप्रिय विज्ञान लेखक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

राहुल सांकृत्यायन प्रकाण्ड पंडित थे। उन्हें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के अलावा पाली, अपभ्रंश, उर्दू, फारसी, रूसी, फ्रेंच, तिब्बती, चीनी भाषाओं का ज्ञान था। वे न केवल इतिहास, पुरातत्व एवं साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान थे अपितु वे उन लेखकों में थे जो विज्ञान की गतिविधियों से अपने को अवगत बनाये रखना चाहते थे। दुर्भाग्यवश उन्हें विज्ञान से परिचित होने का अवसर जेल की चहारदीवारियों के भीतर ही मिल सका।

हजारीबाग जेल में, जहाँ से 2 वर्ष की सजा भोगने के बाद 18 अप्रैल 1925 में कारावास से मुक्त हुए, राहुल जी ने विज्ञान, मुख्यतः गणित और ज्योतिष का अध्ययन किया। उन्होंने लिखा है– "लिखने पढ़ने के अतिरिक्त कुछ फ्रेंच और अवेस्ता का भी अभ्यास किया। वैज्ञानिक दृष्टि और विस्तृत हुई।"

1940 के बाद राहुल जी पुनः 29 मास तक हजारीबाग जेल (9 मास तक) तथा देवली कैम्प (20 मास) में रहे जहाँ उन्होंने साइंस, दर्शन, समाज शास्त्र विषयक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें कुछ पुस्तकें अजमेर पब्लिक लाइब्रेरी से और कुछ खरीद कर मँगानी पड़ीं। वे इन पुस्तकों को पढ़ पढ़ कर नोट बनाते रहे। वे साइंससम्मत भौतिकवाद या मार्क्सवाद पर हिन्दी में पुस्तक लिखना चाहते थे। फलतः 16 महीने के अध्ययन के बाद 30 जुलाई 1941 को उन्होंने पुस्तक लिखनी शुरू की जिसका नाम "वैज्ञानिक भौतिकवाद" रखना चाहते थे। 27 अगस्त को "विश्व की रूपरेखा" नामक पहला खण्ड लिखकर समाप्त किया। 14 अक्टूबर को दूसरा खण्ड "मानव समाज" पूरा हुआ। तीसरे खण्ड "दर्शन–दिग्दर्शन" का लेखन 16 अक्टूबर को शुरू किया। यह खण्ड 11 मार्च 1942 को पूरा हुआ, जब वे फिर हजारीबाग जेल में थे।

इस तरह विश्व की रूपरेखा, मानव समाज, दर्शन दिग्दर्शन तथा वैज्ञानिक भौतिकवाद– ये चारों ग्रन्थ एक तरह विज्ञान के ग्रन्थ हैं। परन्तु इनमें से "विश्व की रूपरेखा" नितान्त वैज्ञानिक ग्रन्थ है। इस पुस्तक की भूमिका में राहुल जी ने स्वयं लिखा है, "मैंने विषय को भरसक सरल बनाने की कोशिश की है और यह ध्यान में रखा है कि उसी तल की योग्यता रखने वाले अंग्रेजीदाँ पाठक को यहाँ वर्णित विषय समझने में जितने आसान लगे, उतने से कम योग्यता रखने वाले हिन्दीदाँ पाठक भी इन्हें समझ सकें। इसमें मुझे कितनी सफलता हुई इसे पाठक ही बतला सकते हैं।"

इस पुस्तक में भारतीय चिन्तन और संस्कृति की पृष्ठभूमि परिलक्षित होती है। उन्होंने हेराक्लिद के साथ आर्यभट, कोपर्निकस के साथ भास्कराचार्य व श्रीपति, सापेक्षतावाद के साथ धर्मकीर्ति आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इस पुस्तक की विशेषता है परिशिष्ट में दी गई पारिभाषिक शब्द सूची। राहुल जी ने लिखा है कि "साइंस के पारिभाषिक शब्दों के चुनाव में मैंने कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया है किन्तु जिन प्रतिशब्दों को मैंने यहाँ अन्तिम बार चुना है कई बार प्रयोग की कसौटी में उतारना पड़ा है इसलिए वह अपने पर्यायवाची पश्चिमी शब्द के बहुत नजदीक भी

हैं।"

राहुल जी के पुस्तकालय में अब भी उनकी पढ़ी हुई विज्ञान की पुस्तकें देखी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, सर राबर्ट बाल की पुस्तक– "एलीमेंट्स आफ एस्ट्रानामी" (1927), टाडहन्टर की "स्फेरिकल ट्रिग्नोमेट्री" तथा बर्ट्रेण्ड रसेल की "ए.बी.सी. आफ रिलैटिविटी" (1930)।

आश्चर्य होता है कि राहुलजी केवल सातवीं कक्षा तक बीजगणित पढ़े थे किन्तु हजारीबाग जेल में वे टाडहण्टर की पुस्तक पढ़ रहे थे। इस जेल में गणित पढ़ाने वाले थे स्वामी भारती कृष्णतीर्थ। वे बहुत ही आकर्षक ढ़ंग से पढ़ाते थे। बीजगणित के सूत्रों को कंठस्थ न कराकर सिद्ध करवाते थे।

राहुल जी का पारिभाषिक शब्दों के प्रति प्रेम अगाध था। 1947 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने परिभाषाओं के निर्माण की नीति स्पष्ट की। आगे चल कर 1948–49 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से उन्होंने कई पारिभाषिक कोश निकाले।

राहुल जी वास्तविक अर्थ में वैज्ञानिक थे।

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

......मनुष्य गणना को अधिक बढ़ने न देने का पिछली दो शताब्दियों में बहुत प्रयत्न हुआ और उसमें पूर्ण सफलता हुई है। इस विभाग का सम्बन्ध ऊपर से ग्राम तक है। प्रत्येक दसवें साल मनुष्य गणना तो होती ही है इसके अतिरिक्त जहाँ दो मास से ऊपर का गर्भ हुआ उसकी सूचना और गणना भी इस विभाग द्वारा बराबर पत्रों में निकलती रहती है। दो उद्देश्यों को लेकर यह विभाग कायम हुआ था, जनसंख्या की वृद्धि को रोकना और चिर रोगी, राजरोगी द्वारा सन्तान उत्पन्न न होने देना। दोनों ही उद्देश्य इसने पूर्ण किया है। आजकल जो एक भी कुष्ट, मृगी, उपदंश, बवासीर आदि रोगों वाले आदमी नहीं मिलते उसका कारण उक्त प्रयत्न ही है। ऐसी छूतवाली बीमारी वाले रोगियों को साधारण जन समाज से पहले अलग करके आराम के साथ रखने तथा उनकी चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रकार उन्हें अपने संसर्ग से रोग फैलाने का मौका नहीं दिया जाता। दूसरे, आगे सन्तान न हो, इसके लिए उनकी जनन शक्ति को विशेष निर्धारित उपायों से नष्ट कर दिया जाता है।...... प्रत्येक स्त्री–पुरुष के बुढ़ापे के आराम का जिम्मा तो अब राष्ट्र पर है इसलिये सन्तान उत्पन्न करने की बड़ी लालसा तो ऐसे भी कम हो गई है और उक्त प्रक्रिया से केवल जनन शक्ति मात्र का ही ह्रास होता है, बाकी सब तो पूर्ववत् ही रहता है इसलिए इसे लोग स्वयं पसन्द करते हैं। पहले अनेक पुरुष इसके विरोधी थे उनका कहना था कि वृद्धि तो आवश्यक रोकी जानी चाहिए किन्तु कृत्रिम उपाय से नहीं, संयम नियम से। दूसरे विचार वालों का कहना था कि यह संयम इतना सरल कार्य नहीं जिसे राष्ट्र के सभी जन पालन कर सकें।...... इसका फल अब यह हो गया है कि और कामों की भाँति जनसंख्या का घटाना–बढ़ाना भी राष्ट्र कर्णधारों के हाथ में वैसे ही है जैसे किसी बिजली बत्ती का जलाना और बुझाना।

"राहुल" कृत "बाईसवीं सदी" नामक वैज्ञानिक उपन्यास से जो 1924 में हजारीबाग जेल में लिखा गया किन्तु छपा जाकर 1931 में

पुस्तक समीक्षा

वैज्ञानिक शब्दकोश : विषविज्ञान एवं सम्बद्ध विज्ञान (अंग्रेजी–हिन्दी)

प्रकाशक : औद्योगिक विष अनुसंधान केन्द्र, लखनऊ
प्रथम संस्करण : सितम्बर 2000, **पृष्ठ संख्या :** 152, मूल्य–

यद्यपि शब्दावली आयोग भारत सरकार द्वारा वृहद पारिभाषिक शब्दकोश का प्रकाशन कई वर्षों पूर्व हो चुका है जिसमें विज्ञान की सभी शाखाओं के महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द सम्मिलित हैं किन्तु विशिष्ठ विषयों में कार्य कर रहे अनुसंधित्सुओं के समक्ष अंग्रेजी के हिन्दी पर्यायों का टोटा बना ही रहता है। इस दृष्टि से यदि किसी विशेष क्षेत्र के विशेषज्ञ कोई शब्दकोश निकालते हैं तो यह बहुत ही उत्साहवर्धक समाचार होगा। किन्तु क्या सचमुच ऐसे कोशों में विषय की विशिष्ठ शब्दावली को रेखांकित किया गया है या नहीं यह बड़े ही महत्व की बात होगी।

प्रस्तुत **वैज्ञानिक कोश** के संरक्षक ने कहा है "उल्लेखनीय है कि एक विषविज्ञान शब्दकोश की कमी बहुत समय से महसूस की जा रही थी अतः औद्योगिक विष विज्ञान अनुसंधान केन्द्र लखनऊ ने राज भाषा स्वर्ण जयन्ती वर्ष में पहली बार इस कार्य को करने का प्रयास किया है।" किन्तु अगले वाक्य में कहा गया है "प्रस्तुत हिन्दी शब्दकोश विष विज्ञान एवं सम्बद्ध विज्ञान विषयों के शब्दों का संग्रह है जिसमें सामान्यतः प्रयोग होने वाले शब्दों का भी समावेश किया गया है।"

इस शब्दकोश के सम्पादक? कुमार उप्रेती हैं। उन्होंने शब्दों का चयन एवं संकलन प्राप्त शब्दकोशों से किया है और अनेक शब्दों के लिए विशेषज्ञों से सहायता ली है। अनुमानतः इस कोश में 12000 शब्द हैं किन्तु इनमें लगभग 200 शब्द अनावश्यक प्रतीत होते हैं। वे अति सरल हैं – इनमें संज्ञा, क्रिया, विशेषण तथा क्रियाविशेषण शब्द हैं। नमूने के तौर पर Book, Curiosity, Dog, Eye, Leg, Lemon, Logic, Clean, Clad, Considered, Many, Merciful, Carefully, Clearly, Commonly, Mainly, Materially, Merely। किन्तु एक अन्य बात जिसकी ओर संकेत करना है वह है अंग्रेजी तथा हिन्दी शब्दों में वर्तनी की त्रुटियाँ एवं अनेकानेक शब्दों के गलत अर्थ तथा एकसाथ कई पर्यायों का होना। इससे सामान्य अनुवादक या प्रयोक्ता के सामने कठिनाई ही आवेगी, सुविधा नहीं होगी।

अच्छा होता यदि विषविज्ञान सम्बन्धी शब्दों को मोटे टाइप में दिया जाता और उनकी कुल संख्या का निर्देश किया गया होता। फिर भी कुल मिलाकर इस नूतन प्रयास की प्रशंसा ही की जानी चाहिये।

–सम्पादक
'विज्ञान'

भूल-सुधार

'विज्ञान' के पिछले अंक के पृष्ठ 26 पर विज्ञान दिवस (28 फरवरी) को डॉ० रामन का जन्म दिवस बताया गया है जबकि इस दिन डॉ० रामन ने 'रामन प्रभाव' की खोज की थी। इसके लिये हमें खेद है।

परिषद् का पृष्ठ

द्वितीय जैव-प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यान

3 फरवरी 2001 को वाराणसी के सेंट्रल हिन्दू ब्याएज स्कूल के सभागार में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के स्कूल ऑफ बायोटेक्नोलॉजी के संयोजक प्रो0 बी.डी. सिंह ने विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित जैव प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यानमाला का द्वितीय व्याख्यान दिया जिसका विषय था "नई शताब्दी में जैव-प्रौद्योगिकी"।

विभिन्न चित्रों एवं आँकड़ों के माध्यम से अपने रोचक एवं सारगर्भित व्याख्यान में प्रो0 सिंह ने जैव प्रौद्योगिकी के विकास का विहंगावलोकन प्रस्तुत करते हुए भविष्य की संभावनाओं पर प्रकाश डाला तथा आने वाले दिनों में मानव समाज के स्वरूप का चित्रण किया। इन उपलब्धियों के कारण आने वाले समाज को जिन समस्याओं से जूझना पड़ेगा उनकी ओर भी प्रो0 सिंह ने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने बौद्धिक संपदा संरक्षण एवं पेटेंट कानून के प्रति जन चेतना उत्पन्न की आवश्यकता बताई। प्रो0 सिंह ने छात्रों की शंकाओं का समाधान भी किया।

कार्यक्रम का आरम्भ महामना मदन मोहन मालवीय तथा श्रीमती एनी बेसेंट के चित्रों पर माल्यार्पण द्वारा हुआ। विद्यालय के विशेष कार्य अधिकारी श्री हरीशचन्द्र सिंह राठौर ने अतिथियों का स्वागत किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के अधिष्ठाता प्रो0 एस.एन. ठाकुर ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। कार्यक्रम के संयोजक प्रो0 श्रवण कुमार तिवारी ने व्याख्यानदाता का परिचय प्रस्तुत किया। विज्ञान परिषद् प्रयाग की वाराणसी शाखा के अध्यक्ष प्रो0 ब्रजरतन दास गुप्ता ने धन्यवाद ज्ञापित किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ0 रामायण त्रिपाठी ने किया। इस अवसर पर विज्ञान परिषद् प्रयाग के देवव्रत द्विवेदी व विजय शर्मा भी उपस्थित थे।

तृतीय जैव प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यान

इसी व्याख्यानमाला का तृतीय व्याख्यान 7 फरवरी 2001 को इलाहाबाद कृषि संस्थान मानित विश्वविद्यालय, नैनी, इलाहाबाद में, जैव प्रौद्योगिकी केन्द्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय की संयोजिका डॉ0 (श्रीमती) कृष्णा मिश्र ने 'मिमिक डी.एन.ए.' (Mmic D.N.A) विषय पर दिया।

अपने व्याख्यान में डॉ0 (श्रीमती) मिश्र ने न्यूक्लीइक अम्लों, डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. की संरचना तथा गुणधर्मों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए ऐसे संश्लेषित न्यूक्लीइक अम्लों (MIMIC DNAs) के बारे में विस्तार से चर्चा की जो संरचना में प्राकृतिक डी.एन.ए. से भिन्न होते हैं तथा जिनका उपयोग विभिन्न विषाणु जनित रोगो के उपचार में किया जा सकता है। इस क्रम में उन्होंने पेप्टाइड न्यूक्लीइक अम्ल, राइबोजाइम आदि के बारे में भी बताया।

कार्यक्रम के आरम्भ में कृषि संस्थान के जैव रसायन विभाग के अध्यक्ष डॉ0 अशोक कुमार गुप्ता ने अतिथियों का स्वागत किया। विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिव गोपाल मिश्र ने व्याख्यानदाता का परिचय प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो0 अब्दुल कादिर खान ने की।

—देवव्रत द्विवेदी

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती स्मृति व्याख्यान 2001

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित वर्ष 2001 का स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती स्मृति व्याख्यान

15 फरवरी को सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम की 'अध्यक्षता परिषद् के संस्थापकों में से एक महामहोपाध्याय पं0 गंगानाथ झा के पौत्र लेफ्टिनेंट कर्नल श्री देवकांत झा जी ने की। उन्होंने अपने अध्यक्षपदीय उद्‌बोधन में स्वामी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परिषद् के वर्तमान स्वरूप और हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान के प्रचार–प्रसार के उत्कृष्ट कार्यों की प्रशंसा की।

मुख्य व्याख्यानदाता एयर वाइस मार्शल श्री विश्वमोहन तिवारी ने प्रारंभ में बताया कि उन्होंने स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक–"भारत के कर्णधार" का न केवल अध्ययन किया है बल्कि उससे प्रेरणा ली है। उनके व्याख्यान का विषय "पक्षी अवलोकन" था। उन्होंने चकवा-चकवी और अन्य पक्षियों के विषय में रोचक, ज्ञानवर्धक और नई जानकारियों से युक्त व्याख्यान दिया। उनका व्याख्यान उनके द्वारा शोध पर आधारित रहा और रंगीन चित्रों के प्रदर्शन से वह और भी रोचक और ग्राह्य हो गया।

समारोह का प्रारंभ डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी द्वारा सरस्वती वंदना और राष्ट्रभाषा वंदना से हुआ। सभाध्यक्ष और व्याख्यानदाता द्वारा माँ सरस्वती और स्वामी जी के चित्रों पर माल्यार्पण के पश्चात् देवव्रत ने दोनों अतिथियों का माल्यापर्ण किया। संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने संक्षेप में स्वामी जी, सभापति जी और व्याख्यानदाता का परिचय प्रस्तुत करने के साथ ही सभाध्यक्ष और व्याख्यानदाता का हार्दिक स्वागत किया।

इस अवसर पर त्रैमासिक विज्ञान पत्रकारिता प्रशिक्षण पाठ्‌यक्रम में भाग लेने वाले सभी प्रशिक्षणार्थियों dksJh>k}kjk iekk.kपत्र प्रदान किये गये। देवव्रत द्विवेदी और बलराम यादव के विशिष्ट योग्यता का प्रमाण पत्र मिला। प्रशिक्षण का संक्षिप्त परिचय परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र द्वारा प्रस्तुत किया।

परिषद् के उपसभापति और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो0 हनुमान प्रसाद तिवारी ने व्याख्यानदाता को मानदेय प्रदान किया। अंत में धन्यवाद ज्ञापन प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया। थोड़ी देर बाद एक छोटी सी कवि गोष्ठी का भी आयोजन किया गया जिसमें श्री विश्वमोहन तिवारी, डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी, डॉ0 दिनेश मणि ने स्वरचित कविताओं का वाचन किया।

इस अवसर पर विश्वविद्यालय के आचार्य, आर्य समाज के प्रचारक, शोध संस्थानों से आये विशिष्ट वैज्ञानिक उपस्थित रहे। इनमें प्रमुख थे– डॉ0 पवार, डॉ0 रविन्द्र नाथ सेठ, डॉ0 एम.एम. राय, डॉ0 ईश्वर चन्द्र शुक्ल, श्री दर्शनानन्द, डॉ0 दिनेश मणि, डॉ0 बी. एस. गहलौत, श्री डी.एम. श्रीवास्तव, डॉ0 गोपाल पाण्डेय, सुश्री हेमलता पंत, डॉ0 राजकुमार दुबे।

–प्रेमचन्द श्रीवास्तव

फार्म 4

1. प्रकाशन स्थान : विज्ञान परिषद् प्रयाग
2. प्रकाशन अवधि : मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
3. मुद्रक का नाम : ग्राफिक आफसेट
   क्या वह भारतीय नागरिक है? : हाँ
   पता : 186/5 टैगोर टाउन, इलाहाबाद
4. प्रकाशक का नाम : डॉ0 शिवगोपाल मिश्र
   पता : विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद–2
5. सम्पादक का नाम : डॉ शिवगोपाल मिश्र
   क्या भारत का नागरिक है? : हाँ
   पता : विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद –2
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक साझेदार या हिस्सेदार हों।

मैं शिवगोपाल मिश्र एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

दिनांक 1.2.2001

शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद–2

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@nde.vsnl.net.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विज्ञान परिषद् प्रयाग

द्वारा आयोजित

अखिल भारतीय लेखन प्रतियोगिता 2001

ह्विटेकर पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ लेख अथवा पुस्तक को एक हजार रुपयों का पुरस्कार

- लेख अथवा पुस्तक केवल विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
- केवल प्रकाशित लेखों अथवा पुस्तकों पर ही विचार किया जायेगा।
- लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
- लेख अथवा पुस्तक के प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
- इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख अथवा पुस्तक जनवरी 2000 से दिसम्बर 2000 माह के बीच प्रकाशित हो।
- लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख अथवा पुस्तक मौलिक है।
- विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
- वर्ष 2000 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 31 मार्च 2001 है।
- पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

प्रविष्टियाँ निम्न पते पर भेजें :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002
फोन नं. : (0532) 460001
ई-मेल : vigyan1@nde.vsnl.net.in

ISSN : 0373-1200

अप्रैल 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

- कच्छपों की तस्करी
- ब्रायलर पालन
- तितलियों के रंग
- डॉ० बी० पी० पाल

विज्ञान परिषद् प्रयाग

चिकित्सा के क्षेत्र में जैव प्रौद्योगिकी का योगदान

डा० श्रीप्रकाश मिश्र

हमारे समाज में समय समय पर अनेक तरह की क्रान्तियाँ होती रही हैं– कभी लाल, कभी हरित, कभी नीली तो कभी श्वेत। पिछले एक दशक में इनके अलावा दो मुख्य क्रान्तियाँ और देखने को मिलीं। इनमें से एक है सूचना प्रौद्योगिकी और दूसरी जैव प्रौद्योगिकी। जैव प्रौद्योगिकी ने जहां पेड़ पौधे, वन्य एवं पालतू जानवरों के बारे में हमारा ज्ञान बढ़ाया वहीं चिकित्सा के क्षेत्र में भी नये आयाम खोले हैं।

जैव प्रौद्योगिकी क्या है ?

जैव प्रौद्योगिकी समझने के लिये मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि हम आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के इतिहास के कुछ जरूरी पन्ने पलटें। आज से लगभग अर्धशताब्दी पूर्व वाट्सन तथा क्रिक ने डी०एन०ए० की संरचना की खोज की और तब से लगातार जैव वैज्ञानिकों के एक समूह ने अपना पूरा ध्यान कोशिकाओं की आण्विक तथा आनुवांशिक (जेनेटिक) संरचना पर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार दिन प्रति दिन स्वस्थ एवं रोगग्रसित लोगों में कोशिकाओं में होने वाली आण्विक उथल–पुथल के बारे में हमारा ज्ञान बढ़ता गया। जीव विज्ञान के इस क्षेत्र को नाम दिया गया आण्विक जीव विज्ञान या मोलीक्यूलर बायोलॉजी और इस क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों को आण्विक जैव वैज्ञानिक या मोलीक्यूलर बायोलॉजिस्ट। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आण्विक जीव विज्ञान का महत्व, रोगों के निदान, उपचार व आनुवांशिकता जानने के लिये नई–नई तकनीकों का विकास किया गया। यहाँ तक कि उन तकनीकों ने बढ़ कर एक उद्योग का सा रूप धारण कर लिया और इसी को कहा गया जैव प्रौद्योगिकी या बायोटेक्नोलॉजी।

जैव प्रौद्योगिकी के बारे में विस्तार से जानने से पहले यह जरूरी है कि साधारण कोशिका के बारे में जानें।

गुणसूत्र (क्रोमोसोम) :– एक मानव की कोशिका में 23 जोड़े गुणसूत्र होते हैं। इनमें से 22 जोड़ों की कार्यप्रणाली एकजैसी होती है। एक जोड़ा गुणसूत्र लिंग निर्धारित करता है। गुणसूत्र डी०एन०ए० से बनता है।

जीनोम :– किसी जीव के आनुवांशिक (जेनेटिक) पदार्थ की समूची व्यवस्था को उसका जीनोम कहते हैं। मानव जीनोम में 3 अरब जीन होते हैं। इनमें से 1.5 प्रतिशत ही लाभकारी होते हैं और मानव शरीर की संरचना में उसके गुण, व्यक्तित्व, व्यवहार या आनुवांशिक बीमारियों में इनका योगदान होता है। इन्हें जीन कहते हैं। बाकी कबाड़ डी०एन०ए० (जंक डी०एन०ए०) होते हैं। ये कबाड़ डी०एन०ए० वास्तव में कबाड़ नहीं होते हैं। ये स्वयं किसी प्रोटीन संरचना में सीधे भाग नहीं लेते हैं परन्तु ये जीन नियंत्रण में सहायक होते हैं जिससे कोई भी जीन सही समय एवं सही जगह पर अपना काम करती है।

डी०एन०ए० :– ये सर्पाकार इकाइयाँ हैं जो जोड़ों में

होती हैं और प्रमुखतः चार अणुओं एडिनोसिन (ए), ग्वानीन (जी), थाइमिन (टी) तथा साइटोसीन (सी) के एक दूसरे से अलग अलग रूपों में जुड़ने से बनती हैं।

जीन :— ये ए,टी,सी एवं जी में से तीन अणुओं के युग्म होती हैं। ये शरीर संरचना में काम आने वाले विभिन्न पदार्थों के अलग एवं विशिष्ट समूह होती हैं। इन्हीं के अनुसार प्रोटीन, एन्जाइम इत्यादि बनते हैं।

आर०एन०ए० :— यह डी0एन0ए0 द्वारा दी गयी सूचना को कोशिका के साइटोप्लाज्म में पँहुचाता है और आवश्यकतानुसार प्रोटीन का निर्माण करता है जो कि कोशिकाओं एवं जीन के विकास के लिये जरूरी होता है।

तकनीकी :— किसी भी जीव का स्वस्थ या बीमार होना उसकी कोशिकाओं में उपस्थित डी0एन0ए0 की संरचना व कार्यकुशलता पर निर्भर करता है। अतएव आधुनिक आण्विक जैव वैज्ञानिकों का ध्यान दिन प्रति दिन जीन, उसकी कार्यशैली तथा उसमें होने वाले विकारों की ओर केन्द्रित होता जा रहा है और रोज नई नई तकनीकें विकसित हो रही है जो कि कम समय में ज्यादा सही परिणाम दे सकती हैं। कुछ बीमारियाँ तो गुणसूत्रों में परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं और गुणसूत्रों केविस्तार से अध्ययन करने पर उनका पता चल जाता है। परन्तु कुछ में जीन में आण्विक स्तर पर बदलाव आता है और इन विकारों को विकृत जीन की पहचान करके जाना जा सकता है।

गुणसूत्र अध्ययन तकनीकी :— गुणसूत्र में विकार या तो उनकी संख्या में हो सकते हैं जैसे कि किसी गुणसूत्र में एक जोड़े की जगह तीन गुणसूत्र हो जायें या फिर उनकी संरचना में कोई विकार हो जाये, कोई भाग कट कर निकल जाये इत्यादि। इनके अध्ययन के लिये हम तकनीकों का प्रयोग कर सकते हैं।

क्रोमोसोम पेन्टिंग :— इसमें कोशिका को विभाजन (मेटोफेज) से पूर्व की स्थिति का अध्ययन करते हैं जबकि गुणसूत्र अलग अलग फैले होते हैं। एक चमकने वाले रंजक (फ्लोरोसेन्ट डाई) से अंकित प्रोब डालते हैं जो अध्ययन विशेष गुणसूत्र से बंधती है और इस तरह विकार देखे जा सकते हैं।

फिस तकनीक :— कोशिका के अन्दर ही हम गुणसूत्र विकार को अंकित रंजक के माध्यम से देखते हैं या ज्यादा कोशिकाओं से बाहर गुणसूत्रों को फैलाकर विस्तृत अध्ययन कर सकते हैं।

जीन अध्ययन :— जैसा कि पहले बताया गया है कि जीन बहुत छोटी होती है और कभी कभी विकृत जीन की मात्रा इतनी कम होती है कि विभिन्न तकनीकों द्वारा उनको पहचानना कठिन होता है। इस स्थिति में उपलब्ध डी0एन0ए0 की मात्रा बढ़ाने के लिये एक तकनीक का प्रयोग करते हैं।

पी०सी०आर० :— जैसे कि पहले बताया गया कि डी0एन0ए0 जोड़े में होते हैं, इनको गरम करने पर ये जोड़े अलग हो जाते हैं। यदि अतिरिक्त ए,जी,सी,टी अणु घोल रूप में हों तो डी0एन0ए0 पॉलीमरेस नामक एन्जाइम की उपस्थिति में ये अलग हुये इकाइयों को नया जोड़ा बना देते हैं। इस प्रकार बार—बार प्रक्रिया को दोहराने पर उपलब्ध डी0एन0ए0 की मात्रा बढ़ जाती है।

डायरेक्ट जीन डाइग्नोसिस :— जहाँ जीन में विकार के बारे में पता होता है (सिकिल सेल एनीमिया) वहाँ इस विधि का प्रयोग करते हैं। रेस्ट्रिक्शन इन्डोन्यूक्लिएस नामक एन्जाइम डी0एन0ए0 को विशिष्ट स्थानों पर काटता है। यदि डी0एन0ए0 में कोई आण्विक बदलाव है तो विशिष्ट एन्जाइमों से बनने वाले टुकड़ों की लम्बाई तथा वजन में अन्तर हो जाता है (जिसे इलेक्ट्रोफोरेसिस द्वारा देख सकते हैं)।

एक चिप पर डी०एन०ए० :— काँच की स्लाइड पर

विभिन्न बीमारियों में विकृत जीन अंकित करने वाली दवा के साथ लगे होते हैं। मरीज में यदि कोई विशिष्ट विकृत जीन है तो वह अपने जोड़े की विकृत जीन से जुड़ेगी,एक प्रतिक्रिया होगी और जुड़ने वाली जीन के चमकने से उसे पहचाना जा सकेगा। दवा कम्पनियों के अनुसार यह तकनीक आने वाले 2–5 सालों में बाजार में उपलब्ध होगी और जीन विकारों का सही, सस्ता और तुरन्त निदान होगा।

इनडायरेक्ट जीन डाइग्नोसिस :– जहाँ किसी विशिष्ट जीन विकार का पता नहीं होता है वहाँ पर पूरे परिवार के जीनोम का अध्ययन करके हम बता सकते हैं कि विकृत जीन मरीज में है कि नहीं।

निदान :– आज हमको लगता है कि कई तरह के रोग बहुत ज्यादा बढ़ गये हैं। ऐसा इसलिये है क्योंकि जैव तकनीक पर आधारित बहुत सी निदान की विधियाँ अब उपलब्ध हैं जिनसे जल्दी और सही निदान सम्भव है। बीमारियों में खराबी जीन के स्तर पर होती है। यह गड़बड़ी गलत संरचना के प्रोटीनों को जन्म देती है जिससे ये प्रोटीन अपने कार्य ठीक से नहीं कर पाते और बीमारी के लक्षण उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिये सिस्टिक फाइब्रोसिस, स्तन कैन्सर, वर्णान्धता और मिर्गी जैसी बीमारियों में जीन का पता लग चुका है अतः गर्भावस्था में ही शिशु की कोशिकाओं से प्राप्त डी0एन0ए0 का अध्ययन करके यह निर्धारित किया जा सकता है कि शिशु में बीमारी के जीन हैं कि नहीं और तदनुसार उपचार हो सकता है। यदि डायबेटीज ग्रस्त माता–पिता के बच्चों को शुरू से ही पता लग जाय कि डायबेटीज का जीन उनमें है तो वे अपनी जीवनशैली उसी के अनुसार ढाल सकते हैं, और बीमारियों के प्रभाव से बच सकते हैं।

इस सहस्राब्दि में सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से जैव प्रौद्योगिकी के विकास पर भी काफी प्रभाव पड़ा है। जैव वैज्ञानिकों ने मनुष्य के लगभग पूरे जीनोम की संरचना का अध्ययन कर लिया है। कम्प्यूटर द्वारा इसका ज्ञान पूरे विश्व को हो गया है। हमारे भारतीय वैज्ञानिक भी पीछे नहीं हैं। सी0बी0टी0 में वैज्ञानिकों ने साइजोफ्रेनिया नामक बीमारी उत्पन्न करने वाली एक सम्भावित जीन का पता किया है। यह बीमारी 100 में से 1 मनुष्य को असर करती है। इन वैज्ञानिकों ने साइजोफ्रेनिया के मरीजों से डी0एन0ए0 लेकर उनका अध्ययन किया और उनमें पायी गयी असाधारण जीनों को कम्प्यूटर पर उपलब्ध मानव जीनोम से मिलाने के बाद दुनिया में उपलब्ध अन्य स्रोतों से मिलाया और एक ऐसी जीन की खोज की जो साइजोफ्रेनिया उत्पन्न कर सकती है। इसके अलावा सी0बी0टी0 में अस्थमा और इपिलिप्सी उत्पन्न करने वाली जीन के बारे में भी शोधकार्य चल रहा है। इसी प्रकार सी0डी0एफ0डी0 में पेट के अल्सर और कैन्सर उत्पन्न करने वाले बैक्टीरिया तथा टी0बी0 में मल्टीड्रग रेजिस्टेन्स में लिप्त जीन के बारे में शोधकार्य हो रहा है। इनके अलावा कई अन्य बीमारियों जैसे एड्स, मलेरिया इत्यादि के निदान में भी जीन के अध्ययन से सहायता मिलेगी।

कैन्सर :– अलग अलग प्रकार के कैन्सर में अलग अलग जीनों में विकार देखे गये हैं। कुछ जीनों में होने वाले विकार आनुवांशिक होते हैं और माता पिता से बच्चों में जाते हैं। जैसे– रेट्रोब्लास्टोमा जीन हेरीडेटरी पॉलीपोरी कोलाई (ए0पी0सी0, डी0सी0सी0 म्यूटोसिस)।

आनुवांशिक बीमारियाँ :– कई प्रकार की बीमारियाँ आनुवांशिक होती हैं यथा एनीमिया के अन्तर्गत थैलीसीमिया, सिकिल सेल एनीमिया।

पी 53 जीन :– यह जीन लगभग सभी प्रकार के कैन्सरों में विकृत पाई गयी है। साधारतया यह जीन ट्यूमर को होने से रोकती है। इसके विकृत होने से यह अपना कार्य नहीं कर पाती है और कैन्सर हो जाता

है।

उपचार :– यदि बीमारी हो गयी है तो उसके इलाज में भी जैव प्रौद्योगिकी के कारण एक नयी क्रान्ति हो रही है। रोज नयी दवायें निकल रही हैं। अभी तक जो दवायें निकली हैं उनमें से ज्यादातर या तो बीमारी के लक्षणों को कम करती हैं या तो बीमारी का कारण बने कीटाणुओं को नष्ट करती हैं जहाँ उनका निश्चित रूप से पता चल जाता है परन्तु यह देखा गया है कि एक दवा का अलग अलग व्यक्तियों में अलग अलग असर होता है। कुछ में वही दवा ज्यादा असर करती है और कुछ में कम। ऐसा मनुष्यों के जीन में अन्तर के कारण होता है क्योंकि हर दवा की शरीर के अन्दर कुछ पदार्थों से प्रतिक्रिया होती है जो दवा को नष्ट करते हैं। भिन्न जीव संरचना के कारण कुछ व्यक्तियों में ये पदार्थ ज्यादा मात्रा में बनेंगे और दवायें जल्दी नष्ट होंगी अतः असर कम होगा। इसी तरह कुछ में भिन्न प्रकार के एन्जाइम बनेंगे व उनकी प्रतिक्रिया से साइड इफेक्ट हो जाते हैं। परन्तु अगले 5 से 10 सालों में मानव जीनोम संरचना के अध्ययन से विभिन्न प्रकार की दवायें अलग अलग जीनोम संरचना के अनुसार बनेंगी। प्रमुख ब्रिटिश जीवविज्ञानी बेनब्रिज का कहना है "अभी ज्यादातर दवायें अनुमानों पर आधारित हैं। जीनोम परियोजना से किसी बीमारी की सटीक दवा की संभावनायें बढ़ गयी हैं। जिस तरह डिजाइनर कपड़े हो गये हैं वैसे ही डिजाइनर दवायें तैयार होंगी जो विशिष्ट व्यक्ति के लिये उसकी जीनोम संरचना के अनुसार तैयार की जायेंगी।"

डायबेटीज में प्रयोग होने वाली इन्सुलिन भी इस प्रक्रिया द्वारा बनाने पर सस्ती और ज्यादा मात्रा में उपलब्ध रहेगी। इसी प्रकार आण्विक विधि द्वारा तैयार स्ट्रेप्टोकाइनेज, जो कि हृदय रोग में काम आती है, बनायी जा सकेगी।

जीन थिरैपी :– इस समय तक 3000 से ज्यादा ऐसा बीमारियाँ हैं जो या तो किसी जरूरी जीन की अनुपस्थिति से होती हैं या तो फिर उसकी संरचना में किसी विकार के कारण होती हैं। कभी कभी ये जीन के जरूरत से ज्यादा काम करने से भी होती हैं। आज तक इनमें से कुछ ही बीमारियाँ ऐसी हैं जिनका इलाज उपलब्ध है जिसमें जीन द्वारा बनाये जाने वाले पदार्थ के बाहर के दवा के रूप में देकर "जैसे इन्सुलिन", बीमारी को नियंत्रण में ला सकते हैं। परन्तु ज्यादातर में या तो पदार्थ शरीर से बाहर बनाये नहीं जा सकते, या बाहर से देने पर कोशिकाओं के अन्दर नहीं जा पाते और नष्ट हो जाते हैं। परन्तु अब जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से हम विकृत या अनुपस्थित जीन को पहचान सकते हैं। उसे काट कर निकाल कर बाहर से उसकी जगह स्वस्थ जीन को जीनोम से जोड़ा जा सकता है। इस प्रक्रिया को जीन थिरैपी कहते हैं।

किसी मरीज में विकृत जीन की पहचान करने के बाद उसको तीन प्रकार से ठीक कर सकते हैं :

1. जीन रिप्लेसमेन्ट : विकृत जीन को निकाल कर उसकी जगह स्वस्थ जीन को लगाया जा सकता है।

2. जीन करेक्शन : जीन में आण्विक विकारों को थोड़ा परिवर्तित करके उसे ठीक किया जा सकता है।

3. जीन आगुमेन्टेशन : इसमें कोशिका में विकृत जीन के साथ एक पूर्ण कार्य करने वाली स्वस्थ जीन को डाल देते हैं जो स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करती है और विकारों को दूर कर देती है।

जीन थिरैपी में प्रयुक्त होने वाली कई प्रकार की कोशिकायें होती हैं–

– बोन मैरो (अस्थि मज्जा) में स्टेम सेल
– हिपैटोसाइट्स
– मसल सेल्स
– स्किन – डेप्ट ऑफ कागुलेशन फैक्टर 9

– सी0एन0एस0 – पार्किन्सन डिजीज, एल्जाइमर डिजीज

– कैन्सर सेल्स – पी 53 जीन को बाहर से डाला जा सकता है। ये कैन्सर कोशिकाओं के विभाजन को रोकती हैं और ट्यूमर को कम करती हैं।

प्रत्यारोपित अंगों की प्रक्रियायें :– कई प्रक्रियायें अपनाई गयी हैं। सबसे नई प्रक्रिया के अनुसार ग्राफ्ट को नष्ट करने वाली कोशिकाओं के कार्य को परिवर्तित कर देते हैं। (इम्यूनोमाडुलेशन ऑफ़ टी–लिम्फोसाइट्स)

एड्स में जीन थिरैपी :– यह कोशिकाओं में वाइरस के प्रजनन को रोकती है और इस तरह शरीर की रक्षा करने वाली कोशिकाओं के नष्ट होने से बचाती है। (डी 4 प्लस टी लिम्फोसाइट्स)।

एन्जियोजेनेसिस तथा जीन थिरैपी :– हृदय रोग से ग्रसित 40 प्रतिशत मरीजों में अभी तक प्रचलित इलाज की तकनीकों द्वारा पूरा आराम नहीं मिलता और रक्त धमनियाँ फिर से बन्द हो जाती हैं। ऐसे मरीजों में (1) वैस्कुलर इन्डोथीलियल ग्रोथ फैक्टर को जैव तकनीक से ज्यादा मात्रा में बना दिया जा सकता है या फिर (2) मांसपेशियों में इन्जेक्शन द्वारा इस पदार्थ को बनाने वाली जीन को देकर मरीज के शरीर में इसका बनना बढ़ा सकते हैं।

बचाव : जैव तकनीक से सस्ते और ज्यादा असरदार टीके बनाये जा सकते हैं जो कि कई प्रकार के संक्रामक रोगों की रोकथाम में मदद करेंगे। अभी उपलब्ध ज्यादातर टीके मनुष्य के प्लाज्मा (रक्त का तरल भाग) से बनते हैं इसलिये कम मात्रा में उपलब्ध होते हैं, मँहगे होते हैं और कभी कभी साइड इफेक्ट भी हो सकते हैं परन्तु आण्विक विधि द्वारा बनाये गये टीके किसी प्रकार की बीमारी के लिये विशिष्ट होंगे, ज्यादा मात्रा में उपलब्ध होंगे, शुद्ध होंगे और सस्ते भी होंगे। हिपेटाइटिस–बी एक खतरनाक बीमारी है। इसकी रोकथाम के लिये भी टीके उपलब्ध हो जायेंगे। रेबीस और टायफाइड जैसी बीमारियों के टीके कम मात्रा में उपलब्ध हैं और मँहगे भी हैं। जैव तकनीक के प्रयोग से ये टीके बड़ी मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे और सस्ते भी होंगे।

डी०एन०ए० वैक्सीन :– विभिन्न बीमारियों से बचाव करने वाले पदार्थों के जीन को इन्जेक्ट किया जायेगा। इसका परिणाम प्रोटीन टीकों से ज्यादा अच्छा होगा। ये बीमारियाँ हैं– इन्फलुएन्जा, हर्पीस, पैपीलोमा, मलेरिया, काला आजार। आजकल सब्जियों और अनाजों में बाहर से जीन डालकर उनमें विभिन्न पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ाई जा सकती है जिससे एनीमिया इत्यादि बीमारियों से बचा जा सकता है।

क्लोनिंग : मानव जीनोम के अनुक्रम के रहस्योद्घाटन के बाद क्या अन्य जानवरों की तरह मानव की भी क्लोनिंग की जा सकती है, या जीन में हेर–फेर किया जा सकता है ? क्या जैव प्रौद्योगिकी एक ऐसी फैक्ट्री बनाने में सहायता करेगी जहाँ इच्छानुसार मानव जाति के विभिन्न क्लोन बनाये जा सकेंगे (जैसे किसी कार फैक्ट्री में नये मॉडल आते हैं) ? वैज्ञानिकों के अनुसार, सैद्धान्तिक रूप से हाँ, लेकिन सम्भावनायें बहुत कम हैं। जीन की विभिन्न भूमिकाओं को नियंत्रित करना असम्भव है। क्लोनिंग किसी व्यक्ति को जिन्दा नहीं कर सकती। क्लोनिंग से हूबहू वही व्यक्ति नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जीन पर पर्यावरण का असर भी पड़ता है। दूसरे शब्दों में, जीन क्षमता को परिभाषित करती हैं लेकिन पर्यावरण से तय होता है कि क्षमता का पूरा इस्तेमाल हो। उदाहरणतः एक व्यक्ति की जीन में क्षमता हो सकती है उसे पहलवान बना दे या विद्वान बना दे परन्तु खान–पान न मिले या पढ़ाई का माहौल न मिले तो वह पहलवान या विद्वान कैसे बनेगा ?

शेष पृष्ठ 26 पर

भूकम्प का गणित

डॉ0 आशुतोष मिश्र

विज्ञान के मार्च अंक में गुजरात में आये भूकम्प से सम्बद्ध आवरण कथा दी गई थी। अब भूकम्प के आकार, तीव्रता, आवेग, ऊर्जा के विषय में गंभीर विवेचन प्रस्तुत है – संपादक।

भूकम्प का आकार मापन :

भूकम्पों के आकार विस्तृत परास के होते हैं। इद्राहो की चाँदी की खान में होने वाला विस्फोट एक चट्टान में 1 मीटर की दरार पैदा कर सकता है। 1965 में एलुटियन आर्क में रैट द्वीप के भूकम्प का प्रभाव भूपर्पटी की 650 किमी लम्बाई तक था। भूकम्पों का आकार इनसे भी छोटा या बड़ा हो सकता है। यदि किसी भूकम्प से भूमि सतह पर कोई नुकसान दृष्टिगत होता है तो इसकी तीव्रता का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु अनेक बड़े भूकम्प महासागरीय क्षेत्रों में आते हैं अथवा उनके उद्गम केन्द्र बहुत अधिक गहरे होते हैं और वे साधारणतः अनुभव नहीं किये जाते अथवा उनके संकेतों से उनके वास्तविक आकार का निर्धारण नहीं हो पाता।

आज के समुन्नत भूकम्पमापी यंत्रों द्वारा टेलीफोन लाइनों व उपग्रहों के माध्यम से आँकड़े सीधे केन्द्रीय अंकीय अभिकलित्रों को भेजे जाते हैं। भूकम्प की प्रारम्भिक स्थिति, उद्गम केन्द्र की गहराई और परिमाण की जानकारी भूकम्प आने के कुछ ही मिनटों बाद ज्ञात हो जाती है। यह मात्र इस बात पर निर्भर करता है कि भूकम्प के अधिकेन्द्र (Epicentre) से भूकेन्द्रों तक पँहुचने में पृष्ठीय तरंगों को कितना समय लगता है। यह समय सामान्यतः 10 मिनट से कम होता है।

रिक्टर परिमाण स्केल :

इसका विकास 1935 में चार्ल्स फ्रांसिस रिक्टर द्वारा किया गया। यह भूकम्पों के आकार की तुलना करने की गणितीय युक्ति है। भूकम्प का परिमाण भूकम्पमापी द्वारा रिकार्ड किये गये तरंगों के आयाम से ज्ञात किया जाता है। भूकम्प के अधिकेन्द्र तथा विभिन्न स्टेशनों पर स्थापित भूकम्पमापियों के बीच की दूरी के लिये समायोजन कर लिया जाता है। रिक्टर स्केल में परिमाण को पूर्ण संख्या तथा दशमलव अंशों के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, परिमाण 5.3 से मध्यम भूकम्प को और परिमाण 6.3 से प्रबल भूकम्प को दर्शित किया जाता है। इस तरह परिमाण मे प्रत्येक इकाई वृद्धि से आयाम में 10 गुना वृद्धि होती है जबकि परिमाण में इकाई वृद्धि से ऊर्जा उन्मोच में लगभग 31 गुनी वृद्धि होगी। पहले रिक्टर स्केल एक ही निर्माता द्वारा तैयार यंत्रों पर लागू होता था किन्तु अब विभिन्न यन्त्रों को एक दूसरे के सापेक्ष अंशांकित कर लिया गया है।

2.0 से कम आयाम वाले भूकम्प, सूक्ष्म भूकम्प (Micro Earthquakes) कहलाते हैं। इन्हें लोग जान नहीं पाते, केवल स्थानीय भूकम्पलेखी ही रिकार्ड करते हैं। किन्तु 4.5 से अधिक परिमाण वाले भूकम्पों को विश्वभर में भूकम्पलेखियों पर रिकार्ड किया जाता है। विशाल भूकम्पों का परिमाण 8.0 या इससे अधिक

होता है। प्रायः ऐसा भूकम्प विश्व के किसी न किसी कोने पर प्रतिवर्ष आता रहता है। यद्यपि रिक्टर स्केल की कोई ऊपरी सीमा नहीं है किन्तु अभी तक 8.8–8.9 से अधिक परिमाण के भूकम्प नहीं आये। समुद्र के भीतर आये इतने बड़े भूकम्पों का पता भी नहीं चल पाता। स्मरण रहे कि रिक्टर स्केल का प्रयोग क्षति बताने के लिये नहीं किया जाता। 1902 में इटली के भूकम्पविद गिउसेप्पे मरकैली (Giuseppe Mercalli) ने एक 12–स्तरीय पैमाना तैयार किया था। इससे भूकम्प के समय दोलन की तीव्रता नापी जाती है और इसका मूल्यांकन होने वाली क्षति का जायजा लेकर तथा बचे लोगों के अनुभव के आधार पर की जाती है। चूँकि जगह जगह पर दोलन की तीव्रता भिन्न रहती है अतः एक ही भूकम्प के लिये विभिन्न मरकैली मूल्यांकन प्राप्त हो सकते हैं। *(विज्ञान मार्च अंक में इस स्केल का विवरण छप चुका है –संपादक)*

रिक्टर स्केल किसी भूकम्प के अधिकेन्द्र पर उसके परिमाण को नापता है इसलिये इससे केवल एक माप मिलती है। परिमाण का आकलन भूकम्प के दौरान विमुक्त ऊर्जा की मात्रा से किया जाता है। 1930 के दशक में रिक्टर को प्रतिवर्ष लगभग 200 भूकम्पों को सारणीबद्ध करना पड़ा था इसीलिये वह ऐसा साधन जुटाना चाहता था जिससे मात्रात्मक मापन हो सके।

यद्यपि रिक्टर का नाम आज इस स्केल के कारण अमर हो गया किन्तु उनके सहयोगी गुटेनबर्ग ने इस कार्य में कम सहयोग नहीं दिया।

परिमाण (Magnitude)

आधुनिक भूकम्पलेखी तंत्र भू–पृष्ठीय गतियों को आवर्धित करके समय के फलन के रूप में शुद्धतापूर्वक अभिलेखित करते हैं। ये आवर्धित अभिलेख निकट व दूर के भूकम्पों के आने के समय आँकड़ों के स्रोत होते हैं। यद्यपि भूकम्पलेख का प्रयोग 1890 से किया जा रहा है किन्तु 1930 में जाकर चार्ल्स रिक्टर ने पहली बार भूकम्प परिमाण की संकल्पना प्रस्तुत की। उनकी मूल परिभाषा एक विशेष प्रकार के भूकम्पलेखी (वुड्स ऐंडर्सन मरोड यंत्र) के लिये कैलिफार्निया के भूकम्पों के लिये सत्य थी जो 600 किमी की दूरी तक आये हों। उनका मूल विचार अति सरल था। भूकम्प से भूकम्पलेखी की दूरी तथा अभिलेखित संकेतों का अधिकतम आयाम ज्ञात होने पर भूकम्प का आकार एवं तीव्रता का निर्धारण विभिन्न श्रेणियों में किया जा सकता है। कैलिफोर्निया में अधिकांश भूकम्प ऊपरी 16 किमी की पपड़ी में आते हैं, इसलिये प्राथमिक अनुमानों के पश्चात् भूकम्प के उद्‌गम केन्द्र की गहराई के निर्धारण में सुधार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

तत्पश्चात् रिक्टर के मूल परिमाण पैमाने (M_L) को शून्य से 700 किमी तक की किसी भी दूरी और उद्‌गम केन्द्र के लिये विस्तार दिया गया। भूकम्प से पृथ्वी के भीतर जाने वाली तथा पृथ्वी से होकर चलने वाली दोनों प्रकार की अन्तस्थ तरंगें उत्पन्न होती हैं और ऊपरी सतह से गुजरने वाली सतह तरंगें भी उत्पन्न होती हैं, इसलिये दो प्रकार के परिमाण पैमाने M_b व M_s निर्धारित किये गये।

प्रामाणिक अन्तस्थ–तरंग परिमाण का सूत्र है :

$$M_b = \log_{10}(A/T) + Q(D,h)$$

जहां A भू–गति का आयाम (माइक्रान में), T समय सेकेंड में तथा Q(D,h) सुधार गुणक है जो उद्‌गम केन्द्र तथा मापन केन्द्र के बीच की दूरी D (अंश) तथा उद्‌गम केन्द्र की गहराई h का फलन होता है।

प्रामाणिक सतह–तरंग परिमाण का सूत्र है :

$$M_s = \log_{10}(A/T) + 1.66\log_{10}(D) + 3.30$$

विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों के अनुसार इन सूत्रों

में अनेक परिवर्तन किये गये हैं जिससे अंतिम गणना के पश्चात् निर्धारित परिमाण रिक्टर स्केल की मूल परिभाषा के अनुरूप हो।

बड़े भूकम्पों के आने की आवृत्ति की सामान्य जानकारी निम्नलिखित सारणी से प्राप्त की जा सकती है :

M_s	भूकम्प प्रति वर्ष
8.5–8.9	0.3
8.0–8.4	1.1
7.5–7.9	3.1
7.0–7.4	15
6.5–6.9	56
6.0–6.4	210

यह सारणी पिछले 47 वर्षों के आँकड़ो पर आधारित है। भूकम्पों के आने की दर अत्यंत परिवर्तनशील है तथा किन्हीं दूसरे 47 वर्षों की अवधि के लिये यह सारणी बिलकुल अलग हो सकती है। मूल M_b पैमाने में 4 से 5 सेकेंड आवर्तकाल के संपीडित अन्तस्थ P तरंगों के आयाम का उपयोग किया गया है जबकि हाल के प्रेक्षणों में सामान्यतः 1 से. आवर्तकाल की P तरंगे हैं। M_s पैमाने में 18 से 22 सेकेंड आवर्तकाल की रैले सतह तरंगों का लगातार प्रयोग होता रहा है।

आरम्भ में ये परिमाण पैमाने समतुल्य समझे जाते थे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक आकार के भूकम्पों द्वारा विकिरित ऊर्जा विभिन्न समयान्तरालों के लिये निश्चित मानी जाती थी। किन्तु यह पाया गया कि बड़े भूकम्प जिनसे प्रभावित सतह बड़ी होती है क्रमशः अधिक अवधि तक ऊर्जा विकिरित करते हैं। इस प्रकार बहुत बड़े भूकम्पों के लिये अंतस्थ तरंग परिमाण द्वारा भूकम्प के आकार का वास्तविक निर्धारण नहीं हो सकता। इनका अधिकतम मान 6.5–6.8 तक होता है।

सतह तरंग परिमाण विशाल भूकम्पों का निर्धारण कम करते हैं। इनका अधिकतम प्राप्त मान 8.3 से 8.7 तक है। कुछ प्रेक्षकों ने सुझाव दिया है कि बड़े भूकम्पों के मापन हेतु 100 सेकेंड मैंटल लोव तरंगों का उपयोग किया जाना चाहिये। यद्यपि इस विधि में भी इस तथ्य का ध्यान नहीं दिया जाता है कि ढाँचों को बहुधा कम आवर्त काल में निस्सृत ऊर्जा से अधिक हानि होती है। अतः आधुनिक भूकम्पविज्ञानी तेजी से दो अलग अलग प्राचलों द्वारा भूकम्प के भौतिक प्रभाव का निर्धारण करने की ओर बढ़ रहे हैं– भूकम्पीय आवेग तथा विकिरित ऊर्जा।

भ्रंश ज्यामिति तथा भूकम्पीय आवेग M_o:

भ्रंश का चक्रण, भ्रंश गति की दिशा तथा भूकम्प के आकार को भ्रंश ज्यामिति और भूकम्पीय आवेग के द्वारा समझा जा सकता है। भूकम्प के कारण भूकम्पलेखी द्वारा प्राप्त तरंगरूपों के विश्लेषण से ये प्राचल निर्धारित किये जाते हैं। अलग अलग दूरियों पर प्राप्त अलग अलग तरंग रूपों की गति की दिशा व आकारों द्वारा भ्रंश ज्यामिति निर्धारित होती है और आवेग की गणना तरंगों के आयाम के द्वारा होती है। भूकम्प आवेग का भ्रंश प्रक्रम के आधारभूत प्राचलों से सम्बन्ध इस प्रकार है :–

$$M_o = \mu S \langle d \rangle$$

जहां μ भ्रंश शैल की कर्तन क्षमता और S भ्रंश का क्षेत्रफल है और $\langle d \rangle$ भ्रंश का औसत विस्थापन है। क्योंकि भ्रंश ज्यामिति और प्रेक्षक दिगंश गणना के अंग हैं, अतः आवेग, परिमाण की तुलना में भूकम्प का आकार मापने हेतु उपयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त आवेग की उच्च सीमा नहीं होती। इन तथ्यों के कारण एक नये परिमाण पैमाने को परिभाषित किया गया जो भूकम्प आवेग पर आधारित है :–

$$M_w = 2/3 \log_{10} M_o - 10.7$$

अब तक जिन दो सबसे विशाल भूकम्प आवेगों की सूचना है उनमें चिली का 1960 का भूकम्प (आवेग 2.5 x 10^{30} डाइन सेमी) (M_s 8.5, M_w 9.6) तथा अलास्का का 1964 का भूकम्प (आवेग 7.5 x 10^{29} डाइन सेमी) (M_s 8.3, M_w 9.2) हैं। आवेग के 10^{28} से 10^{29} डाइन सेमी के मान के लिये M_s अपना उच्चतम मान प्राप्त कर लेता है।

ऊर्जा E

किसी भूकम्प से विकिरित ऊर्जा का मापन मानवनिर्मित भवनों के ध्वंस के अनुसार होता है। इसकी गणना आवृत्तियों के एक विशाल परास के लिये भूकम्प के कारण किसी भ्रंश से गुजरने वाले ऊर्जा फ्लक्सों के योग द्वारा की जाती है। यांत्रिक सीमाओं के कारण ऊर्जा के अधिकांश अनुमान गुटेनबर्ग और रिक्टर द्वारा विकसित संबंध पर आधारित हैं –

$$\log_{10}E = 11.8 + 1.5 M_s$$

जहां E अर्ग में व्यक्त ऊर्जा की मात्रा है। इस विधि में यह न्यूनता है कि M_s की गणना 18 से 22 सेकेंड की बैंड चौड़ाई हेतु की जाती है।

अब यह ज्ञात हो चुका है कि किसी भूकम्प से विकिरित ऊर्जा उच्च आवृत्तियों वाले अन्य बैंडों पर केन्द्रित होती है। विश्व भर में फैले भूकम्पमापी केन्द्रों में लगे हुये उच्च आवृत्तिबंध वाले अत्याधुनिक अंकीय भूकम्पलेखियों के कारण अब सभी प्रमुख भूकम्पों से उत्पन्न ऊर्जा की सटीक गणना करना संभव हो चुका है। भूकम्प से उत्पन्न ऊर्जा के आधार पर परिमाण को भी परिभाषित किया जा सकता है –

$$Me = 2/3\log_{10}E - 9.9$$

परिमाण की प्रत्येक इकाई वृद्धि के लिये, विकिरित ऊर्जा में 32 गुना वृद्धि होती है।

यद्यपि Me और M_w दोनों ही परिमाण पर आधारित M_w द्वारा भूकम्प द्वारा प्रभावित क्षेत्रफल की गणना की जाती है जबकि उच्च आवृत्ति के भूकम्पीय आँकड़ों की गणना से प्राप्त Me से भूकम्पीय क्षति का अनुमान लगाया जाता है। इसी कारण M_w और Me दोनों के अंकीय मान समान नहीं होते हैं।

तीव्रता/उग्रता (Intensity)

कम गहराई वाले उथले भूकम्प के परिमाण में इकाई वृद्धि के कारण सतह के हिलने में होने वाली वृद्धि की दर अभी अज्ञात है। भूकम्प की तीव्रता स्थानीय त्वरणों एवं उनकी अवधि पर निर्भर होती है। इस प्रकार परिमाण और तीव्रता दोनों अनेक चरों पर निर्भर होते हैं जिनमें शैलों के टूटने के प्रकार और भूकम्प के स्थान से ग्राही तक ऊर्जा के संचरण का माध्यम भी सम्मिलित है।

भूकम्प परिमाण व तीव्रता के आँकड़ों द्वारा विभिन्न गणनाओं में त्रुटियों के निर्धारण में ये सभी कारक अभियंताओं के लिये समस्याजनक होते हैं।

स्थानीय मृदा परिस्थिति भूकम्प की स्थानीय तीव्रता को किस प्रकार प्रभावित करती है इसका एक उदाहरण मेक्सिको सिटी में 1985 में आये भूकम्प (M_s 8.1) से हुआ प्रलयंकारी नुकसान है जिसका केन्द्र लगभग 300 किमी दूर स्थित था। मेक्सिको सिटी के कुछ हिस्सों में मिट्टी से पटी बेसिन के अनुनादों ने भू गति को 2 सेकेंड के लिये 75 गुना आवर्धित कर दिया। इन झटकों के कारण 15 से 20 मंजिली इमारतें (जिनका अनुनाद काल समान था) धराशायी हो गयीं जिनसे 4 खरब अमेरिकी डालर के बराबर क्षति हुई तथा 8000 मनुष्यों की मृत्यु हुई। भूकम्प की उत्पत्ति एक जटिल भौतिक प्रक्रिया है। जब कोई भूकम्प आता है तो उपलब्ध स्थानीय प्रतिबल का अधिकांश भाग भूकम्प विभंग वृद्धि को शक्ति प्रदान

सूफी कवि मुहम्मद जायसी द्वारा भूकम्प का वर्णन

आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व जायस (उत्तर प्रदेश) निवासी अवधी के सिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भूकम्प का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त हृदयग्राही है। इसमें धरती के साथ आकाश के घूमने और पर्वतों के गिरने का सजीव चित्रण हुआ है।

भा औतार मोर नौ नदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी
आवत उधत चार बड़ ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना
धरती दीन्ह चक्र विधि भाईं। फिरै अकास रहट की नाईं
गिरि पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला
मिरित लोक जेहि रचा हिंडोला। सरग पताल पवन घट डोला
धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिसि हठानी
जो अस खंभहिं पाइकै सहस जीब गहिराइं
सो अस कीन्ह मुहम्मद तो अस बपुरे काइं (4)

(आखरी कलाम से)

जायसी का जन्म 900 हिजरी यानी सन् 1494 में हुआ। 6 जुलाई 1505 ई0 में एक भूकम्प आया था। बदायूँनी ने इस भूकम्प का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि समूचे हिन्दुस्तान में यह भूकम्प आया। इससे पहाड़ियाँ हिलने लगीं, ऊँचे ऊँचे मकान धूल में मिल गये, बहुत स्थानों पर धरती फट गई। लोग समझते थे कि कयामत का दिन आ गया। अवश्य ही यह जायसी के बचपन का भूकम्प था।

करता है जिससे भूकम्पीय तरंगों की उत्पत्ति के स्थान पर ऊष्मा उत्पन्न होती है। भूकम्पीय तंत्र की सम्पूर्ण ऊर्जा का संभवतः 10 प्रतिशत से लेकर 1 प्रतिशत से कम भाग ही अंततः भूकम्पीय ऊर्जा के रूप में विकिरित होता है। इसलिये भूमि की उपलब्ध स्थितिज ऊर्जा में भूकम्प के कारण जो कमी आती है उसका एक छोटा भाग ही विकिरित भूकम्पीय ऊर्जा के रूप में दिखाई पड़ता है।

भूकम्प की गहराई का निर्धारण :

भूकम्प पृथ्वी की सतह से 700 किमी तक की गहराई तक कहीं भी आ सकते हैं। वैज्ञानिक कारणों से इस भूकम्पीय गहराई के शून्य से 700 किमी के विस्तार को तीन मण्डलों में विभक्त किया गया है –उथले, माध्यमिक एवं गहरे।

शून्य से 70 किमी तक के भूकम्प उथले कहे जाते हैं, 70 से 300 किमी तक गहराई वाले माध्यमिक तथा 300 से 700 किमी तक के भूकम्प गहरे कहलाते हैं। सामान्यतः 70 किमी से अधिक गहरे भूकम्प को उद्गम वाले भूकम्प (Deep Focus Earthquake) कहा जाता है। 70 किमी से अधिक गहरे सभी भूकम्प उथले स्थल मंडल के विशाल पट्टों में अवस्थित होते हैं जो पृथ्वी के प्रावार में तैर रहे हैं।

1922 में आक्सफोर्ड, इंगलैण्ड के एच.एच. टर्नर ने गहरे उद्गम वाले भूकम्पों के प्रमाण खोजे। आरम्भ में सभी भूकम्पों को उथले केन्द्र का समझा जाता था। 1931 में कई भूकम्पों के भूकम्प लेखों के अध्ययन से गहन उद्गम वाले भूकम्पों की पुष्टि हुई जिससे कालान्तर में गहरे व माध्यमिक भूकम्पों के लिये

गमन काल वक्र निर्मित किये जाने लगे।

बड़े भूकम्पों का उद्‌गम केन्द्र गहरा होता है इस बात का सर्वाधिक उपयुक्त संकेत भूकम्पलेखी में अभिलेखित सतह तरंग का लघु आयाम अथवा ऊँचाई और P तथा S तरंगों का सरल स्वरूप है यद्यपि पृष्ठीय तरंग प्रारूप सामान्यतः भूकम्प की उथली या मध्यम गहराई वाला दर्शाता है। भूकम्प की गहराई नापने की निकटतम विधि भूकम्पलेखी की गहराई कला का पाठन है। गहराई कला भूमि सतह से परावर्तित तरंग का अधिकेंद्र के पास के बिंदु पर अभिलाक्षणिक कला pP - aP तरंग है।

दूरस्थ भूकम्पलेखी केन्द्रों पर pP, P तरंग का अनुगमन करती है जिसका समयांतराल दूरी के अनुसार धीमे किन्तु गहराई के अनुसार तेजी से परिवर्तित होता है। यह समयांतराल pP-P उद्‌गम केन्द्र की गहराई की सारणी का मापन करने में प्रयुक्त होता है। भूकम्पलेखी pP-P के समय के अंतर का प्रयोग करके तथा आँकड़ो और गमन काल द्वारा भूकम्प की गहराई की गणना होती है।

उद्‌गम गहराई के मापन हेतु एक और तरंग का प्रयोग किया जाता है जो अभिकेंद्र के पास के भूमि सतह के बिंदु से परावर्तित S तरंग से उत्पन्न sP कला है। इस तरंग का अंकन pP तरंग से pP -P के आधे समयांतराल के बाद होता है। भूकम्प की गहराई sP कला द्वारा उसी प्रकार ज्ञात हो सकती है जैसे pP कला का उपयोग करके उपयुक्त गमन काल वक्र या गहराई सारणी से ज्ञात करते है।

भूकम्पलेखी से यदि pP तथा sP तरंगों की पहचान की जा सके तो उद्‌गम केन्द्र की गहराई की अचूक गणना हो सकती है।

भूकम्प परिमाण मापने के इतने पैमाने क्यों हैं ?

भूकम्प मापन के रिक्टर पैमाने के बारे में सभी लोग सुनते आये हैं किन्तु वे इसे ठीक से समझ नहीं पाते। इससे भी बड़ी समस्या यह है कि विभिन्न भूकम्पमापी पैमानों एवं मूल रिक्टर पैमाने के बीच के सम्बंध और भी कम समझ में आते हैं। चार्ल्स रिक्टर ने 1930 में सर्वप्रथम दक्षिणी कैलीफोर्निया में आने वाले भूकम्पों को मापने के लिये लघुगणकीय भूकम्प परिमाण (Magnitude) मापी पैमाने का विकास किया जिससे उन्होंने निकटवर्ती भूकम्पलेखी केन्द्रों से प्राप्त उच्च आवृत्ति आँकड़ों की सहायता ली थी। इस परिमाण पैमाने को M_L (Magnitude Local) कहा गया, जहाँ L स्थानीय परिमाण को व्यक्त करता था। बाद में इसे रिक्टर परिमाण कहा जाने लगा।

जैसे जैसे विश्व में अनेक भूकम्पलेखी केंद्र बनते गये यह अनुभव किया जाने लगा कि रिक्टर द्वारा निर्धारित विधि निश्चित आवृत्तियों एवं दूरियों के लिये ही कारगर है। विश्व के विभिन्न भागों में फैले

विश्व में 1900 से अब तक आये 10 सबसे बड़े भूकम्प

तिथि	UTC	परिमाण	निर्देशांक
1960	0522	9.5 Mw	38.2 S 72.6 W
1964	0328	9.2 Mw	61.1 N 147.5W
1952	1104	9.0 Mw	52.75 N 159.5 E
1906	0131	8.8 Mw	1.0 N 81.5 W
1957	0309	8.8 Mw	51.3 N 175.8 W
1958	1106	8.7 Mw	44.4 N 148.6 E
1965	0204	8.7 Mw	51.3 N 178.6 E
1950	0815	8.1 Mw	28.5 N 96.5 E
1922	1111	8.5 Mw	28.5 S 71.0 W
1938	0201	8.5 Mw	5.25 S 130.5 E

रिक्टर : एक परिचय

चार्ल्स फ्रांसिस रिक्टर का जन्म 26 अप्रैल 1900 का हैमिल्टन, ओहियो के निकट एक फार्म में हुआ था। 16 वर्ष की उम्र में वे अपनी माँ के साथ लास एंजिल्स चले गये। पहले उन्होंने दक्षिणी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में और बाद में स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में भौतिकी का अध्ययन किया। 1928 में उनका विवाह लिलियन ब्रांड से हुआ। उसी वर्ष उन्होंने सैद्धान्तिक भौतिकी पर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इनके कोई सन्तान नहीं थी।

रिक्टर 1936 से 1970 तक कैलटेक की भूकम्प प्रयोगशाला में भूकम्प के प्रोफेसर रहे। शिक्षा के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसमें उनके द्वारा लिखित प्रारम्भिक भूकम्प विज्ञान (Elementary Seismology-1958) अपने विषय का एक विशद ग्रंथ है। उनकी मृत्यु 30 अप्रैल 1985 को एल्टाडेना, कैलीफोर्निया में हुई।
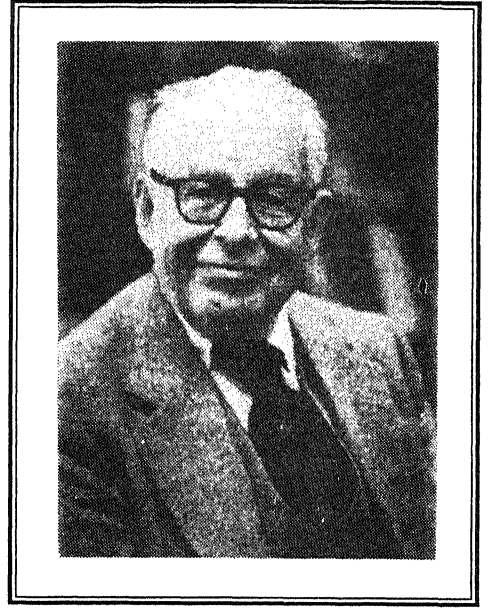
केन्द्रों के लिये नये परिमाण पैमाने तैयार हुये जो मूल रिक्टर पैमाने के विस्तार थे। इनमें अंतरस्थ तरंग परिमाण (Body Wave Magnitude) तथा पृष्ठ तरंग परिमाण (Surface Wave Magnitude) शामिल है। प्रत्येक पैमाना केवल निश्चित आवृत्ति परास तथा भूकम्पीय संकेतों के लिये सत्य है। अपनी निर्धारित सीमा में ये सभी पैमाने रिक्टर पैमाने के तुल्य है।

इन तीनों पैमानों ML, Mb, Ms की सीमित स्थितियों के कारण एक नया और अधिक समान रूप से उपयोग किये जाने वाले परिमाण पैमाने का विकास किया गया जिसे आवेग परिमाण Mw कहते हैं। आवेग परिमाण विशेष रूप से बड़े भूकम्पों के लिये सर्वाधिक विश्वसनीय माप करता है। आधुनिक दूर संचार का लाभ लेकर जो नई तकनीकें विकसित हुई हैं वे भूकम्पों के आवेग परिमाण की अनुमानित तीव्रता शीघ्रता से जनसंचार माध्यमों को उपलब्ध करा देती हैं।

परिमाण/तीव्रता की तुलना

परिमाण और तीव्रता भूकम्प के अलग अलग अभिलक्षणों की मापें है। परिमाण, भूकम्प के उद्‌गम स्थल से निकली ऊर्जा की मात्रा को व्यक्त करता है। यह भूकम्पलेखी द्वारा मापे गये आँकड़ो द्वारा निर्धारित किया जाता है।

तीव्रता भूकम्प के कारण किसी स्थान पर अनुभव किये गये झटकों को मापती है। तीव्रता का निर्धारण भूकम्प का मनुष्यों, भवनों व प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़े प्रभाव के आधार पर होता है।

प्लेनो, टेक्सास
यू.एस.ए.

भारत में स्टीफेन हाकिंग

डा० शिवगोपाल मिश्र

विश्व के सुप्रसिद्ध भौतिकशास्त्री स्टीफेन हाकिंग का भारत आगमन इक्कीसवीं सदी की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। वे 21 जनवरी 2001 को दिल्ली में आइंस्टाइन–2001 व्याख्यान देने आये थे। कहते हैं कि वे अपनी पुस्तक "ए ब्रीफ हिस्ट्री आफ टाइम" (1988) के कारण सुप्रसिद्धि के शीर्ष पर पहुँच सके। 1990 तक इस पुस्तक की 80 लाख प्रतियाँ बिक चुकी थीं और अब हिन्दी में भी इसका अनुवाद हो चुका है। हाकिंग आइंस्टीन के बाद दूसरे अति प्रतिभाशाली भौतिकीविद् हैं। श्रीमती किटी फर्गुसन ने बड़े ही परिश्रम से हाकिंग का जीवन चरित लिखा है। वे हाकिंग को "थ्योरी ऑफ एव्रीथिंग" (Theory of Everything) के खोजी के रूप में देखती हैं।

1988 में ही हाकिंग को ब्रह्माण्ड का ज्ञाता (Master of Universe) कहा जा चुका है। यह भी कहा गया है कि हाकिंग के जीवन में मात्र आकाश ही कोई सीमारेखा नहीं। वे दिक्काल के जादूगर हैं। कुछ लोगों ने जिज्ञासा प्रकट की है "क्या हाकिंग ब्रह्माण्ड का रहस्य ढूँढ पाने तक जीवित रहेंगे ?" उत्तर होगा – शायद।

आइये, इनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में विचार करें, यद्यपि हाकिंग नहीं चाहते कि कोई उनका जीवनचरित लिखे। वे तो यही चाहते हैं कि लोग उस विज्ञान को जानें जिसका उन्होंने उद्घाटन किया है– "रिक्त आकाश रिक्त नहीं है और श्याम विवर श्याम नहीं है।" उनका "हर वस्तु का सिद्धान्त" सर्वसुलभ है।

स्टीफेन हाकिंग का पूरा नाम स्टीफेन विलियम हाकिंग है। उनका जन्म 8 जनवरी 1942 को इंगलैण्ड के आक्सफोर्ड नगर में हुआ। हाकिंग का कथन है कि उनका जन्म गैलीलियो की मृत्यु के ठीक 300 वर्ष बाद हुआ किन्तु तब गैलीलियो को लोग भूल चुके थे। उनके पिता फ्रैंक यार्कशायर के एक कृषक के पौत्र थे। इनकी माता स्काटलैंड के ग्लास्गो शहर के एक डाक्टर की पुत्री थीं– नाम था ईसोबेल। फ्रैंक द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पूर्वी अफ्रीका में डाक्टर थे किन्तु बाद में इंगलैण्ड चले आये। माता ईसोबेल आक्सफोर्ड की स्नातक थीं। स्टीफेन अभी 8 वर्ष के थे कि उनके माता–पिता सेंट ऐल्बान चले आये जो लन्दन के उत्तर में है। स्टीफेन के दो बहनें मैरी तथा फिलिप्पा तथा एक छोटा भाई एडवर्ड था। उनके घर में पुस्तकों का ढेर था। जब वे ग्यारह वर्ष के थे तो उनके माता–पिता ने उन्हें प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल वेस्ट मिनिस्टर में भेजने का निश्चय किया। यह लन्दन के बीचोबीच स्थित था। किन्तु बीमार हो जाने से स्टीफेन वहाँ न पढ़ सके। उन्हें सेंट ऐल्बान के ही स्कूल में पढ़ना पड़ा। पिता उन्हें डाक्टर बनाना चाहते थे किन्तु उन्हें प्राणिविज्ञान में रुचि न थी। वे चाहते थे कि ऐसा विषय पढ़ें जिसमें सही उत्तर मिल सके और वे प्रश्नों की तह तक पहुँच सकें। चौदह वर्ष की आयु में स्टीफेन की इच्छा गणित, उच्च गणित तथा भौतिकी जानने की हुई। किन्तु उनके माता–पिता इसे अव्यवहारिक बताते थे क्योंकि गणित पढ़कर अध्यापक ही बना जा सकता था। फलतः पिता की आज्ञा मानकर वे यूनिवर्सिटी कालेज आक्सफोर्ड में पढ़ने लगे जहाँ रसायन एवं भौतिकी के साथ थोड़ी सी

गणित पढ़ाई जाती थी। 1959 में हाकिंग ने आक्सफोर्ड में भौतिकी का विशिष्ट अध्ययन शुरू किया। तब तक उनकी समझ में आ चुका था कि भौतिकी के लिये गणित आवश्यक साधन है। हाकिंग ने गणना करके बताया है कि तीन वर्षों में उन्होंने कुल मिलाकर 1000 घण्टे भौतिकी पढ़ी। फुरसत में वे नदी में जाकर बोट चलाते और कुछ ही दिनों में अच्छे चालक बन गये। तृतीय वर्ष में हाकिंग ने ब्रह्माण्डिकी को अपना विशेष विषय चुना। उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने फ्रेड हायल के निर्देशन में पी.एच.डी. करने के लिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में आवेदन किया जिसमें वह चुन लिये गये। किन्तु कैम्ब्रिज जाकर उन्हें निराशा हुई जब फ्रेड हायल को उनका निरीक्षक नहीं बनाया गया।

अभी हाकिंग आक्सफोर्ड में तृतीय वर्ष में थे कि उन्हें अपने जूतों के फीते बाँधने तथा बोलने में कुछ कठिनाई होने लगी। कैम्ब्रिज से पहले सत्र के बाद छुट्टियों में जब हाकिंग घर आये तो उनके पिता उन्हें अपने पारिवारिक डाक्टर को दिखाने ले गये। जनवरी 1963 में उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। उन्हें बताया गया कि उन्हें एक बहुत ही असाध्य रोग हो गया है –Amyotrophic Lateral Sclerosis (ALS) जिसे Motor neuron disease कहते हैं। इसमें पहले निर्बलता, फिर हाथों में ऐंठन और वाणी में दोष तथा निगलने में कठिनाई होने लगती है। धीरे धीरे पूरे शरीर की पेशियाँ गति करना बन्द कर देती हैं, वाणी अवरुद्ध हो जाती है और 2–3 वर्षों में मृत्यु हो जाती है किन्तु मस्तिष्क अन्त तक शुभ्र बना रहता है।

जब हाकिंग को यह ज्ञात हुआ कि उन्हें दुःसाध्य रोग हुआ है तो विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने अपने आप से प्रश्न किया– मुझे ऐसा कैसे हो सकता है ? मैंने अस्पताल में एक बच्चे को ल्यूकीमिया से मरते देखा है। उसकी हालत मुझसे बहुत बुरी थी। तो फिर मैं अपने को बीमार क्यों मानूं ? फिर भी उन्हें निराशा हुई। उनके डाक्टरों ने उन्हें शोध कार्य जारी रखने की सलाह दी थी। वे सोचने लगे कि ऐसे कार्य को चालू रखने से क्या लाभ जिसे वे पूरा होते नहीं देख सकेंगे। धीरे धीरे हाकिंग की दशा बिगड़ती चली गयी और डाक्टरों ने बताया कि वे केवल दो वर्ष जीवित रहेंगे। उनके पिता ने उनके शोध निदेशक से जल्दी ही शोध प्रबन्ध पूरा कराने का अनुरोध किया किन्तु निराश होना पड़ा। इस तरह दो वर्ष बीत गये। रोग कुछ मन्द पड़ा। वे छड़ी के सहारे चलने लगे।

अस्पताल में जाने से पूर्व हाकिंग की भेंट जेन विल्डे से हुई थी। वे उनसे उम्र में छोटी थीं और लन्दन में भाषा का अध्ययन करती थीं। उन्हें हाकिंग मजेदार, बुद्धिमान व्यक्ति प्रतीत हुये थे। जब उन्हें उनके रोग का पता चला तो उनमें अपार करुणा उमड़ पड़ी। वे दोनों शीघ्र ही विवाह के बन्धन में बँध गये। हाकिंग ने बताया कि इस विवाह से उनका जीवन बदल गया। उन्हें लगा कि जीने के लिये उन्हें आधार मिल गया है।

वे जीने के लिये कृतसंकल्प हो गये। विवाह से हाकिंग में अपूर्व उत्साह जाग्रत हुआ और अपने अध्ययन में जुट गये। भले ही शरीर लुंजपुंज हो किन्तु मस्तिष्क तो ठीक है। उन्होंने मन ही मन सैद्धान्तिक भौतिकी का अध्ययन–मनन शुरू किया। उन्हें बीमार या रुग्ण कहना अन्याय होगा।

हाकिंग ने सोचा था कि विवाह तब तक सम्भव नहीं जब तक उन्हें कोई कार्य न मिल जाय और बिना पी.एच.डी. किये काम मिलना कठिन था। अतः उन्होंने शोध पूरा करने की ठान ली। उन्होंने पढ़ रखा था कि ब्रिटिश गणितज्ञ तथा भौतिकशास्त्री रोजर पेनरोज ने बताया था कि जब तारे का नाभिकीय ईंधन चुक जाता है तो वह अपने ही गुरुत्व बल से ढह कर जल जाता है। उन्होंने सोचना शुरू किया कि तारे की आदि अवस्था कैसी रही होगी ? उन्होंने काल की पश्च दिशा पर विचार करना शुरू किया। बस, यहीं से वह यात्रा शुरू होती है जो आज तक चली आ रही है। उन्होंने अथक परिश्रम करना शुरू किया। उन्होंने कैम्ब्रिज के एक कालेज में शोध छात्रवृत्ति के लिये आवेदन पत्र

भेजना चाहा। सौभाग्य से उसी समय जेन उनसे मिलने आई। उसी ने आवेदन पत्र लिखा। 1965 में तेईस वर्ष की आयु में हाकिंग को कीज (Caius) में छात्रवृत्ति मिली और उसी वर्ष जुलाई में जेन के साथ उनका विवाह हो गया।

1965 में पति पत्नी दोनों ही अमेरिका की कार्नेल यूनिवर्सिटी के ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम में, जो सामान्य आपेक्षिकता पर था, हवाई जहाज से गये। लौटने के बाद जेन लन्दन विश्वविद्यालय में अपना अध्ययन पूरा करने चली गयीं। वे प्रति सप्ताहान्त कैम्ब्रिज आतीं जहाँ हाकिंग रहते थे। चूँकि हाकिंग साइकिल नहीं चला सकते थे अतः विश्वविद्यालय के निकट ही मकान लेना उचित समझा गया। जब उन्हें इन्स्टीट्यूट ऑफ ऐस्ट्रॉनामी जाना होता तो वे तिपहिया गाड़ी चला कर जाते।

1967 में हाकिंग की पत्नी ने पहले पुत्र राबर्ट को जन्म दिया। विचित्र बात थी कि डाक्टरों ने दो वर्ष का जीवन बताया था और तब से चार वर्ष बीत चुके थे। अब वे अपने पाँवों पर खड़े थे। अब पुत्र का भार भी उन आ पड़ा।

विश्वविद्यालय में हाकिंग की ख्याति बढ़ने लगी थी। वे प्रतिभाशाली और दूसरे आइंस्टीन कहलाने लगे थे।

धीरे धीरे अपंगता बढ़ती जा रही थी किन्तु हाकिंग अपनी बीमारी से समझौता के लिये तैयार नहीं थे। उन्हें जुकाम या फ्लू हो जाता तो भी वे काम करना बन्द नहीं करते थे। 1970 के पहुँचते पहुँचते हाकिंग यह पता लगाने में लीन हो चुके थे कि यह ब्रह्माण्ड किस तरह का है और इसकी शुरुआत कैसे हुई ? वे कहते, मैं ब्रहमाण्ड का खेल खेल रहा हूँ।

अब हाकिंग को एक पुत्री भी हो चुकी थी। नवम्बर 1970 की एक शाम उन्होंने श्याम विवरों के बारे में सोचना प्रारम्भ कर दिया। वे रात भर जगे रहे। उनको विचार आया कि श्याम विवर का आकार कभी भी घट नहीं सकता। मृयमाण तारे का अर्धव्यास इतना हो जाता है जहाँ पलायन वेग प्रकाश के वेग के तुल्य हो जाता है। गुरुत्वाकर्षण तारे से उत्सर्जित फोटानों का पलायन तो करने देता है किन्तु उन्हें श्याम विवर के भीतर नहीं खींच सकता। हाकिंग की खोज को श्याम विवर गतिकी का दूसरा नियम कहा गया। हाकिंग ने बताया कि विवर की कोई एनट्रॉपी नहीं होती।

1973 में हाकिंग ने आपेक्षिकता तथा क्वांटम यांत्रिकी नामक दोनों सिद्धान्तों को एक करने का प्रयास किया।

श्याम विवरों से उत्सर्जित विकिरणों को हाकिंग विकिरण नाम दिया गया। अब हाकिंग ने यह कहा कि श्याम विवर घटकर छोटा होते होते पूरी तरह लुप्त हो सकता है। हाकिंग विकिरण श्याम विवर की ऊर्जा का अपहरण कर लेते हैं फलस्वरूप उसका द्रव्यमान घटता जाता है।

हाकिंग की खोजों में उनकी पत्नी जेन का बहुत बड़ा हाथ रहा। वे बच्चों की देखरेख करतीं और अपने अशक्त पति की सेवा करतीं।

हाकिंग कभी भी नास्तिक नहीं रहे। आइंस्टीन की भाँति वे भी ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे जो हमारी चिन्ता करता हो।

1974 तक हाकिंग बिस्तर में चढ़ उतर सकते थे और स्वयं खा भी सकते थे किन्तु जब सब काम करना असम्भव हो गया तो उन्होंने अपने एक शोध छात्र को अपने पास रख लिया। उन्हें प्रशासकीय कार्यों से मुक्ति मिल चुकी थी। वे सारा समय भौतिकी के विषय में सोचने में लगाने लगे। 1979 में उन्हें एक अन्य पुत्री हुई। 1980 तक हाकिंग की वाक्शक्ति जाती रही।

1974 में 32 वर्ष की आयु में हाकिंग को 'रायल सोसायटी' का फेलो चुना गया। उसके बाद सम्मानों की झड़ी लग गयी। उन्हें अमेरिका में ऐलबर्ट आइंस्टीन सम्मान मिला और पनी कर्मभूमि आक्सफोर्ड से मानद उपाधि मिली। सा ाज्ञी एलिजाबेथ ने उन्हें 'सी बी ई' की उपाधि दी। 197६ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय

ने उन्हें लुक्रेशियन प्रोफेसर आफ मैथेमैटिक्स के पद से सम्मानित किया। यह पद न्यूटन तथा डिरैक को इसके पूर्व मिल चुका था।

1981 में हाकिंग ने फिर से इस प्रश्न की ओर ध्यान दिया कि यह ब्रह्माण्ड कैसे शुरू हुआ और इसका अन्त किस तरह होगा ? उन्होंने प्रस्तावित किया कि ब्रह्माण्ड का न तो प्रारम्भ है, न उसकी सीमायें हैं।

1984 में हाकिंग बुरी तरह बीमार पड़ गये। उनकी पत्नी ने सहायतार्थ अमेरिका से अनुरोध किया। फलतः एक धाय, तथा एक कम्प्यूटर (इक्वैलाइजर) मिल गया। हाकिंग इस कम्प्यूटर को हाथ में ली गई स्विच से चलाने लगे। हाथ न चलने पर सिर या आँख के हिलने से कम्प्यूटर चलने लगता। बड़ी मुश्किल से प्रति मिनट दस शब्द बोल पाते किन्तु बाद में पन्द्रह शब्द बोलने लगे। कम्प्यूटर में 2500 से अधिक शब्द भरे हुये हैं जिनमें लगभग 200 वैज्ञानिक शब्द हैं। वे इच्छानुसार शब्दों को चुनते हैं। वे अपने लेक्चर इसी तरह तैयार करके फ्लापी में सुरक्षित कर लेते हैं। श्रोताओं के समक्ष, वे अपने व्याख्यान के हर वाक्य को स्पीच सिंथेसाइजर तक भेजते हैं। एक सहायक स्लाइड दिखाता है, बोर्ड पर समीकरण लिखता है और प्रश्नों के उत्तर भी देता है। उनके मित्र डेविड मेसन ने कम्प्यूटर तथा स्पीच सिंथेसाइजर को एक चलती फिरती कुरसी में लगा दिया है जिससे जहाँ भी वे जाते हैं उनकी वाणी साथ साथ जाती है। उनका कहना है कि मेरी तकलीफों पर ध्यान न दें, न ही इसके लिये खेद करें जो मैं नहीं कर पाता। वे समीकरणों की परवाह न करके शब्दों के चित्र अपने मस्तिष्क में बनाते हैं।

हाकिंग को संगीत और विश्वभ्रमण का शौक है। डॉ० हाकिंग अपाहिजों तथा अशक्तों के लिये आदर्श बन चुके हैं। उनके सारे काम– चश्मा साफ करने से लेकर थूक पोछने तक का कार्य – प्रशिक्षित लोग करते हैं। वे पूर्णतः अन्यों पर आश्रित हैं किन्तु इसका आभास नहीं होने देते कि वे अशक्त हैं।

1988 में डॉ० हाकिंग ने एक पुस्तक लिखी है – "ए ब्रीफ हिस्ट्री आफ टाइम–फ्राम बिग बैंग टु ब्लैक होल्स" (A Brief History of Time-From Big Bang to Black Holes)। इसमें उन्होंने सुझाव दिया है कि ब्रह्माण्ड बनाने में स्रष्टा की भूमिका हो सकती है। हमें स्रष्टा के मन की बात जाननी चाहिये।

पाठकों का यह जानने की जिज्ञासा होगी कि हाकिंग की चिरसंगिनी जेन क्या कर रही हैं ? दुर्भाग्यवश 1990 में ही पति पत्नी में विलगाव हो गया। अब वे अन्य संगिनी के साथ अपनी वैज्ञानिक धुन में ही जीवित रहेंगे।

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

नई जनसंख्या

सूचित किया गया है कि 31 मार्च 2001 को भारत की जनसंख्या 1,02,70,15,247 हो गई। इसमें पुरुषों की संख्या 531277078 और महिलाओं की संख्या 495738169 है। पिछले दस सालों में भारत की आबादी में 18.10 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

पिछली गणना में 1000 पुरुषों पर 927 महिलायें थीं। अब इनकी संख्या 933 हो गई है। साक्षरता में भी वृद्धि हुई है। अब साक्षरता 65.38 प्रतिशत हो गई जिसमें पुरुषों में 75.85 तथा महिलाओं में 54.16 प्रतिशत है।

विश्व में चीन के बाद भारत में ही सर्वाधिक जनसंख्या है। जनसंख्या की गणना हर दसवें वर्ष बाद की जाती है।

कच्छपों की तस्करी

एक जीव प्रेमी

कूर्म अर्थात् कछुवा को विष्णु अवतारों में से दूसरा बताया गया है। समुद्र मंथन के समय मेरु पर्वत को दण्ड तथा कूर्म को मथानी का निचला हिस्सा बनाया गया था क्योंकि कूर्म की पीठ (कमठपीठ) अत्यधिक कठोर होने से वह मेरु पर्वत का भार सह सकी। वैसे कछुवा अपनी मन्द चाल के लिये प्रसिद्ध है– जैसा कि कछुवे और खरगोश की कहानी में मिलता है। योगीजन योग साधना में जब इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाते हैं तो उसकी तुलना कछुवे की इन्द्रियों से की जाती है जो उन्हें समेट कर कड़े खोल के भीतर कर लेता है। कूर्म पुराण, कूर्मासन आदि में भी कूर्म शब्द कछुवे की महत्ता को दर्शाता है।

तीर्थस्थानों में, चाहे वे नदी तट पर हों या कि जलाशय तट पर, श्रद्धालुजन कछुवों को दाना डालकर पुण्य लूटते हैं। लेकिन हमारे समाज में एक वर्ग ऐसा भी है जो कछुवों की तस्करी करके उन्हें विदेशों में भेजता है जहाँ उनका वध करके सुस्वादु व्यंजन बनाये जाते हैं। यह तथाकथित जल की सफाई करने वाला तथा आदर की दृष्टि से देखा जाने वाला उभयचर प्राणी आज त्रस्त है और पुकार रहा है "त्राहि माम्"।

उड़ीसा के समुद्र तटों पर विलुप्तप्राय कछुवों का विश्व में सबसे बड़ा क्षेत्र है जहाँ कछुवे प्रजनन करते हैं। इस प्रतिबन्धित क्षेत्र में मशीनी नौकाओं को तट से दस मील दूरी पर ही मछली मारने की अनुमति है किन्तु ये नौकायें प्रति वर्ष हजारों कछुवों को कुचल डालती हैं। गत वर्ष 20 हजार से अधिक कछुवे इस तरह मारे गये। केन्द्र सरकार ने 1999 में संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ मिलकर एक कछुवा संरक्षण परियोजना शुरू की है किन्तु यह कार्यान्वित नहीं हो पा रही है। ऐसा स्थिति में कछुवों की रक्षा राम भरोसे है।

गतवर्ष अखबारों में लगातार कछुवों की तस्करी के समाचार छपते रहते हैं किन्तु 28 दिसम्बर 2000 के "अमर उज़ाला" में छपी खबर "11 बोरे कछुवों के साथ चार तस्कर गिरफ्तार" अत्यन्त कारुणिक थी। ये कछुवे कानपुर, उन्नाव, हरदोई, फर्रुखाबाद आदि जिलों से पकड़े गये नदी के कछुवे थे जिन्हें जगदीशपुर का सरगना अशोक बंगाली उन्हें ट्रकों पर लादकर कलकत्ता भेजता था जहाँ से वे सिंगापुर, थाईलैण्ड, बैंकाक, हांगकांग रवाना कर दिये जाते थे। ये कछुवे 30 रुपये प्रति किलो के हिसाब से खरीदे जाते थे। उपर्युक्त 4 बोरों में 809 कछुवे थे जिनका मूल्य दस लाख आँका गया था यानी एक कछुवा 1250 रुपये का।

कच्छप (कछुवा, कूर्म, कमठ) एक सरीसृप यानी रेंगने वाला जीव है। सरीसृपों के अन्तर्गत चार वर्ग के प्राणी आते हैं– नक्र, कच्छप, गोधा तथा सर्प। कच्छप वर्ग के अन्तर्गत सभी प्रकार के जल तथा स्थल के कछुवे रखे गये हैं। कछुवे अत्यन्त निराले जीव हैं जिनकी बनावट डिब्बे जैसी होती है। इनके शरीर का ऊपरी कवच बड़ा होता है। इनके चार पैर, एक छोटी दुम तथा लम्बी सी गर्दन होती है। वैसे तो कछुवे जलचारी हैं लेकिन कुछ जातियाँ स्थल पर रह लेती हैं। इन दोनों की शरीर रचना, आकृति तथा स्वभाव बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। शायद ही कोई ताल, तलैया, नदी या झील ऐसी हो जिसमें कछुवे न रहते हों। कुछ जातियाँ समुद्रों में भी रहती हैं। कुछ दलदल

और कुछ सूखे स्थलों में। हमारे देश में उड़ीसा के समुद्री तट कछुवों के प्रजनन स्थल बताये गये हैं।

कछुवों के पीठ और पेट का हिस्सा हड्डी जैसे कठोर आवरण से ढका रहता है। इस हड्डी पर निशान भी रहते हैं। इस खपड़ी पर लाठी या बरछी के वार का कोई असर नहीं होता। इनके दुम, पैर और गर्दन पर कड़ी खाल रहती है। कछुवों के नुकीले थूथन के ऊपर दो नासा छिद्र रहते हैं जिनसे सूँघकर खाद्य पदार्थों का पता लगाते हैं। माथे पर दो छोटी छोटी आँखें तिहरी पलकों से ढकी रहती हैं। सुनने के लिये जबड़ों के दोनों ओर छिद्र होते हैं जिनसे आहट मिलते ही ये पानी में घुस जाते हैं।

कछुवे अण्डज प्राणी हैं। मादा एक बार में कई अण्डे (कभी कभी दर्जनों) देती है। ये अण्डे पानी में नहीं अपितु बलुई जमीन में दिये जाते हैं जिन्हें मादा (कछुई) बालू से ढक देती है। ये अण्डे स्वतः फूटते हैं।

कछुवे स्वभाव से डरपोक होते हैं। आहट पाते ही पानी में घुस जाते हैं और यदि सूखे में खतरा आता है तो अपनी गर्दन खपड़े के भीतर समेट कर मृततुल्य लेट जाते हैं।

स्थलचारी कछुवे शाकाहारी होते हैं किन्तु जलचर पानी में उगी हुई घास, काई के अलावा जल के जीवों को भी खाते हैं। अधिकांशतः मांसाहारी होते हैं– वे कीड़े मकोड़े, छोटी मछलियाँ, मेंढक और मुर्दे का मांस चट कर जाते हैं। कभी कभी नहाते समय वे मनुष्यों को काट लेते हैं और मेले ठेले के अवसर पर सूखे से यात्रियों की खाद्य सामग्री घसीट ले जाते हैं। साल नामक कछुवा गंगा, गोदावरी और कृष्णा नदियों में पाया जाता है और नितान्त शाकाहारी है। इसके खपड़े की लम्बाई 15–16 इंच होती है। इसका शिकार मांस के लिये किया जाता है– यह मांस अति सुस्वादु माना जाता है। छत्नहिया (Starred) कछुवा बंगाल को छोड़कर सर्वत्र पाया जाने वाला स्थलचारी कछुवा है।

रामानंदी कछुवा भी शाकाहारी होता है जो गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, यमुना आदि नदियों में पाया जाता है। यह बहुत सुन्दर कछुवा है जिसके माथे पर तिलक होता है। खपड़ी के नीचले भाग में नीले लाल रंग की जमीन पर काली चित्तियाँ पड़ी रहती हैं। इसका भी मांस स्वादिष्ट होता है।

सेवार कछुवा गंगा नदी का सबसे बड़ा कछुवा है जो गंगा, सिन्धु, महानदी तथा अन्य सहायक नदियों में पाया जाता है। इसके खोपड़े की लम्बाई 1.5–2 फुट तथा गर्दन काफी लंबी होती है। यह मुर्दाखोर कछुवा है। इसका मांस नहीं खाया जाता।

कछुई कछुवे से कद में छोटी होती है और तालाबों में पाई जाती है। यह पानी से बाहर निकल कर धूप लेती है और जाड़े में कीचड़ में घुस जाती है।

समुद्री कछुवों का मांस जहरीला हो सकता है।

सभी कछुवों का मांस खाने योग्य नहीं होता, केवल साल, छतनहिया, रामानंदी कछुवे अपने स्वादिष्ट मांस के लिये प्रसिद्ध हैं। किन्तु तस्करों को इसकी पहचान कहाँ ? वे तो चोरी छिपे अधिक संख्या में, सभी जाति के कछुवों पर हाथ साफ करते हैं। आखिर समुद्र तट पर स्थित कलकत्ते के कछुवे क्यों विदेश नहीं भेजे जाते ? अवश्य ही होटलों के रसोइयों को पहचान होगी। या फिर वे विषैले मांस वाले कछुवों का मांस अपने ग्राहकों को परोसते होंगे।

किन्तु यहाँ पर प्रश्न है कि जलजीवों के विनाश का और उनके अभाव से उत्पन्न जल प्रदूषण का भय। कछुवे जलाशयों के जल को प्रदूषण मुक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

डॉ0 बी.पी. पाल : एक ख्यातिलब्ध आनुवंशिकीविद

डॉ0 दिनेश मणि

प्रो0 नीलरत्न धर के बाद डॉ0 पाल ऐसे वैज्ञानिक रहे हैं जिन्होंने कृषि की समुन्नति के लिये तन मन धन अर्पित कर दिया। प्रस्तुत है इस कृषि विज्ञानी का जीवन परिचय। — सम्पादक

सन् 1975 में एग्रीकल्चरल रिसर्च एण्ड प्रोडक्टिविटी (कृषि और उत्पादकता) शीर्षक से येल यूनिवर्सिटी ने एक स्वतंत्र आर्थिक विश्लेषण प्रकाशित किया था। इसमें कहा गया है– "भारत के अनेक भागों में कृषि अनुसंधान में लगायी गयी पूँजी अनुसंधान के अन्य क्षेत्रों में दिये गये समर्थन की अपेक्षा बहुत कम है, फिर भी भारत में कृषि अनुसंधान से जितना फायदा हुआ है, वह दुनिया भर में बेमिसाल है।"

इसी तरह रॉकफेलर प्रतिष्ठान द्वारा जारी की गयी रिपोर्ट के अनुसार "जिस तेजी से भारत के किसानों और वैज्ञानिकों ने (बाहर की कुछ सलाह और सामग्री की मदद से) अचानक अपने देश को खाद्यान्न की प्रचुरता के मार्ग में जमा दिया है, वैसा इतने बड़े पैमाने पर और इतनी जल्दी दुनिया में कहीं भी नहीं हुआ। यहाँ तक कि अति विकसित अमेरिका में भी नहीं।"

ये पंक्तियां डॉ0 बी.पी. पाल की अनुसंधानपरक दूरदर्शी नीतियों और योजनाओं का यशोगान करती हैं जिनके बल पर भारत वैज्ञानिक विकास खासतौर से कृषि विज्ञान के क्षेत्र में इन ऊँचाइयों को पा सका, जहाँ पँहुच कर हमारा देश आत्मविश्वास से सम्पन्न तेजस्वी और महान राष्ट्र का गौरव प्राप्त कर सका।

पुनर्गठित भारत कृषि अनुसंधान परिषद् के प्रथम महानिदेशक डॉ0 बेंजामिन पियरे पाल के कार्यकाल में भारत विदेशों से अन्न आयात करने वाले देश की ही स्थिति से उबर कर अनाज के मामले में

आत्मनिर्भर ही नहीं हुआ, बल्कि ऐसा शक्तिशाली देश बन गया कि भंयकर सूखा और बाढ़ की प्राकृतिक आपदायें अब उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकतीं।" निःसंदेह, कृषि अनुसंधान एवं कृषि शिक्षा के सुदृढ़ीकरण के क्षेत्र में डॉ0 पाल द्वारा किये गये उल्लेखनीय योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

बेंजामिन पियरे पाल (बी.पी. पाल) का जन्म पंजाब के एक छोटे से गाँव मुकुन्दपुर में एक ब्राह्मण परिवार में 26 मई 1906 को हुआ था। उनका बचपन का नाम ब्रह्मदास था। उनके पिता डॉ0 आर. आर. पाल बर्मा में फिजीशियन थे। वहीं वे ईसाई बन गये।

बेंजामिन पियरे पाल अपना अधिकांश समय बगीचे में फूलों और सब्जियों को उगाने में व्यतीत करते थे। एक बार जब इनके पिता काफी थके हुये थे तो इन्होंने बगीचे की देखभाल नियमित रूप से प्रतिदिन

करने को कहा। तब से बालक पाल न केवल अपने बगीचे की देखभाल करने लगे बल्कि सब्जियों एवं फूलों को उन्नत तरीके से उगाने से सम्बन्धित बागवानी की पुस्तकों का अध्ययन करना प्रारंभ कर दिया और अन्ततः उनका यह शौक उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

बालक पाल का प्रारंभिक काल बर्मा में व्यतीत हुआ जहाँ उनके पिता नियुक्त थे। बचपन से ही मेधावी होने के कारण अपने छात्र–जीवन के दौरान इन्होंने कई पुरस्कार एवं छात्रवृत्तियां प्राप्त कीं। ये 1924 में रंगून विश्वविद्यालय में दाखिल हुये। 1929 में वनस्पति विज्ञान में प्रथम श्रेणी से एम.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद गेहूं पर शोधकार्य करने हेतु कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी गये और 1932 में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1933 में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान नई दिल्ली में शोधकर्ता के रूप में डॉ0 पाल ने अपने कैरियर की शुरुआत की। 1937 में इकानामिक बाटनिस्ट बने। बाद में 1965 में ये इस संस्थान के निदेशक बने और लगभग 15 वर्षों तक इन्होंने इस गुरुतर दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन करते हुये इस संस्थान का बहुआयामी विकास किया।

आनुवांशिकी एवं पादप प्रजनन (विशेष रूप से उन्नत प्रजातियों के विकास, रोगरोधी गेहूं की उन्नत किस्मों के विकास) के क्षेत्र में इनके अविस्मरणीय योगदान सदैव उल्लेखनीय रहेंगे। गुलाब की उन्नत किस्मों के विकास, पर्यावरण संरक्षण, कृषि नीतियों के नियोजन एवं क्रियान्वयन हेतु भी इनका योगदान सराहनीय रहा है। इनके कार्यकाल के दौरान भारतीय कृषि में क्रान्तिकारी मोड़ आया जिसे "हरित क्रान्ति" की संज्ञा दी गई। इससे एक नये युग का सूत्रपात हुआ जिसमें भारतीय कृषि को आधुनिक वैज्ञानिक आधार पर विकसित करने की ठोस बुनियाद डाली गई और उसी ने भारत को अन्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता दिलाई। यह महान प्रगति यों ही संयोगवश नहीं हुई, बल्कि वैज्ञानिकों, प्रसार कार्यकर्ताओं, किसानों, प्रशासकों, नीति निर्माताओं की सुस्पष्ट योजनाओं और उनके कुशल कार्यान्वयन का सुफल है। इन सभी ने मिल जुलकर साज के सात सुरों की तरह एक लय में लगकर काम किया और इस अभियान के सूत्रधार थे– डॉ0 बी.पी. पाल।

स्वतंत्रतापूर्व हमारे देश में कृषि संबंधी अनुसंधान की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। रोगों एवं बीमारियों द्वारा अधिकांश फसल चौपट हो जाती थी। खासतौर से गेहूं की फसल कंडुवा रोग से बुरी तरह नष्ट हो जाती थी। डॉ0 पाल ने अपने अथक परिश्रम एवं सतत् शोध के उपरान्त एन.पी. 700, 800 कंडुवा प्रतिरोधी गेहूँ की प्रजातियाँ विकसित कीं। 1954 में डॉ0 पाल ने तीनों प्रकार के कंडुवा प्रतिरोधी प्रजाति एन. पी. 809 विकसित की जिसकी विश्व स्तर पर प्रशंसा हुई और उन्हें इस उल्लेखनीय उपलब्धि के लिये सम्मानित भी किया गया। इसके अतिरिक्त डॉ0 पाल ने गुलाब की लगभग 40 प्रजातियाँ विकसित कीं। उनमें डॉ0 होमी भाभा, देहली प्रिंसेस तथा प्रेमा प्रमुख हैं। गुलाब का निर्यात प्रारंभ करने का श्रेय भी डॉ0 पाल को ही जाता है। इन्होंने गुलाब पर कई पुस्तकें लिखीं जिनमें "दि रोज इन इण्डिया" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी मृत्यु डेढ़ दशक पूर्व हो गई।

डॉ0 पाल के तेजस्वी नेतृत्व में कृषि अनुसंधान और शिक्षा के विविध क्षेत्रों में भारत में हुई प्रगति निश्चित रूप से अविस्मरणीय है। इनके कार्यकाल

में अनुसंधान, शिक्षा और प्रसार की ऐसी ठोस बुनियाद रखी गई जिसके बलबूते पर हम बड़े भरोसे के साथ भविष्य में अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की जरूरतें पूरी करने का हौसला रखते हैं।

मई 1965 में जिस समय डॉ0 पाल ने भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक का पदभार सँभाला उस समय देश में कृषि की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। भयानक सूखे का दौर शुरू हो चुका था और अकाल मुँह बाये खड़ा था। देश में अनाज की बेहद कमी थी। बाहर से भारी मात्रा में अनाज आयात करके किसी तरह अकाल का सामना किया गया। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने तो सन् 1970 के बाद के दशक में भारत सहित कई देशों में ऐसे घोर सूखे की भविष्यवाणी की थी, जिसके बाद इन देशों के लोगों को दाने दाने का मोहताज होकर मर जाना चाहिये था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। डॉ0 बी.पी. पाल के कार्यकाल के दौरान अपनायी गई अनुसंधान शिक्षा और विस्तार संबंधी विकास नीतियों के फलस्वरूप देश में कृषि उत्पादन में क्रान्ति आई। दुनिया के दूसरे देशों के सामने अन्न के मोर्चे पर हमारी इस सफलता ने इतिहास में पहली बार सिर उठाने का मौका दिया।

सन् 1965–66 में विदेशों से अन्न का आयात 1 करोड़ 3 लाख 40 हजार टन तक जा पँहुचा था। लेकिन उसके बाद तो दिशा ही बदल गई। डॉ0 बी.पी. पाल द्वारा ऐसी कुशल रणनीति अपनाई गई कि फिर तो हर साल लगातार अनाज की पैदावार बढ़ती ही गई। सन् 1965–66 में देश में गेहूँ की पैदावार लगभग 1 करोड़ टन पर रुकी पड़ी थी, जो 1969–70 मु दुगुनी होकर 2 करोड़ टन हो गई और सन् 1983–84 में चौगुनी से भी ज्यादा होकर 4 करोड़ 60 लाख टन पर जा पँहुची। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की गेहूं अनुसंधान प्रायोजना का इसमें बहुत बड़ा योगदान था जिसे मैक्सिको से बौने गेहूँ की किस्मों के बीज लाकर भारत में पनपाने और अनाज की अधिक उपज देने वाली किस्में विकसित करने में भरपूर नीतिगत समर्थन मिला।

डॉ0 बी.पी. पाल को 1965 में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक का पदभार सौंपने के वक्त कृषि अनुसंधान गतिविधियों के बीच तालमेल ठीक नहीं था। 'भारत का कृषि–कायांतरण' शीर्षक युक्त आलेख में डॉ0 पाल स्वयं लिखते हैं कि भयानक सूखे के उन दिनों में जब मैंने भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के कृषि भवन स्थित मुख्यालय में जाकर महानिदेशक का भार ग्रहण किया तो पार्कर रिपोर्ट को सरकार बहुत हद तक स्वीकार कर चुकी थी, लेकिन उसको लागू करने में तमाम तरह की प्रशासनिक अड़चनें आ रही थीं। बहुत बड़ा कार्य था परिषद के पुनर्गठन का।

डॉ0 पाल द्वारा बहुत से नये काम किये गये लेकिन अखिल भारतीय समन्वित अनुसंधान प्रायोजनाओं को शुरू करना एक विशेष कार्य था। इन प्रायोजनाओं का विचार महत्वपूर्ण था क्योंकि इनके जरिये देश के विभिन्न कृषि जलवायु क्षेत्रों में अनुसंधान केन्द्रों की श्रृंखला की स्थापना हुई।

निःसन्देह डॉ0 पाल द्वारा तैयार भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का बुनियादी ढाँचा और उसकी कार्मिक नीतियाँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तर पर परिषद व देश को भारी यश दिला रही हैं। परिषद् ऐसी किसी भी तकनीकी चुनौती का सामना करने के लिये तैयार है, जो भारत की बढ़ती हुई

सम्मान एंव पुरस्कार

डॉ0 पाल को समय समय पर कई पुरस्कार एवं सम्मान प्रदान किये गये जिनमें प्रमुख हैं :

1. रफी अहमद किदवई पुरस्कार	1957
2. पद्म श्री	1959
3. बीरबल साहनी मेडल	1962
4. श्री निवासन रामानुजन मेडल ऑफ इण्डियन नेशनल सांइस एकेडमी	1964
5. पद्म भूषण	1968
6. ग्रेण्ड मेडल आफ एग्री–हार्टीकल्चरल सोसाइटी आफ इण्डिया	1970
7. बार्क्ले मेडल आफ एशियाटिक सोसाइटी	1971
8. आर्यभट मेडल आफ इण्डियन साइंस एकेडमी	1980
9. जी.पी. चटर्जी मेमोरियल एवार्ड आफ इण्डियन सांइस एसोसियेशन	1982
10. सर विलियम जोन्स मेडल आफ एशियाटिक सोसाइटी	1982
11. संजय गांधी मेमोरियल एवार्ड	1982

डॉ0 पाल की वसीयत

डॉ. बी.पी. पाल अपनी वसीयत में लिखते हैं : मैं अपनी सारी सम्पत्ति, जमीन भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली को देता हूँ जहाँ मैंने अपने जीवन के स्वर्णिम वर्ष बिताये। मैं अपनी समस्त शेष सम्पत्तियां (जिसमें मेरा मकान नं. पी–11, हौज खास इल्क्लेव, नई दिल्ली–16 शामिल है), मेरे समस्त पदक, अन्य सारी वस्तुयें (उपर्युक्त के अतिरिक्त) समस्त धनराशि (जो मेरे बचत खाते, चालू खाते तथा जमा धनराशि के रूप में है) भी इस संस्थान को दान करता हूँ। मेरी उपर्युक्त सारी सम्पत्ति से प्राप्त आय का उपयोग निम्नलिखित कार्यों में किया जाये–

1. आनुवांशिकी एवं पादप प्रजनन के क्षेत्र में मौलिक शोध कार्य करने वाले को डॉ0 बी.पी. पाल पदक (जिसमें रु0 5000–/ नकद धनाराशि भी शामिल है) दिया जाये।
2. आनुवांशिकी विभाग में शोध और शिक्षण गतिविधयों को सलाहकार मण्डल की सलाह पर उत्प्रेरित एवं समर्थित किया जाये।

आबादी का पेट भरने और गरीबी का उन्मूलन करने के लिये देश के सामने आ रही हो। परिषद् की यह शक्ति और उसके वैज्ञानिक देश की एक महत्वपूर्ण धरोहर बन चुके हैं।

डॉ0 पाल "रॉयल सोसाइटी" के फेलो तथा "लीनियन सोसाइटी" के आनरेरी फेलो से सम्मानित किये गये थे। वे लेनिन आल यूनियन एकेडमी ऑफ एग्रीकल्चरल साइंसेज तथा फ्रेन्च एकेडमी ऑफ एग्रीकल्चर के सदस्य चुने गये एवं जापान एकेडमी तथा जेनेटिक्स सोसाइटी के आनरेरी मेम्बर थे। इसके अतिरिक्त वे इण्डियन सोसाइटी ऑफ जेनेटिक्स एण्ड प्लान्ट ब्रीडिंग, इण्डियन बोटेनिकल सोसाइटी, हार्टिकल्चरल सोसाइटी ऑफ इण्डिया, सोसाइटी फार द एडवांसमेंट आफ ब्रीडिंग रिसर्चेज इन एशिया एण्ड इण्डोनेशिया के अध्यक्ष बनाये गये।

डॉ0 पाल को पंजाब, उ0प्र0, उड़ीसा तथा हरियाणा के कृषि विश्वविद्यालयों एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, सरदार पटेल विश्वविद्यालय द्वारा डी. एस.सी. की मानद उपाधियाँ प्रदान की गई।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान
इलाहाबाद

तितलियों के रंग मजेदार

रंगों के आधार पर तितलियों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है। एक समूह की तितलियों के रंग ऐसे होते हैं जो किसी रंगीन पदार्थ से बने होते हैं जिन्हें रंजक या पिगमेंट कहते हैं लेकिन काफी सारी तितलियाँ रंजकों के बगैर भी रंगीन होती हैं। किसी तितली के पंखों का रंग तो पीला दिखता है लेकिन पंखों पर कोई पीला रंजक नहीं होता।

प्रकृति में बिखरे हैं रंजक :

प्रकृति में ऐसे अनेक रंजक पदार्थ हैं जो अपनी खास रासायनिक संरचना की वजह से किसी खास रंग की किरणों को सोखने के बजाय परावर्तित या संचारित करते हैं। हमारे आसपास ऐसे रंजक पदार्थों की कोई कमी नहीं हैं। जैसे – क्लोरोफिल की वजह से पेड़ पौधों की पत्तियाँ हरी रंग की दिखती हैं तो गाजर का रंग कैरोटीन की वजह से खास लाली लिये होता है। इसी तरह मनुष्यों में भी त्वचा का रंग मेलेनिन रंजक की मात्रा कम ज्यादा होने की वजह से अलग अलग होता है। तितलियों के शरीर में भी कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ होते हैं जो सफेद प्रकाश में से कुछ रंगों को सोख लेते हैं और न सोखे गये रंगों या रंग के कारण हमें तितली दिखाई देती है। ऐसे कई सारे पदार्थ तितली के शरीर में होते हैं जिनमें मेलेनिन, कैरेटिनाइड, टेरीन, ओमोक्रोम टेट्रापायरो क्विलोन, फ्लेवोन समूह के पदार्थ प्रमुख होते है। हरेक पदार्थ किन्हीं खास रंगों की किरणों को सोखता हैं। पंखों पर एक ही जगह पर एक से ज्यादा रंजक पदार्थ होने की स्थिति में हमें रंगों में इनका मिला जुला असर दिखाई देता है।

रंजक पदार्थ :

शायद ये रंजक तितलियों के शरीर में ही निर्मित होते हैं। लेकिन कुछ रंजक ऐसे भी होते हैं जो तितलियों को उनके भोजन के माध्यम से मिलते हैं यानी यदि ऐसी तितलियों के खान–पान को बदल दिया जाये तो तितलियों के रंग में भी बदलाव देखा जा सकता है।

यदि उपर्युक्त रंजकों की अलग अलग मात्रायें लेकर उनके मिश्रण बनाये जायें तो तितलियों में पाये जाने वाले लगभग सारे रंग बनाये जा सकते हैं। ऐसे कई सारे रंग तितलियों के शरीर से बनाये भी गये हैं।

कुछ तितलियों के बारे में एक और तथ्य सामने आया है कि जब प्यूपा में से तितली बाहर आती है तब उसके रंग काफी चटक होते हैं लेकिन कुछ समय तक वायु के सम्पर्क में आने के बाद चटक रंग फीके पड़ने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये रंजक पदार्थ तितली के शरीर में एक ही बार तैयार होते हैं, फिर वायु में मौजूद आक्सीजन से क्रिया के फलस्वरूप ये रंग फीके पड़ने लगते हैं। एक और रोचक बात यह है कि इन फीके रंगों वाली तितली को क्लोरीन के सम्पर्क में रखा जाये तो फीके रंग दोबारा चटक रंगों में बदल जाते हैं।

कीटविशेषज्ञ बताते हैं कि ये रंजक कई बार बनते तो तितलियों के शरीर में ही हैं, लेकिन ये पदार्थ उत्सर्जन के लिये शरीर से बाहर निकाले गये होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हमारे शरीर से पसीना, मल–मूत्र जैसे उत्सर्जित पदार्थ। कुछ तितलियाँ इन उत्सर्जित पदार्थों को बाहर फेंकने के बजाय उन्हें शरीर में (पंखों पर) इकट्ठा करके रखती हैं। इस तरह के उत्सर्जन को संग्रह उत्सर्जन कहा जाता है। ऐसे उत्सर्जित किये जाने वाले पदार्थ शरीर के लिये हानिकारक होते हैं इसलिये तितलियाँ उनमें थोड़ा परिवर्तन करके उन्हें अपने शरीर की कुछ पेशियों में एकत्रित करके रखती हैं। अनेक तितलियों में उम्र के साथ–साथ ऐसे रंग भी गाढ़े होते जाते हैं।

बिना रंजकों के रंग :

साबुन के पानी के बुलबुले पर भी काफी रंग दिखाई पड़ते हैं जबकि साबुन के पानी में कोई रंग नहीं मिलाया गया रहता है। इसी तरह किसी पानी भरे गड्ढे में केरोसीन या पेट्रोल गिरकर फैल जाये तो

पानी की सतह पर भाँति–भाँति के रंग दिखाई देने लगते हैं। यहाँ भी कोई रंजक नहीं मिलाया गया होता है। बिना रंजकों के भी रंगों का एक और उदाहरण है नीला आसमान। इसी तरह सुबह–शाम का सूरज लालिमा लिये होता है तो दोपहर को उसका रंग सफेद पीला दिखता है। इन्द्रधनुष में तो सातों रंग साथ–साथ दिखते हैं। सुबह–शाम क्षितिज पर बादलों के रंग बदलते रहते हैं।

ऊपर गिनाये गये उदाहरणों में रंग रंजकों से बने हुये नहीं हैं। ये भौतिक रंग या भौतिक रचना के रंग हैं यानी किसी वस्तु की रचना के फलस्वरूप ये रंग दिखते हैं। रंजकों में तो उनकी रासायनिक रचना की वजह से वे किन्हीं खास रंग की किरणों को सोख पाते हैं व परावर्तित किरणों की वजह से हमें रंग नजर आते हैं। लेकिन जब रंजक न हो और फिर भी रंग दिखें तो वे रंग पदार्थ की भौतिक रचना के कारण दिख रहे होते हैं।

कुल मिलाकर हमारी आँखों तक पहुँचने वाली प्रकाश किरणें दो प्रकार की हैं। एक जो पेट्रोल की सतह के ऊपरी भाग से परावर्तित होकर हमारी आँखों तक आ रही हैं। दूसरी वे किरणें जो पेट्रोल की सतह के निचले भाग से टकराकर परावर्तित होकर हमारी आँखों तक आ रही हैं। ये दो प्रकार की प्रकाश किरणें एक ही दिशा में चल रही हैं, एक ही जगह पँहुच रही हैं। लेकिन पहली किरणों के मुकाबले दूसरी किरणें कुछ ज्यादा सफर तय कर रही हैं और वो भी वायु, पेट्रोल या पानी की सतह जैसे अलग–अलग अपवर्तनांक वाले माध्यमों से गुजरते हुये।

हवा से ज्यादा अपवर्तनांक वाले माध्यमों में प्रवेश करने पर किरणों की तरंग लम्बाई कम हो जाती है किन्तु फिर से हवा में आने पर तरंग लम्बाई पूर्ववत् हो जाती है। निश्चित ही पेट्रोल की महीन झिल्ली से होकर आने वाली प्रकाश तरंगों की स्थिति भी भिन्न होगी और इसकी वजह से व्यतिकरण होकर रंग–बिरंगे पैटर्न दिखाई पड़ते हैं।

मान लीजिये इसी तरह के अलग अलग अपवर्तनांक वाली परतें एक के नीचे एक हों तो ? कुछ तितलियों के पंखों की बनवाट बिल्कुल ऐसी ही होती है। कुछ तितलियों के पंखों पर बहुत महीन धारियाँ होती हैं जो बहुत पास पास उभरी और धँसी होती हैं। इन परतों की वजह से पंख भी 'डिफ्रेक्शन चलनी' का काम करते हैं।

पंखों पर महीन संरचना दो या तीन परतों में होती है। हरेक परत में बालों की बनावट भिन्न होती है। दो परतों के बीच की दूरी वायु से भरी होती है। इस तरह की बहुस्तरीय रचना के कारण तितलियों के पंखों से परावर्तित होने वाले प्रकाश में विवर्तन और व्यतिकरण, दोनों घटनायें देखने को मिलती हैं। ऐसी तितलियों को यदि हम कोण बदल बदल कर देखें तो उनके पंखों के रंग बदलते हुये नजर आते हैं।

कुछ तितलियों में रंग रासायनिक रचना और भौतिक रंगों का मिला जुला प्रभाव भी हो सकता है। मान लीजिये किसी तितली के पंखों की महीन धारियों में पीला रंजक पदार्थ मौजूद है तथा महीन धारियों की बहुस्तरीय परत नीला रंग बनाने वाली है तो इन दोनों के मिले जुले प्रभाव से तितली हरे रंग की दिखेगी।

शरीर की सतह पर प्राप्त विशेष रचनाओं के कारण रंगीन दिखना सिर्फ तितलियों तक सीमित नहीं है। कुछ कीटों, पक्षियों, मछलियों, साँपों में भी इसी प्रकार के रंग दिखाई देते हैं।

यदि मोर पंख के पिछले हिस्से पर प्रकाश डालकर सामने से देखा जाये तो पता चलता है कि मोर पंख वास्तव में उतना रंग बिरंगा नहीं है। उसमें सिर्फ बैंगनी रंग की बहुलता है। पंख पर सामने से पड़ने वाले प्रकाश के परावर्तन, विवर्तन और व्यतिकरण के कारण यह मन को लुभाने वाली हरी–नीली छटायें बिखेरता है।

अतः कौन से रंग दिखेंगे और किस पैटर्न में दिखेंगे यह वायु की परत, तितलियों के पंखों की रचना उनके अपवर्तनांकों में अन्तर जैसी बातों पर निर्भर है। इसका अर्थ यह है कि पंखों पर जमे विभिन्न पदार्थों के परतों के बीच का खाली स्थान वायु की बजाय किसी अन्य पदार्थ द्वारा भरा जाये तो कुछ भिन्न पैटर्न नजर आयेंगे। *('शैक्षिक संदर्भ' के लेख के आधार पर)*

ब्रायलर पालन : लाभकारी धन्धा

उमेश कुमार शुक्ल

भारत देश में सबसे पहले आन्ध्र प्रदेश में जंगली फाउल (Jungle fowl: gallus gallus) नामक मुर्गियों के पाले जाने की प्रथा प्रारम्भ हुई। उसके बाद पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल और बिहार राज्यों में इसे अपनाया जाने लगा। अब तो कुक्कुट पालन एक लाभकारी धंधा बन चुका है। इसके अन्तर्गत मुर्गे तथा मुर्गियाँ मुख्य पक्षी हैं। मांस के लिये जिन पक्षियों को पाला जाता है उसमें नर मुर्गे जो 6–8 सप्ताह में तैयार होते हैं तथा 1.5 से 2.0 किलोग्राम तक होते हैं ब्रायलर (Broiler) कहलाते हैं।

हमारे देश में कुक्कुटों की संख्या प्रति वर्ग कि0मी0 लगभग 40 है। इस तरह प्रति व्यक्ति कुक्कुटादि की उपलब्धि 0.28 है जबकि डेनमार्क में यह संख्या 6.98 है। पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, बिहार, आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के लिये यह मान क्रमशः 33.7, 86.5, 70.9, 11.2 है। अनुमान है कि भारत में प्रति 100 व्यक्ति 20 ब्रायलर आते हैं जबकि डेनमार्क में यही संख्या 540, कनाडा में 373 तथा यू0एस0ए0 में 286 है।

अमेरिका में प्रति व्यक्ति कुक्कुट मांस की वार्षिक खपत 13.18 किग्रा0 है लेकिन भारत में यह मात्र 131 ग्राम है। अन्य पशुओं की तुलना में कुक्कुट पालन अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि मांस के लिये पशु पालने की अपेक्षा कुक्कुट पालन में खर्च कम आता है। एक किग्रा0 ब्रायलर मांस उत्पादन करने के लिये 2.5 किग्रा0 दाने की आवश्यकता होती है जबकि एक किग्रा0 सुअर का मांस उत्पादन करने के लिये 3 किग्रा0 अनाज की आवश्यकता होती है। इसी तरह 1 किग्रा0 बैल का मांस उत्पादन करने के लिये 6 किग्रा0 आहार की आवश्यकता होती है। 1957 में कुक्कुट पालन के लिये भारत सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान करने की घोषणा की गयी। तत्पश्चात् आगे की पंचवर्षीय योजनाओं में भी कुक्कुट फार्मों के लिये सहायता मिलती रही है। इसके बाद भारत सरकार ने पाँच कुक्कुट फार्मों (Poultry farm) की स्थापना की जो बंगलौर, मुम्बई, भुवनेश्वर, दिल्ली और कमलाही (शिमला) में स्थित हैं। इन फार्मों में मुर्गियों को संकरित करके किसानों में उनका वितरण किया जाता है।

कुक्कुट को पालने के लिये आवास व्यवस्था अच्छी होनी चाहिये। स्थान ऊँचे पर हो जहाँ पानी न भरता हो व राजमार्ग से कम से कम 100 मीटर की दूरी पर हो। यह आवास पक्का हो, कम से कम तीन

सारणी – 1

खाद्य पदार्थ प्रतिशत	1 सप्ताह से 4 सप्ताह तक के ब्रायलर के लिये	5 से 8 सप्ताह तक के ब्रायलर के लिये
पीली मक्का	25.0	20.0
चावल पालिश	26.0	28.0
जौ या जई	7.0	7.0
गेहूँ की भूसी	7.0	7.0
मूंगफली की भूसी (कवकरहित)	18.0	20.0
मक्का ग्लूटिन चूर्ण	5.0	5.0
मछली का चूर्ण (भाप लगा)	6.0	7.0
मांस का चूर्ण (भाप लगा)	3.0	3.0
हड्डी का चूर्ण (भाप लगा)	1.0	1.0
कैल्सियम	1.5	1.5
नमक	0.5	0.5

फीट तक ईंटों की जुड़ाई के बाद जाली का प्रयोग किया जाय जिससे वातायन की अच्छी सुविधा हो, नहीं तो कुक्कुटों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कुक्कुट घर में प्रकाश, सफाई व सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। प्रकाश के लिये दो बल्ब के बीच की दूरी 8 से 10 फीट होनी चाहिये। अनुमानतः ब्रायलर को 20–22 घंटे प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। धीरे–धीरे ब्रायलर के बढ़ने पर प्रकाश की आवश्यकता कम होती जाती है। 16 घंटे तक सामान्य कुक्कुट का शारीरिक ताप $107^{o}F$ ($41.6^{0}C$) से अधिक होने पर शरीर की ऊर्जा का ह्रास अधिक होता है जिसे आहार (Feed) से पूरा करना होता है परन्तु $38^{0}C$ पर यदि आपेक्षिक आर्द्रता 80 प्रतिशत अधिक हो तो कुक्कुटों की मरने की आशंका रहती है।

कुक्कुटों को दाना (Feed) व पानी देने का तरीका आसान है। ब्रायलर को प्रति पक्षी 2 लीटर पानी की आवश्यकता होती है। ब्रायलर को सुबह–शाम पानी देते हैं। उन्हें समूचा दाना खिलाते हैं। समूचा दाना प्रायः उन कुक्कुटों को खिलाया जाता है जो खुले वातावरण में विचरण करते हैं। इन कुक्कुटों को पर्याप्त मात्रा में हरी घास और कीड़े–मकोड़े आहार के रूप में प्राप्त होते रहते हैं। समूचे दाने एवं दलिया को एकसाथ मिलाकर खिलाते हैं। समूचे दाने को पीसकर गोली बनाकर भी खिला सकते हैं। गीली दलिया भी खिलाई जा सकती है, नहीं तो एक विशेष प्रकार का राशन मिलता है जो कि ब्रायलर स्टार्टर (Broiler Starter) एवं ब्रायलर फिनिशर (Broiler Finisher) के रूप में जाना जाता है। ब्रायलर स्टार्टर को पहले सप्ताह में देते हैं, उसके बाद उम्र बढ़ने के आधार पर ब्रायलर फिनिशर का प्रयोग करते हैं, आयु के अनुसार ब्रायलर राशन में सारणी 1 के अनुसार अवयव उपस्थित होने चाहिये।

ब्रायलर व्यवसाय कम समय और कम लागत से ज्यादा उत्पादन देने वाला है। करीब 28–35 दिन के भीतर आय शुरू हो जाती है। उन्नत कृषकों के लिये यह लाभप्रद धंधा सिद्ध हो सकता है।

102, तालाब नवल राय
नया बैरहना, इलाहाबाद

पृष्ठ 5 का शेष

फोरेन्सिक मेडिसिन में भूमिका :– जैव प्रौद्योगिकी से किसी भी व्यक्ति की पहचान या उसके अंगों की पहचान कर सकते हैं। माता पिता से सम्बन्धित झगड़ों के निपटारे किये जा सकते हैं। ब्लड ग्रुप व सीमेन इत्यादि के दाग की पहचान करने में सहायता मिलती है।

जैव प्रौद्योगिकी के नुकसान :– अभी तक जैव प्रौद्योगिकी के फायदे तो हमने देखे परन्तु नैतिक मुद्दे अब सभी वैज्ञानिकों के लिये चिन्ता का विषय बन रहे हैं। बायोएथिक्स विशेषज्ञा और कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में जीवविज्ञान की प्रोफेसर नैन्सी लेन का कहना है कि क्लोनिंग की तुलना में गोपनीयता के अभाव में ज्यादा खतरा है। कम्प्यूटर पर किसी भी व्यक्ति की जीनोमिक कुंडली उसके ग्रहों व नक्षत्रों के साथ पढ़ी जा सकेगी, सभी बीमा कंपनियाँ उस कुंडली में राहु केतु (बीमारी की जीनें) को देखना चाहेंगी और यदि वे मिल जायें तो या तो वह बीमा करेंगी या नहीं, या फिर प्रीमियम बढ़ा देंगी। इसी प्रकार दफ्तरों में भी नौकरी के लिये शैक्षिक योग्यता के साथ–साथ जीनोमिक योग्यता भी देखी जायेगी। साथ ही हमारे देश में तो यह पैसा कमाने का साधन बन जायेगा।

जैव प्रौद्योगिकी बहुत तेजी से विकसित होने वाला बहुआयामी क्षेत्र है। यदि सरकार, चिकित्सक और दवाई कम्पनियाँ मिलकर सतर्कता से इसका उपयोग करेंगी तो मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल होगा। परन्तु गलत हाथों में इसकी तकनीकें मानव को नुकसान भी पहुँचा सकती हैं।

सह आचार्य,
गैस्ट्रोएंटरोलॉजी विभाग,
मोतीलाल नेहरू मेडिकल कॉलेज,
इलाहाबाद।

अंतरिक्ष में बर्ड

भारत व जर्मनी के परस्पर सहयोग से एक नवीन अंतरिक्ष परियोजना शीघ्र आरम्भ होने वाली है। 'बर्ड' की तैयारियां लगभग पूर्ण हैं और मई 2001 में निर्धारित तिथि को प्रक्षेपण संभव करने के लिये वैज्ञानिक एवं तकनीशियन दिन रात एक किये हुये हैं। 'बर्ड' (Bispectral Infra Red Detector) मिशन को जर्मन ऐयरो स्पेस केन्द्र की आर्थिक सहायता प्राप्त है। इसका प्रक्षेपण भारतीय अंतरिक्षयान प्रक्षेपण केन्द्र श्री हरिकोटा से किया जायेगा।

'बर्ड' में नई पीढ़ी के शीत अवरक्त संसूचक लगे हैं तथा ये पृथ्वी के तप्त क्षेत्रों का पता लगाने में सहायक सिद्ध होंगे। अब तक ऐसी कोई अंतरिक्षीय यांत्रिक प्रणाली नहीं थी जो तप्त बिंदुओं की सूचना दे सके। जंगल की आग, तेल कुओं की आग, ज्वालामुखी, कोयला खदानों की आग आदि तप्त क्षेत्रों के उदाहरण हैं। उपग्रह में लगे कैमरे 500^0C व 800^0C के तापमान वाली आगों की अलग अलग पहचान करके उनकी आरंभिक स्थिति में सूचना देने में सक्षम होंगे। इस प्रकार उचित उपायों द्वारा पर्यावरण को होने वाली हानि कम की जा सकेगी। भारत व जर्मन वैज्ञानिक कार्बन डाइ आक्साइड के स्तर व इस कारण बढ़ने वाले वैश्विक तापन पर भी दृष्टि रख सकेंगे।

ई–पुस्तकें

यदि आपकी आलमारी पुस्तकों से भर चुकी हो और पुस्तकों पर जमा धूल आपकी चिंता का कारण हो तो अब आप निश्चिंत हो सकते हैं। आपकी इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेंगी – इलेक्ट्रॉनिक पुस्तकें। एक छोटे से यंत्र में आप पूरा का पूरा पुस्तकालय भर सकते हैं और इसे आसानी से अपने साथ ले जा सकते हैं। ये पुस्तकें स्थान, श्रम व समय की बचत करेंगी।

देवव्रत द्विवेदी

सूर्य के धब्बे या सौर कलंक

सूर्य की सतह मुख्य रूप से तीन गैसीय परतों से मिलकर बनी है। पृथ्वी से दिखायी देने वाली परत को फोटोस्फियर तथा उसके बाद वाली परत को क्रोमोस्फियर एवं बाहरी परत को कोरोना कहा जाता है। क्रोमोस्फियर एवं कोरोना को केवल पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय ही देखा जा सकता है। फोटोस्फियर का तापमान लगभग 6000 डिग्री सेल्सियस है। सौर धब्बे इसी फोटोस्फियर पर बनते एवं मिटते हैं। ये धब्बे सूर्य की सतह पर भँवर के रूप में प्रकट होते हैं। इन धब्बों के स्थान का तापमान लगभग 4800 डिग्री सेल्सियस होता है। धब्बे का मध्यभाग प्रच्छाया तथा चमकते किनारे वाला भाग उपच्छाया कहलाता है। एक अन्य विचार के अनुसार सूर्य के ये धब्बे सौर विस्फोट के कारण उत्पन्न होते हैं। 1610 ई0 में गैलीलियो ने धब्बों का पता स्वनिर्मित टेलीस्कोप से लगाया था जो समूहों में दिखाई देते हैं तथा इनकी संख्या एक नियमित क्रम में घटती एवं बढ़ती है। इसे सौर चक्र कहते हैं जिसका अन्वेषण 1843 ई0 में किया गया था। ये धब्बे 7वें, 11वें तथा 14वें वर्ष में प्रकट होते हैं। सूर्य पर अधिक मात्रा में धब्बे प्रति 11 वर्ष बाद देखे जाते हैं इसलिये सौर विस्फोट चक्र की अवधि को 11 वर्ष बताया गया है। ये धब्बे सूर्य पर 5 डिग्री से 45 डिग्री अक्षांशों के मध्य पाये जाते हैं। विस्फोट चक्र के प्रारम्भ में ये धब्बे 45 डिग्री अक्षांशों में प्रकट होते हैं और चक्र के अंत में उन्हें भूमध्य रेखा के निकट 5 डिग्री पर देखा जा सकता है। भूमध्य रेखा के निकट विस्फोटों का अंत होने के पूर्व 45 डिग्री अक्षांशों में यह पुनः दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस क्रिया को स्पोरर्स नियम कहते हैं। अधिकतम विस्फोटों के समय चुम्बकीय झंझावात उत्पन्न होते हैं। परिणामतः इन काले धब्बों से प्रबल चुम्बकीय विकिरण उत्पन्न होते हैं जो पृथ्वी पर अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से छोड़ते हैं। इसके कारण पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र प्रभावित

होता है परिणामस्वरूप इलेक्ट्रॉनिक तथा वैद्युत उपकरणों यथा टी0वी0, रेडियो, वायरलेस, इंटरनेट, फैक्स, ई–मेल आदि संचार माध्यमों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सूर्य के अंदर अन्य क्रियायें भी होती रहती हैं, यथा– सूर्य के भुमके – सूर्य में कुछ विशेष क्रियाओं द्वारा कुछ भुमकों की उत्पत्ति होती रहती हे। ये भुमके एक तरह से गरम धब्बे होते हैं। इनका जीवनकाल 15 मिनट से लेकर कई घण्टों तक का पाया गया है। इन भुमकों के कारण पृथ्वी को असामान्य पराबैंगनी विकिरण का सामना करना पड़ता है। इसके कारण पृथ्वी पर (1) रेडियो तरंगों में गड़बड़ी तथा (2) अरोरावोरियालिस तथा अरोराआस्ट्रियालिस उत्पन्न होता है।

सूर्य के अन्दर दूसरी प्रक्रिया सौर प्रज्ज्वालाएँ उत्पन्न होना है। इनकी ऊँचाई सूर्य की सतह से लगभग 1.5 से 2लाख किमी0 होती है। इनका जीवनकाल 8–10 दिनों से लेकर महीनों तक पाया गया है।

सूर्य के अन्दर तीसरी प्रक्रिया सौर वात का पाया जाना है। वैज्ञानिक अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि सूर्य के अन्दर 120 किमी प्रति घण्टा से लेकर 240 किमी प्रति घण्टा के वेग से हवायें चलती हैं। कभी कभी ये हवायें किन्हीं कारणों से सूर्य क्षेत्र के कोरोना से निकलकर सौर मण्डल में फैल जाती हैं। इन्हीं को सौर वात कहा जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार इसके प्लाज्मा में हाइड्रोजन तथा हीलियम के आयनित परमाणु होते हैं जिसमें प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रान की बराबर मात्रा होती है।

– एस.पी. यादव
शोध छात्र, भौतिकी इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
तथा
सालिक सिंह
प्रवक्ता, लाला लक्ष्मी नारायण डिग्री कालेज,
सिरसा, इलाहाबाद

विलुप्त प्राणियों की भी क्लोनिंग

हाल ही में साइबेरिया के हिम–प्रदेशों में खुदाई के दौरान अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों के एक दल को ऊनी गजराज का एक 20,000 वर्ष पुराना जीवाश्म सुरक्षित ढंग से प्राप्त हुआ है। इस अंतर्राष्ट्रीय अभियान दल के लिये यह पहला अवसर था कि घने लंबे ऊनी बालों वाले इस प्रकार के भारी भरकम जंतु के सम्पूर्ण जीवाश्म को सही ढंग से बाहर निकालने में वैज्ञानिकों को सफलता मिली है। इस प्रकार के हाथी को वूली मैमथ कहा जाता है। वर्तमान के आधुनिक हाथियों से भी इनका निकट संबंध था। लगभग 23,000 वर्ष पूर्व ऐसे वूली मैमथ पृथ्वी पर धड़ल्ले से भ्रमण करते थे।

ऐसी धारणा है कि ऊनी गजराज की आयु साइबेरिया के बर्फ में दबते समय 47 से 49 वर्ष की रही होगी। सन् 1997 में यह खोज एक नौ वर्षीय चरवाहे ने की थी। उसका नाम जार्कोव था। अतः वूली मैमथ के जीवाश्म का नाम भी जार्कोव मैमथ ही रखा गया। परंतु साइबेरिया के अत्यंत प्रशीतित प्रदेश से वूली मैमथ के उस जीवाश्म को निकालना कठिन कार्य था। अतः मैमथ के जीवाश्म से युक्त बर्फीली जमीन के 23 टन भार वाले उस टुकड़े को हेलीकाप्टर की सहायता से 320 किमी दूर बर्फीली सुरंग में रखा गया। स्पष्टतः वैज्ञानिकों के लिये संपूर्ण रूप से सुरक्षित अवस्था में अध्ययन हेतु प्राप्त यह पहला ऐसा जीवश्म है जिसे किसी प्रयोगशाला में ले जाना संभव हो सका है।

वैज्ञानिकों के इस दल के अनुसार यह एक महत्वपूर्ण खोज है। इस खोज से यह जानकारी भी मिलती है कि लगभग 20,000 वर्ष पूर्व यहाँ कोई झील या तालाब रहा होगा अर्थात् तत्कालीन युग के तापमान तथा जलवायु के विषय में भी नयी जानकारी अवश्य प्राप्त हो सकती है। साथ ही यह भी पता चलेगा कि विषम तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ऐसा प्राणी सक्षम होने के बावजूद पृथ्वी पर क्यों तथा कैसे लुप्त हो गया ? उल्लेखनीय है कि आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अमेरिका को छोड़ कर लगभग प्रत्येक महाद्वीप में ही ऊनी गजराज के जीवाश्म प्राप्त हुये। सबसे पहले आज के लगभग 30 लाख से 40 लाख वर्ष पूर्व ऐसे प्राणी अफ्रीका में प्रकट हुये परंतु उसे आधुनिक मैमथ का पूर्वज न मान कर उसका चचेरा भाई समझा जाता

है। दरअसल उस महाकाय ऊनी गजराज में 58 क्रोमोसोम होते थे जबकि वर्तमान युग में हाथी के क्रोमोसोम्स की संख्या 56 है। स्पष्ट है कि यह आनुवांशिकीय तथ्य है कि इन दोनों के बीच मात्र 4 प्रतिशत का ही अंतर है जिससे वैज्ञानिकों की यह साधारण विचारधारा भी बनी है कि इन दोनों प्रजातियों के बीच प्रजनन कराया जाना संभव है।

लुप्तप्राय बाघों की सुरक्षा

पूरे विश्व में बाघों की संख्या निरंतर घट रही है। इस समस्या से निपटने के लिये दक्षिण कोरिया के वैज्ञानिकों ने क्लोनिंग तकनीक से 'अमूर' बाघ के विलुप्त होने की आशंका से उत्पन्न स्थिति का सामना करने की नीति अपनायी है। जिस प्रकार से डॉली नामक क्लोन भेड़ को क्लोनिंग तकनीक द्वारा बनाने में वैज्ञानिकों को सफलता मिली है, उसी प्रक्रिया से ही बाघ–क्लोन बनाया जायेगा। उल्लेखनीय है कि विशेषज्ञों का यही दल इससे पहले मवेशियों की क्लोनिंग करने में सफलता प्राप्त कर चुका है। इस प्रकार की तकनीक में किसी जन्तु के शरीर के किसी भाग से एक कोशिका लेकर उससे भ्रूण काय विकास करके उसका प्रतिरूप बनाया जाता है। दरअसल अमूर बाघ की प्रजाति अत्यंत दुर्लभ है अतः इस प्रजाति के भ्रूण को विकसित करने हेतु रायल बंगाल टाइगर या साइबेरियन बाघ का प्रयोग किया जायेगा। ये दोनों प्रजातियाँ अमूर बाघ के काफी निकट मानी जाती हैं।

उल्लेखनीय है कि आज से 100 वर्ष पूर्व पाये जाने वाली 8 प्रजातियों में से तीन प्रजातियाँ लुप्त हो चुकी हैं। निरंतर जंगल काटे जाने से अमूर नस्ल के चीतों की संख्या में बहुत कमी आई है। दूसरी ओर चीन मे बनने वाली परम्परागत दवाओं के लिये बाघ की हड्डी को ढूँढने के चक्कर में घूमते हुये शिकारियों ने भी इस प्रजाति की काफी क्षति की है। विश्व में रायल बंगाल टाइगर की ही सर्वाधिक संख्या पाई गयी है परंतु उनकी संख्या भी घटकर 4000 रह गयी है। इस तरह की विकट परिस्थिति उत्पन्न होने के कारण बाघ संरक्षण हेतु अब और बल प्रदान किया जा रहा है। इसके अलावा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नामी व्यक्तित्वों द्वारा भी समर्थन तथा आर्थिक सहयोग दिया जा रहा है।

– डॉ0 शुभंकर बनर्जी
जी–30, ढक्का कॉलोनी, किंग्सवे कैम्प, दिल्ली – 9

मीर का न होना

23 मार्च को लगभग 130 टन वजन के इस अंतरिक्ष केंद्र के कुछ ही हिस्से पृथ्वी पर गिरे। करीब डेढ़ हजार डिग्री सेल्सियस तापमान वाले बीस से चालीस टन के ये टुकड़े बहुत खतरनाक थे इसीलिये उस दिन ऑस्ट्रेलिया और फिजी के बीच के उस हिस्से में व्यापक सावधानी बरती गई थी, जहाँ इन टुकड़ों को गिरना था। कहना पड़ेगा कि मीर को सुरक्षित ढंग से नष्ट करके रूसी अंतरिक्ष वैज्ञानिकों ने एक बार फिर उसी विलक्षणता का परिचय दिया है जिस विलक्षणता से करीब पंद्रह वर्ष पहले उन्होंने मीर को अंतरिक्ष में टाँगा था।

मीर पृथ्वी की कक्षा में घूमने वाली सबसे बड़ी मानव निर्मित वस्तु ही नहीं थी, बल्कि उसका संबंध अंतरिक्ष से संबंधित कई कीर्तिमानों से भी था। अगर मीर न होता, तो किसी मनुष्य के लिये अंतरिक्ष में रिकॉर्ड चार सौ अड़तीस दिनों तक रहना संभव नहीं था। मीर ने कुल पंद्रह वर्षों में धरती के चारों ओर करीब 2.2 अरब मील की दूरी तय की थी। यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि मीर के कारण ही अंतरिक्ष वैज्ञानिकों से संबंधित हजारों अनुसंधान संभव हो पाये हैं। यह देश–विदेश के अंतरिक्ष वैज्ञानिकों और अंतरिक्ष यानों की आरामगाह तो था ही, कुल साढ़े सोलह हजार से ज्यादा प्रयोग भी यहाँ किये गये थे। अब जब मीर का अस्तित्व खत्म हो चुका है तब यह सवाल अपनी जगह बरकरार है कि अंतरिक्ष से संबंधित अनुसंधानों में अब किसकी मदद मिलेगी।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक – प्रसूति परिचर्या

लेखिका – डॉ0 विनया पेण्डसे

प्रकाशक–राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
प्लाट नं0 1, झालाना सांस्थनिक
क्षेत्र, जयपुर – 4

संस्करण– प्रथम, वर्ष 2000, मूल्य 120 रुपये,
पृष्ठ 380

प्रस्तुत पुस्तिका प्रसूति शास्त्र पर लिखी गई है। हिन्दी भाषा में ऐसे व्यावहारिक विषयों पर पुस्तकों का अत्यधिक अभाव है। प्रसूति विषय में इस अभाव को पूरा करने का यह एक सराहनीय प्रयास है।

लेखिका ने बड़ी सरल भाषा में परिचर्या की दृष्टि से, इस विषय पर प्रकाश डाला है। सामान्य गर्भावस्था तथा प्रसव से जटिल प्रसव तथा प्रसवोत्तरकालीन जटिलताओं का विस्तृत वर्णन निश्चित ही पाठकों को लाभान्वित करेगा।

पुस्तिका पाँच भागों में विभाजित है और सभी भाग विषयसंगत हैं। चित्रों से पुस्तक की गुणवत्ता बढ़ी ही है। प्रायः सभी चित्र उद्देश्य की पूर्ति कर रहे हैं तथा स्वतः स्पष्ट हैं।

पोषाहार, टीकाकरण, व्यायाम तथा विषय संगत एच0आई0वी0 संक्रमण पर चर्चा होने से पुस्तक की गुणवत्ता निश्चित ही बढी है। ग्रामीण क्षेत्र प्रसव की परिचर्या, आपातकालीन केस परिचर्या तथा सन्दर्भन विषयों की जानकारी भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

कुछ विषयों पर त्रुटियाँ हैं जो सरलता से दूर की जा सकती हैं। उदाहरणार्थ आहार की मात्रा यदि आई.सी.एम.आर. की संस्तुति के आधार पर होती तो अधिक मान्य होता। हिन्दी भाषा में अध्ययन कर रहे स्वास्थ्यकर्मियों के लिये यह पुस्तक बहुमूल्य सिद्ध होगी।

पुस्तक – स्त्री रोग–परिचर्या

लेखिका – डॉ0 विनया पेण्डसे

प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–26/2,विद्यालय मार्ग, तिलक
नगर, जयपुर – 4

संस्करण– प्रथम, संस्करण 1994, मूल्य 92
रुपये, पृष्ठ – 220

प्रस्तुत पुस्तिका स्त्री रोगों को हिन्दी में भाषाबद्ध करने का एक प्रशंसनीय प्रयास है। सरल भाषा में इस जटिल विषय पर विस्तृत जानकारी दी गई है।

स्त्री प्रजनन अंग, उनमें उत्पन्न रोगों के लक्षण, परीक्षण तथा उपचार को सविस्तार बताया गया है। प्रजनन अंगों से सम्बन्धित संक्रमण, कैंसर व अन्य रोगों पर तथा लघु व बड़ी शल्य क्रियाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। शल्य क्रिया में प्रयोग किये जाने वाले सभी उपकरणों का चित्रण भी उपयोगी सिद्ध होगा। चित्रों के माध्यम से लेखिका ने विषय को सरल एवं पूर्ण बनाने का सराहनीय कार्य किया है।

बाँझपन, गर्भपात तथा परिवार नियोजन पर चर्चा कर सामयिक विषय की महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है। चूँकि यह पुस्तक 1994 में प्रकाशित हुई अतः इसमें कुछ गर्भनिरोधक साधनों की चर्चा नहीं है। मुझे पूरा विश्वास है कि अगले संस्करण में इसकी आपूर्ति हो जायेगी।

लेखिका ने स्वास्थ्यकर्मियों, विशेषकर परिचारिकाओं के लिये एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रस्तुत की है। उनकी जानकारी के लिये यह पुस्तक पर्याप्त है। कुछेक मुद्रण त्रुटियाँ रह गई हैं जिन्हें अगले संस्करण में सुधारा जा सकेगा।

– प्रो0 डॉ0 श्रीमती श्रद्धा द्विवेदी
सोशल एण्ड प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग
मोतीलाल नेहरु मेडिकल कालेज, इलाहाबाद–2

चतुर्थ जैवप्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यान सम्पन्न

विज्ञान परिषद् प्रयाग के तत्वावधान में जैव प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार द्वारा प्रायोजित जैव प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यानमाला का चतुर्थ व्याख्यान "विज्ञान दिवस" 28 फरवरी 2001 को मोतीलाल नेहरू मेडिकल कालेज इलाहाबाद के नैथानी सभागार में सम्पन्न हुआ। मेडिकल कालेज के गैस्ट्रोएंटरोलॉजी विभाग के उपाचार्य डॉ0 एस.पी. मिश्रा ने 'बायोटेक्नोलाजी इन मेडिसिन्स' विषय पर एक रोचक एवं सूचनाप्रद व्याख्यान दिया।

डॉ0 मिश्रा ने चिकित्सा व स्वास्थ्य के क्षेत्र में जैव प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रभाव को विस्तार से बताते हुये भविष्य में चिकित्सा की नई प्रविधियों के विकास एवं मानव के महामानव बनने की संभावना पर भी विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि आने वाले वर्षों में इच्छित गुणों वाले तथा आनुवांशिक बीमारियों से मुक्त शिशु जन्म लेंगे। जीनोम, मानव क्लोनिंग, बौद्धिक संपदा आदि विषयों पर भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये।

कार्यक्रम के आरंभ में विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने आगन्तुक अतिथियों व श्रोताओं का स्वागत किया। मेडिकल कालेज के प्राचार्य डॉ0 यू.एस. सिन्हा ने अपने अध्यक्षीय भााषण में इस आयोजन के लिये जैव प्रौद्योगिकी विभाग व विज्ञान परिषद् के प्रति आभार प्रगट किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ0 श्रीमती श्रद्धा द्विवेदी ने किया तथा डॉ0 श्रीमती मनीषा द्विवेदी ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

इस अवसर पर डॉ0 कृष्णा मिश्रा, डॉ0 वत्सला मिश्रा, डॉ0 दिव्यंबर द्विवेदी व मेडिकल कालेज के अनेक प्राध्यापक व छात्र–छात्राएँ उपस्थित थे।

–देवव्रत द्विवेदी

जैव प्रौद्योगिकी पर पाँचवाँ व्याख्यान सम्पन्न

विज्ञान परिषद् प्रयाग ने 3 मार्च को स्थानीय सी.एम.पी. डिग्री कालेज की महिला शाखा में "इन विट्रो फर्टिलाइजेशन" विषय पर एक व्याख्यान का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने की। मुख्य अतिथि महिला शाखा की निदेशिका श्रीमती शोभा श्रीवास्तव थीं। व्याख्यानदाता थे सी.एम. पी. डिग्री कालेज के वनस्पति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ0 राजेश्वर प्रसाद। उन्होंने बताया कि जैव प्रौद्योगिकी एक अति विकसित और उपयोगी तकनीक है। अधिक उपज, रोगरोधी, शीघ्र तैयार होने वाली फसलें, अनेक असाध्य रोगों के उपचार के लिये दवाइयों, पादपों के अंगों अथवा समूचे पादपों का संवर्धन, जन्तुओं की कोशिकाओं अथवा अंगों का संवर्धन, भेड़, बंदर जैसे जानवरों का क्लोनन विधि द्वारा जन्म जैसी अनेक उपलब्धियाँ हैं जो जैव प्रौद्योगिकी की देन हैं। आगे बोलते हुये उन्होनें कहा कि इन विट्रो फर्टिलाइजेशन (पात्रे निषेचन) जैव प्रौद्योगिकी की एक ऐसी उन्नत विधि है जिसमें माँ से प्राप्त डिम्ब को परखनली में पिता के शुक्राणुओं से निषेचित कराकर, भ्रूण को विकसित करके स्वस्थ शिशु उत्पन्न करते हैं। ऐसे दम्पतियों के लिये यह विधि वरदान सिद्ध हुई है जो किसी कमी के कारण शिशु को जन्म दे सकने में सक्षम नहीं होते।

किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे शिशु का माता–पिता, परिवार अथवा समाज से किस प्रकार का रिश्ता होगा ? अतएव मानसिक संवेदना के स्तर पर क्या बदलाव होंगे और पारिवारिक व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप क्या होगा ? इसके उत्तर भविष्य के गर्भ में हैं। यह व्याख्यान रोचक, ज्ञानवर्धक और नई जानकारियों से युक्त था। वनस्पति विभाग के सीनियर रीडर डॉ0 सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने सुझाव रखा कि जैव–प्रौद्योगिकी अनुसंधानों के कुछ ऋणात्मक परिणाम भी हैं जिनकी भलीभाँति जाँच होनी चाहिये। कई छात्राओं ने व्याख्यानदाता से प्रश्न पूछे जिसके कारण व्याख्यान अत्यंत रोचक हो गया।

प्रारंभ में डॉ0 मीना राय ने उपस्थित विद्वज्जनों का स्वागत किया। प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, पूर्व अध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सी.एम.पी. डिग्री कालेज ने व्याख्यानदाता का परिचय प्रस्तुत करते हुये बताया कि डॉ0 प्रसाद ने विदेश में भी उच्चस्तरीय शोधकार्य किया है। श्रीमती शोभा श्रीवास्तव ने मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुये कहा कि इस प्रकार के व्याख्यानों को वर्ष में कई बार आयोजित करने की आवश्यकता है क्योंकि इनके माध्यम से विज्ञान न जानने वाले लोग भी लाभ उठाते हैं।

इस व्याख्यान के अवसर पर कालेज के अध्यापकों में डॉ0 डी.एन. लाल, डॉ0 सुरेन्द्रनाथ, डॉ0 वी.के. ललोरिया, डॉ0 हृदय नारायण, डॉ0 मंजु रंजन, डॉ0 सुधा बाला निगम, डॉ0 अमिता पाण्डेय, डॉ0 सुषमा चौहान, डॉ0 विनीता शुक्ला, डॉ0 सत्येन्द्र नाथ के अतिरिक्त शीलाधर मृदा शोध संस्थान के सीनियर व्याख्याता डॉ0 दिनेश मणि, विज्ञान परिषद् के श्री देवव्रत द्विवेदी, श्री बृजेश, श्री सतीश, श्री चन्द्रकान्त एवं बी.एस.सी. वनस्पति विज्ञान की छात्रायें और महाविद्यालय के कार्यालय के लोग भी उपस्थित थे।

जैव प्रौद्योगिकी पर छठा व्याख्यान सम्पन्न

27 मार्च 2001 को इलाहाबाद कृषि संस्थान डीम्ड विश्वविद्यालय नैनी, इलाहाबाद के जैव रसायन विभाग के सभागार में विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित छठे जैव प्रौद्योगिकी लोकप्रिय व्याख्यान के अंतर्गत भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली के डॉ0 अनुपम वर्मा ने "Biotechnological Management of Viral Diseases in Plants" विषय पर व्याख्यान दिया। डॉ0 वर्मा ने स्लाइडों के माध्यम से पौधों व फसलों को हानि पहुँचाने वाली विषाणु जनित अनेक बीमारियों के बारे में बताया व उनके निदान की दिशा में वैज्ञानिकों द्वारा किये जा रहे नवीन शोधों की जानकारी दी। जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से विषाणुओं के प्रसार पर नियंत्रण की विभिन्न तकनीकों के बारे में भी उन्होंने विस्तार से चर्चा की।

इस असवर पर विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्रा ने डॉ0 वर्मा का परिचय प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कृषि संस्थान की डॉ0 श्रीमती प्रमिला गुप्ता व संचालन डॉ0 अशोक कुमार गुप्ता ने किया। इस अवसर पर एम.एस.सी. (कृषि) के छात्र–छात्राओं के अतिरिक्त कृषि संस्थान के अध्यापक तथा विज्ञान परिषद् के श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ0 दिनेश मणि, डॉ0 सुनील कुमार पांडेय आदि उपस्थित थे।

– प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व अध्यक्ष, वनस्पति विभाग,
सी.एम.पी. डिग्री कालेज, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद् प्रयाग की विशिष्ट सदस्यता

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के प्रचार प्रसार के प्रयासों को देश के अनेक वैज्ञानिकों, विद्वानों का संरक्षण व सहयोग सदैव मिलता रहा है। बहुधा यह सहयोग आर्थिक भी होता है। अतः परिषद् ने यह निर्णय लिया है कि वर्ष 2001 से एक हजार रुपये से अधिक आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले वैज्ञानिकों/विद्वानों को विज्ञान परिषद् कृतज्ञतास्वरूप "विज्ञान पार्षद" नाम से विशिष्ट सदस्यता प्रदान करेगी।

—प्रधानमंत्री

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

सम्मान/पुरस्कार

1. राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् द्वारा प्रख्यात भौतिकीविद् प्रो0 यशपाल को विज्ञान लोकप्रियकरण का एक लाख रुपये का पुरस्कार प्रदान किया जायेगा। विज्ञान कथाकार देवेन्द्र मेवाड़ी तथा रेडियो कलाकार अजित चक्रवर्ती को जनसंचार माध्यमों में विज्ञान कवरेज हेतु 50 हजार रुपये के पुरस्कार दिये जायेंगे। बच्चों में विज्ञान के प्रचार हेतु 50 हजार रुपये का पुरस्कार भोपाल के अरुण भार्गव को दिया जायेगा।

2. बायोवेद रिसर्च एण्ड कम्युनिकेशन सेंटर इलाहाबाद द्वारा आयोजित कांग्रेस में भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति के सचिव तथा विज्ञान परिषद् के आजीवन सदस्य डॉ0 अरविन्द मिश्र को बायोवेद सेलीब्रिटी एवार्ड प्रदान किया गया।

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@nde.vsnl.net.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200

मई 2001

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

विज्ञान

मूल्य 7 रुपये

पादप ऊतक संवर्धन

सौर ऊर्जा के आयाम
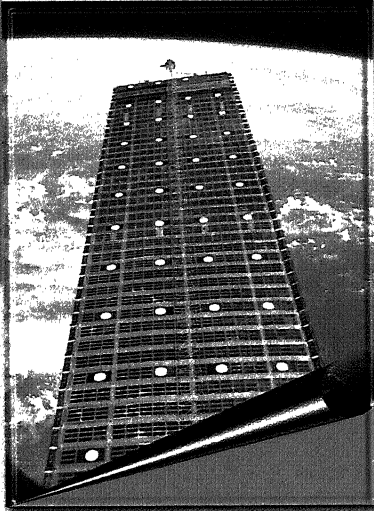
भारतीय हाथी संकट में

कैसे बना हिमालय ?
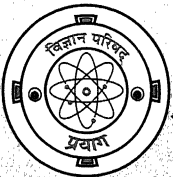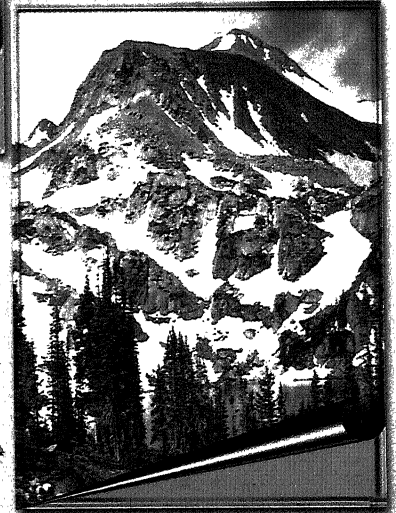
विज्ञान परिषद् प्रयाग

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 2
मई 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

पादप ऊतक संवर्धन

डॉ० एच.सी. चतुर्वेदी

चाहे छोटा सा पौधा हो, या पौधे का प्रोटोप्लास्ट, कोशिका, ऊतक या कोई अंग, यदि उसे किसी काँच के पात्र में किसी संवर्ध माध्यम में रख कर नियन्त्रित दशाओं के अन्तर्गत (यथा ताप, प्रकाश, आर्द्रता को नियन्त्रित करते हुये) अपूतित अवस्था में इनक्युबेट किया जाय तो यही पादप ऊतक संवर्धन है। किन्तु पौधे के अनेक अंगों में से केवल ऊतक को वरीयता दिये जाने के कारण ही इसका नाम ऊतक संवर्धन (Tissue culture) पड़ा। इसमें पात्रे संरचना विकास (Invitro Morphogenesis) का अध्ययन किया जाता है। संरचना विकास का अर्थ है वृद्धि तथा विभेदन की प्रक्रिया का समझना–समझाना जिससे विकास के लिये उत्तरदायी कारणों तथा क्रियाविधियों का स्पष्टीकरण किया जा सके। संरचना विकास से क्रमवार जीनी सूचना उद्घाटित होती है। जब कोशिकाओं तथा ऊतकों को तमाम प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया जाता है तो वे अपने पहले के कार्यों को भूल जाते हैं और अपनी अपनी सत्ता विकसित कर लेते हैं। क्योंकि इनमें वह पूरी जीनी सूचना निहित रहती है जो पूर्ण व्यष्टि (इकाई) को विकसित करने के लिये आवश्यक होती है। संरचना विकास को समझने के लिये आकारिकी, शारीरिकी, भ्रौणिकी, कोशिका विज्ञान, आनुवंशिकी, रोग विज्ञान, जैव रसायन, आण्विक जैव–विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। सर्वप्रथम 1902 में गाटलीब हैबरलैंड ने पादप कोशिकाओं को पात्रे उगाया था और यह आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में इस तरह से कायिक कोशिकाओं से प्राप्त कृत्रिम भ्रूणों के संवर्धित किया जा सकेगा। 1955 में मिलर तथा सहयोगियों द्वारा काइनेटिन नामक वृद्धिकारक की खोज से किसी अंग के निर्माण को त्वरित किया जा सका।

पादप ऊतक संवर्धन जैव प्रौद्योगिकी का एक अति महत्वपूर्ण मुखड़ा है। जैव–प्रौद्योगिकी की उपयोगिता औषधि तथा कृषि क्षेत्र में सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः जैव–प्रौद्योगिकी में संरचना विकास के सिद्धांतों का उपयोग ऊतक संवर्धन में किया है। आण्विक जीव–विज्ञान का क्षेत्र भी कम लोमहर्षक नहीं है किन्तु इसके लिये विपुल धन की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिका जैसे विकसित देशों ने पराजीनी फसलें उगा कर कीर्तिमान स्थापित किया है। 1991 तक 395 पराजीनी पौधों को उगाने के लिये विमोचित किया गया किन्तु इसमें भारत से एक भी पौधा नहीं था। यद्यपि ऊतक संवर्धन के अन्तर्गत, आज भी सूक्ष्म प्रवर्धन (Micro Propagation) व्यवहार्य है, किन्तु अन्य विधियाँ भी अति महत्वपूर्ण हैं– यथा भ्रूण रक्षा, पात्रे परागण, मेरिस्टेम संवर्धन, पुंजनन (एंड्रोजेनेसिस) तथा जायाजनन (गाइनोजेनेसिस) आदि। इनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है।

1. कौलोजेनेसिस (Caulogenesis) के द्वारा पौधों का गुणन ही सूक्ष्मप्रवर्धन है। इसमें काटी गई प्ररोह के अग्रभाग में या कि कैलस ऊतक में ही यह प्रक्रिया हो सकती है। पहले से सीधा पुनर्जनन तथा क्लोनीय गुणन होता है जबकि दूसरे से प्रत्यक्ष पुनर्जनन होता है। तम्बाकू, गाजर, नींबू में इस तरह का संवर्धन होता है। किन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में ऑर्किड का सूक्ष्म प्रवर्धन ऊतक संवर्धन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। थाईलैण्ड तथा सिंगापुर में इसका करोड़ों डॉलर का व्यापार होता है। चूँकि भारत में ऑर्किड की किस्मों की बहुतायत है अतः यहाँ भी इसकी संभावनायें हैं। इसके अतिरिक्त अनेक शोभाकारी (सजावटी) पौधों को फूलों तथा पत्तियों के लिये व्यापारिक पैमाने पर उत्पन्न किया जाता है। लखनऊ की ऊतक संवर्धन प्रयोगशाला में ऑर्किड, क्राइसैंथमम, पेटूनिया, ग्लैडिओलस जैसे शोभाकारी पौधों के अलावा अनेक औषधीय पौधों का भी गुणन ऊतक संवर्धन द्वारा किया जा रहा है। इसमें *राओवोल्फिया, सर्पेन्टिना, ऐट्रोपा, बेलाडोना, डिटैलिस,*

पुरपुरिया, डायस्कोरिया, फ्लोरिबंडा आदि मुख्य हैं। ऊतक संवर्धन विधि से डायस्कोरिया फ्लोरिबंडा की एक कक्षीय कलिका से 25 लाख क्लोनित पौधे तैयार किये जा सकते हैं जबकि घनकंद के टुकड़ों से 8 पौधों से अधिक नहीं प्राप्त किये जा सकते।

अनेक फलदार वृक्षों के गुणन में भी ऊतक संवर्धन उपयोगी है। लखनऊ की प्रयोगशाला में नींबू (Citrus) पर शोध कार्य हुआ है। यह भारत में अपनी तरह का पहला प्रयास है, यद्यपि स्पेन में इस तरह से सिट्रस उत्पादन काफी बढ़ा है। इसी तरह वन के पौधों के सूक्ष्म प्रवर्धन में सफलता मिली है। इनमें बाँस, डलबर्गिया लैटीफोलियम आदि मुख्य हैं। देश में वन के विनाश के कारण तेज़ी से उगने वाले वन के पौधों के उत्पन्न किये जाने की अत्यधिक आवश्यकता है। अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका को प्रतिदिन 15 लाख पौधे लगाने की आवश्यकता है। इतनी अधिक माँग की पूर्ति केवल ऊतक संवर्धन से सम्भव है।

भारत में ऊतक संवर्धन का व्यापारीकरण 1987 से कोचीन की एक कम्पनी ने शुरू किया। इसने इलायची तथा ऑर्किडों का ऊतक संवर्धन किया। देखादेखी बंगलोर की इंडो–अमेरिकन सीड्स कम्पनी ने यही कार्य शुरू किया। प्रायः व्यापारिक ऊतक संवर्धन का अर्थ शोभाकारी पौधों के सूक्ष्म प्रवर्धन से लिया जाता है। धन कमाने की दृष्टि से यह ठीक है किन्तु यदि पृथ्वी के हरित आवरण को फिर से ठीक ढंग से स्थापित करना है तो अन्य पौधों को वरीयता देनी चाहिये। सम्प्रति 5000 लाख पौधे ही उत्पन्न किये जा रहे हैं जबकि विश्वभर में 2 बिलियन से अधिक पौधों की आवश्यकता होगी। अभी 100 से कुछ अधिक ऐसी कम्पनियाँ हैं जो दस लाख पौधे ही तैयार कर सकती हैं जिनमें से भारत में अभी तक मुश्किल से 6 कम्पनियाँ ही हैं। व्यापारिक ऊतक संवर्धन में जो देश अग्रणी हैं उनमें नीदरलैंड, यू.एस.ए., जापान, इज़रायल, फ्रांस, जर्मनी, कोलम्बिया मुख्य हैं।

फूलों की सबसे अधिक खपत नार्वे, स्विट्जरलैंड, डेनमार्क, ऑस्ट्रिया में है। यूरोप में प्रति वर्ग फुट में फूलों की उत्पादन लागत 350 रु0 है जबकि भारत में यह मात्र 75 रु0 है। हमारे देश में 35000 हेक्टेयर क्षेत्र मे फूलों की खेती होती है किन्तु विदेशों में होने वाले इसके व्यापार का भाग 0.1% है जबकि नीदरलैंड जहाँ केवल 3,600 हेक्टेयर क्षेत्र में फूल उगाये जाते हैं, व्यापार भाग 67% है। आश्चर्य की बात है कि अनेक सम्भावनाओं के बाद भी भारत के फूल उत्पादक आत्मनिर्भर नहीं हैं, विदेशी कम्पनियों के सहयोग पर ही आश्रित हैं।

औषधीय पौधों का भी अच्छा बाज़ार है अतः हमारे देश में जैव–प्रौद्योगिकी को इस दिशा में तेजी से कार्य करना होगा।

भ्रूण रक्षण (Embryo Rescue)

भ्रूण संवर्धन ऊतक संवर्धन का सबसे पुराना सम्प्रयोग है। 1925 में लैबैक ने संकरण द्वारा संकर पौधे तैयार की थीं। ट्रिटिकेल की उत्पत्ति ट्रिटिकम डयूरम और सीकेल सीरिएल के मध्य संकरण भ्रूण रक्षण का जीता जागता प्रमाण है। इस तरह के संकरण कपास, दलहनी फसलों तथा औषधीय पौधों में किये गये हैं। लखनऊ में नये बीजों से भ्रूण संवर्धन द्वारा राओवोल्फिया सर्पेन्टिना की बीज बंध्यता को दूर किया जा सकता है।

कायिक संकरण (Somatic Hybridization)

विगत 30 वर्षों से शोधकार्य चलने के बावजूद इस विधि से कोई उल्लेखनीय परालैंगिक संकर (Parasexual Hybrid) नहीं बनाया जा सका। यह सर्वाधिक खर्चीली विधि है। इस विधि से केवल मक्का तथा तम्बाकू के रोग प्रतिरोधी पौधे तैयार किये जा सके हैं।

प्ररोह मेरिस्टेम संवर्ध (Shoot Meristem Culture)

इस विधि से वाइरसों तथा अन्य रोगजनकों को दूर किया जा सकता है। इससे आलू की कुछ किस्मों को रोगरहित किया जा सका है। इसी तरह

शेष पृष्ठ 20 पर

सौर ऊर्जा के आयाम

शिवेन्द्र कुमार पांडे

पृथ्वी में जीवन विकास प्रक्रिया को गतिमान रखने में सौर ऊर्जा एक निर्णायक भूमिका निभाती है। हमारे सौर–मंडल का मुखिया सूर्य एक विशाल संलयन रिएक्टर (जाइन्ट फ्यूजन रिएक्टर) के समान है जो हाइड्रोजन को हीलियम में परिवर्तित करने के साथ–साथ अंतरिक्ष में 3.85×10^{26} वाट ऊर्जा विकिरण फैलाता है। यद्यपि इस विकिरण का मात्र 1.73×10^{17} वाट समकक्ष अंश ही पृथ्वी के वायुमण्डलीय आवरण की बाहरी सतह तक पहुँचता है फिर भी सूर्य विकिरण के इस छोटे से अंश की क्षमता 6.5 मिलियन टन कोयला प्रति सेकन्ड जलाने के समकक्ष होती है। भू–सतह तक पहुँचने के लिये इसे कई अवरोधों (बादल, एरोसोल, गैस अणु आदि) को पार करने में विवर्तन (डिफ्रेक्शन), अपवर्तन (रिफ्रेक्शन), विसरित परावर्तन (डिफ्यूज्ड रिफ्लेक्शन), प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) व अवशोषण (एबजार्बशन) जैसी घटनाओं को झेलना पड़ता है (चित्र–1) और भूसतह तक पहुँचने पर इसका प्रभाव 1.341 किलोवाट प्रति वर्ग मीटर (2 कैलोरी प्रति वर्ग मीटर) ही रह जाता है। उपर्युक्त अवरोधों के विभिन्न प्रभावों, विशेषकर बादलों की उपस्थिति में जलवायु के अनुरूप फेर–बदल होते रहने के कारण पृथ्वी पर पहुँचने वाली सौर ऊर्जा की मात्रा में स्थानीय मौसम के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान प्रकाश को विद्युत–चुम्बकीय तथ्य मानता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रकाश तरंगें परमाणु के विद्युत चार्ज वाले भाग के दोलन से उत्पन्न होती हैं। इसलिये सूर्य द्वारा विकिरण भी विद्युत चुम्बकीय आवेग होता है और उसे सात संवर्गों में बाँटा गया है– गामा रे, पराबैंगनी किरण, दृश्य वर्णक्रम, इनफ्रा रेड, सूक्ष्म और रेडियो तरंग (चित्र–2)। ये वायुमण्डल में अनुप्रस्थ कंपन द्वारा संचारित होती हैं, पर इनकी तरंगदैर्घ्य व आवृत्ति अलग अलग होती है। मानव आँखें इनमें से केवल दृश्य–स्पेक्ट्रम के भाग के दृश्यों को देखने में सक्षम होती हैं। लेकिन विज्ञान ने आज ऐसे साधनों का विकास कर लिया है, जिनके प्रयोग से हम इस विद्युत चुम्बकीय वर्णक्रम के अदृश्य भाग में भी झाँकने की क्षमता पा गये हैं। वैज्ञानिकों ने इन भिन्न–भिन्न आवेगों के बहुआयामी व विविधता भरे मुख्य गुणों की पहचान कर ली है, जिसका अलग अलग रूप में उपयोग कर हम अनेक क्षेत्रों में लाभ उठा रहे हैं। वर्तमान में शायद ही कोई कार्य क्षेत्र इससे अछूता बचा हो। उदाहरणार्थ– एक्स रे, शारीरिक स्कैनिंग, कार्डिओग्राम आदि के फायदे सर्वसाधारण को ज्ञात हैं। किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट होने पर एक्स रे कराना एक साधारण बात है। इसी प्रकार रेडियो के मीडियम और शार्ट वेव व टी0वी0 के चैनल भी घरेलू शब्द हो गये हैं। इन्टरनेट, ई मेल, सैटेलाइट आदि भी इस वैज्ञानिक ज्ञान की देन हैं। खतरे का संकेत देने के लिये लाल कपड़े व रोशनी के उपयोग के पीछे भी यही वैज्ञानिक आधार है, क्योंकि दृश्य स्पेक्ट्रम में लाल रंग की तरंगदैर्घ्य सबसे बड़ी होती है और प्रकाश के भौतिकी सिद्धांत के अनुसार बड़ी तरंगदैर्घ्य का प्रकीर्णन छोटी तरंगदैर्घ्य से कम होता है, इसलिये मानव आँख कुछ दूरी से भी उसे देखने में सक्षम होती है। दूसरी ओर काला रंग सर्वाधिक सौर–ताप अवशोषण में सक्षम होता है और इस गुण का उपयोग सोलर कुकर के भीतरी काले बाक्सों के निर्माण में अधिक से अधिक उष्मा संग्रह के लिये किया जाता है।

पृथ्वी की गोलाकार आकृति के कारण विभिन्न अक्षांशों पर प्राप्त सौर विकिरण भिन्न–भिन्न होता है , जो मध्य भाग और निम्न अक्षांशों पर अधिक तथा ध्रुवों एवं उच्च अक्षांशों पर बहुत कम होता है। पृथ्वी की सतह के ऊपर सूर्य का प्रभाव भूमध्य रेखा पर अधिक और उच्च अक्षांशों में बहुत कम होता है। अब चूँकि पृथ्वी की धुरी सूर्य के चारों ओर घूमते समय अपनी कक्षा में झुकी हुई है, इसलिये विभिन्न अक्षांशों पर बदलते मौसम के अनुरूप दिन और रात की अवधि

घटती बढ़ती रहती है। दिन की अवधि में भिन्नता व स्थान विशेष की सूर्य से अलग-अलग दूरी होने के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप किसी एक दिन में भूमध्य रेखा से ध्रुव की ओर बढ़ते समय पृथ्वी पर प्राप्त सौर विकिरण की मात्रा में भी अनोखी भिन्नता देखने में मिलती है। गोलार्ध के मध्य अक्षांशों के निकट अधिकतम वार्षिक सौर विकिरण प्राप्त होता है।

सौर ऊर्जा

सौर ऊर्जा को हम सभी ऊष्मा तथा प्रकाश के रूप में महसूस करते हैं। यह पृथ्वी पर प्रतिदिन पड़ती है और इसकी कुल क्षमता लगभग 40,000 ट्रिलियन किलोवाट घंटा के बराबर है। इस विशाल भण्डार का मात्र 0.1 प्रतिशत भाग ही विश्व की सम्पूर्ण ऊर्जा सम्बन्धित आवश्यकताओं की आपूर्ति करने में सक्षम है।

भारत में 5000 ट्रिलियन किलोवाट घंटा प्रति वर्ष के समकक्ष सौर ऊर्जा की प्राप्ति होती है, जो देश की कुल ऊर्जा खपत से बहुत अधिक है। किसी स्थान विशेष पर निर्भर करते हुये भारत में प्रतिदिन औसत सौर ऊर्जा उपलब्धि 4-7 किलोवाट घंटा प्रति वर्ग मीटर के बीच होती है। भारत के अधिकांश भागों में 250-300 दिन सूर्य की धूप उपलब्ध होती है।

पृथ्वी में जीवन अवतरण योग्य पर्यावरण निर्माण के पश्चात् से क्षोभमंडल में प्रवेश करने वाली सौर ऊर्जा का एक छोटा अंश, एक अत्यन्त क्रियाशील व महत्वपूर्ण प्राकृतिक प्रक्रिया को संचालित रखने में अहम भूमिका निभाता रहा है, जिसके अंतर्गत वह कई वस्तुओं में निरंतर सांद्रित हो कर ऊर्जा के कई तत्काल स्रोतों का स्वरूप धारण करती रही है। यह प्रक्रिया वर्तमान में भी सर्वत्र सक्रिय है। लेकिन यह प्रक्रिया, सबसे अधिक जीवन स्वरूपों को प्रभावित करती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत वनस्पतियों में प्रकाश संश्लेषण जैसी अद्भुत क्षमता अंगीभूत होने के कारण, वे सौर ऊर्जा से कार्बोहाइड्रेट जैसे रासायनिक यौगिक अपने में सांद्रित कर स्वयं विकास के साथ-साथ अन्य जीवों (मानव भी शामिल) के लिये शुद्ध वायु, भोजन व आवास उपलब्ध कराते हुये, उनके विकास में सहायक बनती हैं।

जलावन लकड़ी, पशु विष्ठा, कृषि अवशेष,
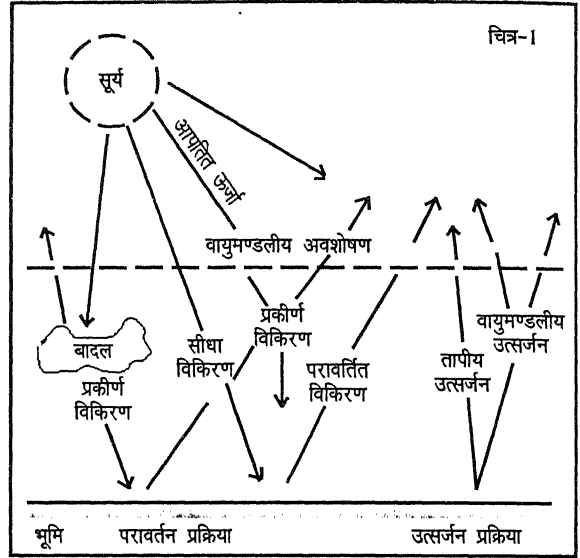
कोयला, लिगनाइट, तेल व प्राकृतिक गैस जैसे तत्काल ऊर्जा प्राप्ति के स्रोतों के भण्डार स्थापन में भी सौर ऊर्जा प्रमुख योगदान करती है।

सौर ऊष्मा के प्रभाव में जल-वाष्पीकरण सक्रिय होने से जल-चक्र की स्थापना हुई है, जिसके कारण पृथ्वी में जल भण्डार स्थापन कार्य लगातार क्रियाशील रहता है। सौर ऊर्जा के कारण ही वायु ऊर्जा का परिचालन होता है। उष्णकटिबंधी समुद्रों को अधिक सौर ताप ग्रहण करना पड़ता है, जिस कारण पानी की ऊपरी सतह में तापमान वृद्धि होती है, जबकि गहराई का पानी अपेक्षाकृत ठंडा रहता है। इस क्रिया में 20^{0} सेन्टीग्रेड तक का अन्तर स्थापित हो जाता है और इस तापमान भिन्नता का दोहन समुद्र तापीय ऊर्जा के रूप में किया जाता है। समुद्री पानी में इस प्रकार के तापमान अंतर स्थापित होने से ही समुद्री लहरों का प्रादुर्भाव होता है और इन लहरों में समाई ऊर्जा का दोहन भी मानव अपने उपयोग के लिये करने लगा है।

निरंतर विकास और आर्थिक प्रगति के लिये ऊर्जा एक आवश्यक निवेश है। औद्योगिक क्रान्ति आरंभ होने के साथ, प्रगति करने की इस दौड़ में व्यापारिक ऊर्जा स्रोतों का दोहन लगातार बढ़ता जा रहा है, जो अन्ततः पर्यावरण प्रदूषण के मुख्य कारक बन चुके हैं। 1970 के दशक से ही पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धित नये नये वैज्ञानिक तथ्यों/आँकड़ों की जानकारी प्रकाश में आ रही है और अब ऐसा समझ में आने लगा है कि

ओज़ोन परत की सुरक्षा के साथ सम्पूर्ण वायुमंडल को सुरक्षा प्रदान करने के लिये ऊर्जा निवेश कार्यक्रम निर्माण करने होंगे। इस संदर्भ में सौर ऊर्जा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

परंपरागत ऊर्जा स्रोतों के मुकाबले सौर ऊर्जा उपयोग कई मानों में आकर्षक विकल्पों से भरपूर है– उदाहरण के लिये–

1. यह बिना खर्च सर्वत्र उपलब्ध है।
2. इसकी क्षमता अनन्त है। गणनाओं के अनुसार सूर्य अगले 5×10^{12} वर्षों (5 के पश्चात् 12 शून्य) तक विद्यमान रहेगा। इसलिये भविष्य में हजारों सदियों तक सौर ऊर्जा उपलब्ध रहेगी।
3. इसे यान्त्रिक, तापीय व विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित कर उपयोग किया जा सकता है।
4. इसके माध्यम से सभी ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति संभव है।
5. इसका अधिक से अधिक उपयोग करने पर अन्य ईंधनों के ढुलाई–खर्च में भारी कमी की जा सकती है।
6. व्यापारिक ऊर्जा स्रोतों के विपरीत इसके उपयोग से पर्यावरण प्रदूषण न्यूनतम होगा।
7. विश्व में सभी स्थानों पर उपलब्ध होने के कारण, वे देश भी उन्नति कर सकेंगे, जिनके पास व्यापारिक ऊर्जा के अन्य स्रोत नहीं हैं या क्षमता पूर्ति लायक नहीं है।
8. यह कभी न समाप्त होने वाला एक अक्षय ऊर्जा स्रोत है।

इसलिये वर्तमान में लगातार बढ़ती ऊर्जा माँग परिदृश्य में सौर ऊर्जा दोहन एक वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत के रूप में उभरने लगा है फिर इसकी क्षमता अपार है। लेकिन इसको इकट्ठा कर उपयोग करने में कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि अन्य परंपरागत ईंधनों के मुकाबले पृथ्वी तक पहुँचने वाली सूर्य रोशनी विसरित होती है स्थान विशेष में उसकी उपलब्धता में भी दिन के वास्तविक समय, मौसम व बादलों की उपस्थिति के अनुरूप परिवर्तन होता रहता है। शीतोष्ण कटिबंधी प्रदेशों के मुकाबले उष्णकटिबंधी प्रदेशों में ज्यादा सौर विकिरण प्राप्त होता है और इस भिन्नता के कारण भारत जैसे देश सौर ऊर्जा भण्डार में समृद्ध हैं। उदाहरण के लिये– अमेरिका में इसका स्तर 1.7×10^9 किलोवाट घंटा प्रति वर्ग मीटर प्रतिवर्ष है, तो भारत में 2.1×10^9 किलोवाट घंटा प्रति वर्ग प्रतिवर्ष है। यदि पृथ्वी पर एक घंटे में प्रतिवर्ष उपलब्ध सौर ऊर्जा को इकट्ठा किया जाये तो हम वर्तमान में मानव द्वारा उपयोग की जा रही कुल ऊर्जा का दुगना प्राप्त कर लेंगे, वह भी बिना प्रदूषण फैलाये। इस असीमित क्षमता को देखते हुये भारत सहित विश्व भर के वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी विकास अनुसंधान कर रहे हैं जिनके माध्यम से सूर्य के इस विसरित विकिरण का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके।

सौर ऊर्जा का इतिहास

मानव का सौर ऊर्जा से परिचय हाल की घटना नहीं है। पृथ्वी में कदम रखने के साथ–साथ ही मानव सौर ऊर्जा का उपयोग करने लगा था। अग्नि प्रज्ज्वलन की क्षमता प्राप्त करने के पूर्व तक आदि मानव जंगली जानवरों से अपनी सुरक्षा की चिंता में रात के अंधेरे में शान्तिपूर्वक सो नहीं पाता था व हमेशा सूर्य प्रकाश की प्रतीक्षा करता था, कि कब सुबह हो और उसे अपनी सुरक्षा का कुछ भान होने लगे। ठंडे
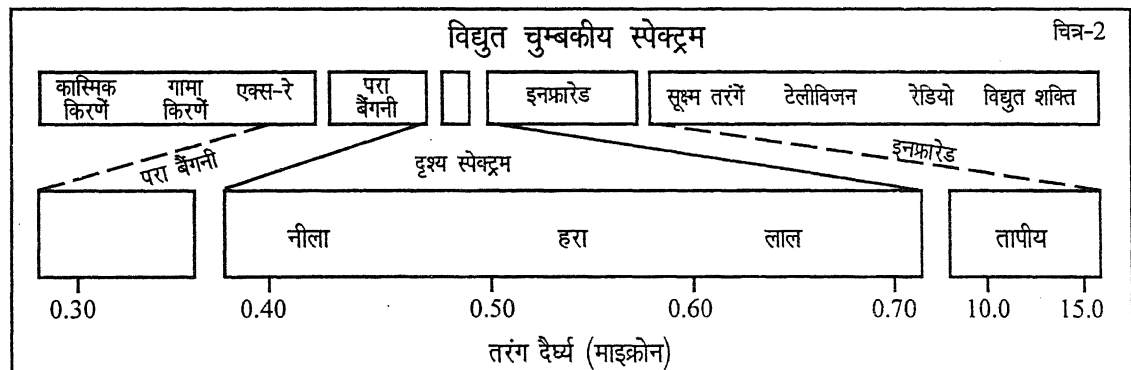
प्रदेश के निवासी तो सूर्योदय की अधिक बेसब्री से प्रतीक्षा करते थे, ताकि सौर ताप उन्हें ठंड से कुछ राहत दे सके।

गुफा मानव दक्षिणमुखी गुफाओं को निवास के लिये चुनते थे, ताकि दिन के समय सूर्य की रोशनी का सम्पूर्ण लाभ उठा सकें क्योंकि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। सूर्य की रोशनी के ताप से पथरीली गुफाओं की दीवार व फर्श गरम हो जाती है और रात में ठंड बढ़ने पर उनमें समाई ताप ऊर्जा निर्मुख होने पर गुफाओं को गरम रखती है। इस प्राकृतिक क्रिया का उपयोग गुफामानव अपने सामयिक ज्ञान के अनुरूप बखूबी करता था।

आरंभिक काल से ही मानव सौर ऊर्जा का उपयोग कपड़ा सुखाने, गोश्त/सब्जियाँ/फल आदि के परिरक्षण के लिये करता रहा है। भारतीय गृहणियाँ पापड़ व बड़ी सुखाने के लिये सौर ऊर्जा का उपयोग करती हैं और अचार डालने के लिये भी इसी ऊर्जा को काम में लाया जाता है। भारत में गोबर थापने के लिये सौर ऊर्जा का उपयोग आज भी सर्वत्र दिखाई देता है। यह भी आमतौर पर देखा जा सकता है कि कई लोग ठंड के दिनों में पानी को गुनगुना करने के लिये पानी बाल्टी में भरकर कुछ समय के लिये धूप में रख छोड़ते हैं ताकि स्नान करने में सुविधा हो।

मानव द्वारा सौर ऊर्जा का उपयोग सदियों से किया जा रहा है। आर्कमिडीज नामक ग्रीक वैज्ञानिक ने 212 ई.पू. में लकड़ी से बने रोमन जहाजों को शीशों द्वारा उन पर सौर ऊर्जा सांद्रित कर उन्हें जलाने में सफलता प्राप्त की थी। गैलीलियो नामक वैज्ञानिक ने 17वीं शताब्दी में टेलीस्कोप का आविष्कार किया था जिसके फलस्वरूप लेन्सों के विकास ने गति पाई। फिर फ्रान्स के सालमन डी काक्स ने लेन्सों के माध्यम से सौर ऊर्जा का उपयोग हवा को गरम कर इन्जन चलाने में सफलता प्राप्त की। वर्ष 1774 में फ्रेन्च केमिस्ट एन्टोनी लेवाइजर ने लेन्सों पर आधारित एक 1.2 मीटर व्यास की सौर भट्टी का निर्माण किया, जिसकी क्षमता 1700^0 C तक की थी।

वर्ष 1816 में राबर्ट स्टिरलिंग ने सौर ऊर्जा के माध्यम से हवा को गरम कर चलने वाले एक नये इन्जन का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की, जो उन दिनों काफी लोकप्रिय हो गया था। फिर कुछ काल पश्चात् फ्रान्स के सम्राट नेपोलियन तृतीय के संरक्षण में आगस्ट मोचोट ने सौर ऊर्जा पर आधारित एक वाष्प इन्जन का निर्माण किया जिसका उपयोग अल्जीरिया में पानी उठाने के लिये किया जाता था। मोचोट ने सोलर कुकर के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया था। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में पेरिस में आयोजित एक प्रदर्शनी में यह दिखाया गया था कि सौर ऊर्जा के माध्यम से वाष्पसंचालित प्रिन्टिंग प्रेस भी चलाया जा सकता है।

19वीं शताब्दी के अन्त तक सौर ऊर्जा का उपयोग काफी प्रचलित था। लेकिन कोयला, तेल व प्राकृतिक गैस जैसे सस्ते व्यापारिक स्रोत उपलब्ध होने के कारण मानव समाज का ध्यान धीरे धीरे सौर ऊर्जा दोहन से विमुख होने लगा। पर 1970 के तेल संकट, व्यापारिक ऊर्जा स्रोतों की सीमित भंडार क्षमता का भान, उनके बढ़ते मूल्य व उनके लगातार बढ़ते उपयोग से पर्यावरण प्रदूषण वृद्धि के ज्ञान ने एक बार फिर से सभी देशों का ध्यान प्राकृतिक रूप से सर्वत्र उपलब्ध अक्षय ऊर्जा स्रोतों के दोहन की ओर मोड़ दिया है।

सौर ऊर्जा उपयोग की विधियाँ

सौर ऊर्जा से प्राप्त ताप व प्रकाश विकिरण के उपयोग के लिये मुख्यतः तीन प्रमुख विधियाँ व प्रौद्योगिकियाँ विकसित की गई हैं :

1. तापीय : इसके माध्यम से खाना पकाने, शीतलन, शुष्कन, जल शुद्धिकरण, विद्युत उत्पादन आदि कार्य किया जाता है।

2. प्रकाशवोल्टीय : इसमें सूर्य की धूप को सीधे बिजली में परिवर्तित कर रोशनी, पंपन, संचार, रेफ्रिजरेशन आदि के काम में लाया जाता है।

3. सुदूर संवेदन : इसके माध्यम से सौर विकिरण का उपयोग कर किसी भी जीवित व अजीवित वस्तु को बिना स्पर्श किये उसके विषय में सम्पूर्ण जानकारी तत्काल प्राप्त की जाती है ताकि समय रहते संरक्षण के उचित उपाय किये जा सकें।

भारत में सौर ऊर्जा दोहन प्रौद्योगिकी विकास कार्यक्रम पाँचवीं पंचवर्षीय योजना काल (1074–79) में आरंभ किये गये थे और वर्तमान में भारत इस क्षेत्र में विश्व का अग्रणी देश बन चुका है। वर्ष 2000 के आरंभ

शेष पृष्ठ 32 पर

एच.आईवी. की नई व्याख्या

डॉ० ईश्वर चन्द्र शुक्ल

सर्वप्रथम अमेरिका के समलैंगिक पुरुषों में ऐसे लक्षण देखे गये जो उस समय तक ज्ञात अनेक रोगों के लक्षणों से भिन्न थे। प्रारंभ में इस रोग का नाम गेज रिलेटेड इम्यूनोडेफीशिएन्सी GRID रखा गया। कुछ समय बाद इस रोग के लक्षण नशीली दवाओं के प्रयोग करने वालों में भी पाये गये। एक अनुमान के अनुसार अफ्रीका में इस रोग के विषाणु लगभग पचास हजार वर्षों से हरे बंदरों में उपस्थित थे। 1982 में डॉ0 राबर्ट गैली ने इस रोग के जनक रिट्रो नामक विषाणु का पता लगाया तथा इस रोग को "लिम्फो एडिनोपैथी एसोसिएटेड वायरस" LAV का नाम दिया। तत्पश्चात् पास्तुर संस्थान के वैज्ञानिकों ने इस विषाणु का नाम एच.आई.वी. (HIV ह्युमन इम्यूनोडेफीशिएन्सी वायरस) दिया। इसी विषाणु को एड्स AIDS रोग का जनक माना गया।

अब तक लगभग पाँच हजार प्रकार के एच. आई.वी. विषाणुओं का पता लगाया जा चुका है। एच. आई.वी.–3 का पता भारतीय मूल के वैज्ञानिक डॉ0 सुध ीर गुप्त ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में लगाया। प्रायः एड्स के लिये एच.आई.वी.–1 तथा एच.आई. वी–2 ही मुख्य कारण हैं। इस विषाणु का कार्य मुख्यतः शरीर की रोग निरोधक क्षमता को नष्ट कर देना है। यह क्षमता रक्त की श्वेत कणिकाओं में होती है जो दो प्रकार की होती हैं। टी–कोशिकायें जो थायमस को जन्म देती हैं तथा वी–कोशिकायें जो अस्थि मज्जा में उत्पन्न होती हैं। जब एच.आई.वी. विषाणु इन कोशिकाओं के संपर्क में आता है तो इनकी संख्या में कमी आती है और इनकी संख्या इतनी कम हो जाती है किं रोगनिरोधी क्षमता का स्तर अत्यंत कम हो जाता है। इसी को एड्स (AIDS) कहते हैं। विषाणुग्रसित श्वेत कोशिकायें स्वस्थ कोशिकाओं से मिलकर एक गुच्छा सा बना लेती हैं जिसे सिनसाइटिया कहते हैं। इसी प्रकार स्वस्थ कोशिकायें नष्ट होती जाती हैं।

विषाणु की संरचना

एड्स का जनक रेट्रो विषाणु होता है। यह गोलाकार पिण्ड के समान लगभग 130nm व्यास का होता है। पिण्ड के ऊपर दो परत वाली झिल्ली होती है जो पोषित कोशिकाओं की बाहरी झिल्ली द्वारा उत्पन्न होती है। झिल्ली के अंदर दो प्रकार के ग्लाइकोप्रोटीन, पी जी–41 तथा पी जी–120 होते हैं। इस झिल्ली के अंदर की ओर पी–18 तथा पी–24 प्रोटीन का आवरण होता है। रेट्रो विषाणु अपनी आनुवंशिक सूचना आर.एन.ए. के रूप में रखते हैं। जब विषाणु कोशिका के अंदर प्रवेश करता है तो आर. एन.ए. उत्क्रमणीय ट्रान्सक्रिप्टेस प्रकिण्व द्वारा आर. एन.ए. में बदल जाता है जो कि पोषक कोशिका के आर.एन.ए. के अनुरूप होता है। इसे प्रतिविषाणु कहते हैं। यही नये विषाणुओ को जन्म देता है किन्तु कभी कभी प्रतिविषाणु निष्क्रिय भी पड़े रहते हैं।

एच.आई.वी.-1 संक्रमण का पात्रे अध्ययन

सर्वप्रथम ये विषाणु लक्षित कोशिकाओं से जुड़ते हैं तथा उसमें प्रवेश करते हैं। इनका मुख्य लक्ष्य टी–लिम्फोसाइट कोशिका है जिसकी सतह पर सी डी–4 प्रतिग्राही होता है। यह विषाणु कुछ एक कोशीय तथा अन्य कोशिकाओं, जिनकी सतह पर सी डी–4 होता है, को भी संक्रमित करते हैं। विषाणु के कोशिका में प्रवेश करने के उपरांत इनका आर.एन.ए. (जीनोम) उत्क्रमणीय प्रतिलिपि बनाता है तथा प्राप्त सी डी एन ए (प्रतिविषाणु) पोषक जीनोम में समेकित होता है। आर.एन.ए. का यह नया जीनोम एक नया विषाणु बनाता है। इसी प्रकार सी डी–4 कोशिकाओं तथा विषाणुओं में एक गतिशील संबंध स्थापित हो जाता हैं। जैसे जैसे विषाणु बनते हैं वे नयी कोशिकाओं में प्रवेश करते जाते हैं। इनकी अर्ध आयु एक से पाँच दिन की होती है। इसी प्रकार सी डी–4^{+} टी–कोशिकाओं की

संख्या घटती जाती है तथा विषाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है। यही संक्रमण उचित अवसर पाकर एड्स पैदा कर देता है।

एक अन्वेषण के अनुसार 4 सी X सी आर–4 तथा सी X सी आर–5 एच.आई.वी.–1 के लिये टी कोशिकाओं तथा वृहत् भक्षकाणुओं (मैक्रोफेजेज) के लिये सहप्रतिग्राही का कार्य करते हैं। एक टी–ट्रॉपिक प्रजाति सी X सी आर–4 तथा एम–ट्रॉपिक प्रजाति सी सी आर–5 का प्रयोग करता है। इन्हीं सह प्रतिग्राहियों द्वारा साइटोकाइन तथा कीमोकाइन के योगदान का वर्णन करने में सहायता मिलती है। विषाणु रेप्लिकेशन में कीमोकाइन विपरीत तथा साइटोकाइन अनुकूल प्रभाव दिखाता है। विषाणु की कुछ प्रजातियाँ टी–कोशिकाओं के एच.आई.वी. के संक्रमण से बड़ा कोशिका गुच्छा बनाती हैं जिसे सिनसाइटिया कहते हैं। इनका निर्माण विषाणु कोशिकाओं की ऊपरी परत की प्रोटीन–120 को संक्रमित करने तथा सी डी–4 को प्रभावित करने से होता है। सिनसाइटिया का निर्माण सी डी–4 के एपीलोप के कुछ प्रतिरक्षी द्वारा रुक भी जाता है। एच. आई.वी.–1 संक्रमण सिनसाइटिया निर्माण की क्रिया में कुछ अंतर भी होता है। एच.आई.वी.–1 आइसोलेट दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का एस आई सिनसाइटिया निर्माण में सहयोग देता है तथा द्वितीय प्रकार का एन एस आई असहयोगी होता है।

संक्रमण का प्रकार

एच.आई.वी. का संक्रमण तथा इसका प्रसार मानवता के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यद्यपि इस संक्रमण को घातक जाना जाता है लेकिन इससे भी अधिक घातक रक्त विषाणु हिपेटाइटिस–बी तथा सी हैं जिनका अभी तक कोई उपचार नहीं प्राप्त हो सका है। एच.आई.वी. संक्रमण को शरीर द्रवों से प्राप्त किया जाता है। मुख्यतः ये रुधिर तथा प्लाज्मा, वीर्य, ग्रीवा स्राव, मूत्र, लार, वक्ष दुग्ध, आँसू आदि होते हैं। कुछ द्रव कम संक्रमण वाले होते हैं तथा कुछ अधिक संक्रमण वाले होते हैं। जिनमें विषाणु की संख्या अधिक होती है वे अधिक संक्रमणशील होते हैं। एच.आई.वी. संक्रमण सामान्य सामाजिक संपर्क द्वारा नहीं होता। किसी कीड़े के काटने से भी इसका प्रसार नहीं होता।
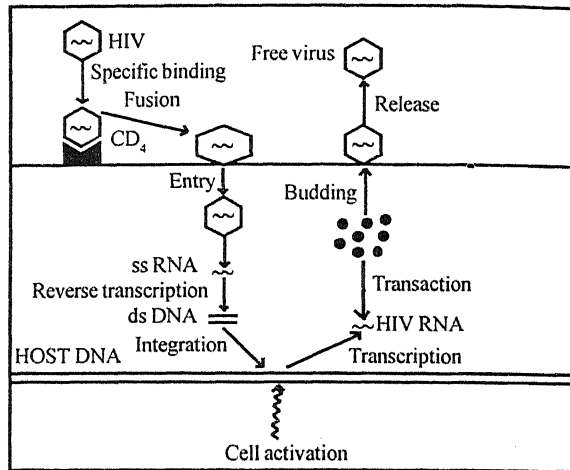
एच.आई.वी. का अन्तर्कोशिकीय जीवन चक्र

विषाणु का सीधे प्रवेश जननांगों तथा आँत द्वारा होता है। अधिकांशतः संक्रमित शरीर में विषाणु लसीकाणु (लिम्फोसाइट) तथा वृहतभक्षकाणुओं (मैक्रोफेजेज) में उपस्थित होते हैं। संक्रमण के लिये प्रभावित द्रव का सीधा संपर्क सी डी–4^+ लसीकाणु (लिम्फोसाइट) तथा वृहतभक्षकाणुओं से होना आवश्यक है।

एच.आई.वी. मुख्यतः सम या विषम लैंगिक संपर्क, संक्रमित व्यक्ति द्वारा रक्तदान, संक्रमित सुई अथवा शल्य चिकित्सा तथा संक्रमित माँ द्वारा बच्चे के जन्म से फैलता है। अब यह सिद्ध हो गया है कि संक्रमित व्यक्ति की लार या आँसू भी संक्रमण में सहायता करते हैं।

प्रतिरोधक विज्ञान

इस विषाणु का संक्रमण मुख्य रूप से टी–लसीकाणु (टी लिम्फोसाइट) कोशिकाओं पर होता है जिनकी सतह पर सी डी–4 प्रतिग्राही पाये जाते हैं। सी डी–4 कोशिकायें प्रतिरोधी तंत्र में एक मुख्य भूमिका अदा करती हैं। साइटोकिन के उत्पादन द्वारा एक सहसंयोजी भूमिका एवं प्रभावी सामंजस्य द्वारा यह क्षमता आती है। ये अणु तथ इन्टरल्यूकिन–2, इन्टरफेरॉन Y स्थानीय हारमोन का कार्य करते हैं तथा अन्य कोशिकाओं को उत्तेजित करने एवं प्रतिरोधी तंत्र में शामिल अन्य प्रतिरक्षी (एन्टीबाडी) प्रोटीन कोशिकाओं के निर्माण में सहायता करते हैं। सी डी–4 कोशिकाओं

के नियमन की क्षति से सी डी–8+ कोशिकाविष (साइटोटॉक्सिक) टी–लसीकाणु मोनोसाइट, वृहतभक्षकाणु, कोशिकीय परत तथा सभी कुछ इस एच.आई.वी. संक्रमण द्वारा संक्रमित होता है। यद्यपि कोशिका जीवित रहने की प्रवृत्ति रखती है, किन्तु गुप्त विषाणु के भंडार के रूप में कार्य करती है। कोशिकीय प्रतिरोधी क्षमता में यह जटिल व्यवधान संक्रमण की संभावना को बढ़ाता है। कोशिकीय क्षमता की कमी से दुर्दमता (Malignancy) भी विकसित होती है।

सी डी–4 कोशिकाओं का योगदान प्रतिरक्षी पैदा करने वाले बी–लिम्फोसाइट की वृद्धि तथा पुष्टि एवं ह्यूमोरल प्रतिरोधी क्षमता की अव्यवस्था पैदा करने में भी होता है। इससे सीरम प्रतिरक्षा ग्लोब्यूलिन (इम्यूनो ग्लोबयूलिन) स्तर की वृद्धि होती है जो नये प्रतिग्राही के प्रति प्रतिरक्षी क्षमता को कम करती है। इस प्रकार एच.आई.वी संक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। इससे सी डी–4+ कोशिकाओं की क्रियाशीलता उनकी संख्या कम होने के पहले समाप्त हो जाती है। प्रतिरक्षी का निर्माण प्रारंभिक संक्रमण के 4–6 सप्ताह के अंदर प्रारम्भ हो जाता है।

प्रथम अवस्था के संक्रमण में कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। कुछ दिनों पश्चात् मरीज में सीरोकनवर्जन प्रारंभ हो जाता है। यह द्वितीय अवस्था होती है। इसमें पेचिश, थकावट, शरीर के भार में कमी आना प्रारंभ हो जाता है। अन्य लक्षण जैसे ग्रसनीशोथ (फेरिंजाइटिस), सिरदर्द, उल्टी, गर्दन का अकड़ापन, अल्सर आदि भी प्रारंभ हो जाता है। इसके उपरांत भी सीडी–4 कोशिका के स्तर में कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। अधिकतर मरीज जिनमें सीडी–4 की संख्या 350-800 x 10^6 प्रतिलीटर होती है, उनमें भी एच.आई.वी. संक्रमण के कोई लक्षण नहीं मिलते। इस अवस्था को लिम्फाडिनोपैथी कहते हैं। तृतीय अवस्था में सीडी–4 संख्या कम हो जाती है तथा मरीज के अंदर अनेक जटिलतायें पैदा हो जाती हैं। सर्वप्रथम प्रतिरोधी क्षमता की कमी के लक्षण मौखिक कैन्डिडोसिस तथा केशीय मौखिक ल्यूकोप्लेकिया होता है। इससे एस.आई.वी. संक्रमण का आभास होने लगता है। बी–कोशिकाओं की असामान्य वृद्धि से बिम्बाणु अल्पता (थ्राम्बो साइटोपीनिया) हो जाता है। टी–कोशिकाओं की सक्रियता का ह्रास नये तथा गुप्त विषाणु के संक्रमण की वृद्धि करता है। संक्रमण की चौथी स्थिति सर्वोकनवर्जन के 5 से 12 वर्ष उपरांत एड्स के रूप में प्रकट होती है। इसके उपरांत औसत जीवन लगभग दो वर्ष ही रह जाता है। सीडी–4 की गणना के अनुसार संक्रमण की तीन अवस्थायें पायी जाती हैं। ए–श्रेणी में सीडी–4 की संख्या 500 x 10^6 प्रतिलीटर होती है। इस स्थिति मे तीव्र सीरोकनवर्जन लक्षणरहित रोग तथा लिम्फोडिनोपैथी रहती है। बी–श्रेणी में सीडी–4 की संख्या 200-499 x 10^6 प्रतिलीटर होती है तथा संक्रमण लाक्षणिक हो जाता है। सी–श्रेणी में सीडी–4 की संख्या 200 x 10^6 प्रतिलीटर हो जाती है। इसमें एड्स के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं तथा अर्बुद निर्माण भी हो सकता है। इस अवस्था को समयानुवर्ती या अवसरवादी संक्रमण कहते हैं।

एड्स प्रतिरोधी टीके के आविष्कार पर भी अनुसंधान हो रहा है। टीके द्वारा रोग को रोका जा सकता है किन्तु संक्रमण को नहीं। अधिकतर टीके में एच.आई.वी. की उप इकाई रहती है। संपूर्ण विषाणु नहीं रहता। अब कुछ सामान्य औषधियाँ भी निर्मित कर ली गई हैं। इनमें मुख्यतः रिवर्स ट्रान्सक्रिप्टेस अवरोधी तथा प्रोटिएस अवरोधी औषधियाँ होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एच.आई.वी. संक्रमण एड्स को जन्म देता है जो कि एक प्राणघातक रोग है। इससे प्रभावित व्यक्ति के जीवित रहने की संभावना क्षीण हो जाती है। अभी तक कोई टीका या औषधि इस रोग का उपचार नहीं कर सकी है। संयमित आहार विहार तथा सतर्कता ही एड्स से छुटकारा पाने का एक साधन है। दिनों दिन एड्स रोगियों की संख्या बढ़ती जा रही है। भारत में भी इसके मरीजों की बढ़ती संख्या शोचनीय है। चूँकि एड्स अवरोधी टीके तथा औषधियों का अन्वेषण किया जा रहा है अतः वह दिन दूर नहीं जब इस भयानक रोग पर भी नियंत्रण पाया जा सकेगा।

–आचार्य, रसायन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

वैद्युतगतिकी का जादूगर : फाइनमैन

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

संयुक्त राज्य अमेरिका के शहर न्यूयार्क के निकट फार राकएवे नामक स्थान में फाइनमैन परिवार रहता था जिसमें मेलविले तथा लुसिले दम्पति के बीच मनोरंजक बहस चल रही थी! पति मेलविले अड़ा था कि घर में आने वाला नया शिशु पुत्र होगा, जिसे वह वैज्ञानिक बनावेगा और उसकी पत्नी विनम्रभाव से कह रही थी कि पहले शिशु को जन्म तो लेने दीजिये। आखिर 11 मई 1918 को उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पति जीत गया। पुत्र का नाम रिचार्ड फिलिप्स फाइनमैन रखा गया। जब वह दो वर्ष तक नहीं बोला तो पति–पत्नी घबराये किन्तु जब बोलने लगा तो मानो मुख में सरस्वती बस गईं। पिता ने बच्चे को वहीं के स्कूल में भर्ती करा दिया और घर पर उसे स्वयं पढ़ाते रहे। उसके लिये पिता तरह–तरह की पुस्तकें लाता, उसे "म्यूजियम ऑफ नैचुरल हिस्ट्री" ले जाता, उसे डायनासोर से लेकर छोटे–बड़े सभी प्राणियों के चित्र दिखलाता। जब उसके लिये अंग्रेजी विश्वकोष (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका) लाकर दे दिया तो बालक फाइनमैन उसे पूरा घोट गया। वह स्कूल में लड़कियों के बीच शर्माता किन्तु लड़कों से झगड़ता रहता। उसका शरीर आकर्षक था। वह कक्षा में प्रश्नों की झड़ी लगा देता। वह पाठ्य–पुस्तकों से बाहर की बातें पूछता। उसका एक साथी जूलियन श्विंगर था जो नई भौतिकी की बातें करता किन्तु फाइनमैन पारम्परिक गणितीय सूत्रों में ही व्यस्त रहता। उसकी कापी सूत्रों से भरी रहती। उसके स्कूल में "फिजिक्स क्लब" बनी तो वह उसका मुखिया बना। उसने फार राकएवे हाई स्कूल में ही "अर्थमेटिक फार द प्रैक्टिकल मैन, एल्जेब्रा फार द प्रैक्टिकल मैन" पढ़ डाली थीं। उच्च अध्ययन के लिये उसने 1935 में मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नॉलोजी (MIT) में दाखिला लिया। यहाँ पर वेल्टन उसका साथी था। परीक्षा के लिये उसे इतिहास, दर्शन तथा अंग्रेजी जैसे शुष्क विषय पढ़ने पड़ते थे, जो उसे तनिक न भाते थे। उसका मन गणित तथा भौतिकी में रमने लगा था। उसके अध्यापक उसकी मेधा तथा उसके व्यक्तित्व के कायल थे। उसने बी.एस.सी. डिग्री के लिये शोध निबन्ध लिखा Forces in Molecules। यह वर्ष 1939 था– उम्र थी 21 वर्ष।

फाइनमैन उच्च अध्ययन के लिये प्रिंसटन गया तो वहाँ प्रोफेसर जान व्हीलर के साथ कार्य करना पड़ा। प्रिंसटन में बोह्र तथा विग्नर थे। युद्ध शुरू हो रहा था। विश्वभर में नाभिकीय भौतिकी की प्रयोगशालाएँ तेजी से फैल रही थीं। प्रिंसटन में विश्व का सबसे बड़ा साइक्लोट्रॉन आ चुका था। फाइनमैन को अच्छा अवसर मिला। उसे डिरैक का वह सिद्धान्त अपर्याप्त लग रहा थ जिसमें विद्युत, चुम्बकत्व, प्रकाश तथा पदार्थ को परस्पर जोड़ने का प्रयास हुआ था। फलतः उसने क्वांटम यांत्रिकी पर ध्यान देना शुरू किया और दो वर्ष में परिश्रम के बाद व्हीलर के साथ 1941 में एक शोधपत्र लिख डाला– Principle of Reversibility. फाइनमैन सैद्धान्तिक विज्ञान में बेजोड़ सिद्ध हो रहा था। लोग उसे "द्वितीय डिरैक" कहने लगे थे। यहीं पर आर्लीन नामक छात्रा से उसकी भेंट हुई। धीरे–धीरे उनमें प्रेम उत्पन्न होने लगा। फिर विवाह भी हो गया।

1943 में फाइनमैन को लास एलामास (न्यू मेक्सिको) जाना पड़ा। यहाँ पर परमाणु बम प्रोजेक्ट पर ओपेनहाइमर की देखरेख में कार्य शुरू हुआ था। यहीं कार्नेल के प्रसिद्ध नाभिकीय भौतिकीविद् बेथे से उसका सम्पर्क हुआ। बेथे को फाइनमैन तेज, निर्भीक एवं महत्वाकांक्षी लगा। अतः उसे ग्रुपलीडर बना दिया गया। उसे नाभिकीय अभिक्रिया के दौरान अशुद्धियों में होने वाली अभिक्रियाओं की गणना करना था। उसने

1944 में अपने पूर्व परिचित वेल्टन को यहीं बुला लिया। बीच बीच में वह अपनी पत्नी आर्लीन को भी देखने जाता। वह टी.बी. से ग्रस्त हो चुकी थी। इसी बीच 16 जून को उसकी मृत्यु हो गयी। यहाँ का कार्य समाप्त हो चुका था। फाइनमैन ने अक्टूबर 1945 में लास एलामास से बिदा ली। उसके ये दो वर्ष बहुत ही परिश्रम, मानसिक पीड़ा तथा अस्त–व्यस्तता में बीते।

1945 में फाइनमैन की नियुक्ति इथाका (ओहायो) में कार्नेल प्रोफेसर पद पर हुई। उसे भौतिकी के छात्रों को "गणितीय विधियाँ" पढ़ाने का कार्य–भार सौंपा गया था। यहाँ पर फाइनमैन को खुला जीवन मिला। पत्नी की मृत्यु के बाद छात्राओं के बीच रहने में उसे सुख मिलने लगा। वह छात्रों को परमाणु बम के अलावा अन्तरिक्ष यात्रा के विषय में भी बताता। वह कभी अतिथि भवन में ठहर जाता, कभी विवाहित मित्रों के घर रह जाता। उनकी पत्नियों से प्रेमालाप करता। इसी बीच 7 अक्टूबर 1946 को उसके पिता की मृत्यु हो गयी। इस छोटे से शहर में उसका मन ऊबने लगा था अतः वह या तो दक्षिणी अमेरिका या फिर कैलीफोर्निया जाना चाह रहा था। उसे पुर्तगाली भाषा आती थी। अतः एक वर्ष के लिये वह दक्षिणी अमेरिका में रायो स्थित ब्राजील यूनिवर्सिटी में मूलभूत वैद्युत चुम्बकत्व पढ़ाने के लिये गया। किन्तु छात्रों में रटन्त की आदत से वह जल्द ही ऊब उठा। अतः एक वर्ष के भीतर ही इस स्थान को छोड़कर उसने कैलटेक की राह पकड़ी। तब तक यार्कशायर की एक लड़की ग्यूनेथ होवर्थ से उसका परियच हो चुका था।

कैलटेक में खुला वातावरण था। उसने ग्यूनेथ होवर्थ को 1959 में कैलीफोर्निया में ही बुला लिया और 24 सितम्बर 1960 को उसके साथ शादी कर ली। दो वर्ष बाद पुत्र हुआ जिसका नाम कार्ल रखा। छह वर्ष बाद एक पुत्री (मिचेल) को गोद ले लिया।

यहाँ पर आकर फाइनमैन ने क्वांटम वैद्युतगतिकी को पुष्टता प्रदान की। उसे यहाँ सर्वाधिक वेतन मिलता था। यहीं पर उसने अपने शेष वर्ष बिताये। यहीं 5 वर्षों तक हीलियम की अतितरलता (Super fluidity) पर कार्य किया।

1960 की गर्मियों में फाइनमैन ने जीवाणु विज्ञान में, विशेषतया वाइरस में रुचि लेनी शुरू की। दस वर्ष पूर्व जेम्स वाट्सन तथा फ्रांसिस क्रिक ने डी.एन.ए. संरचना स्पष्ट कर दी।

फिर फाइनमैन का मन गुरुत्व (Gravity) की ओर मुड़ा। उसने कल्पना की कि गुरुत्व तरंगों में ऊर्जा होती है किन्तु इसे सिद्ध नहीं कर पाया। फिर कम्प्यूटरों की ओर ध्यान दिया। वे अत्यन्त सूक्ष्म गणनाओं पर कार्य करने लगे जिससे बाद में नैनो टेक्नॉलोजी का जन्म हुआ। फाइनमैन में मेधा का उदय 1946 के आसपास हुआ। वे सर्वाधिक मौलिक मस्तिष्क वाले माने जाते। उनमें विचारों की उन्मुक्तता थी किन्तु कार्य शैली गूढ़ होती थी। वे बहुत सी गणनाएँ केवल मस्तिष्क में करते।

1950–60 का काल नवीन कणों (New Particles) का युग था। फाइनमैन द्वारा प्रदत्त वैद्युत चुम्बकत्व आरेख (Electromagnetism Diagrams) बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुये।

कैलटेक में जब वे आये तो वर्ष भर में 34 कोर्स पढ़ाते। विषय था– Advanced Quantum Mechanics या Topics of Theoretical Physics। वे 20 वर्षों तक एक अनूठा कोर्स Physics-X भी पढ़ाते रहे जिसमें कोई भी पूर्व स्नातक विद्यार्थी कोई भी प्रश्न पूछ सकता था। उनके ये लेक्चर Feynman Lectures on Physics के रूप में प्रकाशित हुये। वे पाठ्य–पुस्तकों में स्पष्टता पर बल देते रहे। उनका विचार था कि गणित के प्रश्नों में उत्तर उतना महत्वपूर्ण नहीं जितनी कि वह विधि जिससे उत्तर तक पहुँचा जा सकता है।

1965 में फाइनमैन को नोबेल पुरस्कार मिला। उनके साथ जिन अन्य दो व्यक्तियों को पुरस्कार में सम्मिलित किया गया था वे जापान के शिन इचिरो तोमोनागा तथा यूनाइटेड स्टेट के जुलियन सीमूर श्विंगर थे। विषय था "क्वांटम इलेक्ट्रोडाइनैमिक्स"।

21 अक्टूबर 1965 को जब फाइनमैन को प्रातः 9 बजे नोबेल पुरस्कार प्रदान किये जाने का समाचार मिला तो सर्वप्रथम उन्होंने जापान के साथी तोमोनागा को फ़ोन पर बधाइयाँ दीं। फिर तो उनके पास बचपन के मित्रों के तार आने लगे। उन्होंने संवाददाताओं को बताया कि 55000 डालर की पुरस्कार राशि में से वे एक तिहाई राशि से टैक्स चुकता करेंगे। वे नहीं चाहते थे कि स्वीड़न जाकर पुरस्कार लेते समय राजा के समक्ष झुकें। और सबसे बड़ी चिन्ता थी कि वे कैसा भाषण दें। उन्होंने अपने किसी पूर्ववर्ती

नोबेल पुरस्कारविजेता का भाषण नहीं पढ़ा था। वहाँ जाकर उन्होंने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने शुरू से वह कहानी सुनाई जिस तरह शोधकार्य किया। "अभी मैं छात्र ही था जब MIT में मैंने डिरैक का कार्य पढ़ा था किन्तु वह मुझे अधूरा लगा था।" उन्होंने क्वांटम वैद्युतगतिकी के प्रति अपने लगाव की तुलना किसी स्त्री से प्रेम करने के समान बताया है। "प्रिंसटन आकर प्रो0 व्हीलर की सहायता से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि "पोजिट्रान वस्तुतः ऐसे इलेक्ट्रॉन हैं जो भविष्य से भूतकाल में जा रहे हैं।" वस्तुतः फाइनमैन ने इलेक्ट्रान को पथ पर रहने के लिये जो कुछ करना होता है उसे विभिन्न तरीके से दर्शाया। इनके हल श्रोडिंगर तथा हाइजेनबर्ग जैसे थे। मैंने The Principle of Least Action in Quantum Physics पर कार्य करके पी.एच. डी. उपाधि अर्जित की। बाद में बेथे के साथ कार्य करते हुये इसे परिष्कृत करके "फाइनमैन डायग्राम" का रूप दिया। यद्यपि इसमें कुछ कमियाँ हैं फिर भी इसी पर मुझे नोबेल पुरस्कार दिया जा रहा है।"

मजेदार बात यह है कि 1965 के इस नोबेल पुरस्कार के विषय में किसी ने असहमति नहीं जताई। 'टाइम', 'साइंस', 'फिजिक्स टुडे' जैसी पत्रिकाओं ने तीनों के कार्य की – "1920 के बाद क्वांटम यांत्रिकी में पहला प्रमुख योगदान" कहकर प्रशंसा की।

अन्तिम दिन

1978 में पहली बार आंतों में 6 पौंड का अर्बुद होने का पता चला। उन्होंने पढ़ रखा था कि ऐसी स्थिति में 10 वर्ष से ज्यादा नहीं जिया जा सकता। वे स्वस्थ रहने के लिये दौड़ते और तैरते भी रहे। किन्तु 1981 में यह अर्बुद पुनः उभड़ा तो शल्य–क्रिया हुई। 1984 में वे रात में जग कर घूमने लगते थे। योग, ध्यान पर बल देते। अक्टूबर 1987 में एक बार फिर अर्बुद का आपरेशन कराना पड़ा।

इसके पूर्व जनवरी 1986 में उन्हें अन्तरिक्ष शटल 'चैलेंजर' के विस्फोट होकर नष्ट होने का पता लगाने के लिये प्रेसिडेंट रीगन ने जो कमीशन नियुक्त किया उसका अध्यक्ष बनाया गया। फाइनमैन ने कहा "मैं छह मास तक आत्महत्या करने जा रहा हूँ।" उन्होनें अत्यधिक श्रम करके इस दुर्घटना के कारण का पता लगाया। इसके बाद फाइनमैन को अवकाश ही नहीं मिला कि शोध कार्य पर ध्यान देते। मृत्यु प्रतीक्षा कर रही थी। 15 फरवरी 1988 को रुग्णावस्था में लास एंजिलिस में मृत्यु हो गयी। उन्होंने डायलिसिस कराने से इनकार कर दिया थ। इस तरह कैलटेक के शीर्षस्थ भौतिकीविद् का अन्त हुआ।

फाइनमैन का शोध कार्य

1. अतितरलता का सिद्धान्त
2. तरल हीलियम का घर्षणरहित आचरण
3. दुर्बल अन्तः क्रियाओं का सिद्धान्त
4. रेडियोएक्टिव क्षय के समय कार्यशील बल
5. पार्टनों का सिद्धान्त
6 . परमाणु के नाभिक के भीतर काल्पनिक कठोर कण जिससे क्वार्क को समझा जा सकता है
7. गुरुत्व का क्वांटम सिद्धान्त
8. फाइनमैन डायग्राम तथा फाइनमैन समाधान

मूल्यांकन

सामान्य लोग फाइनमैन को जोकर अधिक और वैज्ञानिक कम मानते थे। वे अच्छे बांगो वादक तथा युवतियों के मनमोहक बतलाये जाते थे। किन्तु कण भौतिकीविदों में उनका अत्यधिक मान था। वे अंतिम दिनों तक Ultimate Law of Universe ढूँढते रहे और मौलिक शोध कार्य के उच्च मानदण्ड स्थापित करने वालों में से रहे।

उनका विश्वास था कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं। वे पूजे जाने वाले, ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले ईश्वर को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ था अंधविश्वास, पुनर्जन्म, चमत्कार तथा किसी कुमारी के गर्भ से जन्म लेना।

वे अपने किसी सहयोगी का नाम नोबेल पुरस्कार के लिये संस्तुत नहीं करते थे किन्तु 1977 में अपना प्रण तोड़ना पड़ा और गेलमान तथा ज्वाइग के नामों की संस्तुति करनी पड़ी जिन्होंने क्वार्कों पर कार्य किया था।

इतना बड़ा वैज्ञानिक अन्तिम काल तक बच्चों को कहानियाँ सुनाकर अपने भोलेपन का प्रमाण देता रहा। ये कहानियाँ अपनी माता से सीखीं थी। वे मातृभक्त थे।

– विज्ञान परिषद् प्रयाग

धातु की कलाकृतियों का संक्षारण से बचाव

डॉ० आशुतोष मिश्र

जब धातु की बनी वस्तुएँ मिट्टी के भीतर दफन कर दी जाती हैं या किसी तरह से दफन हो जाती हैं तो उनके रूप रंग में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। कारण है कि मिट्टी के सम्पर्क से मिट्टी की नमी और मिट्टी में उपस्थित तरह–तरह के घुलित लवण धातु की वस्तुओं पर अपना प्रभाव डालना शुरू कर देते हैं जिससे धीरे धीरे इन वस्तुओं का रंग बदलने लगता है और उनकी सतह पर मुर्चे जैसी परत या पपड़ी जमने लगती है। अतः जब मिट्टी के भीतर दबी हजारों या सैकड़ों वर्ष पुरानी धातु की बनी वस्तुओं को बाहर निकाला जाता है तो धातु की वस्तुओं का आदि रूप परिवर्तित हो जाता है। कभी कभी तो वे पहचान में नहीं आतीं। इस समूची घटना या प्रक्रिया को रसायन की भाषा में संक्षारण (Corrosion) कहते हैं।

संक्षारण प्रायः धातु की बनी मूर्तियों, पात्रों, औजारों, अभिलेखों, दानपत्रों तथा सिक्कों में देखने को मिलता है। धातुओं में से ताँबा तथा ताँबे की मिश्रधातुओं का उपयोग इन वस्तुओं के बनाने के लिये अति प्राचीन काल से होता रहा है। मानव सभ्यता के विभिन्न युगों में ताम्र, कांस्य तथा लौह युग धातुओं के प्रयोग के नाम पर ही गढ़े गये हैं। अनुमान है कि सुमेरियन सभ्यता में अच्छे किस्म के कांस्य की वस्तुएं ईसा से 3500 वर्ष पूर्व बनती थीं। इस कांस्य में ताँबे के अलावा 10–15 प्रतिशत टिन मिला रहता था। वर्तमान काल में केवल 1 से 5 प्रतिशत टिन मिलाया जाता है। इससे कांस्य की बनी वस्तुएं अधिक संक्षारण प्रतिरोधी होती हैं। यदि जिंक उपस्थित रहे तो संक्षारण प्रतिरोधकता में वृद्धि नहीं होती। किन्तु यदि कांस्य में सीसा (लेड) मिला रहे तो इससे कांस्य की सरंध्रता में कमी आती है जिससे संक्षारण में कमी आ सकती है।

दक्षिण भारत में कांस्य की मूर्तियों का अत्यधिक प्रचलन मिलता है। प्रायः 200 ई0 से 1700 ई0 तक कांस्य की मूर्तियों की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। कांस्य मूर्तिकार स्थपति कहलाते थे। चेर, पल्लव, चोल, पांड्य राजवंशों ने कांस्य कला को अत्यधिक प्रश्रय दिया। आज दक्षिण भारत के अधिकांश संग्रहालयों में कांस्य की बनी अनेक कलाकृतियाँ देखने को मिल जायेंगी।

तो आइये इन कलाकृतियों पर पर्यावरण के प्रभावों के फलस्वरूप होने वाले संक्षारण पर विस्तार से विचार करें।

ताम्र धातु की मिश्र धातुओं में पीतल तथा कांस्य मुख्य हैं। जब ताम्र तथा कांस्य (Bronze) से बनी वस्तुएं मिट्टी के भीतर दब जाती हैं या जानबूझ कर गाड़ दी जाती हैं तो शीघ्र ही उनकी चमक जाती रहती है। इसका कारण उनकी सतह पर आक्साइड परत का बनना है। यह परत पहले पतली रहती है किन्तु धीरे धीरे इसकी मोटाई बढ़ती जाती है। ताँबे के ऊपर क्यूप्रस आक्साइड, क्यूप्राइट तथा बेसिक कापर कार्बोनेट की तह चढ़ जाती है। इनमें से बेसिक कापर कार्बोनेट हरे से नीले रंग को होता है। ऐसी तह स्थायी होती है यदि आसपास क्लोराइड न हो। यदि शुद्ध धातु के बजाय उसमें अन्य धातु मिली हो जैसे कि टिन कांस्य में टिन, तो उसपर बनी तह का संघटन जटिल होगा और उसमें अनेक प्रकार के लवण भरे रह सकते हैं। कांस्यों में क्लोराइड की उपस्थिति होने पर समस्या गम्भीर हो जाती है क्योंकि क्यूप्रस क्लोराइड बनता रहता है तो निरन्तर कांस्य से अभिक्रिया करता रहता है और कांस्य की बनी मूर्ति या कलाकृति को खोद कर संग्रहालय में लाये जाने के बाद भी उसका संक्षारण

रुकता नहीं, वह चलता रहता है जिससे कलाकृति की सतह कुछ ही अवधि में चूर्णित होने लगती है। यही कारण है कि कांस्य की मूर्तियों में चूर्णिल धब्बे दिखते हैं। इन्हें कांस्य रोग (Bronze disease) कहा जाता है।

ताम्र तथा उसकी मिश्रधातुओं से बनी कलाकृतियों की सतह पर जो निक्षेप या जमाव बनता है वह रासायनिक अभिक्रिया अथवा वैद्युत रासायनिक अभिक्रिया या इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल है। ताम्र की बनी कलाकृतियों के संक्षारण से बने जिन रासायनिक यौगिकों की पहचान की जा चुकी है वे हैं लाल क्यूप्रस आक्साइड (Cu_2O), काला क्यूप्रिक आक्साइड (CuO), हरा लिये नीला मैलाकाइट ($CuCO_3Cu(OH)_2$), श्यामल हरा एटैकामाइट तथा पैराटैकामाइट ($Cu_2(OH)_3Cl$), एज़्यूराइट ($2CuCO_3Cu(OH)_2$), श्यामल भूरा चैल्कोपाइराइट ($CuFeS_2$) आदि।

ताम्र की मिश्रधातुओं में जो संक्षारण की क्रिया होती है वह ताम्र तथा घटक धातुओं के गुणों पर निर्भर करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कांस्य पर इस संक्षारण को कांस्य रोग कहते हैं। अन्य घटक धातुओं के फलस्वरूप हुये संक्षारण को भी कांस्य रोग ही कहते हैं। इस रोग में कलाकृति के वाह्य स्तर पर गड्ढे बन जाते हैं। इन गड्ढों के बनने का कारण यह है कि धातुओं की वैद्युत रासायनिक श्रेणी में कांस्य की गौण घटक धातुयें मुख्य घटक ताम्र से नीचे स्थित हैं फलस्वरूप वायु तथा आर्द्रता के प्रभाव से वे तेजी से विलयित होती हैं और इस तरह जो गड्ढे बनते हैं उनमें संक्षारण उत्पाद जमा होने लगता है।

ऐसा अनुमान है कि भूमि के नीचे कांस्य की सतह पर सर्वप्रथम क्यूप्रस क्लोराइड, फिर सरंध्र क्यूप्रस आक्साइड और तब सबसे ऊपर बेसिक कापर कार्बोनेट की तह रहती है। चूँकि क्यूप्रस क्लोराइड की तह धातु और क्यूप्रस आक्साइड के बीच रहती है अतः क्यूप्रस

कार्बोनेट
क्यूप्रस आक्साइड
क्यूप्रस क्लोराइड
कांस्य

क्लोराइड जल के साथ क्रिया करके क्यूप्रस आक्साइड और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को जन्म देता है। इस तरह क्यूप्रस क्लोराइड पुनः बनता है और ताम्र का संक्षारण लगातार होता रहता है जिससे क्यूप्रस क्लोराइड की तह ताम्र के निकट आती जाती है। चूँकि वायु तथा नमी का संचार भूमि के भीतर होता रहता है इससे क्यूप्रस क्लोराइड की तह बेसिक क्यूप्रस क्लोराइड की तह में बदलती जाती है। चूँकि यह सतह पर आसानी से टूट जाती है इससे इसमें आक्सीजन प्रविष्ट हो सकती है। इस तरह जो भुरभुरा चूर्ण बनता है वह दुर्दम पैटिना कहलाता है।

यह देखा गया है कि संग्रहालयों में खड़ी कुछ कलाकृतियों से अत्यधिक आर्द्रता के कारण तरल पदार्थ चूने लगता है जो सूखने पर नीली सफेद धारियों में जमाव जैसा दिखता है। मूर्तियों पर सफेद रंग का चूर्ण सीसे के कारण होता है। इसे कांस्य का रुदन (Weeping of Bronze) कहा गया है। आम जनता इसे ही मूर्तियों का पसीजना कहती है।

वायुमण्डल में उपस्थित आक्सीजन के कारण ताम्र की क्रिया आक्सीजन से होती है और इस तरह क्यूप्रस आक्साइड की तह बनती है। इससे कांस्य के ऊपर भूरा पैटिना बनता है। यह सुरक्षा कवच जैसी तह मूर्ति या कलाकृति के सभी अंगों पर छा जाती है। यह आक्साइड इसके बाद आक्सीकृत होकर क्यूप्रिक आक्साइड बनाता है जिससे नीला/हरा रंग उत्पन्न

होता है। अब वायु, आर्द्रता तथा मिट्टी में उपस्थित कार्बोनेट एवं वायु में नाइट्रोजन तथा गंधक के आक्साइडों के सम्मिलित प्रभाव से कापर नाइट्रेट, सल्फेट तथा कार्बोनेट बनते हैं। यदि ये उत्पाद एक बार बन गये तो सदियों तक स्थायी बने रहते हैं। इन्हें एडेल पैटिना (Edel Patina) कहते हैं। इससे धातु की कलाकृतियों में सुन्दरता आ जाती है।

संक्षारण की दर कई बातों पर निर्भर करती है–

धातु के सम्पर्क में आने वाली मिट्टी की अम्लता, मिट्टी की सरंध्रता तथा उसमें पाये जाने वाले घुलित लवण, वायु, कार्बनिक पदार्थ, सूक्ष्म जीवाणु आदि। ऐसी धातु की वस्तुँ जो कुछ काल से मिट्टी के भीतर दबी रहती हैं और जिनका कुछ संक्षारण हुआ रहता है उनकी सतह सरंध्र हो जाने से सतह पर कुछ लवण संलग्न हो सकते हैं। ये लवण एक पपड़ी या छदिमा पैटिना (Incrustation Patina) बना लेते हैं। यदि ऐसी कलाकृतियों को खोदकर मिट्टी में से बाहर निकाल लिया जाता है या वे स्वयं ही मिट्टी से बाहर आ जाती हैं तो उनपर नये सिरे से वातावरण की नमी में वायु की क्रिया शुरू हो जाती है जिससे सतह पर गड्ढे बनने लगते हैं और समतल आकृति विरूप लगने लगती है। प्रायः धातुओं की सतह पर बनने वाली ऐसी परत स्थायी होती है और कुछ काल के बाद यह आगे किसी प्रकार की क्रिया को होने से रोकती है। विशेषतया ताँबे की सतह पर बनी परत (जैसे कि ताँबे के सिक्के पर) जो धीरे धीरे विकसित हुई रहती है उससे धातु के ढाले जाने की विधि, मिट्टी की प्रकृति तथा पर्यावरण की जानकारी मिल सकती है। इसलिये प्रायः धातु की पुरानी मूर्तियों के ऊपर जमी परत को हटाने के बजाय उसे संरक्षित किया जाता है। इससे पुरानी धातु की वस्तुओं के सौन्दर्य में निखार आता है। लेकिन प्रायः खनिज पैटिना, जो प्रथम दृष्टि मे स्थायी लगता है सामान्य वातावरण में अस्थायी बन सकता है। यदि ऐसी स्थिति में संक्षारण शुरू होता है तो उसे रोक पाना मुश्किल हो जाता है। और प्रायः मूर्ति का वाह्य स्वरूप बिगड़ जाता है।

संक्षारण से बचाव

संक्षारण के फलस्वरूप न केवल कलाकृतियों, अभिलेखों, मुद्राओं में विकृति आती है अपितु कभी कभी आसपास की मिट्टी के खनिज लवण भी उनकी सतह पर चिपक कर विरूपता उत्पन्न करते हैं।

अतः इसके पूर्व कि सतह से किसी भी पदार्थ को हटाने का प्रयास किया जाये, संक्षारण उत्पादों तथा सिलिकामय सतह का विस्तृत परीक्षण कर लेना जरूरी है। जल्दबाजी से ऐतिहासिक कलाकृतियाँ नष्ट हो सकती हैं। फलतः सर्वप्रथम सावधानी के साथ संक्षारण उत्पादों को खरोंच कर निकालना होता है और तब उनका विश्लेषण किया जाता है।

संक्षारण से बचाव की क्रिया संरक्षण (conservation) कहलाती है। धातुओं के संरक्षण के मूलतः दो उद्देश्य होते हैं :

1. संक्षारण उत्पादों को विलग करना
2. ऐसे उपाय खोजना, जिससे और आगे संक्षारण न हो।

संक्षारण उत्पादों को हटाने के लिये पाँच प्रकार की विधियाँ काम में लाई जाती हैं – 1. भौतिक विधि 2. रासायनिक विधि 3. वैद्युत रासायनिक अपचयन 4. वैद्युत रासायनिक ब्रशिंग 5. गहन धुलाई। भौतिक विधि में किसी पिन, रुखानी, हथौड़ी आदि से अवांछित संलग्न उत्पादों को खुरच कर तथा ढीला करके हटाते हैं और तब महीन एमरी कागज से रगड़ कर सतह को सपाट कर देते हैं। वाह्य सिलिकामय जमाव को हटाने के लिये अब कलाकृतियों को डिटरजेंट विलयन में रखकर 'अल्ट्रासाउन्ड क्लीनर' का प्रयोग किया जाता है। एयर ब्लोवर तथा लेसर से भी सफाई की जाती है।

रासायनिक विधि में ऐसे रसायनों का उपयोग किया जाता है जो संक्षारण उत्पादों को विलयित कर लें और फिर कलाकृतियों को क्षति पहुँचाये बिना उन्हें पोंछ कर हटाया जा सके। इसके लिये प्रायः अत्यन्त

मृदु तथा तनु विलायक इस्तेमाल किये जाते हैं। यदि कांस्य कलाकृतियों में क्लोराइड लवण उपस्थित हों तो सोडियम कार्बोनेट तथा बाइकार्बोनेट की बराबर बराबर मात्रा पानी मे घोलकर इस विलयन में कलाकृतियों को हफ्तों तक सिक्त होने दिया जाता है। जब विलयन का रंग नीला पड़ने लगे तो समझना चाहिये कि संक्षारण उत्पाद विलयित हो चुके हैं। इस विधि से धातु के क्लोराइड आक्साइड में बदल जाते हैं और एक निर्दोष सुरक्षा परत बना लेते हैं जिससे कलाकृतियाँ सुरक्षित हो जाती हैं।

यदि भूमि के नीचे से निकली कांस्य कलाकृतियों के ऊपर कैल्सियम तथा मैग्नीशियम कार्बोनेट के सफेद निक्षेप हों तो जल में 5 प्रतिशत सोडियम हेक्सामेटाफास्फेट के विलयन में उन कलाकृतियों को डुबो कर रखा जाता है। ताम्र या कांस्य पर लगे कांस्य रोग को हटाने के लिये क्षारीय रोशेल लवण का विलयन (जिसमें सोडियम पोटैशियम टार्टरेट, सोडियम हाइड्राक्साइड तथा जल मिलाया जाता है) का प्रयोग करते हैं इससे आक्साइड सतह निकल आती है। लाल क्यूप्रिक आक्साइड की तह को 1 प्रतिशत सिट्रिक अम्ल की क्रिया से हटाते हैं किन्तु इससे सतह पर गड्ढे बन सकते हैं।

प्रायः ताम्र से संक्षारण उत्पादों को हटाने के लिये 10 प्रतिशत अमोनिया का प्रयोग करते हैं, 5 प्रतिशत ईडीटीए विलयन भी लाभकारी होता है।

वैद्युत रासायनिक अपघटन के लिये एक विद्युत अपघटनी सेल में जिंक चूर्ण के साथ 1 प्रतिशत सोडियम हाइड्राक्साइड की क्रिया से हाइड्रोजन गैस उत्पन्न की जाती है जो कलाकृतियों के संक्षारण उत्पादों का अपघटन करती है। ऐसी बड़ी बड़ी मूर्तियाँ जिन्हें उनके स्थान से हटाया नहीं जाता उन्हें उनके स्थानों पर ही वैद्युत रासायनिक अपघटन विधि से उपचारित किया जाता है। बिजली से चलाई जाने वाली सिरिंज से रुदन करती मूर्तियों की सफाई की जा सकती है। अन्तिम उपाय गहन धुलाई है। इससे उपर्युक्त विधियों से बच रहे उत्पादों को हटाया जा सकता है।

संरक्षी लेप

ऐसा कलाकृतियों के जो टूटने वाली हों उन्हें मोम या रेज़िन के साथ पैक कर दिया जाता है। इसके लिये 1 प्रतिशत मोम को बेंजीन में घोलकर या 2–3 प्रतिशत पालीविनाइल ऐसीटेट को ऐसीटोन में घोल कर कलाकृतियों पर लेप चढ़ाया जाता है। लेप करने के पूर्व साफ की गई कलाकृतियों के गड्ढों को सिल्वर आक्साइड की महीन लेई से भर दिया जाता है। जिंक डस्ट का भी इस्तेमान किया जा सकता है।

जिन कांस्य कलाकृतियों में कांस्य रोग की मोटी परत चढ़ी हो उन पर बेंजाट्रायजोल का जलीय विलयन प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु कांस्य रोग को नियन्त्रित रखने के लिये कलाकृतियों को शुष्क वातावरण में रखा जाना चाहिये।

आज के औद्योगिक युग में शायद ही कोई नगर हो जहाँ औद्योगिक प्रदूषण न हो। इससे संग्रहालय के भीतर तथा बाहर रखी कलाकृतियाँ प्रभावित होती हैं। इसके निवारण हेतु यह सलाह दी जाती है कि महत्वपूर्ण कलाकृतियों को प्रदर्शित न किया जाये। उनके स्थान पर नकली कलाकृतियाँ रखी जायें। किन्तु ऐसा करने के लिये काफी धन की आवश्यकता होगी। यह भी हो सकता है कि सभी कलाकृतियों के ऊपर रंगहीन सिलिकान लेप चढ़ा दिया जाये। प्राचीन कलाकृतियों का संरक्षण अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य है। भावी पीढ़ियों के लिये इनकी सुरक्षा आवश्यक है। तो क्या धातु की पुरानी कलाकृतियाँ मिट्टी के भीतर जहाँ कहीं दबी पड़ी हैं वहीं अधिक सुरक्षित हैं ? तो क्या उनकी नियति मिट्टी के भीतर ही रहे आने की है ?

प्लेनो, टेक्सास
यू०एस०ए०

पक्षी अवलोकन

✍ विश्वमोहन तिवारी

हमारे यहाँ पक्षिप्रेम की परम्परा बहुत समृद्ध तथा पुरातन है। चकवा या चक्रवाक की चर्चा ऋग्वेद से ही प्रारंभ हो जाती है जिसमें उन्हें नीतिशास्त्र के देवता वरुण का वाहन बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। अथर्ववेद (14/2/64) मंत्र में नवदंपति को चकवा दम्पति के समान निष्ठावान रहने का आशीर्वाद दिया गया है। एक तो चकवा चकवी जीवन भर के लिये जोड़ा बनाते हैं, दूसरे सुरक्षा के कारण रात्रि में जब वे घास में भोजन की खोज में दूर दूर हो जाते हैं तब अपनी निष्ठा के कारण से एक दूसरे से अपने बोलों– आ, उंग आदि द्वारा बराबर संपर्क में रहते हैं। एक जब पूछता है तब दूसरा उतनी ही तत्परता से उत्तर देता है मानो वह पहले की झाईं हो। इस व्यवहार के कारण ही वे विरही प्रेमियों के भी उपमान बनाये गये हैं। अपनी इस निष्ठा के कारण वे सारे पूर्वी एशिया में सम्माननीय हैं। मेरी समझ में यह भारतीय संस्कृति का प्रभाव है।

इसका नाम संस्कृत में चक्रवाक है क्योंकि इनके बोल आ, उंग, आंग इत्यादि बैलगाड़ी के या रथ के चके की आवाज के समान हैं। चक्रवाक का अर्थ है चक्र का वाक या आवाज़। इनका नाम मैंने कलकंठी बदामी चकवा दिया है जिससे इनकी पहचान सुनिश्चित हो सके। ये पक्षी मध्य एशिया तथा लद्दाख में मई तथा जून में प्रजनन करते हैं तथा अगस्त से अप्रैल तक भारत तथा पूर्वी एशिया की मैदानी झीलों में प्रवास करते हैं। ये अपने घोंसले पानी की कगार पर खड़ी चट्टानों की दरार में बनाते हैं। अंडे सेने का कार्य मादा करती है और शावकों का पालन–पोषण नर तथा मादा मिलकर करते हैं। चकवा अनाज, कोमल जल–वनस्पति, मृदुकवची, कवकधारी आदि जलकीटों का तथा घास का भोजन करते हैं।

पक्षियों का वैज्ञानिक अध्ययन भी भारत से ही प्रारंभ हुआ। डॉ० सत्यप्रकाश जी की पुस्तक, 'भारतीय विज्ञान के कर्णधार' के अनुसार चरक संहिता का संकलन काल सातवीं शती ईसा पूर्व है। इसके पूर्व जो जानकारी पक्षियों के विषय में थी वह फुटकर थी, यद्यपि उस काल में अद्वितीय थी। चरक संहिता में पक्षियों को विज्ञान के अनुसार चार भागों में विभक्त किया गया है, यथा प्रतुदः (peckers), विष्किराः (scratchers), प्लवाः (Waterbirds) तथा प्रसहाः (birds of prey)। चरक संहिता का अनुवाद फारसी में छठी शती ईसा पूर्व हो गया था। पाश्चात्य संसार में इस तरह का वैज्ञानिक अध्ययन यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने ईसा पूर्व चौथी शती में किया।

यदि हम मातृभाषा से नहीं कटते हैं तब संस्कृति से नहीं कटेंगे और न प्रकृति से। तब आज के प्रौद्योगिकी विकसित काल में भी हम सुखपूर्वक रह सकेंगे। इसीलिये जब मैंने देखा कि आज का पढ़ा लिखा व्यक्ति पक्षियों के नाम अंग्रेजी में ही जानता है क्योंकि एक तो वह अपनी मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेजी से प्रेम करता है, तथा दूसरे हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पक्षी सम्बन्धी वैज्ञानिक तथा अन्य ज्ञान देने वाली पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, तब मैंने निश्चय किया कि कम से कम एक अच्छी पुस्तक पक्षियों पर हिन्दी में लिखूँगा। हिंदी में लिखने पर सबसे बड़ी कठिनाई आई पक्षियों के नामों की। हिंदी में एक एक पक्षी के दस दस नाम हैं यथा अवधी, ब्रज, मैथिली, भोजपुरी, हरियानवी, राजस्थानी, बुँदेलखंडी, छत्तिसगढ़ी, मालवी, बघेलखंडी आदि आदि में। और पक्षियों की अनेक जातियों के एक ही नाम हैं यथा मैना, पंडुकी, हरियल, गौरैया, बगुला आदि जो वास्तव में वंश या कुल के नाम हैं, जाति के नहीं। मैनें डॉ०

15 फरवरी 2001 को विज्ञान परिषद् प्रयाग में दिये गये स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती स्मृति व्याख्यान के अंश

रघुवीर के शब्दकोष के नामों का भी अध्ययन किया और पाया कि वे नाम भी श्रेष्ठ हैं किंतु सरल नहीं हैं, उनसे समुचित पहचान नहीं बनती तथा वे प्रचलित नामों का उपयोग नहीं करते। अतएव मैंने निश्चय किया कि मैं हिंदी में पक्षियों के नाम बनाऊँ और उसके लिये मैंने उन नामों के निर्माण का दर्शन तय किया। मेरे विचार से पक्षियों के नामों में निम्नलिखित सात गुण यथासंभव होने चाहिये– (1) सरलता (2) नाम वैज्ञानिक शैली में हो अर्थात् जाति, वंश तथ कुल को ध्यान में रखकर दिया जाये (3) नाम से उस पक्षी की पहचान बने जो उसे उसी के वंश, कुल के तथा अभिसारी पक्षियों से अलग कर सके (4) उस पक्षी के विशिष्ट गुणों का ज्ञान हो (5) भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ा रहे (6) उसमें राष्ट्रीय बन सकने की सम्भावना हो तथा (7) प्रचलित नामों का उपयोग हो। मेरे विचार से पहचान बनाने वाला गुण बहुत महत्वपूर्ण है तथा निर्माण करने में सबसे कठिन भी।

उदाहरण के लिये मैं तीन पक्षियों के नाम लेता हूँ। ये तीनों पक्षी विभिन्न वंशों के होते हुये भी अंग्रेजी भाषा के एक से नामों से जाने जाते हैं यथा *Grey Heron*, *Night Heron* तथा *Pond Heron* जो क्रमशः *Ardea*, *Nycticorax* तथा *Ardeola* वंश के हैं। इनके नाम मैंने बनाये सितसिर अंजन (कंक), कल/सित चंद्रवाक तथा पांडु–कथ अंधबक। ये नाम बतलाते हैं कि ये पक्षी क्रमशः कंक, वाक तथा अंधबक वंश के हैं। सितसिर अंजन पक्षी का सिर सफेद तथा शेष मुख्य रंग अंजन अर्थात् हल्का काजल सा है। साथ ही इसका नाम अंजन है– तथा भारत में कंक वंश का एक ही पक्षी है जिसका रंग अंजन है, दूसरे का रंग जाम्बुकी है। अर्थात् यह नाम सरल है, वैज्ञानिक है तथा स्पष्ट पहचान बतलाता है, और प्रचलित है, साथ ही संस्कृत में इसके एक नाम अंजन तथा कंक हैं। इस नाम सितसिर अंजन (कंक) को सरल करने के लिये कंक शब्द को कोष्ठक में रखकर छोटा कर दिया है, अतः नाम है सितसिर अंजन। इस तरह इस नाम में लगभग सातों गुण हैं।

अब लें *Night Heron*। इसका हिंदी में नाम मैंने बनाया है कल/सित चंद्रवाक इसका रंग ऊपर मुख्यतया बैंगनी आभा लिये काला है तथा नीचे सफेद– यह दर्शाने के लिये विशेषण है कल/सित। तथा प्रजनन काल में इसके हल्के काले से सिर से दो सफेद 'पर' चन्द्राकार में लटकते हैं तथा यह पंछी भी चंद्रमा के समान रात्रि में कार्यशील रहता है तथा इसके बोल हैं–वाक, क्वाक। वाक इसके वंश का भी नाम है। अतएव कल/सित चंद्रवाक नाम दर्शाता है कि यह काला/सफेद पंछी भी वाक वंश का है। इसके सिर से चंद्राकार पर निकलते हैं। तथा इनसे इसकी पहचान भी सुनिश्चित होती है। इस पक्षी के संस्कृत, गुजराती, तमिल तथा तेलुगू नामों में भी वाक शब्द की ध्वनि है। इस तरह इसमें भी लगभग सातों गुण उपलब्ध हैं।

अब लें *Pond Heron*। इसका हिन्दी नाम पांडु कथ अंधबक बनाया है। इसके वंश का नाम ही अंधबक रखा गया है। इस अंध शब्द के पीछे एक कहानी है। इसके रंगों का पीछे कत्थई तथा सामने उनमें पांडु या पीली आभा का होना– भी इसके नाम पांडु–कथ द्वारा दर्शायें जाते हैं। इस पंछी में निश्चल बैठने की अद्भुत क्षमता है। इसके रंग इसकी पृष्ठभूमि से आसानी से मिल जाते हैं अर्थात् उनमें छद्मावरण या समरूपता (Camouflage) का गुण है। वह आसानी से नहीं दिखता और वह यह भी जानता भी है। इसलिये अक्सर जब मैं पंछी निहारन के लिये झील या नदी किनारे जाता हूँ जहाँ वृक्ष तथा झाड़ियाँ भी हैं तब अक्सर, अचानक मेरे बहुत पास से एक मुर्गी के बराबर सा सफेद सा पक्षी फर्र आवाज करता हुआ उड़ जाता है अर्थात् वह अंधा है। वास्तविकता यह है कि वह मुझे बराबर दूर से आते हुये देख रहा था, किंतु अपनी समरूपता के भरोसे पर शांत बैठा है। यदि मैं तीन मीटर से अधिक निकट न जाता तो वह वहीं बैठा रहता। चूँकि मैं उसके निकट चला गया, बिना उसे देखे, इसलिये मैं अंधा हुआ न कि वह। इसलिये उसका तथा उसके वंश का नाम अंधबक रखा– बक नाम बक कुल को दर्शाता है यह तीनों पंछी बक कुल के हैं। इसका प्रचलित नाम अंधा बगला है। किंतु बगला नाम मैंने वंश को दिया है तथा संस्कृत में इसका एक नाम अंध बक है। इस तरह इस नाम में भी लगभग सातों गुण हैं। इस तरह प्रयास करते हुये मैंने

लगभग 200 पंछियों के नाम बना लिये हैं, यद्यपि सभी नामों में सातों गुणों को लाना सम्भव नहीं हो पाया है। और अभी तक आई पहली पुस्तक 'आनंद पंछी निहारन का" में केवल सौ नामों का ही उपयोग हुआ है। अगले खंड भी लिखे जा रहे हैं।

क्या आपने कभी गंभीरतापूर्वक सोचा है कि लक्ष्मी का वाहन उल्लू क्यों है ? यह भारतीयों का निपट अज्ञान ही है कि हमने उल्लू जैसे निपुण उड़ाकू तथा किसान–मित्र को मूर्खता का प्रतीक मान लिया है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। उलूक कुल के पक्षी उड़ान की विशिष्ट निपुणतायें रखते हैं तथा किसान के नाशकारी शत्रु चूहों पर सर्वाधिक प्रभावी नियंत्रण रखते हैं। वे सुपर्ण, बाज, चील इत्यादि पक्षियों से भी अधिक निपुणतापूर्वक चूहों का भोज कर उनकी आग की तेजी से फैलती आबादी पर अंकुश लगा रखते हैं। यदि चूहे की एक जोड़ी को बिल्कुल निर्बाध गति से प्रजनन करने दिया जाये तो उनकी संख्या मात्र एक वर्ष में 800 हो जायेगी, और दूसरे वर्ष के अंत तक तो उनकी संख्या लाखों में पहुँचेगी। इन सब प्राकृतिक तथा मानव प्रयासों के बावजूद, चूहे भारत की फसल का लगभग दस प्रतिशत हिस्सा हजम कर जाते हैं अर्थात्, करोड़ों रुपये का नुकसान।

उलूक वंश के पक्षियों में, इस भीमकाय कार्य कर सकने के लिये अद्वितीय गुण है। उलूक की आँखों के लेंस उसके सिर के अनुपात की तुलना में पक्षियों में सर्वाधिक बड़े हैं। बड़े लेंस के कारण उलूक अपनी आँखें अपने कोटर में घुमा नहीं सकता क्योंकि आँखों में उतना स्थान नहीं है। तीनों विमाओं में देखने की क्षमता हेतु दोनों आँखों का लक्ष्य पर संकेन्द्रन आवश्यक होता है इसलिये उल्लू का चेहरा मनुष्य सरीखा सपाट होता है। इसके फलस्वरूप उलूक अपने लक्ष्य की दूरी का सुनिश्चित अनुमान लगा सकता है। इस तरह उलूक को बिना अपना सिर घुमाये केवल लगभग 40–45 अंश का शंकु क्षेत्र ही दिखता है जबकि सामान्य पक्षी बिना सिर घुमाये लगभग 180 अंश का शंकु क्षेत्र देख सकते हैं। अपनी इस कमी को पूरा करने के लिये उल्लू अपना सिर लगभग 160–170 अंश तक घुमा सकता है।

वैसे तो उलूक के आहार में पतंगे, टिड्डी, केंचुये, चिड्डे, छिपकलियाँ तथा छोटे पक्षी भी शामिल हैं किंतु चूहे उसे विशेष प्रिय हैं। चूहों का शिकार करना अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि चूहे भी अधिकांशतया रात में निकलते हैं और उनकी आँखें तथा कान भी तेज होते हैं, साथ ही वे चपल भी बहुत होते हैं। ऐसे चतुर चपल कृंतक (कुतरने वाला, रोडैन्ट) जीव का शिकार तो अत्यंत कुशल शिकारी ही कर सकता है। उल्लू के कान भी बहुत तेज हैं। वैज्ञानिकों ने खोजकर पता लगाया है कि उल्लू के कानों की संवेदनशीलता ध्वनिवर्णक्रम की 6000 हर्ट्ज प्रति सेकेण्ड है। इस विशिष्टता के कारण ही खोज करने पर पता लगा कि चूहों की आवाज वर्णक्रम में 6000 हर्ट्ज प्रति सेकेण्ड वाली आवाज सर्वाधिक तीव्र है। अर्थात् जैसे माँ शिशु की आवाज को सभी आवाजों के बावजूद सुन सकती है उसी तरह उलूक सभी आवाजों के बीच चूहों की आवाज सुन सकते हैं। उल्लुओं के कान भी अपेक्षाकृत बड़े होते हैं जिनकी सहायता से वे न केवल चूहों की मंद चूँ भी सुन सकते हैं उनकी दिशा का भी सही अनुमान लगा सकते हैं।

चूहों के कान भी तेज होते हैं और वे पंछियों के उड़ने की हल्की फरफराहट को भी सुन लेते हैं और अपना बचाव कर लेते हैं। शिकारी पक्षियों की फरफराहट भी अन्य पक्षियों की अपेक्षा कम होती है। किंतु उल्लू की फरफराहट तो लगभग नगण्य होती है। इस तरह हम देखते हैं कि उलूक चूहों के शिकार के लिये मानो सर्वश्रेष्ठ यमदूत हैं। चूहों को अपना प्रिय आहार बनाकर वे किसानों का 20–25 प्रतिशत फसल का नुकसान बचाते हैं, अर्थात् किसानों को धनी बनाते हैं। तब वे लक्ष्मी का वाहन क्यों न कहलायें। लक्ष्मी का वाहन बनने के लिये वह अनोखी योग्यता भी पर्याप्त होती किंतु तब संभवतः कोई अन्य पक्षी जो फसल विनाशक कीटों को अपना आहार बनाते हैं, वे भी लक्ष्मी का वाहन बनने का दावा करते। इस तरह विवादों को जड़हीन करने के लिये उल्लू के एक अन्य गुण का उपयोग किया गया। चूँकि उल्लू के उड़ने की आहट भी नहीं आती, इसलिये वह कब आया और कब गया यह पता ही नहीं चलता। इसी तरह लक्ष्मी कब आयेगी और कब चली जायेगी, यह भी पता नहीं चलता। इस तरह सूक्ष्म अवलोकन द्वारा देखे गये अनोखे गुणों के

आधार पर ही उल्लू को लक्ष्मी का वाहन बनने का श्रेय दिया गया है।

कुछ गलत धारणाओं के आधार पर उल्लू अप्रिय माना गया है– जैसे कि वह खंडहरों, सूखे वृक्षों के कोटरों में वास करता है। इसका गलत निष्कर्ष निकाला गया कि जिस घर पर उल्लू बैठता है, वह घर उजाड़ हो जाता है। सही निष्कर्ष तो यह निकलता है कि ऐसे घर के आसपास चूहों तथा अन्य कीटों की संख्या कम हो जायेगी। एक और कारण दिया जाता है कि यह निशाचर है अर्थात् उसमें राक्षसी गुण हैं। यह भी गलत है। उल्लू वास्तव में निशाप्रहरी है, तमभेदक है। शीतकालीन अत्यंत ठंडी रातों में भी उड़कर वह किसानों के शत्रु का विनाश करता है। इतनी ढंड में उड़ सकने की योग्यता उसके विशेष मृदुरोमिल पंख देते हैं। इसलिये उल्लू को निशाचर मानने वाले लोग भी लक्ष्मी के वाहन को मारते नहीं।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे ऋषियों, कवियों आदि ने प्रकृति की एकता को अपने सूक्ष्म अवलोकनों द्वारा समझा और ऐसी संस्कृति का विकास किया जिससे प्रकृति का संरक्षण होता है, तथा हमारे जीवन में आनंद मिलता रहता है।

पूर्व एयर वाइस मार्शल
ई–143, नोएडा – 201 301

पृष्ठ 2 का शेष

सिट्रस का उत्पादन बढ़ाया जा चुका है।

पुंजनन तथा जायाजनन (Androgenesis and Gynogenesis)

इन विधियों से अगुणित (Haploid) पौधे तैयार किये जाते हैं। इनका सर्वाधिक उपयोग उन वृक्षों में है जिनके पुनर्जनन–चक्र दीर्घकालीन होते हैं। चीन में इस विधि से धान, गेहूँ तथा तम्बाकू की नई किस्में उत्पन्न करने में सफलता मिली है।

भ्रूणपोष संवर्ध (Endosperm Culture)

त्रिगुणितों (Triploids) में अधिक शक्ति तथा बीजरहित फल पाये जाते हैं। इनहें भ्रूणपोष संवर्धन द्वारा तैयार किया जाता है।

संश्लिष्ट बीज उत्पादन (Synthetic Seed Production)

यदि गन्ने में संश्लिष्ट बीज विकसित किये जा सकें तो इसकी खेती में आमूल परिवर्तन हो सकता है। गन्ने के तने के खण्डों को अधिक स्थान घेरने से संग्रह करना कठिन है और उनमें अनेक कवक लग सकते हैं। आलू के सूक्ष्मट्यूबर, ग्लैटिओलिस में सूक्ष्म कार्म तथा ऑर्किडों में प्रोटोकार्मों को संपुटित करके सश्लिष्ट बीज तैयार किया जाता है जिन्हें 40 से0 पर कई महीनों तक संग्रह करने पर सामान्य अंकुरण होता है।

जर्मप्लाज्म (जननद्रव्य) संरक्षण

भविष्य के लिये "जीन बैंक" स्थापित करने के लिये जर्मप्लाज्म के संरक्षण हेतु संवर्धन का प्रयोग किया जाता है। स्ट्राबेरी तथा मटर के साथ ऐसे प्रयोग हुये हैं।

सक्रिय तत्वों का उत्पादन

सक्रिय तत्वों (Active Principles) या औषधियों का उत्पादन करने में ऊतक संवर्धन का व्यापारिक महत्व है जो जापान में प्रचलित है। वनस्पति रंजक शिकोनिन का जिसका उपयोग होठ की लाली तैयार करने में होता है, व्यापारिक उत्पादन हो रहा है। इसी तरह अर्बुदरोधी यौगिक टैक्सॉल का उत्पादन कोशिका संवर्धन से किया जा रहा है। लखनऊ में ऐल्कैलॉयड, स्टेराइड तथा सौगंधित तेल का उत्पादन पादप ऊतक संवर्धन विधि द्वारा किया जा रहा है।

टिशु कल्चर लैबोरेट्री
नेशनल बोटैनिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट
लखनऊ (उ0प्र0)

प्रो० मेघनाद साहा अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र

डॉ० के.एन. उत्तम

भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम लगभग चार दशक पुराना है। इतनी अल्प अवधि में भारत विश्व में एकमात्र ऐसा विकासशील देश है जिसने उपग्रह निर्माण तथा प्रक्षेपण और उसके नियंत्रित प्रयोग की क्षमता प्राप्त कर ली है। भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम की शुरुआत नवम्बर, 1963 में थुम्बा भूमध्यरेखीय राकेट प्रक्षेपण स्टेशन (केरल) से अमेरिका निर्मित नाइक एपास साउंडिंग राकेट के छोड़े जाने से मानी जाती है। भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य भारत को अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी में आत्मनिर्भर बनाना तथा राष्ट्रीय हित में इसका उपयोग करना है। अंतरिक्ष कार्यक्रम की प्राथमिकताओं में राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिये उपग्रह संचार, पर्यावरण पर्यवेक्षण, मौसम विज्ञान और संसाधन सर्वेक्षण के लिये दूरसंवेदन तथा उपग्रहों, प्रक्षेपणयानों एवं संबद्ध आधारभूत प्रणालियों का विकास करना है। साथ ही साथ, भारतीय अंतरिक्ष संगठन का उद्देश्य, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के व्यवहारिक प्रयोगों को संगठित करने तथा उनका परीक्षण करने में मुख्य भूमिका निभाना है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष सूखे, बाढ़, चक्रवात, भूमिस्खलन जैसी विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं से लगभग 6 करोड़ लोग प्रभावित होते हैं। इन आपदाओं को रोकने के लिये मरुभूमि विकास, वनरोपण, मृदा एवं जल संरक्षण, बाढ़ नियंत्रण आदि विधियाँ सामान्य उपाय हैं। अंतरिक्ष विज्ञान की सहायता से कृषि व जलवायु सम्बन्धी भविष्यवाणियों के साथ साथ प्राकृतिक आपदाओं की सूचना दी जा सकती है। वर्तमान में कृषि, चिकित्सा, शिक्षा, मौसम विज्ञान, आपदा प्रबन्धन, जल प्रबन्धन, नगर प्रबन्धन आदि कई विषयों में अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी का प्रयोग बढ़ा है।

अंतरिक्ष विज्ञान के जरिये सामाजिक क्षेत्र की समस्याओं का निदान आसानी से किया जा सकता है। अंतरिक्ष विज्ञान के आविष्कार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत उपयोगी हैं। उपग्रह का प्रयोग कर मेलों, उत्सवों, जनआंदोलनों इत्यादि के समय भीड़ को नियंत्रित किया जा सकता है। इसी तरह मौसम, भूकम्प, बाढ़ एवं चक्रवात का पूर्वानुमान कर जनता को खतरे से बचाया जा सकता है। दूरसंचार विकास, शिक्षा एवं प्रशिक्षण तथा ग्रामीण विकास में अंतरिक्ष अनुसंधान सहायक साबित हो रहे हैं।

अंतरिक्ष विभाग देश के राष्ट्रीय अध्ययन संस्थानों, विश्वविद्यालयों एवं निजी क्षेत्रों के साथ मिलकर एक बड़ी परियोजना का विकास करना चाहता है जिससे उपग्रहों से प्राप्त सूचनाओं एवं आंकड़ों का राष्ट्रीय हित में व्यापक उपयोग हो सके।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय अपनी स्थापना से लेकर अब तक अनेक महत्वपूर्ण आविष्कारों का साक्षी रहा है। यह विश्वविद्यालय अपने अतीत में सुविख्यात वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, विद्वानों, राजनीतिज्ञों, योजनाकारों तथा प्रशासनिक अधिकारियों का जन्मदाता रहा है। इस विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में गैसों के ऊष्मीय आयनीकरण के सिद्धान्त की खोज विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० मेघनाद साहा ने की जो कि बाद के दिनों में अंतरिक्ष विज्ञान एवं खगोल शास्त्र के अध्ययन के लिये मील का पत्थर साबित हुई। माइक्रोवेव प्रयोगशाला की स्थापना प्रो० कृष्णा जी के निर्देशन में इसी विभाग में हुई। X–किरणों का अध्ययन भी इसी विभाग में शुरू हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व इस विभाग ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान किया। यहाँ पर प्रो० मेघनाद साहा, प्रो० के.एस. कृष्णन, प्रो० के. बनर्जी, प्रो० के.एस. सिंगवी, प्रो० कृष्णा जी, प्रो० वाचस्पति, प्रो० विपिन कुमार अग्रवाल, प्रो० एस. के. जोशी, प्रो० एस.एन. घोष, प्रो० एस.के. कार जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक कार्यरत रहे हैं। इसके अलावा रसायन विज्ञान विभाग में प्रो० नीलरत्न धर जैसे विश्वविख्यात मृदा एवं रसायनविज्ञानी भी रहे हैं।

किसी देश का सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिये अंतरिक्ष अन्वेषण आवश्यक है। हमारे चारों ओर का वातावरण, मौसम एवं जलवायु पूर्ण रूप से अंतरिक्ष पर निर्भर है। इस तरह अंतरिक्ष अध्ययन राष्ट्रीय विकास में प्रमुख भूमिका निभाता है। मनुष्य की व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ने के कारण वायुमण्डल में हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन आवश्यक है। पृथ्वी पर अचानक हो रहे जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों जैसे तापमान वृद्धि, असामयिक वर्षा, प्राकृतिक आपदाओं (बाढ़, भूस्खलन, सूखा, महामारी,) इत्यादि का समाधान अंतरिक्ष अध्ययन पर निर्भर करता है। वर्तमान में उपग्रहीय आँकड़े, दूरसंवेदन, लेजर प्रौद्योगिकी, प्रतिरूपण विधियाँ इत्यादि की सहायता से पृथ्वी के निकट के वायुमण्डल का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। जरूरत है इस दिशा में वैज्ञानिक चेतना एवं प्रतिभा विकसित करने की।

भारत सरकार ने अंतरिक्ष अध्ययन करने की महत्ता को स्वीकार करते हुये सन् 1963 में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन की स्थापना का निर्णय लिया। यह विभाग वर्तमान में प्रधानमंत्री के अधीन है तथा अंतरिक्ष अध्ययन सम्बन्धित प्रकल्पों को बढ़ावा देता है। देश में आवश्यक अंतरिक्ष वैज्ञानिक प्रतिभा विकसित करने के लिये भारत सरकार ने इलाहाबाद में एक उच्चकोटि के अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र की स्थापना का निर्णय लिया है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय में स्थित अंतरशास्त्रीय संस्थान (Interdisciplinary Institute) के अधीन प्रो0 मेघनाद साहा अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र का उद्घाटन 4 फरवरी 2001 को भारत सरकार के मानव संसाधन विकास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा महासागर विकास मंत्री डॉ0 मुरली मनोहर जोशी ने किया। इस नवस्थापित अध्ययन केन्द्र का संयोजक प्रो0 एस.एल. श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष, भौतिकी को बनाया गया है। उद्घाटन के अवसर पर भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के चेयरमैन डॉ0 के. कस्तूरीरंगन कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में सम्मिलित हुये। इसके अलावा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो0 सी.एल. क्षेत्रपाल, प्रतिकुलपति एवं अन्तरशास्त्रीय संस्थान के निदेशक प्रो0 आर.सी. त्रिपाठी, अध्ययन केन्द्र के संयोजक प्रो0 एस.एल. श्रीवास्तव, राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो0 एन. के. सान्याल, गणित विभाग के पूर्वविभागाध्यक्ष एवं राष्ट्रीय विज्ञान एकेडमी के सचिव प्रो0 एच.सी. खरे एवं प्रो0 उमाशंकर श्रीवास्तव, विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र, भौतिकी विभाग के अध्यक्ष प्रो0 जी.के. पाण्डेय, पूर्वकुलपति श्रीराम सहाय, जे.के. इन्स्टीट्यूट के विभागाध्यक्ष प्रो0 ए.के. गुप्ता तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकगण, शोध छात्र एवं विश्वविद्यालय के छात्र उपस्थित थे।

अंतरशास्त्रीय संस्थान के अंतर्गत इलाहाबाद विश्वविद्यालय में चलने वाला यह अध्ययन केन्द्र देश के आठ केन्द्रों में से एक है जो भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन से मान्यताप्राप्त है। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन ने इस परियोजना हेतु कुल 60 लाख रुपये का अनुदान स्वीकृत किया है। वैसे यह अध्ययन केन्द्र गतवर्ष नवम्बर से अपना शोधकार्य प्रारम्भ कर चुका है परन्तु अध्ययन केन्द्र का विधिवत् उद्घाटन 4 फरवरी 2001 को हुआ। अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र का नाम सुप्रसिद्ध भौतिकी विज्ञान प्रो0 मेघनाद साहा के सम्मान में 'मेघनाद साहा अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र' रखा गया है।

मेघनाद साहा अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र में कुल छः प्रकल्पों पर वर्तमान में कार्य चल रहा है। अंतरिक्ष अध्ययन से सम्बन्धित ये प्रकल्प हैं– लेजर इन्ड्यूस्ड फ्लोरेसेन्स आफ वेजीटेबल एण्ड वाटरबाडीज, माइक्रोवेव सिरामिक्स, क्वांटम टेलीपोर्टेशन एण्ड क्वांटम आप्टिक्स, थियोरिटिकल कम्प्यूटर सिमुलेशन आफ लिक्विड मिरर टेलीस्कोप, मैथेमैटिकल माडलिंग आफ एटमास्फियर, नेशनल मानीटरिंग रडार फैसिलिटी द्वारा वायुमण्डल का अध्ययन।

एम.एस. रडार का उपयोग कर वायुमण्डलीय तरंगों का अध्ययन कर महत्वपूर्ण सूचनायें एकत्रित की जायेंगी जो कि भविष्य में डाटा बेस के रूप में सुरक्षित रखी जायेंगी। इन आँकड़ों की सहायता से दीर्घकालीन तरंगों का वैज्ञानिक अध्ययन कर उपग्रह प्रक्षेपण की योजना पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला जा सकेगा। मैथेमैटिकल माडलिंग आफ एटमास्फियर नामक प्रकल्प में मूलतः मौसम से सम्बन्धित पूर्वानुमान का अध्ययन

किया जायेगा जिससे आने वाले वर्षों में मौसम के बारे मे सही जानकारी प्राप्त की जा सकेगी। इस शोध की सहायता से तूफान, बाढ़, सूखा तथा चक्रवात जैसी त्रासदियों से बचा जा सकेगा। लिक्विड मिरर टेलीस्कोप नामक प्रकल्प पर विश्वभर में वर्तमान में कार्य चल रहा है। रडार से भी अत्यन्त उन्नत किस्म के इस टेलीस्कोप की सहायता से अंतरिक्ष का अध्ययन और भी स्पष्ट रूप से किया जा सकेगा। क्वांटम टेलीपोर्टेशन एण्ड क्वांटम आप्टिक्स नामक प्रकल्प टेलीपैथी का उन्नत स्वरूप है और इस अध्ययन का आधार क्वांटम भौतिकी है। इसमें सफलता मिलने पर दूर बैठे व्यक्ति के मस्तिष्क में उपार्जित तरंगों द्वारा स्पष्ट रूप से बातचीत की जा सकेगी। प्रयोगशाला में जल में घुलनशील पदार्थों के लेसर स्पेक्ट्रम का अध्ययन कर उपग्रहों द्वारा प्राप्त आँकड़ों से तुलना कर कृषि के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त की जा सकेंगी। माइक्रोवेव सिरामिक्स का प्रयोग मुख्य रूप से उपग्रह संचार हेतु किया जाता है। इस अध्ययन में सफलता प्राप्त होन पर उपग्रह संचार में और भी उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जा सकेगा। माइक्रोवेव की उन्नत प्रौद्योगिकी के साथ साथ उनकी गति को मेगाहर्ट्ज तक बढ़ाया जा सकेगा। मेघनाद साहा अंतरिक्ष केन्द्र में सभी प्रोजेक्ट तीन वर्षों में पूरे किया जाने हैं। अंतरिक्ष अध्ययन हेतु सभी मूलभूत सुविधाओं से यह केन्द्र पूर्णरूप से सुसज्जित है।

यह अध्ययन केन्द्र आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी से सम्पन्न होगा तथा इस विषय में कार्यरत भारतीय विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय शोध संस्थान तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से अध्ययन सम्बन्धी निकट का सम्बन्ध स्थापित होगा।

यह अध्ययन केन्द्र स्थानीय केन्द्रों जैसे भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान, मेहता (अब हरिश्चन्द्र) गणित एवं गणितीय भौतिकी शोध संस्थान, के.एस. कृष्णन भू चुम्बकीय अनुसंधान प्रयोगशाला, के. बनर्जी वातावरण एवं वायुमण्डल अध्ययन केन्द्र तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों (भौतिकी, गणित, जन्तु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जैव प्रौद्योगिकी, भूगर्भ एवं नक्षत्र विज्ञान विभाग, जे.के. इन्स्टीट्यूट इत्यादि) के साथ परस्पर मिलकर कार्य करेगा। स्थानीय अध्ययन केन्द्रों के अतिरिक्त यह नवस्थापित केन्द्र देश के अन्य महत्वपूर्ण केन्द्रों जैसे अंतरिक्ष उपयोग केन्द्र अहमदाबाद, भौतिकी अनुसंधान प्रयोगशाला, अहमदाबाद, भारतीय मौसम संस्थान, पुणे, राष्ट्रीय महासागर विकास संस्थान, गोवा, गणितीय प्रतिरूपण एवं संगठन सिमुलेशल केन्द्र, बंगलौर, भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर, अंतरिक्ष भौतिकी प्रयोगशाला, त्रिवेन्द्रम, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली एवं राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला, नई दिल्ली के साथ परस्पर मिलकर कार्य करेगा।

इलाहाबाद में सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान तथा भारतीय भू चुम्बकत्व संस्थान की क्षेत्रीय प्रयोगशाला स्थित होने के कारण आँकड़ों के संचयन, रिट्रावल एवं विश्लेषण में सरलता होगी। उपग्रहों एवं माडलों से प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण हेतु आवश्यक नये साफ्टवेयर पैकेज तथा विशेषज्ञ सरलता से इन संस्थानों से प्राप्त किये जा सकेंगे।

प्रो0 मेघनाद साहा अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्र की स्थापना से ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में प्रो0 साहा जैसे अंतरिक्ष खगोलविज्ञानी उत्पन्न करने में इलाहाबाद का यह केन्द्र महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। भारत सरकार का यह उच्च अध्ययन केन्द्र अंतरशास्त्रीय संस्थान के अधीन स्थापित करने का निर्णय विवेकपूर्ण एवं सराहनीय है। इलाहाबाद में अन्य शैक्षिक संस्थानों के साथ मिलकर यह केन्द्र भविष्य में विश्वविद्यालय की तरह अंतरिक्ष अध्ययम के क्षेत्र में उच्च कीर्तिमान स्थापित करेगा और इलाहाबाद शहर आधुनिक शोध एवं विकास के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में विकसित हो सकेगा।

भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

भारतीय हाथी संकट में

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

हाथी (एल्फास मैक्सिमस) सदैव से कौतूहल और आकर्षण का केन्द्र रहा है। बुद्धि और ज्ञान के देवता गणेश का मस्तक हाथी का ही है और संभवतः यही कारण है कि हाथी सदैव से देवता की भाँति पूज्य माना गया है। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव में लोभ भी बढ़ता गया और धार्मिक आस्था कम होती गई। फिर आज यदि कीमती और लुभावने हाथी दाँत के लिये हाथी मारे जा रहे हैं तो इसमे आश्चर्य कैसा ?

हाथियों की संख्या में कमी के अनेक कारण हैं। सबसे प्रमुख कारण है जंगलों का कटना और हाथी के आवास का सिकुड़ते जाना। जैसे ही मनुष्य को एहसास हुआ कि वह अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक बुद्धिमान है, उसने जंगल पर आक्रमण प्रारंभ कर दिया। जंगल कटने लगे, जंगली जानवरों के आवास मनुष्यों द्वारा छीने जाने लगे, जंगली जानवर मारे जाने लगे। शिकार को आदमी के शौर्य का प्रतीक मान लिया गया। प्रकृति में मनुष्य ने अपने आपको सर्वशक्तिमान समझ लिया और यहीं वह भूल कर बैठा। यह तथ्य समझ सकने से पूर्व ही स्थिति उसके काबू के बाहर हो गई। यह बात बहुत बाद में समझ में आई कि जंगलों का विनाश मानव जाति के विनाश से जुड़ा हुआ है। किन्तु लोभ अभी भी सर्वोपरि है। पिछले दिनों जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान में मात्र दो माहों में ही पाँच हाथियों की हत्या ने सिद्ध कर दिया है कि हाथियों को बचाने के लिये वर्तमान में जिस तरह के प्रयास किये जा रहे हैं उनमें कहीं न कहीं खामियाँ हैं और सुधार की आवश्यकता है।

हाथियों की प्रजातियाँ

सारे संसार में हाथियों की मुख्य रूप से दो प्रजातियाँ पाई जाती हैं। एशियाई हाथी तथा अफ्रीकी हाथी। एशियाई हाथी अधिकतर भारत में पाये जाते हैं। 1997 की गणना के अनुसार भारत में जंगली हाथियों की संख्या लगभग 29,000 है। एशियाई हाथियों की संख्या भारत के अतिरिक्त 13,000 के आसपास है। इसके विपरीत अफ्रीकी हाथियों की संख्या 2,50,.000 है। यहाँ एक सहज सा प्रश्न उठता है कि एशियाई हाथियों की संख्या में इतनी कमी क्यों है ? इनकी संख्या में कमी का कारण है हाथी दाँत (आइवरी) के लिये इनका अवैध शिकार, जंगलों के बीच से रेलवे लाईनों का बिछाया जाना और अनेक प्रकार के अनियंत्रित विकास कार्य। इसके अतिरिक्त जब हाथी भोजन की तलाश में जंगलों से निकलकर खेतों में घुस जाते हैं तो हाथी और मानवीय संघर्ष के परिणामस्वरूप हाथियों का मारा जाना एक और कारण है।

प्रोजेक्ट एलिफैंट

हाथियों को बचाने के लिये जब छिटपुट प्रयासों से काम नहीं बना तब भारत सरकार ने हाथियों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से 1992 में 'प्रोजेक्ट एलिफैंट' नामक एक परियोजना शुरू की। इस परियोजना के अंतर्गत बारह राज्यों के 60,000 किलोमीटर क्षेत्र में ग्यारह संरक्षित क्षेत्र हैं। इसमें नीलगिरी सबसे बड़ा क्षेत्र है जिसमें केरल, कर्नाटक और तमिलनाडु के जंगल शामिल हैं। यहाँ लगभग 5,000 हाथी निवास करते हैं। इसी प्रकार उत्तरांचल में जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान और राजाजी राष्ट्रीय उद्यान को मिलाकर एक संरक्षित क्षेत्र है, जहाँ हाथियों की संख्या लगभग 750 है। उपरोक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त इस परियोजना का विस्तार अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, असम, मेघालय, नागालैण्ड, उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल तक है।

1999 की गणनानुसार उत्तरांचल में हाथियों की संख्या 1,317 है। इसमें 458 नर हाथी तथा 869 मादा हैं। इस प्रकार नर–मादा हाथियों का अनुपात (सेक्स रेशियो) 1:2 है। प्रजनन की दृष्टि से यह अनुपात उत्तम है, किन्तु नर हाथियों की संख्या में कमी का कारण यह है कि नर हाथी 15 से 20 वर्ष की आयु तक पहुँचते–पहुँचते संभोग करने लायक हो जाते हैं किन्तु बड़े नर हाथियों के वर्चस्व के कारण उन्हें यह अवसर

शेष पृष्ठ 28 पर

राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी दिवस पर

सूचना प्रौद्योगिकी और छात्राएँ

✍ डॉ० इति तिवारी

प्राचीन काल से ही मानव समाज और प्रौद्योगिकी ने एक दूसरे को सँवारा है। 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक में जो प्रौद्योगिकियाँ सामने आई हैं या आ रही हैं, उनसे 21वीं शताब्दी के पहले दशक की सभ्यता सँवरेगी, इस बात में कोई संदेह नहीं है। 20वीं शताब्दी में विज्ञान ने समग्र रूप से अपने आधारभूत ढाँचे में बहुत संशोधन किये। जैसे जैसे हम 21वीं शताब्दी की ओर बढ़ रहे हैं वैसे वैसे चिंताएँ मानव मात्र की सामूहिक चेतना पर हावी हो रही हैं। हम मानते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी हमारी समस्याओं को हल करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे। 20वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की अधिकांश अतिमहत्वाकांक्षी प्रौद्योगिकियों में से अनेक प्रौद्योगिकियाँ भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान आदि जैसे अनेक क्षेत्रों के समेकित अंतरविषयी प्रयासों का परिणाम है।

सेमीकंडक्टर प्रौद्योगिकी में हुये विकास की अगुवाई में लगातार जारी हार्डवेयर सुधारों से ऐसी कम्प्यूटर प्रणालियों को जन्म मिला है जो बहुत कम लागत वाली, नाटकीय रूप से छोटे आकार वाली और कभी–कभी तो पहले की पीढ़ियों के मेनफ्रेम कम्प्यूटरों की क्षमताओं का मुकाबला करने वाली प्रणालियों से युक्त हैं। आज के समय में कम्प्यूटर उद्योग संभवतः सबसे अधिक प्रतियोगिता वाला व्यापार है और इस व्यापार का साफ्टवेयर संबंधी घटक ही नये नये आविष्कारों का प्रचालनात्मक बल बन गया है। इतना ही नहीं, नेटवर्किंग व्यापार अनुप्रयोग के लिये ग्राहक प्रयोगकर्ता के अनुकूल इंटरफेस की माँग, भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में इस प्रणाली की ज्यादा बढ़ती हुई जरूरत ने भी इसकी पहुँच को बढ़ाया है।

कम्प्यूटर और संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुये विकास के परिणामस्वरूप ये दोनों प्रणालियाँ एक दूसरे में मिश्रित होकर और मजबूत हुई हैं। संचार का पूरा का पूरा ढाँचा आज कम्प्यूटरयुक्त होता जा रहा है चाहे आधारभूत सेवाएँ हों, सेल्यूलर सम्प्रेषण हो या फिर पेजिंग सेवाएँ हों। इसी के साथ साथ सीमित हो रहे संचार नेटवर्क, सूचना के आदान प्रदान के अलग अलग स्तरों अर्थात् ई मेल, फैक्स, उच्च गतिमान डाटा सम्प्रेषण, वीडियो आन डिमाण्ड, घर बैठे खरीददारी आदि के माध्यम से विकास के प्रेरणा स्रोत बन गये हैं। सीधे सीधे कहें तो सूचना प्रौद्योगिकी की आँधी पूरी दुनिया में चल रही है। पिछली दशाब्दी में डिजिटल कम्प्यूटरों तथा संचार में हुई प्रगति के परिणामस्वरूप अभूतपूर्व प्रौद्योगिकीय आविष्कार हुये हैं। कम्प्यूटरों के विश्वव्यापी संजाल से अब कोई भी व्यक्ति सूचना के विशाल संसाधनों तक पहुँच सकता है। विशाल सूचना आँकड़ा संग्रहों तक तुरंत पहुँच और इस सूचना के त्वरित प्रक्रमण से शासन, प्रतिरक्षा और वाणिज्य के क्षेत्र में निर्णय की प्रक्रिया में मदद मिली है। सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति उस समय मानव जीवन के हर पहलू को प्रभावित करेगी जब और अधिक पर्सनल कम्प्यूटर तथा इंटरनेट उपलब्ध होंगे।

प्रतिरक्षा, अंतरिक्ष, परमाणु, मौसम पूर्वानुमान जैसे रणनीतिक महत्व के क्षेत्रों तथा अन्य ऐसे ही कार्यक्रमों के लिये देश को उच्चस्तरीय तकनीकी जनशक्ति की जरूरत है। इस समय हमें सूचना प्रौद्योगिकी तथा कम्प्यूटरों सहित सभी उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग, आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन जैसे व्यापक राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये करने की जरूरत है। इन व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हमें सूचना प्रौद्योगिकी का दोहन करना आवश्यक है।

देश में कम्प्यूटर निर्यात बहुत तीव्र गति से बढ़ता आ रहा है। इस वृद्धि दर के अनुकूल तथा विश्व

साफ्टवेयर निर्यात बाजार में अग्रणी स्थान प्राप्त करने के लिये देश को अति उच्च स्तर का स्वयं का साफ्टवेयर विकसित करने के लिये तकनीकी जनशक्ति की असीम माँग है। एक सरकारी समीक्षा में अनुमान लगाया है कि आगामी 2 वर्षों में इस क्षेत्र में कुल मिलाकर लगभग 1.5 लाख जनशक्ति की जरूरत होगी। इस क्षेत्र में जनशक्ति का चित्रण लगभग हर रोज बदल रहा है इसलिये जनशक्ति आपूर्ति प्रणालियों को समय के प्रति सचेत, माँग के प्रति जवाबदेह और अंतर्राष्ट्रीय गुणवत्ता वाला बनाना होगा। इस समय हमारे प्रमुख शैक्षणिक संस्थानों में इस प्रकार के केवल 60000 विशेषज्ञ प्रतिवर्ष तैयार करने की क्षमता है। इस प्रकार शैक्षणिक योजनाकारों के सामने चुनौती यह है कि वे अगले पाँच वर्षों में सूचना प्रौद्योगिकी कार्यबल में कम से कम 10 गुना वृद्धि करके भारतीय साफ्टवेयर उद्योग की अविश्वसनीय प्रगति के साथ चल सकें।

सरकार द्वारा साफ्टवेयर तथा सूचना प्रौद्योगिकी के कुछ क्षेत्रों में अति अपर्याप्तता सहित इस क्षेत्र में जनशक्ति और सुविधाओं की कमी को दूर करने के लिये अनेक उपाय किये गये हैं– जैसे कि अनेक विद्यमान शैक्षणिक संस्थाओं में कम्प्यूटर अनुप्रयोग निष्णात कार्यक्रम की शुरूआत करना। लेकिन हमें अभी भी सूचना प्रौद्योगिकी तथा अन्य सम्बद्ध विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में विशिष्ट विश्वस्तरीय शिक्षा एवं अनुसंधान कार्यक्रम विकसित करने हैं।

इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुये केन्द्रस्थ संस्थान के रूप में इलाहाबाद में भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान की स्थापना हुई। "सूचना प्रौद्योगिकी एवं साफ्टवेयर विकास" के लिये गठित राष्ट्रीय कार्यबल की सिफारिशों के कारण सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सामने आ रहे एक व्यापक फलक की जरूरत से भी इस संस्थान की स्थापना आवश्यक थी। इस विशाल सूचना प्रौद्योगिकी फलक के अनुरूप जब शैक्षणिक कार्यक्रमों का विकास होगा और इसके लिये पहल की जायेगी तो भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी नामक यह संस्थान उसका एक अभिन्न हिस्सा बन जायेगा।

विगत दो वर्षों में इस संस्थान ने उल्लेखनीय प्रगति की है। अगस्त 1999 में 60 छात्रों से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विज्ञान परिसर में इस संस्थान की कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं। सभी आवश्यक साधनों जैसे प्रयोगशालाएँ, कम्प्यूटर उपकरणों, पुस्तकों आदि की उच्चस्तरीय व्यवस्था हुई। अध्यापकों व तकनीकी कर्मचारियों की सहायता से यहाँ पढ़ने वाले छात्र स्वयं अपना कम्प्यूटर बना लेते हैं। 24 घंटे इंटरनेट सुविधा के साथ बिजली व पानी की भी व्यवस्था है।

स्थापना के एक वर्ष के अन्दर ही यह संस्थान मानद विश्वविद्यालय बन गया। यहाँ की पढ़ाई व्यवस्था पूरे देश में इस प्रकार फैली कि इस वर्ष (2001–02) हेतु लगभग 65000 प्रतिभागी प्रवेश परीक्षा में बैठ रहे हैं। यही संख्या पिछले वर्ष 35000 थी।

संस्थान का भव्य विशालकाय भवन इलाहाबाद शहर के पश्चिम में देवघाट झलवा में तेजी से बन रहा है। आशा है कि 2002 तक यह तैयार हो जायेगा।

एक प्रश्न विचारणीय है कि इस पाठ्यक्रम के लिये छात्राओं का आकर्षण कम क्यों है ? 1999–2000 में 3700 प्रतिभागिनियाँ प्रवेश परीक्षा में बैठीं और केवल दो छात्राओं को प्रवेश मिला। इसी प्रकार 2000–01 में 6800 बैठीं और पुनः दो छात्राओं को प्रवेश मिला जबकि सूचना प्रौद्योगिकी एक ऐसा विषय है जिसे "साफ्ट इंजीनियरिंग" की श्रेणी में रखा जा सकता है और छात्राओं के लिये अत्यन्त सुविधाजनक है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :–
(1) आर्थिक अभाव (2) अंग्रेजी में कम दक्षता (3) अभिभावकों का इंजीनियरिंग के प्रति सही दृष्टिकोण न होना (4) सूचना प्रौद्योगिकी के बारे में अल्प ज्ञान (5) लड़कों द्वारा इस पाठ्यक्रम हेतु वरीयता।

उपर्युक्त कारण अत्यधिक स्वीकार करने योग्य नहीं है। अतः आशा है कि भविष्य में छात्राएँ इस विषय के प्रति अधिक आकर्षित होंगी।

भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान
अतिथि गृह
कमला नेहरू रोड, इलाहाबाद-211002

विश्व तम्बाकू दिवस पर

पान मसाला : एक मीठा जहर

✍ राकेश पाठक

"साहब! एक नया पान मसाला आया है। इसकी महक बड़ी जोरदार है। चखकर देखिये।"

"चखना क्या है। एक पुड़िया देदे। कल बतायेंगे।"

पान वाले व ग्राहकों के बीच में यह संवाद अक्सर सुनने को मिल जाता है। पान मसाले की बढ़ती लोकप्रियता के कारण नित्यप्रति नये पान मसालों का बाजार में पदार्पण हो रहा है। नयी सुगंध, नया स्वाद एवं ताजगी के चक्कर में ग्राहक आसानी से फँस जाते हैं। फलस्वरूप दो से तीन दर्जन ब्राण्ड के पान मसाले बाजार में धड़ल्ले से चल रहे हैं। टी0वी0, रेडियो, अखबारों और पत्रिकाओं में लुभावने और आकर्षक विज्ञापन जनसामान्य को इसे चखने के लिये प्रलोभित करते हैं। सूत्रों के अनुसार पानमसाला उद्योग प्रति वर्ष करीब साढ़े तीन अरब रुपये का कारोबार कर रहा है और करीब तीन करोड़ से ज्यादा लोग इसके नशे की गिरफ्त में हैं।

पानमसाले के चलन के साथ ही वैज्ञानिक चर्चाओं पर जोर रहा है। एक पहेली बलवती हुई कि चार ग्राम से अधिक पानमसाला खाना खतरनाक है। चार ग्राम की लक्ष्मण रेखा क्यों ? इसका कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं पाया गया। पानमसाला कितना भी कम क्यों न खाया जाय, यह सेहत के लिये खतरनाक है। यह चार ग्राम वाली बात कहाँ से आयी ? विभिन्न अनुसंधान परिषदों ने इसकी वैज्ञानिक पुष्टि से इंकार किया है। तब प्रश्न उठता है कि यह किसके दिमाग की उपज है? कुछ लोगों का मत रहा है कि इसके पीछे करोड़ों का व्यापार करने वाले पानमसाला उद्योग का हाथ था। यह कारगुजारी चाहे जिसकी भी हो, आम आदमी को जानने का हक है कि यह चेतावनी सच्ची है या महज एक धोखा है। कुछ भी हो! पिछले कई वर्षों से इस बात के पक्के सबूत मिले हैं कि पानमसाला चाहे कम खाया जाये या अधिक, यह मुँह और गले के कैन्सर का कारण बनता है। कैन्सर पैदा करने वाले रसायन शरीर में धीरे धीरे इकट्ठा होते रहते हैं जो कुछ दिन या कुछ महीनों बाद ही नहीं बल्कि वर्षों बाद तक हमला कर सकते हैं। इस कार्य में दस या बीस साल लग सकते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कैन्सर का सम्बन्ध पानमसाले की मात्रा से न होकर इसके खाने की अवधि से है। यदि आप पानमसाले के ज्यादा शौकीन नहीं हैं तो हो सकता है, आपको कुछ वर्षों के बाद कैन्सर आ दबोचे। दूसरी ओर अगर आप पानमसाले का ज्यादा शौक रखते हैं तो हो सकता है कुछ महीनों के बाद ही आपको इसका नतीजा भुगतना पड़े। कुछ वर्षों पहले सिगरेट के साथ यह गलतफहमी थी। कहा जाता था कि दिन में चार सिगरेट पीने से कुछ नहीं होता लेकिन यह बात पूरी तरह से झूठी साबित हो चुकी है।

पानमसाले में ऐसा क्या होता है जो कैन्सर का कारण बनता है ? सादे पान मसाले में 80 प्रतिशत पिसी सुपारी, 10 प्रतिशत कत्था, 1प्रतिशत चूना और 9 प्रतिशत मात्रा दालचीनी, लौंग, इलायची, मेंथोल या पिपरमेन्ट आदि की होती है जो सुगन्ध और स्वाद के लिये मिलायी जाती है। विज्ञानियों का ऐसा अनुमान है कि मेंथोल के कारण ही पानमसाला खाने की लत पड़ती है। जर्दे वाले पानमसाले में तो सबसे खतरनाक उसमें उपस्थित जर्दा ही है। जर्दे में निकोटिन नामक रसायन सर्वाधिक होता है। इसके प्रभाव से तंत्रिका तंत्र शिथिल हो जाता है और इसका सेवन करने वाला व्यक्ति स्वयं को तनावरहित महसूस करता है। इसके अलावा इस रसायन के कारण ही जर्दे के सेवन की लत पड़ती है। सादे पानमसाले के साथ जब जर्दा मिल जाता है तो निकोटिन के कारण यह ज्यादा नुकसानदायक हो जाता है।

धड़ल्ले से बिक्री के कारण पानमसालों में कई तरह की मिलावट भी की जाने लगी है। पानमसाले के व्यापारी एक दिन में ही लखपति बनने की सोचने लगे हैं। मीठे पानमसालों में मिठास के लिये छुहारे के स्थान पर सैकरीन मिला दी जाती है। सैकरीन कैन्सर पैदा

करने के साथ नपुंसकता भी पैदा करती है। यही हाल रंगों का भी है। पानमसालों में सेहत को नुकासन पहुँचाने वाले रंगों का धड़ल्ले से उपयोग हो रहा है। चाँदी की वर्क की जगह एल्युमिनियम की बारीक पन्नियाँ मिला दी जाती हैं, जो शरीर में विभिन्न रोगों को बुलावा देती हैं। कुछ पानमसालों में पत्थर के बारीक चूर्ण भी पाये गये हैं।

पानमसाले में मौजूद सभी चीजों में से कत्था और सुपारी कैन्सर पैदा करने वाले प्रमुख तत्व हैं। 1987 में "कैन्सर लेटर" नाम से अनुसंधान पत्रिका में डॉ0 गिरी और उनके सहयोगियों का लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें प्रयोगों से सिद्ध किया गया था कि कत्थे में कैन्सर पैदा करने के गुण हैं। कत्था और सुपारी गुणसूत्रों पर भी विपरीत प्रभाव डालते हैं। इस असर को वैज्ञानिक "जीनोटॉक्सिक" प्रभाव कहते हैं।

चण्डीगढ़ के पोस्टग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज के नाक, कान और गला विभाग में पानमसाले का असर देखने के लिये चूहों पर एक प्रयोग किया गया। इस प्रयोग के अन्तर्गत 6 महीनों तक हर दूसरे दिन चूहों के मुँह के अन्दर पानमसाले का लेप किया गया। परीक्षण पर पाया गया कि ज्यादातर चूहों के मुँह के कैन्सर की प्रारम्भिक अवस्था पनप गयी। इसी तरह का एक प्रयोग हैदराबाद के राष्ट्रीय पोषण संस्थान के वैज्ञानिकों ने जीवाणुओं की कोशिकाओं पर किया। उन्होंने पाया कि पान–मसाले और सुपारी के कारण कोशिकाओं में उत्परिवर्तन पैदा हो गया। उत्परिवर्तन से प्राणी में किसी प्रकार का बदलाव अचानक पैदा हो सकता है।

पानमसाला, कम हो या ज्यादा, हर हालत में खतरनाक है। इसकी मात्रा के बारे में सोच विचार करना मन को सांत्वना देना मात्र ही है। सरकार को चाहिये कि कम से कम रेडियो, टी.वी. पर पानमसाले के विज्ञापन पर पूर्ण रोक लगा दे और सार्वजनिक स्थानों पर उनके उपयोग को गैरकानूनी घोषित कर दें अन्यथा यह मीठा जहर हमारी युवा पीढ़ी को निगल जायेगा।

E-416, हुडको कॉलोनी
कमला नेहरू नगर
जोधपुर–342 009

पृष्ठ 24 का शेष

कहीं 30–35 वर्ष की वय तक पहुँचने पर प्राप्त होता है।

केरल के पेरियर टाइगर रिजर्व में तो नर–मादा हाथियों का अनुपात चौंकाने वाला है। नर–मादा का अनुपात 1:120 है। विवश होकर मादा हाथियों को वय में अपने से कहीं छोटे नर हाथी के साथ जोड़ा बनाना पड़ता है। इससे प्रजनन भी प्रभावित होता है। नर–मादा हाथियों का आदर्श अनुपात 1:3 है।

भारत में नर हाथियों के शिकार का कारण उनके हाथी दाँत हैं। मादा में हाथी दाँत नहीं होते, जबकि अफ्रीकी हाथियों में, नर और मादा दोनों में हाथी दाँत होते हैं। किन्तु एशियाई हाथियों की तुलना में उनके दाँत कठोर होते हैं। यही कारण है कि एशियाई हाथियों के दाँतों की माँग अधिक है। एक हाथी दाँत का औसत भार लगभग 10 किलोग्राम होता है। एशियाई हाथियों के खतरे को ध्यान में रखते हुये अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ ने हाथियों को विलुप्तप्राय प्राणियों की सूची 1 में स्थान दिया है। किन्तु हाथियों को बचाने के लिये किसी सूची में अथवा वन्य जीव संरक्षण अधिनियम 1972, विदेशी व्यापार नियंत्रण अधिनियम 1992, कस्टम अधिनियम 1962 जैसे कुछ कानून बना देना ही यथेष्ट होगा क्या ? जो स्थितियाँ हैं उन्हें देखते हुये ऐसा लगता है कि कुछ कठोर कदम उठाने ही होंगे।

भारत से हाथी दाँत की तस्करी के लिये अनेक अवैध मार्ग हैं। जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान से सबसे निकट का मार्ग हल्द्वानी – पिथौरागढ़ – मुंशियारी – चीन मार्ग हैं। दूसरे रास्ते नेपाल से होकर जाते हैं। इन मार्गों की निगरानी की समुचित व्यवस्था और कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। वैसे संतोष का विषय है कि तस्करी को रोकने के लिये संरक्षित क्षेत्रों में 455 किलोमीटर लम्बे मार्ग में 31 निगरानी शिविर स्थापित किये गये हैं। देखें इसका परिणाम क्या निकलता है ? किन्तु इस बीच जो हमें समझना है वह यह है कि हमारी जैव सम्पदा, हमारा अस्तित्व, हमारे जंगलों से जुड़ा है और हमें नियंत्रण पाना है अपने लोभ पर, लालच पर।

5ई/4, स्टाफ क्वार्टर, लिडिल रोड
जार्ज टाउन, इलाहाबाद – 211 002

कैसे बना हिमालय ?

डॉ० विजय कुमार उपाध्याय

हिमालय संसार की सबसे बड़ी पर्वतमाला का नाम है। पश्चिम में अफगानिस्तान से लेकर पूरब में बर्मा (म्याँमार) तक फैली इस पर्वतमाला की कुल लम्बाई लगभग 1500 मील है जबकि इसकी अधिकतम चौड़ाई लगभग 250 मील है तथा इसकी अधिकतम ऊँचाई 29028 फीट है। यह प्राकृतिक दीवार भारतीय उपमहाद्वीप को एशिया के शेष भाग से अलग करती है।

काफी प्राचीन काल से ही लोगों के मन में हिमालय के बारे में कई प्रकार के प्रश्न बार–बार उठते रहे हैं। उदाहरणार्थ– इतनी विशाल पर्वतमाला कैसे बनी ? इस पर्वतमाला के निर्माण के पूर्व इस स्थान पर क्या था ? यह पर्वतमाला कितनी पुरानी है ? किन बलों तथा कारणों ने इस पर्वतमाला को जन्म दिया ? तथा यह पर्वतमाला इतनी ऊँची कैसे बनी ?

भूवैज्ञानिकों का विचार है कि यूरेशियन पर्वत श्रेणी, जो आल्प्स से प्रारम्भ होकर दक्षिण पूर्व एशिया के पर्वतों तक फैली हुई है (तथा जिसमें हिमालय भी शामिल है) उन बलों से निर्मित हुई जो विगत साढ़े छः करोड़ वर्षों के दौरान अपने शिखर पर थे। इस श्रेणी के सभी पर्वत बलशाली भूपटलीय उत्थान (Titanic Crustal Upheaval) के कारण निर्मित हुये। इस बलशाली भूपटलीय उत्थान के कारण समुद्री अवसाद की मोटी परतें ऊपर की ओर उठ गयीं। जिस समुद्र में ये अवसाद थे, उसे भूवैज्ञानिक लोग टेथी सागर कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त बलशाली उत्थान, जिसने हिमायल जैसे पर्वत को जन्म दिया, किस बल के कारण पैदा हुआ ? अधिकांश भूवैज्ञानिकों की धारणा है कि जिस बल ने हिमायल पर्वतमाला को जन्म दिया वह महाद्वीपीय विस्थापन के कारण पैदा हुआ था। महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धान्त का प्रतिपादन जर्मन भूविज्ञानवेत्ता अल्फ्रेड वेजेनर द्वारा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में किया गया।

अल्फ्रेड वेजेनर के अनुसार आज से लगभग 18 करोड़ वर्ष पूर्व संपूर्ण एशिया के दक्षिणी किनारे पर टेथी सागर स्थित था। पुराना दक्षिणी सुपर महाद्वीप गौंडवाना अनेक टुकड़ों में टूट रहा था तथा इसके टुकड़े इधर उधर बिखर तथा खिसक रहे थे। इसी विखंडन के फलस्वरूप भारतीय उपमहाद्वीप दक्षिणी अफ्रीका से टूटने के बाद अगले 10 करोड़ वर्षों तक उत्तर की ओर खिसकता रहा। इस दौरान टेथी सागर धीरे धीरे दो विशाल भूखण्डों से घिर गया जिसमें दक्षिण में भारतीय उपमहाद्वीप था तथा उत्तर में शेष एशिया। भारतीय उपमहाद्वीप के लगातार उत्तर की ओर बढ़ते रहने के कारण टेथी सागर में मौजूद अवसादी चट्टानों पर संपीडन बल लगा जिससे ये चट्टानें मुड़कर ऊपर की ओर उठने लगीं। आज से लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय उपमहाद्वीप यूरेशिया भूखण्ड से जा टकराया। अत्यधिक संवेग के बावजूद भारतीय उपमहाद्वीप यूरेशियन भूखंड के अवरोध पर विजय प्राप्त नहीं कर सका। नतीजा यह हुआ कि भारतीय भूखंड यूरेशियन भूखंड से टकराने क बाद टेथी सागर में नीचे की ओर मुड़ गया।

अगले तीन करोड़ वर्षों के दौरान टेथी सागर के छिछले भाग का पानी इधर उधर बह गया, क्योंकि भारतीय भूखंड द्वारा प्रस्तुत संपीडन के कारण टेथी सागर की पेंदी पर मौजूद अवसाद ऊपर की ओर उठ रहा था। अन्त में टेथी सागर का कुछ भाग तिब्बती पठार के रुप में परिवर्तित हो गया जबकि इस पठार के दक्षिणी किनारे के भाग संपीडन के कारण ऊपर की ओर उठकर संसार की सबसे बड़ी तथा सबसे ऊँची पर्वतमाला के रुप में बदल गये जिसे आज हिमालय कहा जाता है। शुरू शुरू में जो हिमालय बना उसकी अधिकतम ऊँचाई सिर्फ 12000 फीट थी, जो ऊँचाई आजकल आल्प्स की है। परन्तु धीरे धीरे इस पर्वतमाला

की ऊँचाई बढ़ती गयी। भूवैज्ञानिकों का अनुमान है कि विगत लाखों वर्षों के दौरान हिमालय को संसार का सर्वाधिक ऊँचा पर्वत बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

टौनी हैगेन नाम एक स्विस भूविज्ञानवेत्ता ने सन् 1950 के दशक में हिमालय क्षेत्र का भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि हाल में इस पर्वत की ऊँचाई बढ़ने की वजह यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप का भूभाग लगातार उत्तर की ओर बढ़ता जा रहा है जिसके कारण किनारे की चट्टानों पर संपीडन बल लगता रहा। इसके फलस्वरूप ये चट्टानें ऊपर की ओर उठकर हिमालय की ऊँचाई लगातार बढ़ा रही हैं। भारतीय उपमहाद्वीप का उत्तर की ओर खिसकना तथा इसके फलस्वरूप हिमालय की ऊँचाई बढ़ना अभी भी जारी है।

कुछ अन्य भूवैज्ञानिकों का विचार है कि हिमालय की बढ़ती ऊँचाई के पीछे समस्थितिक (Iso-static) सन्तुलन बल है। इस सन्तुलन के दौरान पृथ्वी का कोई भाग जब नीचे की ओर धँसता है तो दूसरा भाग ऊपर की ओर उठता है। ज्यूरिख यूनिवर्सिटी में कार्यरत औगस्टो गैंसर नामक भूवैज्ञानिक की धारणा है कि हिमालय से निकलने वाली गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र तथा अन्य नदियों द्वारा बहाकर लायी गयी मिट्टी की अपरिमित मात्रा इन नदियों द्वारा निर्मित मैदान में लगातार जमा हो रही है। एक अनुमान के अनुसार इन नदियों द्वारा प्रतिदिन लगभग 30 लाख टन मिट्टी ढोकर लायी जाती है। इस मिट्टी के भार के कारण यह मैदान लगातार नीचे की ओर धँसता जा रहा है। इस मैदान में जलोढ़ मिट्टी की परत की मोटाई कहीं–कहीं पर 25000 फीट तक है। इस प्रकार इस मैदान के धँसाव के संतुलन हेतु हिमालय की ऊँचाई बढ़ रही है।

हिमालय पर्वतमाला का निर्माण कई चरणों में हुआ। पहले चरण में ऊपरी क्रिटेशियस काल (आज से लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व) के दौरान टेथी सागर में समानान्तर पहाड़ियों का निर्माण हुआ। इन समानान्तर पहाड़ियों (Ridges) के बीच–बीच में टेथी सागर के अवशिष्ट जलीय भाग थे। इसी चरण के दौरान बंगाल की खाड़ी का उत्तरी भाग दो हिस्सों (जिन्हें गल्फ कहा जाता है) में विभक्त हो गया। इनमें से एक गल्फ ऊपरी बर्मा (म्याँमार) तक फैला हुआ था तथा दूसरा गल्फ ऊपरी आसाम तक। इसी प्रकार एक पहाड़ी भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग में निर्मित हुई जिसने सिन्ध गल्फ को बलूचिस्तान गल्फ से अलग कर दिया। पहले चरण के बाद कुछ दिनों तक कोई भी हलचल नहीं हुई। उसके बाद दूसरे चरण मे ऊपरी इयोसीन (आज से लगभग 4 करोड़ वर्ष पूर्व) काल के दौरान हिमालय के कुछ भागों का निर्माण हुआ। इसके बाद आया तीसरा चरण। यह चरण जो मध्य मायोसीन (लगभग एक करोड़ वर्ष पूर्व) काल के दौरान घटित हुआ, हिमालय के निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इसी चरण में हिमालय के अधिकांश भागों का निर्माण हुआ तथा टेथी सागर लगभग पूरी तरह लुप्त हो गया। इसी चरण के दौरान उठते हुये हिमालय तथा प्रायद्वीपीय भारत के बीच एक सँकरे तथा लम्बे गड्ढे का निर्माण हुआ। इस गड्ढे में नवनिर्मित हिमालय तथा प्रायद्वीपीय भाग से नदियों द्वारा अवसाद लाकर जमा किया गया।

उपर्युक्त सँकरे तथा लम्बे गड्ढे में लम्बे समय तक अवसाद जमा होने के बाद प्लायोसीन काल (आज से लगभग 40 लाख वर्ष पूर्व) में हिमालय पर्वत के निर्माण में चौथा चरण आया जिसके दौरान उपर्युक्त संकरे गड्ढे में जमा हुये अवसाद के संपीडन से शिवालिक पहाड़ियों का निर्माण हुआ।

पाँचवें तथा अन्तिम चरण में प्लाइस्टोसीन काल (आज से लगभग 10–15 लाख वर्ष पूर्व) के दौरान हिमालय के पीर पंजाल पर्वत का निर्माण हुआ। इसी काल के दौरान भयंकर हिमयुग आया। इस हिमयुग के कारण अनेक जीवजन्तु नष्ट तथा लुप्त हो गये। कुछ जीवजन्तु जो इस क्षेत्र से प्रव्रजित कर गये वे नष्ट तथा लुप्त होने से बच गये।

प्राध्यापक
भूगर्भ इंजीनियरिंग कालेज, भागलपुर–813210

पुस्तक समीक्षा

पुस्तकः ब्लडप्रेशर और स्वस्थ जीवन

लेखकः डॉ0 जी.डी. थापर, **अनुवाद :** आर्येन्द्र उपाध्याय

प्रकाशक : ग्रन्थ अकादमी, 1686 पुराना दरियागंज, नई दिल्ली–110002

संस्करण : प्रथम, सन् 2000, **मूल्य :** 150 रुपये

आलोच्य पुस्तक के रचयिता डॉ0 जी.डी. थापर, राम मनोहर लोहिया हॉस्पिटल की आयुर्वेद इकाई के पूर्व प्रधान रह चुके हैं। आप हृदय रोग विशेषज्ञ हैं और इसके पूर्व भी 2 पुस्तकें लिख चुके हैं। 118 पृष्ठों की यह पुस्तक परिचय और उपसंहार सहित 23 अध्यायों में विभक्त है। पुस्तक का परिचय प्रस्तुत करते हुये डॉ0 थापर बताते हैं कि ब्लडप्रेशर (रक्तचाप) एक ऐसा रोग है जिसका आमतौर से पता तब चलता है जब किसी अन्य रोग के लिये शरीर की जाँच की जाती है। यह खामोश हत्यारा (साइलेंट किलर) है। इस रोग के कारणों में तनावयुक्त जीवन, घर में कैद, थोड़ा शारीरिक श्रम और गाड़ियों का अधिक इस्तेमाल, खान पान में बदपरहेजी, मदिरा का सेवन, अधिक धूम्रपान, तेज़ रफ्तार की जिंदगी है, जो औद्योगिकरण और शहरीकरण की देन है। लेखक के शब्दों में– "हाई ब्लडप्रेशर रोगियों के लिये यह पुस्तक भी एक छतरी ही है, जो मैंने आपकी सुरक्षा, बचाव के लिये प्रस्तुत की है। यदि आप इस छतरी का उपयोग करें, तो आप एक स्वस्थ व लम्बा जीवन बिताने के लिये आश्वस्त हो सकते हैं।"

दूसरे अध्याय परिदृश्य में लेखक एक परिवार की तीन पीढ़ियों की कहानी सुनाते है जो उच्च रक्तचाप से पीड़ित रही, किन्तु ज्ञान होने और न होने अथवा इलाज करवाने और न करवाने की स्थितियों के अंतर को भली भाँति स्पष्ट किया है।

आगे के अध्यायों में उच्च रक्तचाप से संबंधित "कुछ बुनियादी तथ्य", "ब्लडप्रेशर कैसे नापें", "सामान्य व असामान्य ब्लडप्रेशर में अन्तर", "हाई ब्लडप्रेशर के लक्षण", "हाई ब्लडप्रेशर का विकास", "प्रतिकूल प्रभावों का विकास", "हाई ब्लडप्रेशर से संबंधित बीमारियाँ", यथा– दिल का दौरा, कार्डियक अस्थमा, ब्रेन थ्रॉम्बोसिस, ब्रेन हेमरेज, इंटरमिटेंट क्लॉडिनेशन, त्वरित हाई ब्लडप्रेशर से होने वाली समस्या, मधुमेह (डायबिटीज), रोगों के संबंध में जानकारियाँ दी हैं। और आगे के अध्यायों में इलाज के लक्ष्य और सिद्धान्त, हाई ब्लडप्रेशर के शारीरिक उपाय, कार्य दबाव व तनाव, आरम्भ और अवकाश, मोटापा, व्यायाम और शारीरिक गतिविधियाँ, यौन गतिविधियाँ, अलकोहल रहित पेय, अलकोहल युक्त पेय, धूम्रपान और हाई ब्लडप्रेशर वालों के लिये भोजन जैसे विषयों पर चर्चा की है।

इतना सब कुछ होने के बाद लेखक ने हाई ब्लडप्रेशर के काम वाली दवाइयाँ, प्रौढ़ावस्था में हाई ब्लडप्रेशर, गर्भावस्था में हाई ब्लडप्रेशर, हाई ब्लडप्रेशर से पीड़ित परिवार, बच्चों में हाई ब्लडप्रेशर के विषय में आवश्यक जानकारियाँ प्रस्तुत करने के बाद डॉक्टर के पास कब जायें, हाई ब्लडप्रेशर के रोगियों के लिये जीवन शैली, हाई ब्लडप्रेशर की रोकथाम के संबंध में बताया है।

कुछ प्रश्न और उनके उत्तर, अध्याय के माध्यम से संक्षेप में रोग और उपचार संबंधी सभी जानकारियों का एक तरह से सार संक्षेप प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं, रोगी के मन में रोग से संबंधित किस प्रकार की आशंकायें हो सकती हैं, और उनके समाधान क्या है, इसका निराकरण दे दिया है।

अंतिम अध्याय उपसंहार में अपनी बात को डॉ0 थापर बल देकर कहते हैं– मैं एक बार फिर इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि हाई ब्लडप्रेशर का इलाज जीवनपर्यन्त चलने वाला है– अगर संभव हो तो बिना दवा के, यदि जरूरत हो तो दवाओं से।

पुस्तक के अंत में परिशिष्ट–1 में खान पान के लिये संकेत के अंतर्गत मोटे लोगों के लिये भोजन, कम कॉलेस्टराल वाला भोजन, मधुमेह के रोगियों के लिये सूचियाँ दी हुई हैं। उच्च रक्त चाप के रोगियों को क्या खाना पीना चाहिये और क्या नहीं खाना चाहिये इसकी स्पष्ट सूचियाँ दी हैं।

परिशिष्ट–2 में भोजन में खनिजों के स्रोत अर्थात् पोटैशियम, कैल्सियम और मैग्नीशियम किन किन खाद्य पदार्थों में उपलब्ध हैं, की जानकारी है और परिशिष्ट–3 में महिलाओं और पुरुषों का ऊँचाई के

हिसाब से कितना भार वांछित है इसकी जानकारी है। यही नहीं, इस संबंध में एक सरलीकृत फॉर्मूला भी दिया है, जिसे यथावत् उद्धृत किया जा रहा है– शरीर के लिये अधिकतम वांछित भार के लिये–

पुरुष	5 फिट	55 किलोग्राम
महिलायें	5 फिट	52 किलोग्राम

ऊँचाई में प्रति इंच वृद्धि पर 2 किलोग्राम जोड़ लें। शब्दावली के अंतर्गत 65 पारिभाषिक शब्दों (चिकित्सा विज्ञान) की परिभाषायें दी हुई हैं।

इस प्रकार इस छोटी सी पुस्तक के संबंध में गागर में सागर वाली कहावत चरितार्थ होती है। आम बोल–चाल की भाषा के कारण पुस्तक आम लोगों के साथ ही साथ चिकित्सकों के लिये भी उपयोगी है। रोगी भी इससे लाभ उठा सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। परिशिष्ट और शब्दावली पुस्तक की उपादेयता बढ़ाते हैं।

कवर, मुद्रण और काग़ज़ बढ़िया है। किन्तु मुद्रण की कुछ त्रुटियों के विषय में विशेष रूप से कहना चाहूँगा। मुख पृष्ठ (कवर के पहले पृष्ठ) और कवर के अंदर के फ्लैप में– दोनों स्थानों पर लेखक का नाम थापड़ छपा है जबकि पुस्तक में थापर छपा है। मेरे विचार से थापर ही होना चाहिये। पृष्ठ 25 पर गुर्दे की बीमारी (नेफ्रीटीस) छपा है। इसे नेफ्राइटिस होना चाहिये, पृष्ठ 26 पर चौथी पंक्ति में रेसप्रिन के स्थान पर रिसर्पाइन होना चाहिये, पृष्ठ 32 पर 22वीं पंक्ति में कार्डिके स्थान पर कार्डियक होना चाहिये, (आगे के पृष्ठों पर भी इसी प्रकार की त्रुटियाँ पाई गई हैं)। पृष्ठ 34 पर 25वीं पंक्ति में इन्फ्रैशन के स्थान पर इनफार्कशन होना चाहिये (यह त्रुटि आगे भी कई जगह देखने में आती है)। इसी प्रकार कहीं अलकोहल तो कहीं अलकोहाल (पृष्ठ 93) मुद्रित है। एकरूपता तो होनी ही चाहिये। सही शब्द एल्कोहॉल है। अच्छा होता यदि पारिभाषिक शब्दों के लिये शब्दावली आयोग (नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित "वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह विज्ञान–खण्ड 2" का प्रयोग किया गया होता।

आशा है कि मुद्रण की त्रुटियों का अगले संस्करण में परिहार हो जायेगा। लेखक, अनुवादक, प्रकाशक और मुद्रक सभी साधुवाद के पात्र हैं।

श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

एग्रो टाइम्स पत्रिका (विज्ञान, कृषि, ग्रामीण विकास एवं पर्यावरण की हिन्दी मासिक पत्रिका)

सम्पादक : डॉ0 शशिकान्त, **अंक** : 4, अप्रैल 2001, **पृष्ठ सं० :** 40, **मूल्य** : 15 रु0

यह पत्रिका प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में कृषकों तथा विज्ञान प्रेमियों को दृष्टि में रखते हुये 15 मासों से निकाली जा रही है। इसके स्तर में लगातार सुधार हुआ है जिससे प्रस्तुत अंक में उपयोगी सामग्री के साथ अनेकानेक चित्र भी सम्मिलित हो सके हैं। नये लेखकों के लिये अच्छा अवसर है कि नई नई जानकारी से इसे साजें सँवारें। इस अंक में कृषकों के लिये पर्याप्त उपयोगी सामग्री है। आशा है वे इसका लाभ उठायेंगे।

– संपादक 'विज्ञान'

पृष्ठ 6 का शेष

समय भारत में 4,80,000 सोलर कुकर कार्यरत थे। सोलर कुकर के उपयोग में पिछले कई वर्षों से भारत शीर्ष स्थान पर पदासीन है। सौर प्रकाश वोल्टीय विद्युत उत्पादन में भारत का स्थान विश्व में तीसरा है। (वर्ष 2000 के आरंभ में भारतीय क्षमता 42 मेगावाट पहुँच चुकी थी)।

सुदूर संवेदन तकनीक हमारे आधुनिक जीवन का प्रमुख आधार बन चुकी है और इसका उपयोग मानव कल्याण के सभी क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। इसकी सीमायें अपरिमित हैं, चाहे वह अंतरिक्ष विज्ञान, सैन्य विज्ञान, भूविज्ञान, मौसम, स्थलीय सर्वेक्षण (बाढ़, फसल, सूखा, भूकम्प, भूस्खलन, जंगल में आग, युद्ध परिणाम आदि), चिकित्सा (एक्स रे, स्कैनिंग, शल्य क्रिया), दूर संचार (रेडियो, टी0वी0, दूरभाष, फैक्स, कम्प्यूटर आदि) व अन्य कोई क्षेत्र क्यों न हो, कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। प्रकाश ऊर्जा के दोहन में मानव द्वारा इस सुदूर संवेदन तकनीक का विकास 20वीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

–छवि निकुंज, रांची रोड
पुरुलिया–723101

जीएसएलवी-डी 1 की सफल उड़ान

18 अप्रैल 2001 को 3.43 बजे अपराह्न श्रीहरिकोटा से 401 टन भार तथा 49.1 मीटर लम्बे जीएसएलवी–डी1 ने उड़ान भरकर 1540 किलोग्राम वाले प्रायोगिक संचार उपग्रह जीसैट–1को सफलतापूर्वक 17 मिनट में कक्षा में स्थापित कर दिया। इस तरह उपग्रह प्रक्षेपण क्षमता रखने वाले प्रतिष्ठित देशों के क्लब में भारत ने अपना नाम अंकित करा लिया। जीएसएलवी उपग्रहों को अन्तरिक्ष में स्थापित करने के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड तथा उल्काओं के अध्ययन में भी सहायक हो सकता है। भारत के अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, तकनीशियनों तथा अन्य कर्मचारियों को बधाइयाँ, विशेषतया इस कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉ0 के. कस्तूरीरंगन को। यह प्रक्षेपण इस तरह का पन्द्रहवाँ किन्तु दसवाँ सफल प्रक्षेपण था।

ह्विटेकर पुरस्कार 2000

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा प्रदत्त इस वर्ष के ह्विटेकर पुरस्कार निम्नलिखित विज्ञान लेखकों को प्रदान किये जायेंगे–

1. डॉ0 सुबोध महन्ती (नई दिल्ली)
2. श्री ब्रजमोहन गुप्त (नई दिल्ली)

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।
6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7- पत्रिका का अधिकाधिक रुतिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200
जून 2001
अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका
विज्ञान
मूल्य 7 रुपये
पर्यावरण विशेषांक
पर्यावरण और समाज
हरित रसायन कितना हरा ?
वन्य जीव संरक्षण क्यों ?
चिकित्सालय अवशिष्ट का निपटान
विज्ञान परिषद् प्रयाग
विज्ञान परिषद्
प्रयाग
कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 3
जून 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

ग्राफिक आफसेट
186/5 टैगोर टाउन, इलाहाबाद
फोन : 465016, 465274

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

शादाब खालिद

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

पर्यावरण और समाज

डॉ० हेम चन्द्र जोशी

पर्यावरण व समाज एक दूसरे के परिपूरक हैं– यदि यह समीकरण सही है तो दोनों के बीच संतुलन है, अन्यथा नहीं। पर्यावरणीय असंतुलन समाज की ही अभिव्यक्ति है। प्रदूषित होते जल, वायु व मृदा के प्रति बढ़ती जन चेतना सामाजिक अभिव्यक्ति का ही स्वरूप है। पर्यावरण संरक्षण व प्रदूषण विषय पर पिछले तीस वर्षों से विश्व भर में हज़ारों सेमिनार व गोष्ठियाँ आयोजित की गईं। छोटी–छोटी सामुदायिक गोष्ठियाँ हों या बड़े–बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, यह सब कुल मिलाकर एक–एक मनुष्य की बिगड़ते पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया ही तो है। इस प्रयास ने मनुष्य को मोहल्ले, गाँव, शहर, प्रदेश व देश से बाहर निकाल कर विश्व समाज के रूप में स्थापित किया। प्राचीन भारतीय सभ्यता में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की परम्परा इसी विद्वत्ता की परिचायक है।

वर्ष 1972 में 5 जून को स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम में विश्व के सभी देशों ने पहली विश्व पर्यावरण गोष्ठी में बिगड़ते पर्यावरण को सुधारने के लिये मिलकर कार्य करने का व्रत लिया था। शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिसमें पूरे विश्व ने इतने खुले रूप में एकमत होने का परिचय दिया हो। आज देश या देशों के समूह विश्व युद्ध के ख़तरों से उतने आक्रांत नहीं हैं जितना कि बिग़ड़ते पर्यावरण के संभावित ख़तरों से। इसीलिये 1972 की विश्व पर्यावरण गोष्ठी में आठ प्रमुख भौगोलिक पर्यावरण प्रदूषण विषयों की पहचान की गई और इनसे निपटने के लिये राष्ट्रीय क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर सभी देशों द्वारा मिलकर संकल्प लिया गया। ये विषय थे– भौगोलिक ऊष्मन या ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन परत घटना, अम्लीय वर्षा, समुद्री प्रदूषण, भूमि अपघटन, रेगिस्तानीकरण, जैव विविधता संकुचन तथा निर्वनीकरण।

जहाँ एक ओर हम बिगड़ते पर्यावरण के प्रति मानव चेतना को सामाजिक प्रतिक्रिया मानते हैं, वहीं दूसरी ओर हम उक्त विषयों का एक–एक कर आकलन करने पर पर्यावरण प्रदूषण के इन विभिन्न आयामों के लिये मानव समाज को ही दोषी पाते हैं। भौगोलिक ऊष्मन को ही लें। इसका मुख्य कारण रहा है कोयले की खोज व औद्योगिक क्रांति जिसके फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों व रहन–सहन में क्रांतिकारी परिवर्तन व संसाधनों के शोषण में अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा को बल मिला। यद्यपि स्पर्धा व्यक्ति व समाज का स्वाभाविक गुण है, परंतु जब पर्यावरण व समाज के बीच समीकरण का प्रश्न हो, स्पर्धा विशेषतः संसाधनों के दोहन की स्पर्धा घातक सिद्ध हुई। कोयले व खनिज तेलों के अंधाधुंध जलने से वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड तथा अन्य ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा बढ़ी, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी का तापमान औसत 2^0 सेल्सियस बढ़ गया और ऐसी आशंका है कि कुछ समय बाद तापमान बढ़कर 3^0 भी हो सकता है। भौगोलिक स्तर पर तापमान में यह बढ़त अनेक चिंतायें पैदा करती है। हिम शिखरों के पिघलने से कई द्वीप समूहों तथा समुद्रतटीय क्षेत्रों के डूब जाने की संभावना से पूरा विश्व समाज आतंकित है। परंतु भोग विलास के समुद्र में डूबा समाज इन खतरों से किस प्रकार उबर सकेगा, यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह गया है।

दूसरा गम्भीर प्रश्न है, ओज़ोन परत के पतले होने का। प्रकृति की यह अनमोल जीवन संरक्षी परत सूर्य की कैंसरकारी पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी पर आने से रोकती है। हम सभी जानते हैं कि यह परत पर्यावरण में प्रवेश करते नये–नये फ्लोरोकार्बन रसायनों से प्रतिक्रिया के फलस्वरूप घटती जा रही है। ये रसायन रेफ्रिजरेटरों, एयर कंडिशनरों, जेट विमानों, श्रृंगार सज्जा, स्प्रे रसायनों में प्रयुक्त होते हैं। समाज या व्यक्ति का इनके प्रति आकर्षित होना स्वाभविक है। परंतु यह आकर्षण एक स्पर्धा का रूप ले चुका है। सरकारों के पास इच्छाशक्ति या मनोबल नहीं है कि वे

जनता को इन ऐशो–आराम व भोग विलास की वस्तुओं से विमुख कर सकें। ये सब सामाजिक प्रवृत्ति बन चुके हैं। यही कारण है कि समुचित अन्तर्राष्ट्रीय भागीदारी के बावजूद हम पिछले बीस वर्षों में इस प्रक्रिया को रोक नहीं पाये हैं, जिनके दुष्प्रभावों का अनुभव कुछ समय पश्चात् ही हो सकेगा।

इसी प्रकार अम्लीय वर्षा का प्रश्न भी सामाजिक प्रवृत्ति से जुड़ा है। यह विषय पर्यावरण प्रदूषण का एक ऐसा पहलू है जिसने समाज के विभिन्न वर्गों को एक साथ एक मंच पर लाने में मुख्य भूमिका निभाई है। यूरोप में जब औद्योगिक क्रांति के समय कोयले का प्रयोग बढ़ता तो जर्मनी, फ्रांस व ब्रिटेन का धुआँ अम्ल बनकर स्वीडन, डेनमार्क व नार्वे में बरसा। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का धुआँ कनाडा में जाकर बरसा और अम्लीय वर्षा एक अन्तर्राष्ट्रीय कलह का विषय बन गई। अपने समाज को तो हम प्रगति के सब्ज बाग दिखाकर प्रदूषण सहने के लिये मना सकते हैं परंतु दूसरे देश या समाज के लिये वही प्रदूषण एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के रूप में प्रतिरूपित होता है। यह सामाजिक अभिव्यक्ति ही तो है जिसे हम रोज़मर्रा की ज़िंदगी में अनुभव करते हैं। ठीक इसी कारण से बढ़ते अन्तर्राष्ट्रीय कलहों के दबाव में ही विश्व पर्यावरण गोष्ठी की आवश्यकता बढ़ने लगी जिसे कि 30 वर्ष पहले 1972 में अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति मिली। इसी प्रकार अन्य पर्यावरणीय विकृतियों के पीछे भी कहीं न कहीं सीधे या परोक्ष रूप में समाज की प्रमुख भूमिका रहती है।

भारतीय संदर्भ में ही देखें। निर्वनीकरण यहाँ एक ऐसी सामाजिक विकृति के रूप में उजागर हुआ है कि वनीय क्षेत्रों में जहाँ कि प्रगति का स्वरूप उच्चस्थ होना चाहिये था, वे आर्थिक तथा पर्यावरणीय रूप से इस समय निम्नतम स्थिति में हैं। इन क्षेत्रों में अधिकतर लोग अपने मनोरम निवास स्थलों को छोड़कर शहरों में काम करने पर मजबूर हैं तथा इन क्षेत्रों की जीर्ण–शीर्ण आर्थिक व्यवस्था मुख्यतया मनीआर्डरों पर निर्भर है। अधिकारी व ठेकेदारों के निजी लाभ के लिये इनके वनों का पिछले कई दशकों से बेरोक–टोक दोहन होता रहा है। यद्यपि इन क्षेत्रों में बढ़ती सामाजिक व राजनैतिक जन–चेतना के फलस्वरूप अब तीन नये राज्यों– उत्तरांचल, झारखण्ड व छत्तीसगढ़ का उद्भव हुआ है परंतु परोक्ष में आर्थिक विषमतायें ही इन जन–आंदोलनों के मूल कारण रही हैं, जिन्होंने इस राजनैतिक व प्रशासनिक विभाजन को वास्तविक रूप प्रदान किया।

ये उदाहरण दर्शाते हैं कि पर्यावरण समाज का दर्पण है। समाज अपने स्वभाव या कार्यकलापों से पर्यावरण को प्रभावित करता है। इसीलिये प्राचीन बुद्धिमत्ता मूल्यों पर जोर देती थी। स्वभाव को नियंत्रित करने के लिये इंद्रियों पर नियंत्रण की बात करती थी। आज इंद्रियों को वश में करना तो दूर उन्हें उत्तेजित करने पर जोर है। इस परिप्रेक्ष्य में देश के विभिन्न भागों में पानी की कमी इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। पानी की कमी को देर करने के लिये समाज क्या कर रहा है ? पंपों का व्यवसाय बढ़ रहा है, भूमिगत जल के दोहन पर कोई नियंत्रण नहीं है। यहाँ तक कि कई प्रांतीय सरकारें पानी खींचने के लिये मुफ्त बिजली बाँट रही हैं। शहर हो या गाँव सभी जगह एक ही भावना काम करती है। खींचो! पानी को अपनी ओर खींचो। क्या यह सामाजिक मूल्यों का अभाव नहीं दर्शाता ? आवश्यकता है पानी को एकत्रित करने की, खींचने की नहीं। समाज को जोड़ने के लिये भी मनुष्यों को एकत्रित करने की जरूरत है। आज का पर्यावरणीय असंतुलन टूटते समाज की मजबूरियों का ही प्रतिबिम्ब है। हो सकता है कि जनसंख्या विस्फोट व संसाधन की कमी इन मजबूरियों के कारण हो जो कि विकासशील देशों के संदर्भ में अधिक परिलक्षित होता है।

पर्यावरण को बचाने के लिये पेड़ लगाना, नदियों का प्रदूषण कम करना, ऊर्जा की बचत, भूमिक्षरण रोकना, जल भंडारण विकास, आर्गेनिक फार्मिंग इत्यादि तभी सफल हो सकेंगे जब सामाजिक मूल्यों को यथावत् वापस लाया जायेगा जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिये इंद्रियों को अनुशासित रखना नितांत आवश्यक है। पर्यावरण संतुलन के लिये समाज का अच्छा आचरण ही उसकी प्रमुख भूमिका है। समाज का अच्छा आचरण सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा ही बनाया जा सकता है। सरकारी दखल या दबाव प्रभावकारी

शेष पृष्ठ 7 पर ....

हरित रसायन कितना हरा ?

डॉ० आशुतोश मिश्र

"हरे को जीवनदाता रंग माना गया है। राहुल सांस्कृत्यायन ने मानव समाज (पृष्ठ 47, 1987) में लिखा है–

कुद विद्वानों का ख्याल है कि मनुष्य का ध्यान खेतों के विकास के साथ हरियाली और जीवन से उसके सम्बन्ध की ओर आकर्षित हुआ। बढ़ते हुये तरुण जीवन को खेत की हरियाली के रूप में उन्होंने देखा। इससे हरे लेप तथा हरे चूर्ण उसके लिये जीवन के प्रतिनिधि बन गये जो सौन्दर्य को बढ़ाने वाले द्रव्यों के तौर पर भी इस्तेमाल किये जाने लगे। शवों को मिस्रियों द्वारा हरे रंग से रंगने के को अमर जीवन देने के लिये एक अमूल्य कृत्य माना गया।"

हरा रंग आँखों को भाता है। प्रकृति में फैली हरियाली मन को मोह लेती है किन्तु यदि हरियाली मिटने वाली हो तो ? तब तो सबों का कर्तव्य बनता है कि हम ऐसा कुछ करें कि यह हरियाली घटे नहीं। और उससे भी बड़ी बात उन कारणों पर विचार करें जिनके कारण यह हरियाली वृक्ष सम्पदा घट रही है। स्पष्ट है कि यह जीवन्त पर्यावरणीय समस्या है आज जिस तीव्र गति से पर्यावरण प्रदूषण फैल रहा है, उसको दृष्टि में रखकर न पर्यावरणविद् अपितु उद्योगों के स्वामी तथा उद्योगों से जुड़े विज्ञानी भी समान रूप से चिन्तित हैं। वे कुछ ऐसा करने के लिये कटिबद्ध हैं जिससे हरियाली बनी रहे। इसका उत्तर ढूँढा गया है। हरित रसायन में यह नाम रसायन शास्त्र के रंग का सूचक नहीं, न ही हरे रंग के रासयनिक पदार्थों (रसायन) के लिये प्रयुक्त है अपितु यह ऐसी सोच है जिसके माध्यम से उन रसायनों के बहिःस्राव (रासयनिक अपशिष्ट) को कम किया जा सकेगा जो पर्यावरण को प्रदूषित करने वाला है। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है "हरित रसायन उत्पादों तथा प्रक्रमों का आकलन है जो आपत्तिजनक पदार्थों के उपयोग तथा सृजन को कम करता है या पूरी तरह से विकरित करता है। हरित रसायन पर्यावरण मित्र है और रासायनिक उत्पादों तथा प्रक्रमों के आकलन को मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण को एक साथ जोड़ता है।

वस्तुतः रासयनिक उद्योग ही वह प्रमुख कारण है जिससे पर्यावरण प्रदूषित होता है– एक ओर ऊर्जा की अत्यधिक खपत और दूसरी ओर ऐसे मध्यवर्ती उत्पादों (उपजातों) की उत्पत्ति, जो घातक हो सकते हैं और प्रायः जो फैक्टरी से बाहर निकाल दिये जाते हैं। हरित क्रांति की भाँति हरित रसायन एक अत्याधुनिक नारा है जिसका सूत्रपात अमेरिका से हुआ और जिसने सारे विश्व के वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट किया है। यह मान चुनकर इसीलिये रखा गया है कि इससे आकर्षित होकर लोग इसके बारे में सोचें। चाहे इसे जीवनदाता रंग मानें या पर्यावरण के प्रति सतर्कता का संकेत– "ग्रीन सिगनल"।

हरित रसायन का लक्ष्य ही है इसके प्रयोग से कम से कम प्रदूषण फैले और मनुष्य के स्वास्थ्य पर उसका प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। हरित रसायन ऐसी प्रविधियों को अपनाने की सलाह देता है जिससे उत्पादन के बाद कोई अतिरिक्त अनुपयोगी पदार्थ न बचे जो फैक्टरी से बाहर निकल कर पर्यावरण को प्रभावित करे। एक तरह से सर्वांगीण प्रविधियों को जन्म देने वाली विधि है।

यह रासयनिक उद्योग को स्वच्छ बनाने पर जोर है। वैज्ञानिकों को बाध्य होकर ऐसी विधियाँ या युक्तियाँ अपनानी पड़ती हैं जिससे नये नये उत्पाद (चाहे दवाएं हो या उर्वरक, या कीटनाशी) बनाने के

बाद भी पर्यावरण प्रदूषित न हो सके।

हरित रसायन का मुख्य उद्देश्य मौलिक विज्ञान की सहायता लेकर भावी पर्यावरण को स्वच्छ एवं स्थायी बनाना है।

अभी तक तीन प्रकार के कार्यों से हरित रसायन की प्रक्रिया को समझने के प्रयास हुये हैं।

हरित रसायन के कुछ उदाहरण

1. इबुप्रोफेन का उत्पादन : दर्द निवारक दवाओं में ऐस्पिरिन, टाइलेनाल तथा इबुप्रोफेन (मोस्ट्रन, ऐडविल तथा मेडिप्रेन) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से ऐस्पिरिन तथा इबुप्रोफेन गैर स्टेराइडी प्रतिशोथकारी दवायें हैं। जो सूजन तथा शोथ को कम करने के काम आती हैं। 1960 में इबुप्रोफेन का विकास परम्परागत औद्योगिक संश्लेषण विधि से किया गया थां इसमें संश्लेषण छः चरणों में पूरा होता था और तमाम अवांछित रासायनिक उपजात सम्पन्न होते थे जिनका निपटान करना होता था और प्रयुक्त अभिकर्मकों के अनेक परमाणु मुख्य उत्पाद में काम न आकल उपजातों के अंग बनते थे जिससे परमाणु मितव्ययता बाधित होती थी। फलतः BHC कम्पनी ने 1991 में इबुप्रोफेन का नवीन अधिक हरित औद्योगिक संश्लेषण किया है जिसमें केवल तीन

हरित रसायन के 12 नियम

पी.टी. एनेस्टास तथा जे.सी. वार्नर ने अपनी पुस्तक Green Chemistry : Theory and Practice (1998) में जिन 12 नियमों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं–

1. निवारण : अच्छा तो यह होगा कि अपशिष्ट उत्पन्न होने ही न दिया जाये।

2. परमाणु मितव्ययिता : ऐसी विधियों का अभिकल्पन हो जिससे किसी प्रक्रम में अन्तिम उत्पाद में ही पूरी सामग्री समाहित हो जाये।

3. कम संकटाकीर्ण रासायनिक सश्लेषण : जहाँ भी सम्भव हो सके ऐसी संश्लेषण विधियों का अभिकल्पन किया जाये जिनसे ऐसी वस्तुयें तैयार हों जो मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण के लिये विषाक्त न हों।

4. अधिक सुरक्षित रसायनों का अभिकल्पन : ऐसे रासायनिक उत्पाद बनाये जोयं जो वांछित कार्य कर सकें किन्तु उनकी विषाक्तता न्यूनतम हो।

5. अधिक सुरक्षित विलायक तथा सहायक पदार्थ : जहाँ तक सम्भव हो सहायक पदार्थों (विलायकों, पृथक्करण में प्रयुक्त अभिकर्ताओं) की आवश्यकता ही न पड़े और जब प्रयुक्त किये जायें तो अहानिकर हों।

6. ऊर्जा दक्षता के लिये अभिकल्पन : पर्यावरणीय तथा आर्थिक प्रभावों को ध्यान में रखते हुये रासायनिक प्रक्रमों की ऊर्जा आवश्यकताओं को महत्व दिया जाये।

7. पुनर्नवीकरणीय संभरणों का उपयोग : कच्चे माल या संभरण को पुनर्नवीकरण होना चाहिये।

8. व्युत्पन्नों की कमी : व्यर्थ के व्युत्पन्नों का उपयोग यथा समूहों का अवरोधन, संरक्षण, आरक्षण या कि भौतिक/रासायनिक प्रक्रमों का अल्पकालिक संशोधन कम से कम किया जाये या सम्भव हो सके तो उससे बचा जाये क्योंकि ऐसा करने से अतिरिक्त अभिकर्ताओं की आवश्यकता होगी और इससे अपशिष्ट बनेंगे।

9. उत्प्रेरण : उत्प्रेरणीय अभिकर्मक सदैव उचित अनुपाती अभिकर्मकों से श्रेष्ठ होते हैं।

10. विघटन के लिये प्रकल्पन : रासायनिक उत्पाद ऐसे बनाये जायें कि अपना कार्य पूरा करने के बाद जब उनका विघटन हो तो उनसे बने पदार्थ पर्यावरण में दीर्घकाल तक विद्यमान न रहें।

11. प्रदूषण रोक के लिये सम्बद्ध विश्लेषण : इसके पूर्व कि विपत्तिकारी पदार्थ निर्मित हों समय से क्रियाविधि के दौरान उनका मानीटरन तथा नियंत्रण किया जा सके, इसके लिये वैश्लेषिक विधियाँ हों।

12. दुर्घटना निवारण के लिये मूलतः अधिक सुरक्षित रासायनिक विज्ञान : किसी रासायनिक प्रक्रम में प्रयुक्त पदार्थों का चुनाव इस प्रकार किया जाये कि रासायनिक दुर्घटनायें कम से कम हो सकें।

चरण रहते हैं और अभिर्मकों के अधिकांश परमाणु इच्छित उत्पाद में ही लग जाते हैं। तब से प्रतिवर्ष 300 लाख पौंड इबुप्रोफेन तैयार किया जाता है। इससे लगभग 350 पौंड अपशिष्ट प्रयुक्त हो जाता है।

इस तरह पुराने भूरे संश्लेषण के स्थान पर हरित संश्लेषण पर्यावरण के प्रति मैत्रीपूर्ण है। इसके लिये 1987 में इस कम्पनी को Presidential Green Chemistry Challenge Award मिला।

2. बेंजीन से बनने वाले उत्पाद अब ग्लूकोस से बना सकते हैं। चाहे वैनिलिन (वैनिला आइसक्रीम का सुगंधित अंश) हो, चाहे हाइड्रोक्विनोन (फोटोग्राफी में प्रयुक्त) या कि नाइलान 66 जैसा संश्लिष्ट रेशा, ये बेंजीन से ही बनाये जाते हैं। औषधि भी बेंजीन से बनती है। लेकिन बेंजीन के उत्पादन से वायुमण्डल में नाइट्रस आक्साइड की वृद्धि होती है जो ओजोन को कम करके वैश्विक उष्मन (ग्लोबल वार्मिंग) पैदा करता है।

यह बेंजीन पेट्रोल से प्राप्त होती है यानि ऐसे पारम्परिक ऊर्जा स्रोत से जिसकी भविष्य में कमी होनी है। फलतः बेंजीन के बजाय ग्लूकोस को आधार बनाकर उन्हीं उत्पादों को तैयार किया जा रहा है। ग्लूकोस की विशेषता है इसमें छः आक्सीजन परमाणु का होना। अतः ऐसे आक्सीजनित पदार्थ से शुरू करने से कैटेचाल बनाते समय हाइड्रोजन पराक्साइड जैसे संक्षारक पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। यही नहीं, उच्च पदार्थ की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। न ही कार्बनिक विलायकों की। स्वयं ग्लूकोस को पुनर्नवीकरणीय स्रोतों से यथा पादप स्टार्च तथा सूल्यूलोस से प्राप्त किया जा सकता है। ग्लूकोस के साथ जैव उत्प्रेरक प्रयुक्त किये जाते हैं। ये सूक्ष्मजीव ग्लूकोस को CO_2 में परिणत करते हैं और उत्पन्न ऊर्जा से सूक्ष्मजीव की वृद्धि तथा पुनरुत्पादन होता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया काष्ठ को जलाकर ऊर्जा उत्पन्न करने के तुल्य है। इस तरह हरित उत्पादन विधियों से जो रासायनिक उत्पादन मिलते हैं वे परम्परागत विधियों से तैयार उत्पादों से होड़ ले सकते हैं।

इस तरह से यह विधि कृषि तथा पर्यावरण दोनों के लिये लाभप्रद होगी।

1. विषाक्त पदार्थों की सूची बनाना।
2. भौतिक रासायनिक गुणों को पहचानना।
3. बारह सूत्रीय हरित रसायन के सिद्धान्त को ध्यान में रखना।

प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण द्वारा भावी पीढ़ियों का लालन पालन करना, टिकाऊपने का लक्ष्य है। इसके लिये जो सबसे लुभावना विकल्प प्रतीत होता है वह है परम्परागत संसाधनों के स्थान पर पुनर्नवीकरणीस संसाधनों का प्रयोग। उदाहरणार्थ, प्लास्टिक के उत्पादन की आधार सामग्री पेट्रोलियम है जिसका सीमित भण्डार है। फलतः प्लास्टिक उद्योग पूरी तरह जीवाश्मीय ईंधन पर निर्भर करने के फलस्वरूप टिकाऊ नहीं है। यही कारण है कि इस उद्योग ने ऐसी उत्पादन विधियों की खोज शुरू की जिनमें पेट्रोलियम के स्थान पर पुनर्नवीकरणीय संसाधनों का प्रयोग हो सके। इसके लिये कुछ फसलों को अच्छा स्रोत माना गया क्योंकि इन पौधों के किण्वन से प्लास्टिक तैयार किया जा सकता है फलतः मक्का को पालीहाइड्रॉक्सी एल्कानोऐट प्लास्टिक में परिणत किया गया। इस पादप–आधारित प्लास्टिक के गुणधर्म पालीस्टाइरीन जैसे ही पाये गये। इसका सर्वाधिक उपयोग खाद्य सामग्री की पैकिंग तथा चटपटा खाद्य उद्योग में होता है। चूँकि यह नवीन प्लास्टिक जैविक विधि से तैयार किया जाता है अतः अन्तिम उत्पाद पूर्णतया जैव विघटनीय होता हैं स्पष्ट है कि हरित रसायन के रूप में यह सराहनीय कदम होगा।

किन्तु यह हरित रसायन मँहगा पड़ेगा

उपर्युक्त विधि से प्लास्टिक के इस निर्माण में रासयनिक विधि की अपेक्षा 19 गुनी अधिक बिजली 22 प्रतिशत अधिक भाप तथा 7 गुना अधिक जल लगने का अनुमान है। सुनने में तो ऐसा लगता है कि पालीमरों के निर्माण से पौधों को आधारभूत सामग्री बनाने से टिकाऊ हल निकल आयेगा। किन्तु PHA की यह विधि अपव्ययी सिद्ध हुई। ऐसी गणना में मक्का उगाने के लिये उर्वरक, कीटनाशी तथा शाकनाशी प्राप्त करने तथा फसल काटने और उसके संसाधन में लगी ऊर्जा

को सम्मिलित किया गया। इस तरह 1 PHA पौंड निर्मित करने के लिये आवश्यक ऊर्जा का उपयोग 2.39 पौंड जीवाश्मीय ईंधन के तुल्य था जबकि इतनी ही मात्रा के रासायनिक विधि से पालीस्टाइरिन बनाने में केवल 1.26 पौंड लगेगा। इस तरह 'हरित रसायन' विधि के उपयोग से प्रदूषणकारी प्रभाव बढ़ेगा, घटेगा नहीं। किन्तु क्या केवल इस विधि को आधार बनाकर प्लास्टिक के लिये पौधों के उपयोग को बन्द कर दिया जाये ? उत्तर होगा नहीं। आवश्यकता है कि प्रयुक्त विधियों में लगातार सुधार किये जायें। हरित रसायन इसी की सलाह देता है।

यद्यपि सारे उपभोक्ता यही चाहेंगे कि उन्हें हरित से हरित उत्पाद मिलें भले ही उन्हें अधिक दाम क्यों न चुकाने पड़ें किन्तु उत्पादकों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या जो आड़े आती है वह है पर्यावरण को स्वस्थ बनाये रखने की। उद्योगपतियों का कहना है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में जिस तरह से पर्यावरणीय नियंत्रण के कठोर नियम बन रहे हैं उसके कारण अपशिष्टों तथा निःस्रावों के उपचार में प्रतिवर्ष उद्योग को 75 बिलियन डालर अधिक खर्च करने पड़ सकते हैं। इसीलिये अनेक उत्साहजनक पर्यावरणीय प्रोजेक्ट बनाये जा रहे हैं जिनमें उत्पादन प्रविधि में लगातार सुधार किये जायें। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय बर्कले में 1993 में एक ऐसा प्रोजेक्ट "कनसोर्टियम आन ग्रीन डिजाइन एण्ड मैनुफक्चरिंग" बनाया गया है। इसके द्वारा उत्पादन तथा प्रकल्प एवं पर्यावरण पर उनके प्रभावों के बारे में अन्तसम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है। इससे इंजीनियरी सूचना, प्रबन्धन विधियों तथा सरकारी नीति निर्माण को समन्वित किया जा सकेगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 1990 में स्वच्छ वायु अधिनियम 'क्लीन एयर एक्ट' बना जो बड़े बड़े कारखानों से निकलने वाले गैसीय उत्सर्जनों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये है। इन गैसों में नाइट्रोजन आक्साइड मुख्य है जो अम्ल वर्षा का प्रमुख कारण है। इसलिये हरित रसायन के लिये ऐसे संयत्र बनाये जा रहे हैं जो गैसीय उत्सर्जनों का मानीटरन कर सकें। इसके लिये कम्प्यूटर आधारित प्रौद्योगिकी काम में लाई जा सकती है।

हरित रसायन वस्तुतः पर्यावरणीय हितैषी उत्पादों के पक्ष में है। किन्तु क्या ऐसी मँहगी प्रौद्योगिकी को छोटे–छोटे उत्पादन अपना सकेंगे। उदाहरणार्थ, यूरोप में इलेक्ट्रानिक्स में प्रयोग होने वाले ब्रोमीनीकृत ज्वाला को सदा के लिये विदा देने का प्रश्न उठा तो यह कहा गया कि ऐसा कर पाना असम्भव है किन्तु सोनी कार्परिशन ने यह चुनौती स्वीकार करके इसे सम्भव बना दिया। इसी तरह कैलीफोर्निया में अधिकतर आटोमोबाइल कंपनियों की शिकायत थी कि वायु उत्सर्जन की सीमाओं को पूरी तरह निभा पाना कठिन है किंतु होंडा तथा टोयोटा ने ऐसे इंजिन बनाये जिनसे इन सीमाओं का पालन किया जा सकेगा। इसलिये अमेरिकी उत्पादकों से अपील की गई है कि वे हरित आन्दोलन को शंका की दृष्टि से न देखकर पर्यावरण की रक्षा के लिये अपने उत्पादों में सुधार लावें। वास्तव में बड़े–बड़े उत्पादक ही वृहद मात्रा में अपशिष्ट उत्पन्न करने के लिये जिम्मेदार हैं इसलिये आटो, इलेक्ट्रानिक तथा ऐप्लाएन्स के लिये कानून बनाये गये हैं।

संसाधनों का ह्रास

जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है इससे प्रदूषण में बढ़ोत्तरी ही होनी है और अनेक संसाधनों का लगातार ह्रास होना है। अनुमान है कि–

1. विगत 30 वर्षों के इतना मीठा जल निकाला जा चुका है जितना कि 300 वर्षों में निकाला गया होगा।
2. विश्वभर में प्रतिवर्ष भौम जल का 160 बिलियन घन मीटर अधिक मात्रा में निकाला जा चुका है।
3. वायुमण्डल में 1970–2000 के मध्य CO_2 की मात्रा में 1960–70 के मध्य अपेक्षा दुगुनी वृद्धि हुई है (0.08 की तुलना में 1.5 पीपीएम है)।
4. 1970 से अब तक कार्बन उत्सर्जन में डेढ़ गुनी वृद्धि हुई है।
5. संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोप तथा जापान मिलकर सबसे अधिक ठोस अपशिष्ट निकालते हैं, जिनमें से अमेरिका सर्वापरि है।
6. ठोस अपशिष्टों के विषय में इन देशों की नीतियाँ

हैं–

यूरोप में–उत्पादक ही जिम्मेदार हैं

अमेरिका में–सदैव अधिकाधिक स्थान उपलब्ध होता रहेगा।

7. संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रदूषण नियंत्रण विभागों को हरित रसायन नाम दिया गया है जिनका उद्देश्य कम से कम अपशिष्ट करने के कार्यों, हरित उत्पादन प्राविधियों का विकास तथा पर्यावरणीय एवं उत्पादन लागतों को न्यूनतम बनाना है।

इतना ही नहीं, वहाँ 'जर्नल ऑफ ग्रीन केमिस्ट्री' भी प्रकाशित होता है। रॉयल सोसाइटी ऑफ केमिस्ट्री ने हरित रसायन क्रान्ति के नवीनतम प्रयासों से सभी क्षेत्रों के लोगों को अवगत कराने के उद्देश्य से हरित रसायन को एक साधन के रूप में चालू किया है। इसका उद्देश्य औद्योगिक तथा जनसामान्य सेक्टरों में स्वच्छ प्रौद्योगिकी के रासायनिक पक्ष में होने वाले कार्यकलापों एवं शोधों की सूचना देना है।

हरित रसायन के लाभ

इसके द्वारा नाना प्रकार के रासयनिक माध्यमिक पदार्थ तैयार किये जा सकेंगे जिनका उपयोग विशिष्ट उत्पादों को तैयार करने में होगा। इनमें औषधियाँ, कृषीय रसायन तथा प्लास्टिक मुख्य होंगे किन्तु ऐसे उत्पादों को तैयार करने के पूर्व रासायनिक उत्पादकों को पहले सही कच्चे पदार्थ तथा रासायनिक पदार्थ बनाने होंगे। उदाहरणार्थ, सामान्य प्लास्टीसाइजर ब्यूटिल बेंजिल थैलेट बनाने के लिये बेंजिल क्लोराइड माध्यमिक पदार्थ की आवश्यकता होगी। इसी तरह शाकनाशी उत्पादन के लिये फ्लोरोऐल्फिल एरोमैटिकों की जरूरत पड़ेगी।

आजकल हाइड्रोकार्बन तथा सिलेन यौगिकों को तप्त कच्चे माल में क्लोरीन को बुदबुदाने से क्लोरीन के अन्य परमाणु अन्य अणुओं से जकड़ जाते हैं। इससे परम्परागत विधि की अपेक्षा दुगुनी उपलब्धि होती है। इसे नवीन फोटोक्लोरिनेशन/रिऐक्टिव डिस्टिलेशन विधि कहा गया है।

प्लेनो, टेक्सास
यू०एस०ए०

---

*पृष्ठ **2** का शेष*

नहीं होते। समाज को शिक्षित करने के लिये विद्यालयों तथा लोक संचार के माध्यमों के अलावा ऐसे स्थलों को भी लक्ष्य बनाया जाना चाहिये जहाँ लोग समाज के रूप में नियमित रूप से मिलते हैं या एकत्रित होते हैं। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा व गिरजाघर तो ऐसे स्थान हैं ही जहाँ लोग धर्मानुसार मिलते हैं। क्लब, डिस्को, पार्क, खेल स्टेडियम इत्यादि भी ऐसे स्थलों के रूप में उभर रहे हैं जहाँ कि सामाजिक आदान प्रदान होता है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के मन में पूजास्थलों के प्रति अधिक आदर है जहाँ मिले उपदेशों का पालन करने का वह प्रयास करता है। ये स्थान वही हैं जहाँ सामाजिक मूल्यों की शिक्षा दी जाती थी। केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणियों के बीच सद्भाव की शिक्षा दी जाती थी पर्यावरण संतुलन मूलतः इन्हीं सामाजिक मूल्यों पर केन्द्रित है जो कि सहस्रों वर्षों की मानव सभ्यता व इतिहास में ऐसे ही स्थलों पर परिभाषित किये गये प्राचीन हो या वर्तमान सभ्यता का अनुभव यह दर्शाता है पर्यावरण संतुलन समाज का दायित्व है जिसे वह स्वयं को अनुशासित करके ही प्राप्त कर सकता है।

पर्यावरण विभाग संभाग
भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान
नई दिल्ली- **11001**

भारत में प्रदूषण नियंत्रण के लिये वृक्षों का चयन

✍ शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

भारत में विश्व की 18 प्रतिशत जनसंख्या व 15 प्रतिशत पशुधन का निवास है और उसका भौगोलिक क्षेत्रफल 2 प्रतिशत भाग मात्र है जिसके अंतर्गत 1 प्रतिशत जंगल प्रदेश व 0.5 प्रतिशत घासीय चरागाह हैं। इसके अनुसार प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिये 0.08 हेक्टेयर जंगल क्षेत्र उपलब्ध है, जबकि इसका विश्व औसत 0.8 हेक्टेयर है। इन आंकड़ों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय जंगल अत्यधिक दबाव में आ चुके हैं।

दूसरी ओर कृषि के लिये भूजल दोहन का बढ़ता उपयोग भारत में जल स्तर को लगातार घटाता चला आ रहा है (1 से 4 मीटर नीचे प्रति वर्ष)। फिर भारत की 74 प्रतिशत जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है, जहाँ जलावन लकड़ी सबसे सस्ता व आसानी से उपलब्ध ईंधन है, विशेषकर गरीबी–रेखा के नीचे के 40 प्रतिशत नागरिकों का एकमात्र सुलभ ऊर्जा स्रोत है। इसलिये भारत में वनों के विस्तार व जल संभर प्रबंध कौशल कार्यक्रमों को युद्ध स्तर पर प्राथमिकता देना आवश्यक है, ताकि जैव विविधता की सुरक्षा के साथ–साथ मृदा संरक्षण, पर्याप्त स्वच्छ जल प्राप्ति, ईंधन वृद्धि, पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण आदि जैसी महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं को स्थायित्व प्रदान किया जा सके। एक आदर्श स्थिति में किसी क्षेत्र के 33 प्रतिशत भूभाग में वनों का होना आवश्यक समझा जाता है, पर भारतीय जंगलों के वर्तमान असंगत विस्तार व कई प्रदेशों में जंगलों के शोचनीय स्तर को देखते हुये यह सीमा 50 प्रतिशत करनी होगी, उन प्रदेशों में जहाँ इनका विस्तार सामान्य से बहुत कम हो चुका है।

अब प्रश्न उठता है कि भारतीय जंगलों के संरक्षण व संवर्धन के लिये किस प्रकार के वृक्षों का चयन किया जाये। इस दृष्टि से देखने में हम पाते हैं कि प्रत्येक जंगल एक संयुक्त परिवार के समान जीवन–यापन करता है। उसके अपने कायदे–कानून होते हैं, जिनका संचालन उस क्षेत्र के प्रमुख पेड़–पौधे व जीव–जन्तु करते हैं। जंगलों के बीच सीमा निर्धारण मुख्यतः जलवायु द्वारा होता है। पर इसमें क्षेत्र विशेष में स्थित शैल समूहों, मृदा व पानी के गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा यह भी देखने में आता है कि कठिन से कठिन जलवायु में भी विशेष प्रकार का जीवन पनपता है, जिसने क्षेत्र विशेष के पर्यावरण अनुरूप अपने को ढाल लिया है।

इसीलिये विश्व भर में एकसमान भू–जलवायु–विषयक क्षेत्रों में विशिष्ट प्रकार का जीवन पाया जाता है, भले ही वे एक क्षेत्र एक दूसरे से हजारों किलोमीटर दूरी पर क्यों न हों। संसार में इस प्रकार के 14 क्षेत्रों की पहचान की गई हैं, जिन्हें **बायोम्स** कहा जाता है। इस दृष्टि से भारत एक समृद्ध देश है क्योंकि इस प्रकार के 10 क्षेत्र यहाँ पाये जाते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण की रोकथाम के विषय में जागरूकता वृद्धि के कारण 1960 के दशक से ही सारे विश्व में वृक्षारोपण कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जाने लगी और जल्दी से जल्दी लाभ प्राप्त करने की दौड़ में, शीघ्रता से उगने वाले विदेशी मूल के वृक्षों का उपयोग किया जाने लगा, विशेषकर ऐसे वृक्ष जो पशु–पक्षियों के भी किसी उपयोग में नहीं आते। पर्यावरण को सुरक्षा प्रदान करने की इस दौड़ का कुपरिणाम कुछ वर्षों के भीतर ही ज्ञात होने लगा कि विदेशी मूल के पेड़–पौधों को नये पारिस्थितिकीय वातावरण में स्थापित करने पर स्थानीय मूल की प्राकृतिक संपदा व जैव–विविधता नष्ट होने लगती है। विश्व के कई देशों

में (भारत भी शामिल) आस्ट्रेलियन मूल की यूकेलिप्टस प्रजातियों के वृक्ष नये बायोम्स में लगाने का गलत प्रभाव परिलक्षित होने लगा है। यहाँ तक कि थाईलैण्ड में इसे राक्षस कहा जाने लगा है। एक विदेशी मूल की प्रजाति को सर्वथा भिन्न प्रकार के जलवायु विषयक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने के विनाशकारी प्रभाव का, यूकेलिप्टस एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

वनस्पति संपदा के संदर्भ में ब्राजील के पश्चात् भारत का स्थान विश्व में दूसरे नम्बर पर है। ब्राजील में 65,000 और भारत में 45,000 जाति की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। लेकिन इनके मध्य एक बड़ा अंतर है कि भारत में पाई जाने वाली वनस्पतियों में कई बड़े–बड़े परिवारों/कुलों की विविधता भरी हजारों शाखायें पाई जाती हैं पर ब्राजील की वनस्पतियों में इनके परिवारों की संख्या बहुत कम है। इस विविधता के कारण भारतीय जंगलों के संरक्षण का विषय हमारे लिये एक गम्भीर चुनौती है और इनके संवर्धन कार्यक्रमों के निर्माण व संचालन के दौरान प्रकृति के नियमों का पालन करते हुये आगे बढ़ना होगा।

इसलिये भारत में स्थानीय मूल के पेड़–पौधों को लगाना ही सर्वथा उचित होगा, क्योंकि उनमें स्थानीय जलवायु के अनुरूप प्राकृतिक सुरक्षा प्रणाली समय के साथ अंगीभूत हो चुकी है। फिर भारतीय बायोम्स में इनकी कमी भी नहीं है। पीपल, वट, नीम, जामुन, पलाश, अशोक, महुआ, सहजन, आँवला, कटहल, साल, मुर्गा, सेमल, गम्भार, शीशम, सागोन, इमली, अर्जुन, कदम, करंज, केन्द, बाँस, चन्दन, कुसुम, रोहिदा, खेजरी, बबूल, कूल, नारियल, कच्छीय (मैनग्रोव), स्थानीय घासें व जड़ी बूटियाँ, चीड़, देवदार, अखरोट आदि कई वनस्पतियाँ भारत के विभिन्न जलवायु विषयक प्रदेशों में हजारों वर्षों से फलती–फूलती आ रही हैं, जिन्हें उनके गुणों के आधार पर स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रख सम्पूर्ण प्राकृतिक तालमेल के साथ प्रदूषण नियंत्रण के लिये भी उपयोग किया जा सकता है। पेड़–पौधे स्वयं अपने आप में वायु और ध्वनि प्रदूषण को कम करने की क्षमता रखते हैं। लेकिन इस गुण का स्तर सभी में एकसमान अंगीभूत नहीं होता है और यह देखने में आता है कि भिन्न–भिन्न वनस्पतियों में कुछ विशिष्ट प्रदूषकों को नियंत्रित करने की प्रतिरोधक क्षमता होती है।

बोटैनिकल रिसर्च इंसटीट्यूट लखनऊ व शिवपुर (कोलकाता) के वैज्ञानिकों की एक अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार– "वृक्षों में जहरीली गैसों की अवशोषण क्षमता का निर्धारण, उनकी डालियाँ व पत्तियाँ करती हैं। तुलनात्मक रूप में, सघन डालियों से युक्त वृक्ष 20 प्रतिशत ज्यादा धुआँ अवशोषण करते हैं और जिन वृक्षों की पत्तियाँ अण्डाकार या प्रतान भरी (रेशेदार) होती हैं, वे दूसरों की अपेक्षा अवशोषक क्रिया में अधिक प्रभावी होती हैं।

इसके अलावा, कुछ वृक्षों का झुकाव विशिष्ट गैसों के अवशोषण की ओर होता है। उदाहरण के लिये अल्फाअल्फा नामक वृक्ष एक किलोमीटर क्षेत्र में 0.2 टन प्रतिदिन के हिसाब से सल्फर डाइऑक्साइड की अवशोषक क्षमता रखता है। एक वास्तविक परीक्षण से यह जानकारी मिली है कि अल्फाअल्फा के 500 वृक्ष एक किलोमीटर व्यासार्ध में लगाने पर उस शहर से कार्बन मोनॉक्साइड व सल्फर डाइऑक्साइड की मात्रा में क्रमशः 30 व 20 प्रतिशत कमी देखने में आयी। इसके अलावा 10 वर्षों के भीतर निलंबित ठोस विविक्त पदार्थों (सस्पेन्डेड पार्टीक्यूलेट मैटर) में भी 89 प्रतिशत कमी हुई।

पर अल्फाअल्फा एक शीतोष्ण कटिबंधीय वृक्ष है, जिसे भारत में नहीं उगाया जा सकता। भारत में उन्हीं वनस्पतियों को लगाना उचित होगा जो स्थानीय जलवायु में हजारों वर्षों से पनपती रही हैं। फिर किसी भी क्षेत्र में फैलते विशिष्ट प्रकार के प्रदूषण के अनुरूप ऐसे वृक्षों का चयन वृक्षारोपण के लिये करना होगा जो सर्वाधिक रूप में उन प्रदूषकों को कम करने की क्षमता से प्राकृतिक रूप में समर्थ हैं।

तेल शोधक व थर्मल पावर प्लान्टों वाले क्षेत्र में नीम, अर्जुन, छातिम व शिरीष के वृक्षों को लगाना पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण के लिये सबसे प्रभावकारी है। तेल शोधन से सल्फर डाइऑक्साइड और कोयला आधारित पावर प्लान्टों से कोलतार धुआँ पर्यावरण

प्रदूषण फैलाते हैं। इन वृक्षों में सल्फर डाइऑक्साइड अवशोषण के प्रति विशेष रुझान अंगीभूत है और इनकी पत्तियाँ छिद्रिल होने के कारण कोलतार के वाष्प को एक फिल्टर के समान शुद्ध रखने की क्षमता रखती हैं। उस पर ये पेड़ लम्बे होने के कारण उन प्रदूषणों को ग्रहण करने में भी अधिक सक्षम होते हैं।

लेकिन वाहन प्रदूषण (नाइट्रस ऑक्साइड, कार्बन मोनॉक्साइड व कार्बन डाइऑक्साइड) के कुप्रभाव को निम्न स्तर पर लाने के लिये छोटे आकार की कूल व मैंजरी जैसी झाड़ियों की बाड़ सड़क के किनारे लगाना उत्तम होगा।

धूल व लटके विविक्त पदार्थ प्रदूषण को कम करने के लिये वट, साल, सागोन व आम के वृक्षों की दीवार खड़ी कर उसे आधे स्तर पर लाया जा सकता है। इन वृक्षों की मोटी पत्तियाँ एक प्राकृतिक धूल फिल्टर का कार्य करती हैं। इसी प्रकार शहरों में बढ़ते ध्वनि प्रदूषण के स्तर को कम करने के लिये नीम, अर्जुन व इमली के वृक्षों को बारी–बारी से कतार में लगाकर उपयोग किया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक कतार ध्वनि प्रदूषण को वैक्यूम के आधार पर क्षतिपूर्ण व डेसिबल स्तर निम्न करती है।

इस रिपोर्ट का एक निष्कर्ष यह भी है कि ऐसे वृक्ष जो पर्यावरण शुद्धिकरण में सक्षम होते हैं, वे अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में 5 लाख रुपयों की बचत करने में समर्थ हैं। अन्यथा इससे अधिक राशि को प्रदूषण नियंत्रक उपकरणों को स्थापित करने में खर्च करना पड़ेगा।

एक अन्य अध्ययन के अनुसार 50 टन भार का एक औसत वृक्ष अपने 50 वर्ष के जीवनकाल में ऑक्सीजन निकाल कर, प्रोटीन उत्पादन कर, नमी बढ़ा कर व प्रदूषण घटाकर लगभग 17.5 लाख रुपयों का योगदान करता है, लेकिन उसको काटने पर मात्र 0.3 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। शेष 99.7 प्रतिशत की हानि उठानी पड़ती है, जिसका सर्वाधिक प्रतिकूल प्रभाव पर्यावरण संतुलन के प्राकृतिक चक्र पर पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों से अमेरिकी वैज्ञानिक पहाड़ी पीपल वृक्ष के पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रक गुणों का अध्ययन कर रहे हैं और उन्होंने दावा भी किया है कि प्रयोगशाला में इसकी एक ऐसी वर्णसंकर किस्म विकसित करने में सफलता मिली है, जो जमीन की 30 मीटर गहराई से प्रदूषण फैलाने वाले तत्वों को एक नलिका के समान बाहर खींचने में सक्षम है। इससे भूसतह पर स्थित हरियाली भी नष्ट नहीं होती है। अभी तक यह खोज प्रयोगशालाओं तक ही सीमित है, वास्तविक फील्ड परीक्षण करने बाकी हैं।

उल्लिखित चर्चा से स्पष्ट है कि वृक्षारोपण के माध्यम से पर्यावरण प्रदूषण को कम किया जा सकता है। लेकिन यह भी एक सत्य है कि मात्र पेड़ लगाने से ही प्रदूषण नियंत्रण करना संभव नहीं है, क्योंकि छोटी उम्र के पेड़ अम्ल, वर्षा, प्रदूषण आदि से नष्ट हो सकते हैं। इसीलिये वृक्षारोपण के पूर्व, प्रदूषण कारकों व उनके द्वारा किस प्रकार का प्रदूषण फैल रहा है, जानना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् ही वृक्षारोपण के लिये ऐसे वृक्षों का चयन करना होगा जो उस स्थान विशेष में वास्तविक फैलते प्रदूषण प्रकार को निरस्त्र करने में प्राकृतिक रूप से सक्षम हैं। फिर कम उम्र के इन वृक्षों की देखभाल उनके बड़े होने तक करना एक आवश्यक क्रिया होगी। पर सबसे महत्वपूर्ण है कि वृक्षारोपण के सभी कार्यक्रम पर्यावरण विशेषज्ञों की निगरानी में सम्पादित किये जायें। पर ऐसा क्यों ? इस संदर्भ में एक छोटी सी लेकिन वास्तविक घटना का विवरण प्रस्तुत है–

उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ अंचल में अल्मोड़ा शहर के उत्तर में विनसर नाम का पर्यटन स्थल है। भारत को स्वतंत्रता मिलने के समय तक यह स्थान संतरों के लिये प्रसिद्ध था, जिसके बगीचे अंग्रेजों ने वहाँ स्थापित किये थे। भारत छोड़ते समय अंग्रेजों ने इन बागों को बड़े सस्ते मूल्य में भारतीय व्यापारियों को बेच दिया। इन नये मालिकों ने विनसर आने पर देखा कि संतरे के पेड़ों की 3–4 कतारों के पश्चात् उनके बीच एक कतार ऊँचे वृक्षों की भी है। अपनी व्यापारिक बुद्धि के अनुरूप उन्हें ये बड़े व ऊँचे वृक्ष तत्काल मुनाफा कमाने का स्रोत दिखाई पड़ने लगे और उन्होंने बिना सोचे समझे इन बड़े वृक्षों को काट कर बेच दिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि संतरों के अगले मौसम से ही फल उत्पादन में भारी कमी हो गई, क्योंकि अंग्रेजों ने ये बड़े वृक्ष संतरों के फूलों की सुरक्षा के लिये विन्ड ब्रेकर के उद्देश्य से स्थापित किये थे। इन भारतीय व्यापारियों ने विशेषज्ञ सलाह ली होती तो विनसर के संतरे आज भी उपलब्ध होते।

विनसर का उदाहरण पारिस्थितिक विज्ञान में वृक्षों के महत्व का एक छोटा अंश है। इस प्रकार के कई पहलू वृक्षारोपण से जुड़े हैं, जिनके महत्व को विशेषज्ञ ही जनसाधारण को समझा सकते हैं, क्योंकि जनता के सहयोग से ही वृक्षारोपण कार्यक्रमों को भारत में सफल बनाया जा सकता है। भारत सरकार अकेले इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित नहीं कर सकती है।

अब ऐसा लगने लगा है कि ग्रीन हाउस गैसों के अवशोषण के लिये वृक्ष एक सस्ता विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं। पर इनका सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये सभी भारतीय मूल के वृक्षों में निहित प्रदूषण नियंत्रक गुणों की जाँच–पड़ताल बृहत् रूप में करनी होगी।

भारत में अधिकतर लोग पैदल, बैलगाड़ी व साइकिल से यात्रा करते हैं और इस क्रिया में शारीरिक ऊर्जा नष्ट होने पर मानव व पशु दोनों को थकान लगती है। इस थकान को मिटाने के लिये व खोई ऊर्जा पुनःपूरण के लिये विश्राम करना आवश्यक है। इसके लिये सबसे अच्छा स्रोत है पेड़ की छाँव जो बिना खर्च किये सभी को प्राप्त होती है।

भारतीय थार रेगिस्तान में गर्मी के मौसम में खुले आसमान की कड़कती धूप में तापमान 50^0 सेन्टिग्रेड तक चढ़ जाता है लेकिन वहाँ स्थित पेड़ झाड़ियों की छाँव में तापमान $12–14^0$ सेन्टिग्रेड कम रहता है और इस सुविधा का लाभ वहाँ के सभी स्थायी नागरिक उठाते हैं। एक भूवैज्ञानिक होने के नाते लेखक को भी इस सुख की अनुभूति प्राप्त करने का सुअवसर वर्षों तक अपने फील्ड प्रवास के दौरान मिला। गर्मी के मौसम पूरी दोपहर इन वृक्षों की छाँव तले बिताने पर बिजली के पंखे का अभाव कभी नहीं खटका।

वृक्षों की छाँव का आर्थिक मूल्यांकन करना संभव नहीं है। पर वर्तमान भारतीय परिवेश में सड़कों के किनारे किनारे इनकी उपस्थिति एक अनिवार्यता है, विशेषकर भारतीय मूल के बड़े छतरी वृक्षों को लगाना, जिनके माध्यम से कई अन्य अप्रत्यक्ष लाभ भी हम प्राप्त कर सकते हैं।

लेकिन उल्लिखित सभी कार्यक्रमों को सफल बनाने में जनता का सहयोग बहुत आवश्यक है, क्योंकि सरकार अकेले कुछ नहीं कर सकती है। जैव–सम्पदा में समृद्ध लगभग सभी दक्षिणी देश गरीब हैं, जहाँ के निवासी स्वयं अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रहे हैं कि किस प्रकार जीवित रहा जाये। अकेले भारत में ही 40 करोड़ से ज्यादा नागरिक गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे हैं, वे पर्यावरण संरक्षण की ओर कैसे ध्यान लगा सकते हैं जबकि यह सर्वमान्य है कि 'भूखे पेट होय न भजन गोपाला।'

भारतीय नागरिकों को पर्यावरण संरक्षण चिन्तन की धारा से जोड़ने के लिये उनके मध्य शिक्षा प्रसार की आवश्यकता है। अर्थात् ऐसी शिक्षा, जो उनके व्यवहारिक ज्ञान में वृद्धि कर रोजगार प्राप्त करने में सहायक हो। भारत एक कृषि प्रधान देश है, इसलिये कृषि की उन्नत तकनीकों व जल–संभर–प्रबंध–कौशल का सामान्य प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने पर भारतीय किसान कृषि उत्पादन के साथ–साथ पूरे साल भर के लिये कृषि व्यवस्था स्थापित कर रोजगार वृद्धि में भी सहायक बनेंगे। इस प्रकार रोटी–कपड़ा–मकान की समस्या हल हो जाने पर भारतीय नागरिक स्वयं आगे बढ़कर पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रमों में हाथ बटाने लगेंगे क्योंकि भारतीय प्राचीन संस्कृति द्वारा उद्धरित इसके नियम–कायदे–कानून उसके अंतरमन में, विरासत के रूप में अंगीभूत हैं।

छवि निकुंज
रांची रोड़ पुरुलिया–723 101

चिकित्सालय अवशिष्ट के निपटान में बूढ़ी गाय का योगदान

डॉ० आर.सी. गुप्ता

शायद आपको अस्पताल के कचरे, बूढ़ी एवं दूध न देने वाली गाय, भूमि संवर्धन और पर्यावरण में कोई ताल–मेल न दिखाई पड़े तो आप सोचें कि ये किस तरह एक दूसरे के सहायक या पूरक हो सकते हैं। आज की, विशेषकर पूँजीवादी राष्ट्रों की नीति यही है कि "उपयोग करो और नष्ट करो" और साथ ही साथ "माँग भी बढ़ाओ" ताकि अधिक उत्पादन करके अधिक से अधिक कमाया जा सके। पर भारतीय परम्परा तो जीवन, समन्वय और सम्वर्धन पर ही आधारित है। हमारा शोधकार्य इसी पर आधारित है जिसे हमने इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिये शुरू किया– क्या बूढ़ी, दूध न देने वाली गाय, आर्थिक रूप से स्वावलम्बी है ? और इसी प्रश्न का उत्तर ढूँढते–ढूँढते हम यहाँ तक पहुँच गये हैं।

जब तक गाय दूध देती रहती है तब तक गो पालक उसे किसी प्रकार रखता है पर दूध न देने पर तो उसके पास उसे सीधे या अपरोक्ष रूप से निकाल देने या बेच देने के अलावा कोई चारा ही नहीं है। गाय जब दूध दे रही है तब भी वह नगरों और शहरों में प्रायः दूध निकालने के बाद आवारा घूमने के लिये छोड़ दी जाती है जो इधर–उधर कचरा, यहाँ तक कि प्लास्टिक की थैली खाकर अपना पेट भरती रहती हैं। जब दूध देने वाली गाय की यह दुर्दशा है तो दूध न देने वाली गाय का क्या होगा ?

गौशालाएँ भारत और नेपाल के अतिरिक्त किसी भी अन्य देश में नहीं हैं। आज के उन्नत देशों में तो गाय को दो कामों के लिये ही पाला जाता है और उन्हें उसी तरह माँस–गाय (बीफ काउ) या दूध–गाय (मिल्क काउ) के नाम से जाना जाता है। गाय ने जैसे ही दूध देना कम किया, उसे माँस निकालने के लिये भेज दिया जाता है। बहुत से भारत जैसे विकासशील देशों में तो गाय का माँस ही नहीं, बल्कि उसका खून, हड्डियाँ दवा बनाने तथा खुर और सींग जिलेटिन बनाने के काम आता है। भारत और नेपाल में अधिकतर गौशालाएँ आर्थिक तंगी में चल रही हैं। अगर अनुदान मिल गया तो इन गायों को चारा, भूँसा आदि दे दिया जाता है। पूरे भारत में लगभग 1000 गौशालाएँ होंगी। इनमें से काफी तो गौशालाएँ न होकर मठों या महन्तों की डेरी हैं– उन्नत किस्म की विलायती गायें, कूलर, पंखे की व्यवस्था और ढेरों दूध और साथ ही मठ, मन्दिर में उसका उपयोग। पर हम यहाँ उनकी बात न कर, बूढ़ी अपाहिज और दूध न देने वाली गायों की चर्चा कर रहे हैं। भारत में शायद चार–छः ही ऐसी गौशालाएँ हैं जो किसी चंदे या अनुदान पर न चलकर अपना खर्च खुद निकाल रही हैं और ऐसी एक गौशाला प्रयाग नगरी में भी है।

भारत सरकार ने 27 जुलाई 1998 को एक अध्यादेश जारी किया है जिसमें तुरन्त प्रभाव से अस्पतालों से निकलने वाले कूड़े कचरे या जीवचिकित्सा अवशिष्ट के प्रबन्ध और हस्तन के विषय में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं। यह कूड़ा कैसे उठाया जाये, कैसे विभाजित किया जाये, किस–किस तरह के थैलों, पेटियों आदि में भरा जाये और किस तरह जला कर भस्म किया जाये या फिर सूक्ष्म तरंगण या ऑटोक्लेविंग से निष्कृमित किया जाये। जहाँ तक सूक्ष्म तरंगण या माइक्रोवेविंग अथवा ऑटोक्लेविंग का प्रश्न है यह भारतवर्ष में अगले

25 वर्षों में भी नहीं हो सकेगा।

शायद आपमें से कुछ ही ने रसोई में प्रयोग होने वाले माइक्रोवेव को देखा होगा, उसकी लागत कितनी होती है, क्या–क्या बचाव या सावधानी रखनी पड़ती है और बिजली इत्यादि में कितना खर्च आता है ? शायद ही आपने सोचा होगा। जब यह किसी भी औसत भारतीय की सीमा से बाहर है और फिर जब इतने छोटे माइक्रोवेव पर इतनी परेशानी है तो अस्पताल के कूड़े कचरे के लिये इसे प्रयोग करना असम्भव सा है और यही बात ऑटोक्लेविंग की भी है। शायद आपमें से कुछ लोगों ने शल्य–क्रिया में प्रयोग होने वाले उपकरणों और कपड़ों इत्यादि को निष्क्रमण करने वाले यंत्र को देखा होगा। इसी से आप अनुमान लगा सकते है कि ऑटोक्लेविंग भारत के जीवचिकित्सा अवशिष्ट के लिये अगले कुछ वर्षों तक उपयुक्त नहीं हो सकता।

अतः यह सत्य है कि चिकित्सालय के अवशिष्ट का निस्तारण करने के लिये केवल भस्मक या इनसिनरेटर ही रह जाता है। विश्व के अधिकांश उन्नत देशों में अस्पतालों का कचरा जीवचिकित्सा अवशिष्ट ही नहीं, नगर निकायों का कचरा भी इसी विधि से नष्ट किया जाता है। इस प्रकार के भस्मक भारत के कुछ ही बड़े अस्पतालों में अभी तक लगे हैं और उनमें से अधिकांश सुचारु रूप से कार्य नहीं कर रहे हैं। इसके कई कारण हैं– पहला तो इनकी लागत बहुत ही अधिक है– 500 शैया वाला चिकित्सालय, जो लगभग 1 टन कचरा रोज पैदा करेगा, उसका 10.50 प्रतिशत ही संक्रमित है और उसको नष्ट करने वाले भस्मक की लागत लगभग 20–25 लाख रुपया है। और फिर इस भस्मक में 900° से लेकर 1200° से0 ताप पैदा करने के लिये 50–60 के0वी0 लगातार बिजली चाहिये क्योंकि किसी भी समय बिजली फेल होने पर, जोकि हमारे यहाँ प्रायः होता है– भस्मक का ताप कम होने पर कई प्रकार की विषैली गैसें पैदा होती हैं जिससे भस्मक के पास रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। अगर बिजली खर्च नहीं करनी है तो आपको अच्छे प्रकार के फ्यूल आयल या डीजल का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अपने यहाँ तो शायद विश्व का सबसे अधिक दूषित और सीसे और सल्फर से भरा डीजल मिलता है और साथ ही अगर किसी कर्मचारी ने किसी भी कारण फ्यूल आयल या डीजल का कम प्रयोग किया (जिसकी संभावना काफी अधिक है) तो फिर पर्यावरण के और अधिक दूषित होने में अधिक समय नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त इस भस्मक में जाने वाला कूड़ा सूखा होना चाहिये, जो हमारे यहाँ नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कचरे को भी दक्ष लोगों द्वारा अलग अलग छाँटना है। यह सही है कि भस्मक चलाने के लिये अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं होती है लेकिन जो होंगे वे दक्ष कर्मचारी ही होंगे, जिनकी तनख्वाह आदि पर ही अन्य अकुशल कर्मचारियों से अधिक खर्चा आयेगा।

अब मान भी लिया जाये कि जीवचिकित्सा अवशिष्ट का पृथक्करण, पैकेजिंग, परिवहन और भस्मन भी ठीक प्रकार से होगा और भस्मक भी पूरी दक्षता से काम करेगा, कोई विषैली गैस भी नहीं निकलेगी पर जो राख बचेगी, उसका क्या किया जाये ? अस्पताल के भस्मक से निकलने वाली राख, अन्य राख से अधिक विषैली और हानिकारक है अतः इसके लिये इस राख को नगर से दूर किसी विशेष गहरे गड्ढे में भी भरना चाहिये। अतः यह स्पष्ट है कि हमारी सरकार ने कानून तो बना दिया लेकिन क्या हम उसका पूरा पालन कर पायेंगे या फिर यह कानून भी अन्य कानूनों की तरह पालन से अधिक तोड़ने या मरोड़ने के लिये ही होगा ?

हमारा प्रयोग

अब आइये, अस्पताल के कचरे के निस्तारण के बारे में इस नई पद्धति पर विचार करें। अस्पतालों और नर्सिंग होम से निकलने वाले कचरे को गोबर की स्लरी (गोबर गैस प्लान्ट से निकलने वाला अवशेष) में मिलाकर कम्पोस्ट किया जाता है। इसका सबसे बड़ा लाभ है कि इस प्रकार खाद बनाने में कोई गंध नहीं आती है। इसी प्रकार प्रतिदिन अस्पताल से निकलने वाले कचरे के ऊपर स्लरी की 3 सेमी0 ऊँची एक परत डाल दी जाती है और जब यह 1 से अधिक मीटर ऊँची हो जाये तो उसे मिट्टी से पाट दिया जाता है और ऋतु के अनुसार उस पर विषैले और औषधीय पौधों के

बीज डाल दिये जाते हैं और कुछ ही दिनों में वे उग आते हैं। 4–6 महीने पश्चात् यदि इसे खोद कर छान लिया जाये तो इसके दो भाग हो जायेंगे। एक बड़ा भाग, बहुत अच्छी, पकी प्राकृतिक खाद और दूसरा वह भाग जो नष्ट नहीं हो सकता जैसे प्लास्टिक, सीसा, लोहा, काँच, कील, लकड़ी इत्यादि। खाद तो बड़ी अच्छी होगी ही और बाकी बची प्लास्टिक इत्यादि कछार के गहरे गड्ढों को भरने के काम आ जाती है। पूरे पूरे खेतों में प्लास्टिक होने की जगह इसे एक छोटे गहरे स्थान पर इकट्ठा करना ही ठीक होगा। क्या यह सोचना ठीक नहीं होगा कि पृथ्वी में बड़े अस्पताल के कचरे के विषैले पदार्थ पेड़ पौधों द्वारा उपयोग किये जाते होंगे और जो बचता है वह बढ़िया और उन्नत जीवन खाद ही होगी। आखिर गाय का गोबर तो गाय से ही आयेगा और कचरा उत्पादन करने वाले अस्पताल और नर्सिंग होम भस्मक की लागत और खर्चे पर आने वाले व्यय से कम और जीवन्त प्रक्रिया पर उससे भी कम खर्च क्यों न करना चाहेंगे ?

यह प्रयोग करने में हमें कुछ समय लगा, पर साथ ही यह देखा गया कि लाभ की स्थिति आने पर इस विधि का प्रयोग हम ही नहीं कर रहे हैं। जब हमने अपने खेत में हर साल 2–3 फसलें उगा दीं तो हमारे पास–पड़ोस के अन्य किसानों ने भी हमारी खाद का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया और अब वे भी एक फसल की जगह तीन फसलें उगा रहे हैं। आज के भारत में शायद किसान अब टी0वी0 रेडियो या भाषण की बात नहीं सुनना चाहता। शायद उसे लगता है कि 52 वर्षों से यही तो होता आ रहा है पर अगर वह लाभ होते स्वयं देख लेता है तो उसका अनुसरण करने में उसे देर नहीं लगती। 2 वर्ष पूर्व हमने अपनी खाद मुफ्त देने की बात कही थी लेकिन किसी ने नहीं ली पर आज वे मूल्य देने को तैयार हैं। अभी कार्य चल रहा है और हमारा ऐसा मानना है कि कुछ ही समय में हम ऐसी संतुलित खाद बना सकेंगे जिसमें गोबर की खाद तथा कुछ भाग यूरिया, डी0ए0पी0 और फास्फेट का होगा, जो जमीन की आवश्यकता और फसल पर निर्भर होगा। शायद यह मनुष्यों के प्रयोग में आने वाले मल्टी–विटामिन टॉनिक की तरह भूमि का टॉनिक होगा और अगर यह ठीक बन सकता है, उपज बढ़ा सकता है, भूमि का संवर्धन कर सकता है तो किसान को उसका उचित मूल्य देने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।

एक बात और मेरे विचार में आती है कि गाय का गोबर विषाणुनाशक है। गाँव के कच्चे घरों में गाय का गोबर ही फर्श लीपने के काम में आता है। कहीं पर हाथी, घोड़े की लीद से फर्श लीपने की बात नहीं कही गई है। हजारों वर्षों से हमारे यहाँ हर घटना या वस्तु के ऊपर विशद विश्लेषण और लॉजिक प्रयोग की गई थी और उसे धर्म, अधर्म से जोड़ दिया गया था। हमारे ग्रन्थों और मान्यताओं में कहीं नहीं कहा गया है कि राजा के यहाँ हाथी, क्षत्रिय के यहाँ घोड़े के मल से लिपाई होगी। आखिर गाय के गोबर में कुछ तो विशेष बात होगी ही !

यह सत्य है कि गाय का गोबर ही अपनी विशेषताओं के कारण यहाँ फर्श, दीवार, पूजाघर आदि लीपने के काम आता है। वे तत्व क्या हैं ? गौ ब्रह्म क्षेत्र, छतनाग रोड, झूँसी, इलाहाबाद में पिछले सात वर्षों से प्रयोग चल रहे हैं और 70–75 बूढ़ी गायों की सेवा करने वाली गौशाला अपने पैरों पर खड़ी हुई है।

आइये हम आप भी देखें, समझें और देश की समस्त गौशालाओं को आत्मनिर्भर ही नहीं लाभप्रद भी बना दें।

78, टैगोर टाउन
इलाहाबाद–211 002

तापमान में वृद्धि का अन्तर्राष्ट्रीय दुष्प्रभाव

डॉ० शुभंकर बनर्जी

एक ओर जहाँ आधुनिकता की ओर हमारा कदम निरंतर बढ़ता ही जा रहा है वहीं दूसरी ओर पर्यावरण की बिगड़ती हुई परिस्थिति से निपटने के कारण मानव सभ्यता ही खतरे में पहुँच गई है। इस संकट से निपटने के लिये जापान के शहर क्योटो में दसदिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन वर्ष 1998 में किया गया था। इस सम्मेलन में 160 देशों ने भाग लिया था। परंतु प्रारम्भिक तौर पर विकसित तथा विकासशील देशों में स्पष्ट मतभेद उभर कर सामने आया किन्तु बाद में यूरोपीय संघ तथा विकासशील देशों के सकारात्मक प्रयासों से ही समझौता पूरा हो सका। दरअसल अमेरिकी नीति तो इस परिप्रेक्ष्य में मोटे तौर पर यही थी कि 'ग्रीन हाउस गैसों' की कटौती में विकासशील देशों की भागीदारी ही सर्वाधिक हो।

त्रासदी की बात यह है कि पर्यावरण के इस संवेदनशील मसले पर भी औद्योगिक देशों का रवैया प्रतिकूल ही है। प्रश्न उठता है कि क्या पृथ्वी के विनाश के दुष्परिणामों से वे भी बच पायेंगे ? क्या इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट का सामना उन्हें भी करना पड़ेगा ? यह एक तथ्यपूर्ण बात है कि 21 औद्योगिक देशों की जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या का 20वां भाग है परंतु ये देश 80 प्रतिशत कार्बन डाइआक्साइड वायुमण्डल में छोड़ते हैं जिनमें अमेरिका का योगदान सर्वाधिक है। अमेरिका इस प्राणघातक गैस का लगभग 25 प्रतिशत पर्यावरण में छोड़ता है जबकि सत्य तो यह भी है कि पृथ्वी के तापमान की वृद्धि की सीमा पार होने का प्रतिकूल प्रभाव पूरे विश्प पर पड़ेगा।

पृथ्वी को पर्यावरणीय संकट से बचाने के लिये विश्वभर के पर्यावरणविदों, पर्यावरण कार्यकर्त्ताओं तथा बुद्धिजीवियों ने एक आम सहमति बनाने की दिशा में प्रयास आरंभ कर दिया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पर्यावरण वैज्ञानिकों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'इंटर गवर्नमेण्ट पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज' ने चेतावनी दी है कि विश्व के तापमान में निरंतर वृद्धि के कारण सन् 2030 तक विश्व में समुद्र के जल–स्तर में 20 सेमी0 की बढ़ोत्तरी की आशंका है। यदि वाकई ऐसी परिस्थिति बन जाती है तो उसके दुष्परिणामस्वरूप लगभग 3000 प्रशांत प्रवालद्वीप पूरी तरह से नष्ट हो सकते हैं। साथ ही हिन्द महासागर तथा कैरीबियन सागर के अनेक द्वीप भी जलमग्न हो सकते हैं।

इतना ही नहीं, समुद्र के जल स्तर में वृद्धि के कारण न केवल लघु द्वीप जलमग्न होंगे बल्कि समुद्र से दूर बसे देशों में भी विनाश लीला की आशंका उत्पन्न हो जायेगी। तब समुद्री जल का प्रवाह सतह की ओर होने से विश्व के कई भागों में भूमि जल की आपूर्ति भी प्रदूषित हो जायेगी। साथ ही उपजाऊ भूमि पर खारे पानी के प्रवेश से भूमि की उर्वरा शक्ति में भी स्वतः कमी हो जायेगी। इसके अलावा उष्णकटिबंधीय रोगों का संक्रमण भी बढ़ेगा। मौसम में आ रहे इन परिवर्तनों के कारण विश्वभर में कहीं सूखा तो कहीं बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। संभवतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शरणार्थियों की समस्यायें भी सामने उभर कर आ सकती हैं।

सबसे भयावह बात तो यह है कि जलवायु परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभाव के कारण पूरे विश्व में ही प्राणघातक रोगों का संक्रमण जारी रहेगा जिसका सर्वाधिक शिकार विकासशील देशों के लोग ही होंगे। वातावरण में विभिन्न ग्रीन हाउस गैसों (जैसे– सी.एफ. सी., मीथेन, कार्बनडाइआक्साइड, नाइट्रस आक्साइड इत्यादि) की मात्रा निरंतर बढ़ रही है जिससे रोगों के फैलने की आशंका बनी रहेगी। साथ ही रोग फैलाने

वाले कीटाणुओं तथा जीवाणुओं की संख्या में भी बढ़ोत्तरी होगी। इस परिप्रेक्ष्य में 'ग्रीनपीस' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने अपनी एक रिपोर्ट में बताया है कि तापमान वृद्धि के कारण अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, चीन, बांग्लादेश तथा मिस्र जैसे देशों में मलेरिया फैलाने वाले मच्छरों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि होगी। दूसरी ओर आस्ट्रेलिया के स्वास्थ्य अधिकारियों की भी राय है कि 1970 के बाद आस्ट्रेलिया में मलेरिया के संक्रमण होने के मामले में चारगुनी वृद्धि हुई है। संभवतः तापमान में वृद्धि होने के कारण ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है।

इस परिप्रेक्ष्य में क्रिस्टैन डेनकर (ब्रिटेन के प्रसिद्ध पर्यावरणविद्) का यह मत है कि ततैयों तथा तिलचट्टों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। दूसरी ओर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के उपनिदेशक (मेडिकल टेक्नोलॉजी सेवा) इयान बर्जीस ने भी चेतावनी दी है कि पश्चिमी फ्रांस तथा भूमध्य सागर के आसपास लेसमीनिया इनफेटम नामक रोग फैल रहा है जिसके लिये मुख्य रूप से एक प्रकार की मक्खी ही उत्तरदायी है। इस रोग का उपचार सही समय पर न करने से यकृत तथा प्लीहा बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप मृत्यु तक हो सकती है। इस प्रकार सन् 2050 तक जब धरती का तापमान 16 से 19 डिग्री सेल्सियस तक पहुँच जायेगा तो कुछ विशेष तरह के रोगों (जैसे– मलेरिया, दमा, तपेदिक, कुष्ठ, डेंगु ज्वर, पीला ज्वर, खसरा, कालाजार, सूखा रोग, मस्तिष्क ज्वर इत्यादि) में कई गुनी वृद्धि होने की आशंका बन जायेगी। स्पष्ट है कि पृथ्वी के तापमान में ग्रीनहाउस गैसों के कारण ही वृद्धि हो रही है जिसमें से कार्बनडाइआक्साइड की भूमिका ही सबसे भयंकर होती है।

कोयले, पेट्रोलियम पदार्थ तथा अन्य पदार्थों के जलने से ही ऐसी घातक गैसों की मात्रा में व्यापक वृद्धि हो रही है। विश्व के सभी नागरिकों की गतिविधियों के कारण प्रतिवर्ष 5.7 अरब टन कार्बनडाआक्साइड गैस वायुमण्डल में जमा होती रहती है। एक आकलन के अनुसार 1980 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में प्रति वर्ष 500 करोड़ टन कार्बन जलाया जाता है। यदि इस तरह की गति बनी रही तो आगामी 17 वर्षों में ही वातावरण में इतनी मात्रा में कार्बनडाइआक्साइड पहुँच जायेगी जितनी कि 1850–1950 की लम्बी अवधि में वायुमण्डल में पहुँची होगी। एक प्रयोग अवधि के अंतर्गत यह निष्कर्ष निकलता है कि एक टन कार्बन जलाने पर चार टन कार्बन डाइआक्साइड गैस निकलती है, वर्ष 1957 में 315 पी.पी.एम. कार्बनडाइआक्साइड की मात्रा वायुमण्डल में थी जो अब बढ़कर 350 पी.पी.एम. हो गई है। दरअसल ग्रीन हाउस गैस का अर्थ यह है कि कुछ विशेष गैसें ध रती के चारों ओर एक मोटा आवरण बना लेती हैं जिसके कारण पृथ्वी से सूर्य की गर्मी हटती नहीं है और एक औसत तापमान बना रहता है। ऐसा आकलन किया गया है कि प्रति दशक पृथ्वी का तापमान 0.3 डिग्री सेल्सियस बढ़ जाता है। यहाँ तक कि इन गैसों का उत्सर्जन पूरी तरह रोक देने पर भी 0.2 की दर से तापमान में वृद्धि जारी रहेगी। स्पष्टतः परिस्थिति पहले से ही बिगड़ चुकी है।

विडम्बना ही कहें कि इस अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के प्रति विकसित तथा धनी राष्ट्रों की भावना उपेक्षात्मक है। उदाहरणातः 1992 के रियो सम्मेलन में अमेरिका ने यह वादा तो किया था कि सन् 2000 तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को घटाकर 1990 के स्तर पर लायेगा परन्तु अब उसने वायदे को स्पष्ट रूप से मना कर दिया है। इसके अलावा भारत जैसे देशों पर ही यह आरोप लगता है कि जनसंख्या में वृद्धि होने तथा नष्ट होते जंगल के कारण ही वातावरण के तापमान में वृद्धि हो रही है।

वैसे तो यह बात भी स्वीकृत है कि क्योटो सम्मेलन के अंतर्गत 38 औद्योगिक देश सन् 2008 से 2012 तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कुल मिला कर 1990 के स्तर से भी 5.2 प्रतिशत की कटौती करेंगे जबकि वस्तुस्थिति तो यह है कि तापमान वृद्धि को देखते हुये यह समझौता भी अब अपर्याप्त है। औद्योगीकरण की अन्तर्राष्ट्रीय होड़ में इस समस्या के और विकट होने की भविष्यवाणी की जा सकती है।

विश्व के तमाम राष्ट्रों ने अपनी औद्योगिक क्षमता बढ़ाने हेतु दबे छिपे कोयले, पेट्रोल, डीजल आदि जलाने की गतिविधि धड़ल्ले से जारी रखी है।

शेष पृष्ठ 20 पर....

"गौर" संरक्षण का अभिनव प्रयास

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

बांदीपुर बाघ रिजर्व कर्नाटक राज्य के मैसूर जिले में स्थित है। 690 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले इस रिजर्व का मध्य क्षेत्र 335 वर्ग किलोमीटर है। वेणु गोपाल वन्य जीवन पार्क का अधिकांश क्षेत्र इसके अंतर्गत आता है। इस पार्क की विशेषता है "मैसूर डिच" जिसे मोयर नदी ने निर्मित किया है। यहाँ पर रोलिंग रॉक्स नाम से विख्यात एक और मनोरम स्थल है जहाँ बरसात के मौसम में उफनती केक्कानाल्ला नदी अपने तेज बहाव के साथ नीचे की ओर शिलाखण्ड लाती है। बांदीपुर गाँव के पवित्र मंदिर और किले की टूटती दीवारें जंगल की सैर के विशेष आकर्षण हैं।

हरे-भरे जंगल के कारण आमतौर से यहाँ का अधिकतम ताप 29° से0 और न्यूनतम ताप 17° से0 रहता है। अर्थात् यह न तो अधिक गर्म होता है और न ही अधिक ठंडा। वर्ष भर में दो बार जून से सितम्बर और अक्टूबर/नवम्बर में वर्षा होती है। इस प्रकार मौसम अधिकांशतः खुशनुमा रहता है।

यहाँ के जंगल में बाघ, चीता, मोर, चीतल, सांभर, भूँकने वाले हिरण, जंगली सुअर, जंगली कुत्ता, सियार, चूहा, हिरण, चौसिंगा, रीछ, लंगूर, धारीदार लकड़बग्घा, साही, ऊद्‌बिलाव, घड़ियाल, कछुवा, कोबरा, करैत, अजगर, वाइपर, जंगली उल्लू, चील, कठफोड़वा, तीतर, बटेर, चकोर आदि मिल जुल कर साथ साथ रहते हैं। ये सह-अस्तित्व का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार पर्यटकों के सैर-सपाटे के लिये यह बांदीपुर जहाँ एक ओर मनोरंजन का केन्द्र है वहीं विभिन्न प्रकार के पशु, पक्षियों, सरीसृपों के अतिरिक्त वृक्षों, झाड़ियों और विभिन्न प्रकार की घासों के अध्ययन के लिये प्रकृति की खुली किताब है।
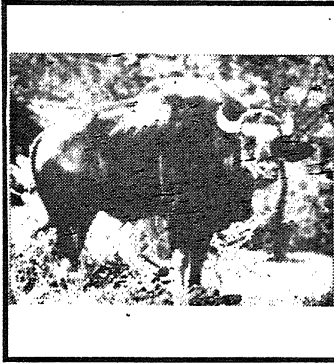
भारत के कुछ पुराने प्रकृतिविद् बांदीपुर के जंगल के साथ गौर या जंगली भैंसे (Bos Gaurus) का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं। यह समझ लेना अच्छा रहेगा कि इस जानवर का उल्लेख भारतीय गवल (बाइसन) नाम से किया गया है, जो ठीक नहीं है। यह प्राणी गो जातीय प्राणियों में सबसे बड़ा है। लगभग साढ़े छः फुट ऊँचे गौर का भार एक टन अथवा कुछ अधिक ही होता है। इसका रंग काला या भूरा होता है और पीठ पर एक कूबड़ सा उभरा हुआ दिखता है। कभी बांदीपुर के जंगल में गौर अत्यधिक संख्या में विचरण करते थे किन्तु अब इनकी संख्या इतनी कम हो गई है कि गौर विलुप्तप्राय जानवरों की सूची में शामिल हो गया है।

हुआ यह कि 1968 में पालतू मवेशियों के माध्यम से एक जानलेवा जीवाणुजनित पशु प्लेग रोग फैल गया। हजारों की संख्या में बांदीपुर मुदुमलाइ क्षेत्र के गौर इस रोग की चपेट में आ गये और काल के गाल में समा गये। इस रोग को और अधिक फैलने न देने के उद्‌देश्य से जंगल के अधिकारियों ने शवों को जला दिया जबकि कुछ को आदिवासियों ने भोजन के रूप में इस्तेमाल कर लिया। फिर भी अनेक मृत गौर जलाये न जा सके और जंगल में यों ही सड़ते रहे, जिनके कंकाल बाद में भी अनेक स्थानों पर पाये जाते

रहे। ये कंकाल इस बात के मूक साक्षी थे कि गौरों की कितनी अधिक संख्या पोंकनी नामक संक्रामक रोग से नष्ट हो गई। किन्तु इस दुर्घटना से एक सीख यह मिली कि चराई के लिये उन्हीं पालतू पशुओं को जंगल में प्रवेश करने देना चाहिये जिन्हें रोगरोधी टीके लगे हों।

गौर, हाथियों की भाँति, मौसम के अनुसार गाँव के आस–पास एकत्र होते हैं। वैसे इस संक्रामक पशु प्लेग रोग के पूर्व गौर अधिकांशतः पूरे वर्ष जंगल में ही विचरण करते थे। गौर बाँस के जंगल के लिये भली भाँति अनुकूलित थे। कभी बांदीपुर का जंगल बाँसों के लिये खासतौर से जाना जाता था, किन्तु बाँसों के कटने से भी गौरों की संख्या पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार गौर की लगातार कम होती संख्या को देखते हुये और जैव–प्रौद्योगिकी में नित नई उपलब्धियों के फलस्वरूप वैज्ञानिकों ने यह निश्चय किया कि क्यों न जीनियागरी (जेनेटिक इंजीनियरिंग) की सहायता से क्लोनन (क्लोनिंग) द्वारा गौर की विलुप्त होती प्रजाति को सुरक्षा प्रदान की जाये। इस संबंध में "डाउन टू अर्थ" (Down To Earth) नामक पत्रिका के 15 फरवरी 2001 अंक में प्रकाशित एक समाचार विशेष महत्व का है।

"एडवांस्ड सेल टेक्नोलॉजी" कम्पनी के अनुसंधानकर्ता फिलिप डामिआनी के हवाले से 'द न्यूयार्क टाइम्स' (The New York Times) के 13 जनवरी 2001 के अंक में एक सूचना प्रकाशित हुई– "गो कि हमने नोआ (Noah) को खो दिया, फिर भी यह बड़ी उपलब्धि है।"

अमेरिका के मैसाचुसेट्स स्थित वोरेस्टर एडवांस्ड सेल टेक्नोलॉजी नामक प्राइवेट कम्पनी के वैज्ञानिकों ने पहली बार किसी लुप्तप्राय जानवर की सूची में शामिल पूर्वी एशिया और भारत में पाये जाने वाले गौर का क्लोन बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। किन्तु दुर्भाग्यवश क्लोनित गौर नये जन्मे घातक पशु रोग (आन्त्रशोथ–क्लास्ट्रिडियल इन्टेराइटिस Clostridial enteritis) से ग्रस्त हो जाने के कारण बचाया न जा सका। यह रोग जीवाणुजनित रोग है। नोआ का क्लोन एक मृत नर गौर के ऊतकों से बनाया गया था। यह नर गौर 8 वर्ष पूर्व अमेरिका के सैन डियागो चिड़ियाघर (San Diago Zoo) में मर गया था किन्तु उसकी चमड़ी के ऊतकों को शीतलीकरण द्वारा लगातार सुरक्षित रख लिया गया था, इस आशय से कि कभी क्लोन तैयार किया जायेगा।

अनुसंधान दल ने सैकड़ों की संख्या में कोशिकाओं से उनके केन्द्रक निकालकर उन्हें खोखला कर लिया। फिर 40 भ्रूणों को पालतू मादा कोखों में पुनर्स्थापित किया गया। 40 में से 39 में असफलता मिली। मात्र एक गर्भाधान प्रयोग ही सफल रहा। नोआ का जन्म के समय भार 36 किलो था, जन्म के समय यह शिशु सामान्य था। किन्तु दामिआनी का मानना है कि वे लोग निराश नहीं हैं। उनके पास अभी भी शीतलीकृत ऊतक हैं। वे फिर से प्रयास करेंगे। उन्होंने आशा व्यक्त की है कि उनकी प्रारंभिक सफलता से लुप्तप्राय जानवरों के क्लोन तैयार करने का मार्ग प्रशस्त हो पाया है।

–पूर्व सम्पादक 'विज्ञान'

विज्ञान परिषद् की फैजाबाद शाखा का चुनाव (वार्षिक) 25 मार्च 2001 को सम्पन्न हुआ। इसमें कार्यकारिणी के निम्न सदस्य चुने गये :–

अध्यक्ष : डॉ0 यशवन्त सिंह — **उपाध्यक्ष : डॉ0 संतशरण मिश्र एवं सत्यदेव मिश्र**

प्रधानमंत्री : डॉ0 राजीवरंजन उपाध्याय — **कोषाध्यक्ष : डॉ0 श्रीमती सुमन मौर्य**

सदस्य : डॉ0 एम.के. शर्मा, डॉ0 हेमन्त कृष्ण नागर, डॉ0 भास्कर मिश्र, डॉ0 बी.एस. सिंह

सी० एफ० सी०: ओजोन क्षरण का मुख्य अभियुक्त

✍ अरुण कुमार पाण्डेय

हमारी जीवान–रक्षक ओजोन छतरी को आज स्वयं सुरक्षा की आवश्यकता है। मानव द्वारा उत्सर्जित कुछ रसायनों के कारण ओजोन–परत का तेजी से क्षरण हो रहा है। अमेरिकी अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्था "नासा" के ओजोन ट्रेण्ड पैनल के अनुसार 1992 में इस छिद्र का क्षेत्रफल अमेरिका के भौगोलिक क्षेत्रफल (2 करोड़ 30 लाख वर्ग किमी0) के बराबर था। वहीं अक्टूबर 1999 की रिपोर्ट कहती है कि कुछ स्थानों पर इसकी सान्द्रता शून्य हो चुकी है।

आज सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि ओजोन–क्षय के लिये मुख्य रूप से हैलोजनित गैसें उत्तरदायी हैं, जिनमें क्लोरोफ्लोरोकार्बन (सी0एफ0सी0) व मिथाइल ब्रोमाइड नामक गैसें प्रमुख हैं। इनमें से ओजोन का प्रमुख शत्रु है– सी0एफ0सी0 (यथा सी0एफ0सी0 11, 12, 113, 114 व 115)। चूँकि इसके उत्सर्जन के लिये हर आम आदमी उत्तरदायी है अतः हमें सी0एफ0सी0 के प्रयोग को कम करने के लिये ही सही, उसके विषय में जानना होगा।

सी0एफ0सी0 एक अक्रिय और स्थाई गैस है जो विषहीन और अज्वलनशील भी होती है। इन्हीं कारणों से इसे बनाना, इकट्‌ठा करना और प्रयोग करना अत्यन्त आसान होता है। क्लोरीनयुक्त सी0एफ0सी0 की खोज 1930 ई0 में एक अमेरिकी वैज्ञानिक थामस मिजले (जूनियर) ने एक शीतलक के रूप में की और सम्भवतः यही गैस पूरे विश्व में रेफ्रिजरेटरों व वातानुकूल यन्त्रों के क्षेत्र में आयी क्रान्ति का कारण बनी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय मलेरिया के विरुद्ध छेड़े गये अभियान में बड़े पैमाने पर इस गैस का प्रयोग किया गया। रेफ्रिजरेटर व वातनुकूलन यन्त्रों के अतिरिक्त इसका उपयोग सौन्दर्य प्रसाधनों, तैयार व डिब्बाबन्द खाद्य पदार्थों, फर्नीचर में फोम भरने और इन्सुलेशन में किया जाता है। अकेले सौन्दर्य प्रसाधनों में ही कुल सी0एफ0सी0 का 25 प्रतिशत हिस्सा प्रयोग होता है। इस गैस का अन्धाधुन्ध प्रयोग आजकल कम्प्यूटरों के क्षेत्र में भी हो रहा है, क्योंकि सी0एफ0सी0 कम्पयूटर के कोमल विद्युत परिपथ की सफाई उसकी प्लास्टिक कवर को बिना कोई नुकसान पहुँचाये ही कर देते हैं।

आज विश्व भर में 24 से अधिक देश सी0एफ0सी0 के बड़े उत्पादक व उपभोक्ता हैं। समाजवादी विचारधारा वाले देशों के अतिरिक्त अन्य बड़े औद्योगिक देश प्रति वर्ष दस लाख टन सी0एफ0सी0 का उत्पादन और उपभोग करते हैं।

अकेले अमेरिका कुल उत्पादन का 29 प्रतिशत हिस्सा प्रयोग करता है जबकि भारत और चीन दोनों मिलकर भी मात्र 2 प्रतिशत सी0एफ0सी0 प्रयोग करते हैं। सर्वाधिक चिन्ता का विषय यह है कि सी0एफ0सी0 की वायुमण्डलीय सान्द्रता 13–28 प्रतिशत की तीव्र दर से बढ़ती जा रही है।

धरातल पर जो सी0एफ0सी0 अपने स्थायित्व व अन्य गुणों के कारण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है, वही धरातल से लगभग 50 किमी0 वायुमण्डल के स्ट्रेटोस्फियर क्षेत्र में स्थित ओजोन परत में छेद करके खलनायिका के रूप में कुख्यात हो गयी है। धरातल से मुक्त होकर स्ट्रेटोस्फियर तक की 50 किमी0 की यात्रा में सी0एफ0सी0 को लगभग 8 वर्ष लगते हैं, जहाँ यह लगभग सौ वर्ष सक्रिय बनी रहती है। सी0एफ0सी0 का क्लोरीन ओजोन के ऑक्सीजन से क्रिया कर उसे मुक्त कराता रहता है जिसे ओजोन क्षरण कहते हैं।

ओजोन–क्षरण के परिणामस्वरूप सूर्य की पराबैंगनी किरणों से पृथ्वी पर मानव व वनस्पतियों का

सीधा सामना होगा जिससे मानव के प्रतिरक्षा तन्त्र, शारीरिक व मानसिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, साथ ही साथ त्वचा कैंसर व मोतियाबिन्द के रोगियों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि होगी। पौधों में प्रकाश–संश्लेषण की क्रिया प्रभावित होगी जिससे पहले तो स्वयं वनस्पतियाँ और फिर समस्त प्राणी समूल नष्ट हो जायेंगे।

सन् 2000 तक सी0एफ0सी0 के प्रयोग में 50 प्रतिशत की कमी लाने के संकल्प के साथ कनाडा में मॉन्ट्रियल शहर में 16 सितम्बर 1987 को एक सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसे मॉण्ट्रियल प्रोटोकॉल के नाम से जानते हैं। इसी व्यवस्था के अंतर्गत भारत सन् 2000 से सन् 2001 के बीच सी0एफ0सी0 के प्रयोग में कमी लाने के लिये प्रतिवर्ष 820 लाख अमेरिकी डॉलर की सहायता प्राप्त कर सकेगा। इसी दिशा में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किये गये। परन्तु परिणाम वही ढाक के तीन पात। हालाँकि सी0एफ0सी0 के विकल्प के रूप में भारतीय रासायनिक संस्थान और राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला (पूना) ने एच0सी0एफ0सी0 (132 व 22) की खोज की है परन्तु इससे समस्या का स्थाई निदान सम्भव नहीं। हमें स्थाई हल ढूँढने होंगे। पृथ्वी पर जीवन के लिये सबसे बड़ी चिन्ता वाली बात यह समस्या तो हमारी दृढ़ इच्छाशक्ति से ही हल हो सकती है। पृथ्वी पर जीवन बचाने की चुनौती हमें स्वीकार करनी होगी, आखिर जीवन हमें ही तो जीना है।

परास्नातक
पर्यावरण विज्ञान
डॉ0 रा.म.लो. अवध वि.वि.
फैजाबाद

---

*पृष्ठ **16** का शेष*

दूसरी ओर सत्य तो यह है कि ओजोन परत का छीजना, जंगलों में आग लगने की घटनाओं में निरंतर वृद्धि के कारण उत्सर्जित हो रहे हानिकारक धुआँ कहर ढा रहे हैं। अतः इस परिस्थिति की उपेक्षा न करके तत्काल सचेत होकर समुचित कार्यवाही करने की आवश्यकता है, अर्थात् आगामी वर्षों में घातक गैसों के उत्सर्जन में कटौती आ जायेगी कहकर संतोष प्राप्त करने का समय अब नहीं रह गया है क्योंकि इसके कारण होने वाली क्षति के दुष्प्रभावों को तो पूरे विश्व को ही भुगतना पड़ेगा।

सचिव 'शांति मिशन'
ए–**46**, सादतापुर, करावल नगर रोड
दिल्ली – **110012**

विज्ञान परिषद् ने प्रौद्योगिकी दिवस मनाया

राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी दिवस के अवसर पर 11 मई 2001 को विज्ञान परिषद् में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव तथा संचालन डॉ० दिनेश मणि ने किया। इस अवसर पर वक्ताओं ने भारत की वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति पर विचार व्यक्त किये। गोष्ठी में डॉ० वी.के. ललोरिया, सर्वश्री उमेश शुक्ल, प्रमोद मिश्र, बलराम यादव, नरेन्द्र प्रताप, चन्द्रभान सिंह आदि उपस्थित थे।

पर्यावरण विज्ञान

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

कहा जाता है कि पर्यावरण विज्ञान में रसायन विज्ञान की अन्तःसलिला प्रवाहित हो रही है। यह काफी हद तक ठीक है। रासायनिक दृष्टि से पर्यावरण के विषय में काफी सूचना प्राप्त की जा चुकी है और पर्यावरण प्रदूषण के नियंत्रण पर काफी शोध कार्य किया जा चुका है। अब आवश्यकता है कि इस संचित ज्ञान को व्यवहार्य प्रौद्योगिकी के रूप में परिणत किया जाये। इसके लिये पारिस्थितिकी, विश्लेषण की गतिविधियों, प्रदूषकों के प्रभावों आदि के बारे में अधिकाधिक शोध एवं समझ की आवश्यकता है।

पर्यावरण एक अखिल भूमण्डलीय तथ्य है जो अत्यन्त जटिल है। स्वाभाविक है कि ऐसे तन्त्र को नियंत्रित करने के लिये विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अतिरिक्त विधि विज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति शास्त्र तथा अर्थशास्त्र को भी सम्मिलित किया जाये।

यह देखा जा चुका है कि वायु तथा जल के प्रदूषकों को कोई राजनीतिक सीमा स्वीकार्य नहीं। चाहे एक शहर से दूसरे शहर की यात्रा हो, या एक देश से दूसरे देश तक की यात्रा, उसके लिये मोटर, रेल, वायुयान का प्रयोग होता है। वे अपनी सीमा में तथा दूसरे की सीमा में वायु प्रदूषण फैलाते चलते हैं। इसी तरह विविध कम्पनियाँ एक ही समय में एक ही उत्पाद के लिये कई देशों में रासायनिक प्रदूषण उत्पन्न करती हैं। शहरी क्षेत्रों में व्याप्त प्रदूषण ग्रामीण क्षेत्रों के प्रदूषण से भिन्न प्रकार का होता है। स्थानीय कानूनों से स्थानीय प्रदूषण को नियंत्रित किया जा सकता है किन्तु व्यापक क्षेत्र के लिये व्यापक नियम बनाने होंगे।

यह ज्ञात तथ्य है कि केवल वाहनों से निकलने वाले धुयें को नियंत्रित करने में करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। जल प्रदूषण को, विशेषतया नदी जल प्रदूषण को, रोकने के लिये व्यापक योजना बनानी होगी। ठोस अपशिष्टों के निपटान के लिये नगर निगम प्रयत्नशील तो हैं किन्तु आधुनिक प्रौद्योगिकी का खर्च वहन कर पाने में असमर्थ हैं। वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों का प्रयास यही है कि ठोस अपशिष्टों का पुनर्चक्रण लाभ सहित किया जा सके। प्रत्येक दशा में प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिये जो भी व्यय किया जायेगा, उसका बोझा नागरिकों के ऊपर टैक्स रूप में पड़ना है। प्रश्न किया जा सकता है कि पर्यावरण नियंत्रण पर इतना अधिक खर्च क्यों किया जाये ? इसका उत्तर यही है कि ऐसे खर्च से कई प्रकार के लाभ मिल सकेंगे।

1. अच्छा स्वास्थ्य लाभ हो सकेगा क्योंकि पर्यावरण सुरक्षा से अच्छे वातावरण का सीधा सम्बन्ध है।
2. संक्षारण घटेगा जिससे घरों की रँगी चुँगी दीवालें, दरवाजे आदि अधिक काल तक चमक बनायें रख सकेंगे और धातु की वस्तुयें तथा बिजली के उपकरण अधिक समय तक सुरक्षित रह सकेंगे।
3. हमारी नदियाँ स्वच्छ बनी रह सकेंगी।
4. सड़कों पर चलते समय आँखों में धूल नहीं पड़ेगी, सूंघने को बदबू नहीं मिलेगी और वृक्षों की हरियाली बनी रहेगी।

यद्यपि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता और स्वच्छ पर्यावरण का साथ साथ चल पाना कठिन है किन्तु पर्यावरण नियंत्रण के लिये प्रयत्नशील रहना ही होगा। दुर्भाग्यवश प्रदूषकों का जीवित प्रणाली पर जिस तरह का दीर्घकालीन प्रभाव पड़ सकता है, उसके विषय में हमारा ज्ञान अभी भी प्रारम्भिक अवस्था में है। यही नहीं, पर्यावरण के मानिटरन, नियंत्रण तथा अध्ययन के लिये जो रासायनिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं, वे उतनी संवेदनशील नहीं हैं जितनी कि उन्हें होना चाहिये।

इससे भी बड़ी दिक्कत हमारे साथ शब्दावली को लेकर है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं Contamination एवं Pollution। इन दोनों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। Contamination के लिये हिन्दी में संदूषण और Pollution के लिये प्रदूषण प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः संदूषण प्रारम्भिक अवस्था है प्रदूषण की। प्रदूषण वह अवस्था है जिसमें कोई संदूषक अधिक सान्द्रता में संचित होकर पर्यावरण को प्रभावित करता है। हमारे पूर्वजों का प्रदूषण से साक्षात्कार इसलिये नहीं हो पाया था क्योंकि वे संदूषकों को हानिकारक मानते थे। उन्हें प्राकृतिक पर्यावरण उपलब्ध था। यज्ञ होम की अग्नि का धुआँ उन्हें पवित्र लगता था। पर्वतों को काटकर निकलने वाले झरने और नदियों का जल उन्हें शुद्ध लगता था। कारण कि तब संदूषक थे, प्रदूषक नहीं। संदूषकों की मात्रा कम थी। यह तो औद्योगीकरण और जनसंख्या वृद्धि है जिसके कारण प्रदूषण का जन्म हुआ है। वस्तुतः पर्यावरण कभी भी स्वच्छ नहीं रहा। मनुष्य मात्र की उपस्थिति उसे दूषित करने में पर्याप्त है। *

वन्य जीव संरक्षण क्यों ?

डॉ० रमेश बाबू

मनुष्य की तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये भोजन व अन्य आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति के लिये पारिस्थितिकी नियमों द्वारा वातावरण एवं प्राकृतिक साधनों का संरक्षण अति आवश्यक है। मानव ने प्राकृतिक महत्व को पूर्णतया न समझ पाने के कारण जंगलों को व्यर्थ में काटकर आवश्यकता से अधिक प्राणियों की हत्या करके और मछलियों के प्राकृतिक स्रोतों को नष्ट करके अपनी प्राकृतिक सम्पदा को नुकसान पहुँचाया है। जंगलों से वन्य जीव दिन–प्रतिदिन लुप्त होते चले जा रहे हैं, जिनका संरक्षण करना हम सब का कर्तव्य है।

वन्य जीव का तात्पर्य विशेष रूप से उन पशु–पक्षियों से है जो शहर से दूर घने जंगलों में प्रकृति के अंचल में बसते हैं और स्वतन्त्र रूप से जीते हैं। इनका संरक्षण हमें क्यों करना चाहिये इसके मुख्य पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

1. ये प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखते हैं-

वन्य प्राणी प्रकृति में पारिस्थितिक सन्तुलन बनाये रखते हैं। एक बार भी यह सन्तुलन बिगड़ जाय तो सीधे मानव जाति को प्रभावित करता है, इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :

- यदि शिकारी वन्य प्राणियों को नष्ट कर दिया जाये तो शाकाहारी प्राणियों की संख्या में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि वे जंगल में पेड़–पौधों को नुकसान पहुँचायेंगे और उनकी संख्या कम होने पर ये जानवर खेतों में पहुँचकर किसान की खड़ी फसलों को नुकसान पहुँचाने लगेंगे, जिनसे अनाज बहुत कम पैदा होगा, और इसका सीधा परिणाम होगा मनुष्यों को भोजन का अभाव। साथ ही बीमारी फैलाने वाले कीटों की संख्या में वृद्धि के कारण मनुष्यों में अनेकानेक रोग फैल जायेंगे। इन सबका मिश्रित परिणाम मानव जाति के लिये हानिकारक होगा।
- मनुष्य ने साँप से डरने के कारण साँपों को बड़ी संख्या में नष्ट कर दिया। अधिकतर साँप चूहे खाते हैं जिससे उनकी संख्या पर नियंत्रण रखते हैं। साँपों के कम होने से चूहों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह पायेगा, इनके संख्या में बढ़ने से दो प्रकार से मनुष्यों को हानि पहुँचती है। चूहे खेतों में कोमल पौधों की जड़ों को कुतरकर पौधों को नष्ट कर देंगे और भण्डारों में संचित अनाज को भी खाकर नष्ट करेंगे। सामान्यावस्था में चूहे कुल अनाज का 20–25 प्रतिशत खा जाते हैं। संख्या में बढ़ने पर तो इनके द्वारा किये गये नुकसान का अनुमान लगाना भी कठिन हो जायेगा। परिणाम होगा अकाल और मनुष्य भूखों मरेंगे। साथ ही चूहे प्लेग भी फैलाते हैं, अतः पारिस्थितिक तन्त्र में प्रत्येक जीव का अपने आस–पास के जीवों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।
- चमगादड़ कीटों को खाकर मनुष्य के खेतों की रक्षा करते हैं। अनुमान है कि एक चमगादड़ एक सप्ताह में लगभग एक किग्रा0 कीट खा जाता है। फल खाने वाले चमगादड़ बीजों के वितरण में बड़ी मदद करते हैं।
- इण्डोनेशिया के सुमात्रा द्वीप से नारियल के तेल का निर्यात होता है, इसके लिये वहाँ के जंगलों में बाघों को अंधाधुंध मारा जाने लगा। बाघों के कम होने पर शाकाहारी जंगली शूकरों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उन्होंने नारियल के वृक्षों को नष्ट करना शुरू कर दिया, और इस प्रकार उस द्वीप की आर्थिक स्थिति को प्रभावित किया।

अतः मानव जाति को अपनी आर्थिक, भौतिक एवं शारीरिक सुविधाओं को बनाये रखने के लिये पारिस्थितिक सन्तुलन बनाये रखना अति आवश्यक है

और उनके लिये वन्य प्राणियों की सुरक्षा भी अति आवश्यक है।

2. ये अपमार्जक का कार्य करके पर्यावरण को स्वच्छ बनाते हैं–

सुअर, हायना, गीदड़, गिद्ध, कौवे तथा क्रोच आदि वन्य प्राणी सड़े गले पदार्थों या मृतक जीवों को खाकर प्राकृतिक रूप से सफाई बनाये रखते हैं। बुलबुल, तोता और कई प्रकार के पक्षी पेड़ों से गिरने वाले फूल, फल और पत्तियाँ आदि उठा ले जाते हैं, और इस प्रकार वनों की सफाई में योगदान देकर पर्यावरण को स्वच्छ बनाते हैं।

3. ये भोजन प्रदान करते हैं–

अनेक वन्य जीव प्रोटीन युक्त मांस देते हैं, जैसे खरगोश, हिरन, सुअर, भेड़, बकरी, तीतर, चिकोर, मछली, केकड़ा, झींगा आदि। इससे अन्न की कमी की पूर्ति होती है।

4. ये आर्थिक समृद्धि के भण्डार हैं–

वन्य प्राणियों से मनुष्य को निम्न आर्थिक लाभ हैं :

- हाथी के दाँतों से, कुछ स्तनधारियों के सींगों व खुरों से खिलौने और अनेक आकर्षक सजावट के सामान बनाये जाते हैं।
- भेड़ों की त्वचा से ऊन और गाय, भैंस की त्वचा से चमड़ा तैयार किया जाता है, जिससे जूते, पेटियाँ, पर्स, अटैचियाँ आदि तैयार की जाती हैं।
- ऊँट, सुअर, शेर, चीता, भालू आदि वन्य प्राणियों को प्रशिक्षित करके सर्कस में काम में लाकर धन भी कमाया जाता है।
- वन्य प्राणियों को संरक्षण प्रदान करके या उनको चिड़ियाघरों में रखकर देश–विदेश के लोगों से मुद्रा कमाने का एक साधन है। हमारे देश के आकर्षक वन्य प्राणी (पशु पक्षी) विदेशियों को आकर्षित करते हैं, जिनसे देश को विदेशी मुद्रा का लाभ होता है।

5. वन्य जीव पूज्य होते हैं–

भारत विभिन्न धर्मों का देश है जहाँ अनेक त्योहार एवं पर्व मनाये जाते हैं। इनमें से अधिकतर में से किसी न किसी वन्य जीव की पूजा की जाती है। जैसे नाग पंचमी पर नाग देवता, दशहरा पर अश्व, दीपावली पर गोवर्धन पूजा (गोवंश), शिव रात्रि पर नन्दी पूजन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

हमारी पौराणिक कथाओं में पशु पक्षियों की पूजा का विवरण मिलता है। पुराणों में शेर को दुर्गा का, गरुड़ को विष्णु का, हंस को सरस्वती का तथा नन्दी बैल को शिव का वाहन माना गया है, अतः इनको पूज्य स्थान दिया गया है। भगवान् कृष्ण का गायों के साथ स्नेह तो सर्वविदित है। भगवान् विष्णु को शेषनाग सर्प पर लेटे हुये दिखाया जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि वन्य जीव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, और इनकी अनेक क्षेत्रों में समतुल्य उपादेयता है, जो इस बात पर प्रभाव डालती है कि इनको नष्ट होने से बचाया जाना चाहिये और इनका संरक्षण मानव कल्याण हेतु आवश्यक है।

स्नातकोत्तर शिक्षक
(जीव विज्ञान)
जवाहर नवोदय विद्यालय
जिला–महेन्द्रगढ़ (हरियाणा) – 123027

दिलीप भाटिया 'विज्ञान रत्न' से सम्मानित

राजस्थान परमाणु बिजलीघर के गुणवत्ता आश्वासन के वैज्ञानिक अधिकारी श्री दिलीप भाटिया को 18 अप्रैल 2001 को तारापुर परमाणु बिजलीघर में 'विज्ञान रत्न' से सम्मानित किया गया। इस तरह का सम्मान पाने वाले श्री भाटिया सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं। श्री भाटिया 'विज्ञान' के विशिष्ट लेखकों में से एक हैं। बधाइयाँ।

–सम्पादक

इस देश की पहचान है गंगा

प्रोफेसर वीरभद्र मिश्र

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिकी संस्थान में हाइड्रॉलिक इंजीनियरी के प्रोफेसर, श्री संकट मोचन मन्दिर के महन्त, संकट मोचन फाउंडेशन के अध्यक्ष, स्वच्छ गंगा अभियान के प्रणेता, तन-मन-धन से स्वच्छ गंगा सेवा से जुड़े प्रोफेसर वीरभद्र मिश्र कई राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मानों से विभूषित हैं। ग्लोबल ५०० एवार्ड (रियो में), टाइम्स भौगोलिक के हीरो आफ द प्लैनेट, मेवाड़ फाउन्डेशन राजस्थान के पर्यावरण उच्च पुरस्कार एवं यू०पी० रत्न सहित अन्य उपाधियों एवं पुरस्कारों के प्राप्तकर्ता, प्रोफेसर मिश्र नित्य गंगा स्नान करने वाले, गंगा के किनारे रचे बसे धर्म एवं विज्ञान के अद्भुत संगम, शास्त्रीय संगीत के पोषक तथा कर्म में अटूट आस्थावान महान व्यक्ति हैं। उनसे गंगा के सम्बन्ध में डॉ० अनूप कुमार मिश्र से हुई बेबाक वार्ता के अंश।

-सम्पादक

प्रश्न : गंगा के बारे में आपकी क्या धारणा है ?

प्रो० मिश्र : मैं गंगा को केवल देव नदी ही नहीं मानता वह हमारी माँ है। ब्रह्मद्रव है, जो स्वर्ग से सभी जीवों व प्राणियों को तारने के लिये आई हैं।

प्रश्न : वाराणसी व गंगा के सम्बन्ध के बारे में कुछ बतायेंगे ?

प्रो० मिश्र : देखिये, काशी एवं गंगा एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। यह कहा गया है कि Ganga is holy but becomes holier in Kashi मेरा यह मानना है कि काशी का दिव्य स्वरूप सदाशिव के साथ गंगा का जुड़ा रहना है। गंगा स्वयं को और भी पवित्र करने के लिये काशी में शिव के पास आई हैं।

प्रश्न : आप गंगा से किस तरह जुड़े हैं ?

प्रो० मिश्र : मेरा तो जन्म ही गंगा माँ की गोद में हुआ है (प्रो0 मिश्र का निवासस्थान गंगा तट पर गंगा जल स्पर्श करता रहता है) मैं सूर्योदय के पूर्व जागकर अपने शयन कक्ष से गंगा जी का दर्शन करता हूँ। प्रातः गंगा जी में स्नान कर पूजा व गायत्री जाप करने के पश्चात् मैं गंगा से अपने सुख दुख का निवेदन करता हूँ।

प्रश्न : आप हाइड्रोलिक इंजिनियर हैं और धर्म में आपकी अटूट आस्था है। यह किस तरह सम्भव है ?

प्रो० मिश्र : धर्म, आध्यात्मिक कला एवं आस्था गंगा का एक तट है और भौतिकता एवं विज्ञान दूसरा तट, दोनों के मध्य माँ गंगा निर्बाध गति से बह रही हैं। कोई एक तटबन्ध टूट जायेगा तो मानव संस्कृति के बिखराव के साथ मनुष्य भी टूट सकता है। गंगा की प्रदूषित दशा देखकर मेरा वैज्ञानिक मन गंगा जल के BOD, COD तथा FCC (बायोलॉजिक आक्सीजन डिमांड, केमिकल आक्सीजन डिमांड एवं फिस्कल कोलीफार्म काउंट) की जानकारी पाकर मुझे झकझोरता रहता है कि गंगा कितनी प्रदूषित हो रही हैं ? इसीलिये मैनें स्वच्छ गंगा अभियान चलाया और वैज्ञानिकों के एक समूह के साथ गंगा प्रयोगशाला की स्थापना करके गंगा का अध्ययन करता रहता हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि गंगा स्वच्छ रहे और मेरे जैसे लगभग 60,000 नित्यप्रति स्नानार्थियों का स्वास्थ्य ठीक रहे।

प्रश्न : वाराणसी में गंगा प्रदूषण किस रूप में है ?
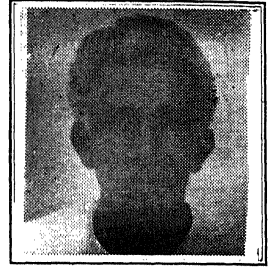
प्रो० मिश्र : काशी में गंगा जल प्रदूषण का सबसे बड़ा स्रोत नगर के मल जल का अनवरत गंगा में गिरना है। 50 करोड़ रुपये की सरकार द्वारा चलाई गई गंगा कार्य योजना के 7 वर्षों के पश्चात् भी नगर का मल जल बिना रोक टोक अभी भी गंगा में निरन्तर गिरता रहता है। एक फ्रांसीसी टीम ने एक्टिवेटेड स्लज ट्रीटमेन्ट प्लान्ट का सुझाव दिया था। इसका मैंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विरोध किया था। बाहरी देशों में कारगर होते हुये भी यह पद्धति यहाँ कारगर नहीं हो सकती है। जनता शाकाहारी है। इसके मल जल में 300 मिग्रा0 प्रतिलीटर BOD भी नहीं होती। अतः बायोगैस उत्पादन कम होगा और अनुपचारित मल जल पर्याप्त मात्रा में नहीं उपलब्ध होगा। किन्तु किसी की भी नहीं सुनी गई और बिना मर्ज़ परखे ही दवा दे दी गई। यह प्लान्ट खर्चीला होने के साथ–साथ असफल सिद्ध हो रहा है तथा अस्सी घाट एवं वरुणा के मध्य दर्जनों सीवर नाले गंगा में गिरते रहते हैं जिन्हें ऐसे ही देखा जा सकता है। प्रदूषण सम्बन्धी प्रयोगशाला की जाँच के परिणाम तो चौंकाने वाले हैं।

प्रश्न : आप गंगा को प्रदूषण मुक्त करने का कोई विकल्प दे सकते हैं ?

प्रो० मिश्र : मेरी सोच है कि प्राकृतिक प्रणाली पर आधारित आक्सीडेशन पांड प्रणाली कारगर सिद्ध होगी। बर्कले विश्वविद्यालय अमेरिका के डॉ0 टेली ग्रीन द्वारा बनाई गई AIWPS प्रणाली (Advanced Integrated Waste Pond System) मैंने स्वयं देखा है जो यहाँ सफल होगी। लगभग 7 किलोमीटर लम्बाई का एक इंटरसप्टर गंगा में बनाया जावे जो गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त पर आधारित रहे। समस्त सीवर नालों के जल को ले जाकर नगर के बाहर बालू में आक्सिडेशन पान्ड बनाकर उसमें डाला जाये। इससे मल जल प्राकृतिक ढंग से शुद्ध हो जायेगा और पर्यावरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा तथा लाखों रुपये की बिजली की बचत होगी। यह परियोजना नगर निगम तथा सरकार के पास लम्बित है।

प्रश्न : क्या इस कार्य प्रणाली पर सरकार को कोई आपत्ति है ?

प्रो० मिश्र : देखिये वाराणसी की लोकतांत्रिक तीसरे स्तर की संवैधानिक नगर संस्था नगर निगम यहाँ का प्रतिनिधित्व करती है जिसने बारम्बार इस बात को दोहराया है कि ऐसी योजना बने जिससे गंगा में एक बूँद भी मल जल न गिरे। अतएव नगर–निगम और स्वच्छ गंगा अभियान की ओर से एक योजना सरकार के पास पड़ी है तथा जल निगम की अपनी एक कार्य योजना का सुझाव है जो मल जल के गंगा में न गिरने की गारंटी नहीं देता। दोनों योजनायें सरकार के पास पड़ी हैं। मेरा सुझाव है कि सरकार पारदर्शिता के लिये दोनों सुझाई गई योजनाओं पर बहस कराकर निर्णय ले।

प्रश्न : क्या मल जल ही प्रमुख प्रदूषक है ?

प्रो० मिश्र : लगभग 80 प्रतिशत प्रदूषण मल जल से है जिसे हम प्वाइंट प्रदूषण कहते हैं। शेष 20 प्रतिशत नान प्वाइंट प्रदूषण में शवों को गंगा में बहाना, माला फूल फेंकना, साबुन तेल का गंगा में प्रयोग करना आदि हैं जिसे जनता को समझा बुझाकर रोकना सम्भव है। पहले 80 प्रतिशत कारण तो हटे।

प्रश्न : भविष्य में आपका क्या कदम होगा, कि गंगा निर्मल बने ?

प्रो० मिश्र : देखिये, यदि गंगा काशी में निर्मल नहीं हो पाई तो फिर कोई क्यों यहाँ आना चाहेगा। तब यहाँ कोई जीवन नहीं होगा। कोई पर्यटक नहीं होगा। हम काशी की इस नदी को एक मॉडल के रूप में विकसित करना चाहते हैं। प्रथम चरण के गंगा कार्य योजना की असफलता के बाद काशी में गंगा के साथ मजाक नहीं होना चाहिये। हम संघर्ष कर रहे हैं काशी में गंगा और काशी की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्परा को बचाने के लिये।

प्रस्तुति : डॉ० अनूप कुमार मिश्र
*मगध भवन, नगवा, वाराणसी-**211005***

गंगा : करोड़ों लोगों की जीवन धारा

डॉ० ब्रह्म दत्त त्रिपाठी

लगभग तीन दशकों से गंगा प्रदूषण सम्बन्धित शोधों से अनवरत जुड़े डॉ० त्रिपाठी पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने वाराणसी में गंगा प्रदूषण की आवाज़ उठाई थी। संसद में प्रश्न उठने के बाद तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय इन्दिरा गांधी एवं स्वर्गीय राजीव गांधी के प्रयास से गंगा प्राधिकरण बना। तभी से गंगा कार्य योजना का शुभारंभ हुआ। डॉ० त्रिपाठी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से एक प्रखर पर्यावरणविद् के रूप में जुड़े हैं। इन्होंने प्रशासन तथा उच्च्य न्यायालय को भी अपने विशिष्ट अनुभवों से सहायता पहुँचाई है। इस समय डॉ० त्रिपाठी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संचालित एम०एस०सी० पर्यावरण विषय के समन्वयक हैं। पर्यावरण प्रदूषण एवं नियमन सम्बन्धी शोधों एवं उपायों के विशेषज्ञ डॉ० त्रिपाठी को कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से अलंकृत किया गया है।

–सम्पादक

प्रश्न : आप कितने वर्षों से शोध कर रहे हैं ? क्या पूरी गंगा प्रदूषित हो चुकी है ?

उत्तर : मैं पिछले 29 वर्षों से गंगा पर शोध कार्य कर रहा हूँ। अपने 8 वर्षों के शोध के बाद, जब सर्वप्रथम 1980 में मैंने आँकड़ों को मीडिया के माध्यम से सार्वजनिक किया तो विश्वभर के समाचारपत्रों एवं अन्य संचार माध्यमों ने इस बात पर घोर आश्चर्य प्रकट करते हुये प्रमुखता से इस तथ्य को प्रचारित किया कि भारतवर्ष के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगर वाराणसी में गंगा के किनारे स्थित हरिश्चन्द्र एवं मणिकर्णिका घाट पर करीब 32 हजार मुर्दे प्रतिवर्ष 10 हजार टन लकड़ी की सहायता से जलाये जाते हैं। इस प्रक्रिया में 300 टन लकड़ी की राख, 200 टन अधजला माँस, 77 हजार किलो नाइट्रोजन, 48 हजार किलो फास्फोरस तथा 56 हजार किलो पोटैशियम भी पानी में डाला जाता है। धार्मिक सोच के तहत लोग मरे हुये जानवरों एवं लावारिस लाशों को भी पानी में प्रवाहित कर देते हैं। फलस्वरूप करीब 3 हजार मानव एवं 6 हजार पशुओं की लाशें गंगा में प्रवाहित होती हैं। मरे हुये जानवरों एवं मानव लाशों पर गिद्ध तथा अन्य पक्षी अपना भोजन करते हैं तथा पूरे गंगा क्षेत्र को वीभत्स रूप प्रदान करते हैं। हमारे शोध आँकड़ों के आधार पर तत्कालीन सांसद श्री एस0एम0 कृष्णा ने भारतीय संसद में प्रश्न संख्या 1464 के द्वारा सर्वप्रथम "गंगा जल प्रदूषण" की समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। 3 जनवरी 1981 को 68वें विज्ञान कांग्रेस के उद्घाटन के समय तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आने के बाद मुझसे गंगा जल प्रदूषण पर चर्चा करने को कहा। उनके इस संकल्प को उनके पुत्र श्री राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद गंगा प्राधिकरण बनाकर पूरा करने का प्रयास किया।

गंगोत्री से बंगाल की खाड़ी तक गंगा नदी की कुल लम्बाई 2525 किमी0 है। मैं सपष्ट करना चाहूँगा कि पूरी गंगा का पानी प्रदूषित नहीं है। सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों का पानी प्रदूषित है जहाँ पर प्रदूषणकारी तत्वों को छोड़ा जाता है और या फिर उस क्षेत्र में गंगा का पानी कम है अथवा उसका बहाव रुक गया है। गंगा के पानी में प्रदूषकों को नष्ट करने की क्षमता विश्व की अन्य नदियों से अधिक है। विश्व की अन्य नदियों में विघटित होने वाले कार्बनिक पदार्थों को नदियों में डालने के बाद बहाव के क्षेत्र में करीब 20 से 25 किमी0 के बाद सभी कार्बनिक पदार्थ विघटित हो जाते हैं जबकि गंगा में केवल 12 से 15 किमी0 के बाद ही समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न : गंगा जल प्रदूषण के कौन–कौन से मुख्य कारण हैं ?

उत्तर : गंगा जब अपने उद्‌गम स्थल गंगोत्री से चलती है उस समय उसके पानी के भौतिक एवं रासायनिक गुण एक विशेष प्रकार के होते हैं। उसमें आक्सीजन की मात्रा सर्वाधिक होती है। ज्यों–ज्यों गंगा आगे बढ़ती है उसका जल लिफ्ट केनाल के माध्यम से बाहर निकाल लिया जाता है और गंगा में शहरों का मल जल मिलता जाता है। अतः शहरों का मल जल गंगा प्रदूषण का प्रमुख कारण है। करीब 80–85 प्रतिशत प्रदूषण इसी से होता है। परन्तु सबसे खतरनाक प्रदूषण उन रासायनिक पदार्थों जैसे लेड, कैडमियम, क्रोमियम, आर्सेनिक,डी0डी0टी0 आदि से होता है जिसका विघटन जल्दी नहीं हो पाता है। ये जहरीले तत्व खाद्य श्रृंखला के द्वारा मानव एवं पशुओं में प्रवेश कर जाते हैं। वाराणसी नगर में 175 MLD मलजल तथा 50 MLD कारखानों से निकला विषाक्त जल प्रतिदिन सीवर में डाला जाता है। गंगा ऐक्शन प्लान के अंतर्गत तीन सीवेज ट्रीटमेन्ट प्लान्ट लगाये गये। पहला ट्रीटमेन्ट प्लान्ट दीनापुर में लगा जिसकी क्षमता 100 MLD, दूसरा भगवानपुर में जिसकी क्षमता 10 MLD तथा तीसरा DLW में जिसकी क्षमता 12 MLD है, मलजल शुद्धि के लिये बने हैं। परन्तु दुर्भाग्य से हमारे शहरों मे मल जल में कारखानों से निकले हुये रासायनिक जहरीले तत्व भी मौजूद हैं जिन्हें हमारे संयत्र दूर नहीं कर पा रहे हैं। इनके अलावा पशुओं के स्नान, मरे जानवरों को गंगा में प्रवाहित करना, कपड़े धोना, कृषि क्षेत्रों से बहकर आने वाले रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक आदि भी गंगा प्रदूषण को बढ़ाने में सहायक होते हैं। आजकल गंगा नदी में काफी संख्या में मोटर बोट तथा डीजल इन्जन लगी स्वचालित नौकायें चलाई जा रही हैं जिनसे निकला धुआँ असंतृप्त हाइड्रोकार्बन पूरे क्षेत्र में फैलकर वहाँ की वायु को भी प्रदूषित कर रहे हैं।

प्रश्न : उच्च न्यायालय द्वारा आपको तकनीकी विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया गया था। आप बतायें कि उच्च न्यायालय द्वारा गंगा प्रदूषण नियंत्रण हेतु किस तरह के दिशा–निर्देश दिये गये हैं ?

उत्तर : उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के आवेदन पर वाराणसी के 37 कारखानों को बिना किसी उपचार के अपने विषाक्त पदार्थों को गंगा में छोड़ने के आरोप में बंद करने का आदेश उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया था। इन कारखानों में उपचार हेतु सस्ती एवं उचित तकनीकी पर आधारित ट्रीटमेन्ट प्लान्ट लगाने के लिये तकनीकी सुझाव देने हेतु हमें उच्च न्यायालय द्वारा विशेषज्ञ के रूप में बुलाया गया था। वहाँ पर एक पत्र के माध्यम से गंगा प्रदूषण नियंत्रण के महाप्रबन्धक द्वारा यह तथ्य स्वीकार किया गया कि शहर के मल जल में कारखानों से उत्सर्जित भारी रासायनिक तत्व मिलाये जा रहे हैं जिन्हें हमारे वर्तमान मल जल शोधन संयंत्रों द्वारा किसी भी कीमत पर दूर नहीं किया जा रहा है। इस पर न्यायालय ने कड़ा रुख अपनाते हुये कहा कि यदि वर्तमान संयंत्र पूरी तरह से ट्रीटमेन्ट नहीं कर रहे हैं तो उन्हें लगाया ही क्यों गया ? और 500 करोड़ रुपये क्यों व्यर्थ में खर्च किये गये ? अतः छः सदस्यीय तकनीकी विशेषज्ञ समिति गठित कर उनके द्वारा सभी प्रोजेक्ट की स्वीकृति के बाद ही धन खर्च की अनुमति हेतु केन्द्र सरकार को आदेशित किया गया। इसी समिति में तकनीकी विशेषज्ञ के रूप में मुझे भी नामित किया गया है।

प्रश्न : क्या गंगा प्रदूषण नियंत्रण अभियान पूरी तरह से विफल रहा ?

उत्तर : नहीं, गंगा प्रदूषण नियंत्रण के प्रथम चरण में आशातीत सफलता नहीं प्राप्त की जा सकी क्योंकि प्रथम चरण की योजनायें जल्दबाजी में प्रारम्भ कर दी गयी थीं। पर्यावरण सिद्धान्तों पर आधारित प्रथम चरण की योजनाओं की कमियों एवं खामियों को ध्यान में रखकर दूसरे चरण की योजनायें बनायी जानी चाहिये। दूसरी आवश्यक बात यह है कि योजनाओं को बनाने के बाद इन पर विशेषज्ञों के बीच में खुली बहस होनी चाहिये तथा इसमें सरकारी संस्थाओं के साथ–साथ स्वयंसेवी संस्थाओं को भी जोड़ना चाहिये।

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि द्वितीय चरण में गंगा निर्मलीकरण योजना पूर्ण रूप से सफल होगी ?

उत्तर : इसके लिये सरकारी अधिकारियों, गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं एवं कार्यक्रम से जुड़े सभी लोगों को संवेदनशील होकर पारदर्शिता, ईमानदारी एवं कर्मठता से सामूहिक प्रयास करने पडेंगे क्योंकि गंगा मात्र एक नदी नहीं है। गंगा भारतवर्ष की भाग्य रेखा, हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता की पहचान तथा इसके बेसिन क्षेत्र में रहने वाले करीब 34 करोड़ लोगों की जीवनधारा है।

प्रस्तुति : प्रो0 रमेश चन्द्र तिवारी
मृदा विज्ञान विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वनस्पतियाँ एवं वायु प्रदूषण

डॉ० सुनील कुमार पाण्डेय*
एवं राजीव पाण्डेय**

वनस्पतियाँ प्रकृति की अनमोल उपहार हैं, जिन्हें हरा फेफड़ा भी कहा जाता है। वनस्पतियों की उपादेयता पर ही जीवों का अस्तित्व निर्भर है। विडम्बना यह है कि प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माने जाने वाले मानव ने जिस तीव्र गति से वनस्पतियों का विनाश करना प्रारम्भ किया है, उससे जैव-सम्पदा के लिये भयावह संकट दिखाई देने लगा है।

प्रसिद्ध प्रकृतिप्रेमी जेम्स् फरगुसन ने अपनी पुस्तक ट्री एण्ड सरपेंट वर्शिप में लिखा है कि यदि मानव वनस्पति एवं प्राणि जगत में प्रेम पूर्ण व्यवहार करे तो पर्याप्त मात्रा में फसल, फल-फूल तथा अन्य विविध प्रकार की उपयोगी सामग्रियाँ प्राप्त कर सकता है। परन्तु आज अपने कृत्यों से वह प्रकृति का सुरक्षित उपयोग करने में असमर्थता का अनुभव कर रहा है, जिसका मुख्य कारण है प्रकृति में विषाक्त अवयवों का मिश्रित हो जाना। आज वातावरण में विषाक्तता से पारिस्थितिकीय संतुलन नष्ट हो गया है और परिणामस्वरूप नित विभिन्न प्रकार की नई-नई समस्यायें आती रहती हैं।

जीवजगत पर वायुमण्डल का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यह वायुमण्डल पृथ्वी से 15 किमी० ऊँचाई तक व्याप्त है। इसमें मुख्यतः तीन गैसें पाई जाती हैं- नाइट्रोजन (N_2) 78.04 प्रतिशत, ऑक्सीजन (O_2) 20.94 प्रतिशत, कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) 0.03 प्रतिशत। शेष 0.97 प्रतिशत में धूल के छोटे-छोटे कण, धुआँ, सूक्ष्म जीव, पराग कण, वाहनों-कारखानों की चिमनियों और ज्वालामुखी के उद्गार से निकलने वाली अनेक प्रकार की गैसें, यथा- ओजोन (O_3), सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2), अमोनिया (NH_3), नाइट्रोजन डाइऑक्साइड (NO_2), सल्फर ट्राइऑक्साइड (SO_3), आदि रहती हैं। दलदली भूमि में मृत वनस्पतियों एवं मृत जन्तुओं के अपघटन से मीथेन गैस निर्मुक्त होकर वायुमण्डल में मिल जाती है। ये ही मुख्य प्रदूषक हैं। इनके कारण वनस्पतियाँ नष्ट होने लगती हैं।

वायु प्रदूषकों के मुख्य प्रभाव :

ये वनस्पतियों की प्रकाश-संश्लेषण प्रक्रिया की दर में कमी कर देते हैं जिससे उनकी वृद्धि व विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इनसे वनस्पतियों की वाष्पोत्सर्जन दर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, जिससे उनके द्वारा पोषक-तत्वों की ग्राह्यता में कमी आती है। कुछ वायु प्रदूषक पौधों द्वारा अवशोषित कर लिये जाते हैं, जो विषाक्त होने अथवा निर्धारित मात्रा से अधिक हो जाने के कारण वृद्धि व विकास में अवरोध उत्पन्न करते हैं। ये वायु प्रदूषक उपापचयी और कार्यिकी स्तर पर पौधों की क्रियाशीलता को प्रभावित करते हैं। यह प्रक्रिया तभी सम्भव होती है जब कोशिका-रन्ध्रों द्वारा वायु प्रदूषकों का पौधे के अंदर प्रवेश हो चुका होता है।

वायु प्रदूषकों का बुरा प्रभाव वनस्पतियों पर दो रूपों में पड़ता है। एक तो तब जब वायु प्रदूषक की उच्च सान्द्रता थोड़े समय तक रहती है तथा दूसरे तब जब वायु प्रदूषक की कम सान्द्रता लम्बी अवधि तक रहती है। कुछ वनस्पतियों पर प्रभाव अधिक तथा कुछ पर कम होता है। अधिक प्रभाव होने पर सुरक्षात्मक उपाय जरूरी होता है, अन्यथा फसलोत्पादन में काफी गिरावट आ जाती है।

बीजों, अंकुरित हो रहे बीजों और विकसित पौध बीजों (जिसमें पत्ती का विकास नहीं हुआ होता है) के ऊपर वायु प्रदूषकों जैसे-ओजोन, सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड का प्रभाव लगभग शून्य रहता है।

वायु प्रदूषक की अनवरत उपस्थिति से फलों व बीजों की संख्या कम हो जाती है क्योंकि कार्बोहाइड्रेट

शेष पृष्ठ 30 पर ....

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : मधुमेह और स्वस्थ जीवन
लेखक : अशोक झिंगन
प्रकाशक : ग्रन्थ अकादमी, 1686 पुराना दरियागंज, नई दिल्ली–110002
प्रथम संस्करण : 2000; **पृष्ठ** 147 + IV
मूल्य : 150 रुपये

हिन्दी भाषा में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें धीरे धीरे अपना स्थान बनाती जा रही हैं यह शुभ संकेत है। मधुमेह पर यह पुस्तक जनसाधारण के लिये काफी सूचना देती है। मधुमेह की बीमारी के रोगियों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। मधुमेह का रोग के आरम्भ और लक्षण प्रकट होने के बीच दस वर्ष का समय होता है। अगर व्यक्ति को रोग के बारे में ज्ञान एवं जागरूकता होगी तो यह संभव है कि वह मधुमेह से अपना बचाव कर सकता है। मधुमेह की क्रूर छाया से आज करोड़ों लोग भयभीत हैं। विश्व में इस रोग से पीड़ितों की संख्या लगभग सोलह करोड़ है। हमारे देश में ही दो करोड़ से अधिक लोग इससे पीड़ित हैं, और लगभग एक करोड़ लोग तो ऐसे हैं जिन्हें यह ही नहीं पता कि वे इस रोग के शिकार हैं।

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर दें कि डायबिटीज और मधुमेह पर्यायवाची नहीं हैं, डायबिटीज जो ग्रीक का डायबिटोज शब्द है, का अर्थ तो मेह या बहना है। डायबिटीज मेलीटस, मधुमेह है जिससे शरीर के हर भाग में शर्करा की मात्रा सामान्य से अधिक हो जाती है और वह मूत्र से निकलने लगती है। यह अग्न्याशय में इन्सुलिन की मात्रा कम या न बनने के कारण होती है। दूसरी प्रकार की डायबिटीज Diabetes Insipious या 'मूत्रमेह' होती है और इसमें पेशाब की मात्रा साधारण 2.5–3.5 लीटर प्रतिदिन की जगह 50–80 लीटर प्रतिदिन तक हो जाती है। अतः मधुमेह और मूत्रमेह डायबिटीज के दो अलग–अलग रूप हैं पर सामान्यतया डायबिटीज का अर्थ मधुमेह से ही लिया जाता है।

मधुमेह का इतिहास बहुत पुराना है। स्वाभाविक है उस जमाने में भी मधुमेह के रोगी रहे होंगे और वे कुछ–न–कुछ दवा का सेवन करते रहे होंगे। परन्तु तब आज जैसी परिस्थितियाँ नहीं थीं। सभी मनुष्य कठिन परिश्रम करते थे एवं उनका खान–पान भी आज की तरह नहीं था।

पातंजलि के योगसूत्र में आहार की बड़ी महिमा कही गई है:

आहार शुद्धो सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धो ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलाभे सर्वग्रंथीनाः विप्रमोक्षः।

आहार की शुद्धता अर्थात् खान–पान में नियमित रहने से सत्व शुद्ध होता है जिससे स्मृति और मानसिक ग्रंथियों का सन्तुलन होता है। वैसे हमारे यहाँ कहा भी गया है कि जैसा अन्न वैसा मन्न–यहाँ अन्न का केवल भौतिक रूप ही, उसको पाने के लिये सारे कार्य, उपाय और प्रपंच उसके शरीर की पुष्टि या हानि के लिये उत्तरदायी हैं जो इस पुस्तक में नहीं बताये गये हैं।

मधुमेह और अलकोहन नामक अध्याय में लेखक ने विदेशी विशेषज्ञों की ही नकल की है जैसे कि उसका यह कहना कि अलकोहन आज के समाज का अंग बन चुका है– बेबुनियाद है, खासतौर से भारत जैसे गर्म देशों के लिये। ठंडे देशों में अलकोहल शरीर के तापमान को स्थिर करने के लिये लिया जाता है पर इस देश में तो यह नशा या कहिये कि अपने गम ? या अपनी कारगुजारियों को अपने मन पर हावी न होने देने के लिये ही लिया जाता है। कहा जाता है कि अलकोहल तनाव कम करता है पर ऐसी जीवनशैली ही क्यों अपनाई जाये जो तनाव पैदा करे। जीवन में कुछ तनाव का होना स्वाभाविक ही है क्योंकि वही तो आपको सभी काम की प्रेरणा देगा लेकिन इतना नहीं कि आपकी मनः स्थिति गड़बड़ा जाये, और यहीं पर होती है यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान की आवश्यकता। अतः रोग से बचने के लिये आहार, निद्रा और संयम आवश्यक है।

विद्वान लेखक ने लिखा है कि यह वंशानुगत बीमारी है और फिर आगे लिखा है कि मधुमेह का दायरा बढ़ गया है जो 6–8 प्रतिशत है। कुछ वर्ष पूर्व तक यह 1.75 प्रतिशत ही था। अभी हाल में हुई एक शोध से पता चलता है कि भारत मे नगरों मे वयस्कों में यह रोग 13.2 प्रतिशत है। विश्व में सबसे अधिक, भारत में सन् 2000 के अन्त तक 2.3 करोड़ मधुमेह के पीड़ित थे, यह संख्या चीन में 1.7 करोड़ और अमेरिका में 1.5

करोड़ है। सन् 2005 तक यह संख्या 5.7 करोड़ हो जायेगी और यह भी सोचने की बात है कि जहाँ अमेरिका में मधुमेह 64 वर्ष के ऊपर के व्यक्तियों को होता है वहीं भारत में यह 45–56 वर्षों में होता है।

पृष्ठ 125 पर कई बार लिखा 'योगा' शब्द विशेष रूप से खटकता है। योगा से अर्थ 'योग' से है और योग एक सम्पूर्ण विज्ञान है जो यम, नियम से प्रारम्भ होकर समाधि तक जाता है और जिसका एक छोटा सा भाग आसन या योगासन है। लेखक ने अगले अध्याय में मधुमेह के रोगियों के लिये लाभकारी योगासन भी बताये हैं पर बड़ी सरसरी तौर पर ही। अच्छा होता अगर लेखक इस अध्याय में अधिक जानकारी देते।

पृष्ठ 115 और 129 पर लिखित सारणी एक ही बात कहती है। विद्वान लेखक ने अंग्रेजी भाषा के कुछ शब्दों को अनावश्यक रूप से उसी तरह ले लिया है जैसे– एडजस्ट, पीस इत्यादि। कहीं कहीं पर कुछ विशिष्ट चीजों जैसे मोनैको बिस्कुट, मेरी बिस्कुट आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है जो अप्रत्यक्ष रूप से कुछ कम्पनियों का प्रचार है। अच्छा होता कि लेखक आज के भोजन खासतौर से फास्ट फूड की भी चर्चा करते और उससे होने वाले हानि लाभ को भी बताते, साथ ही कुछ भारतीय भोजन और विशेष रूप से भारतीय फास्ट फूड – लइया, चना, सत्तू की बात करते।

मधुमेह और स्वस्थ जीवन में मधुमेह रोग संबंधित अनेक प्रश्नों व अन्तः प्रश्नों के जानकारीपरक उत्तर हमें जानने को मिलेंगे, यथा– यह रोग क्यों और कैसे होता है, इसकी परीक्षण विधियाँ क्या हैं, इस रोग का शरीर के विभिन्न अंगों एवं रोगों से क्या सम्बन्ध होता है, इसका यौन समस्याओं, शराब, यात्रा से क्या सम्बन्ध है आदि। इसके अतिरिक्त आपातकालीन स्थिति के ध्यान रखने हेतु महत्वपूर्ण बातें, इस रोग में व्यायाम का महत्व तथा लाभकारी योगासन और मधुमेह को रोकने का सर्वोत्तम उपाय आदि शीर्षकों के अंतर्गत व्यावहारिक जानकारियाँ मिलती हैं। पुस्तक पठनीय है, साज सज्जा तथा मुद्रण अच्छा है और मूल्य भी ठीक है और यह पुस्तक हिन्दीभाषी परिवारों में होनी चाहिये।

78बी, टैगोर टाउन
इलाहाबाद–211 002

पृष्ठ 28 का शेष

एवं नाइट्रोजन का संतुलन बिगड़ जाता है। वायु प्रदूषकों के प्रभाव से परागकणों का वर्तिकाग्र पर जमाव बाधित होता है, जिससे निषेचन प्रक्रिया पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। और तो और फल व बीज भी न्यून मात्रा में बनते हैं। वास्तव में वायु प्रदूषक जब पौधों के सम्पर्क में आते हैं तो पौधों में पाये जाने वाले कोशारन्ध्रों में से हानिकारक गैसें अन्दर चली जाती हैं और विपरीत प्रभाव डालती हैं। हालाँकि अपनी सुरक्षा के लिये पौधे कुछ मात्रा में गैसों को हटाते हैं, परन्तु यह मात्रा बहुत ही कम होती है। वैसे पौध–कोशिका अपने में सुधार प्रक्रिया जारी रखती है, परन्तु उस समय तक पौधे का अस्तित्व समाप्त हो चुका होता है।

**संयुक्त मंत्री*
विज्ञान परिषद् प्रयाग
***पर्यावरण विज्ञान विभाग*
डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध
विश्वविद्यालय, फैजाबाद

सम्मान

विज्ञान प्रसार, नई दिल्ली के प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी डॉ० सुबोध मोहन्ती द्वारा विज्ञान लोकप्रियकरण के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिये एफ.आई.ई. फाउंडेशन ने अगले वर्ष **2000** का राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया है जिसकी राशि **50,000** रु० है।

डॉ० मोहन्ती ने यह पुरस्कार पिछले दिनों नई दिल्ली में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार के सचिव प्रो० वी.एस. राममूर्ति से ग्रहण किया। विज्ञान परिषद् की बधाइयाँ। – *सम्पादक*

श्रद्धांजलि

प्रो० पंत का निधन : वनस्पति विज्ञान की अपूरणीय क्षति

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

8 मई 2001 को रात्रि में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वनस्पति विज्ञानी प्रोफेसर दिव्य दर्शन पंत की दिव्यात्मा नश्वर शरीर को त्याग कर ब्रह्म में विलीन हो गई। मेरा प्रो0 पंत से सम्पर्क पिछले लगभग 38 वर्षों से रहा है। प्रो0 पंत अब हमारे बीच नहीं रहे, सहसा विश्वास करने का मन नहीं करता।

बालक दिव्यदर्शन का जन्म 18 अक्टूबर, 1919 को एक संभ्रान्त परिवार में हुआ था। उन्होंने 1941 को लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.एस.सी. की डिग्री प्राप्त की। वे अपने समय के शीर्षस्थ वनस्पतिविज्ञानी प्रो0 बीरबरल साहनी के विद्यार्थी थे। प्रो0 पंत ने एम.एस.सी. के बाद प्रो0 साहनी के ही निर्देशन में शोध प्रारंभ किया। 1941–43 के लिये उन्हें लखनऊ यूनिवर्सिटी मेरिट रिसर्च फेलोशिप मिली और पुनः 1943–44 के लिये लखनऊ यूनिवर्सिटी रिसर्च स्कालरशिप भी प्राप्त हुई। 1950 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी. फिल की उपाधि प्रदान की गई। इससे पूर्व 1945 में ही वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में व्याख्याता (लेक्चरर) नियुक्त हो चुके थे। 1964 में डॉ0 पंत उपाचार्य (रीडर) नियुक्त हुये। इस समय तक उनकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिकों में होने लगी थी। 1956–58 और 1958–60 के दौरान जब मैं स्वयं गोरखपुर विश्वविद्यालय में बी.एस.सी. और एम.एस.सी. का विद्यार्थी था तभी उनके द्वारा किया गया नग्न बीजी पादपों का वर्गीकरण मैं पढ़ चुका था। इस प्रकार उनकी विद्वता और ख्याति से मैं 1963 में इलाहाबाद आने से पूर्व ही परिचित हो चुका था।

1966 में डॉ0 पंत ने आचार्य (प्रोफेसर) के रूप में विभागाध्यक्ष का पदभार संभाल लिया। वे इस पद पर 1982 में अवकाश ग्रहण करने तक विभाग का कुशल निर्देशन करते रहे और इलाहाबाद विश्वविद्यालय का वनस्पति विज्ञान विभाग उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साथ ही पुरावनस्पति विज्ञान के शोध केन्द्र के रूप में विश्व के मानचित्र पर आ गया।

1954 की विदेश यात्रा के दौरान वे प्रो0 टी0एम0 हैरिस (रीडिंग विश्वविद्यालय), डब्ल्यू.एन. एडवर्ड्स (ब्रिटिश नैचुरल हिस्ट्री म्यूजियम, लन्दन) और प्रो0 आर. क्रांसेल (बेंकेनबर्ग इंस्टीट्यूट, फ्रैंकफर्ट) सरीखे लब्धप्रतिष्ठ वनस्पति विज्ञानियों के सम्पर्क में आये और उनके साथ शोध किया।

डॉ0 पंत मूल रूप से जीवाश्मविज्ञानी थे किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं और अपने विद्यार्थियों के साथ पादप मार्फोलाजी (आकारिकी), एनाटॅमी (आंतरिक संरचना), टैक्सोनॉमी (वर्गीकरण) और पैलीनॉलोजी (पराग कण विज्ञान) में भी उच्चस्तरीय शोध किये थे।

उन्हें प्रथम (एरिजोना), द्वितीय (यूट्रिच) और तृतीय (यू एस एस आर) अन्तर्राष्ट्रीय पैलीनॉलोजिकल कांफ्रेंस में सम्मानित वक्ता के रूप में बुलाया गया। उन्होंने देश–विदेश में होने वाले अनेकानेक पुरावनस्पतीय विज्ञान से संबंधित संगोष्ठियों में अपने अध्यक्षपदीय उद्‌बोधन दिये।

डॉ0 पंत एक कुशल वक्ता थे। उनके द्वारा दिये गये व्याख्यानों में प्रो0 महेश्वरी स्मृति व्याख्यान (1971), प्रो0 बीरबल साहनी स्मृति व्याख्यान (1973) और प्रो0 हैरिस, प्रो0 चेस्टर एर्नोल्ड, प्रो0 पी.एल. मेहरा बधाई व्याख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भी अनेक व्याख्यान दिये हैं। उन्हें प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ गोंडवाना सिम्पोजिया में भी ससम्मान बुलाया गया था जो क्रमशः अर्जेण्टीना, ब्यूनोस आयर्स, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में आयोजित किये गये थे। 1975 में उन्हें बारहवें अन्तर्राष्ट्रीय वनस्पति विज्ञान सम्मेलन में लेनिनग्राड (रूस) में बुलाया गया था। इस समय तक प्रो0 पंत ने इतनी अधिक ख्याति अर्जित कर ली थी कि उन्हें देश–विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों से संगोष्ठियों में बुलाया जाना आम हो गया।

उनकी पुस्तक "साइकस एण्ड साइकैडेल्स" मील का पत्थर सिद्ध हुई है। उन्होंने "टैक्सॉन" नामक एक शोध पत्रिका भी प्रकाशित की। लगभग 300 मौलिक शोध–पत्रों, समीक्षाओं और लोकप्रिय रचनाओं के प्रकाशन का श्रेय उन्हें जाता है। वैसे हिन्दी भाषा के माध्यम से लिखने का समय वह कम ही निकाल सके, किन्तु उन्हें हिन्दी से विशेष प्रेम था। नगर की प्रतिष्ठित हिन्दी सेवी संस्था "विज्ञान परिषद् प्रयाग" के वे आजीवन सदस्य थे। 1996 से 1998 तक विज्ञान परिषद् के सभापति के रूप में उन्होंने अनेक संगोष्ठियों, सम्मेलनों में अपने विचार हिन्दी भाषा में प्रकट किये। विज्ञान के प्रचार–प्रसार और देश में वैज्ञानिक अभिरुचि पैदा करने की दिशा में उनके द्वारा किया गया योगदान सदैव याद किया जायेगा।

प्रो0 पंत अपने व्यक्तित्व की भव्यता के कारण ऐसा आभास देते थे जैसे वे शुष्क और नीरस हों क्योंकि वे सदैव ही कार्य में डूबे रहने वाले व्यक्ति थे।

आकर्षक व्यक्तित्व के धनी प्रो0 पंत के मुखमण्डल पर आभिजात्य और विद्वता की गहरी छाप थी। उच्च शिक्षा के वर्तमान स्तर से वे संतुष्ट नहीं थे। वे पढ़ाई के एक पल को भी बरबाद नहीं होने देना चाहते थे। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की थी कि उनकी मृत्यु के बाद विश्वविद्यालयों में न तो शोक सभा हो और न ही विश्वविद्यालय बंद किया जाये।

प्रो0 पंत अपने पीछे पत्नी श्रीमती डॉ0 राधा पंत, एक पुत्र, दो पुत्रियों और अपने विद्यार्थियों, मित्रों और प्रशंसकों का विशाल जन समुदाय छोड़ गये हैं, और छोड़ गये हैं अपनी कर्मता की गहरी छाप।

प्रो० पंत की स्मृति को कोटिशः प्रणाम!

पूर्व अध्यक्ष
वनस्पति विभाग
सी.एम.पी. डिग्री कालेज
इलाहाबाद–211 002

प्रो० दिव्यदर्शन पंत को श्रद्धांजलि

विज्ञान परिषद् प्रयाग ने अपने पूर्व सभापति प्रो० दिव्यदर्शन पंत के निधन पर **9-5-2001** को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उनकी मृत्यु इलाहाबाद स्थित उनके निवास स्थान पर **8-5-2001** को रात्रि में हुई।

खादें

समृद्धि व खुशहाली की मूल आधार

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोओपरेटिव लिमिटेड (इफको) नाइट्रोजीनस तथा फॉस्फेटिक उर्वरकों का उत्पादन तथा विपणन करने के क्षेत्र में विश्व की अग्रणीय संस्था है।

इफको के कलोल, कांड्ला, फूलपुर तथा आवंला में स्थित चार बड़े संयंत्र अपनी उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग कर रहे हैं। इफको सहकारी वितरण संरचना के राष्ट्रव्यापी नेटवर्क के माध्यम से देश के कोने-कोने में किसानों के पास पहुँच रही है।

इफको के तीन मुख्य उत्पाद यूरिया, एन.पी.के. तथा डी. ए.पी. खाद्यान्न उत्पादन के मामले में भारत को आत्मनिर्भर बनाने में न केवल सहायता कर रहे हैं, अपितु इनसे देश के असंख्य किसानों के जीवन में भी समृद्धि व खुशहाली आ रही है।

इफको इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

34, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली – 110 019

वैबसाइट : http://www.iffco.nic.in

किसानों की प्रगति में सहायक

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।
6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7- पत्रिका का अधिकाधिक रुतिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200

जुलाई 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका
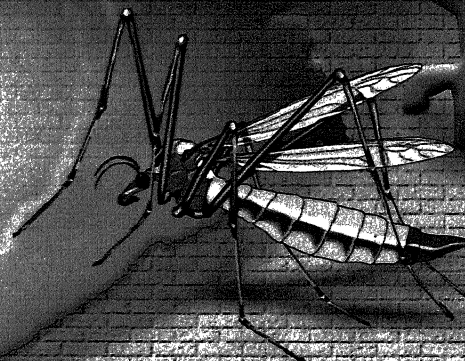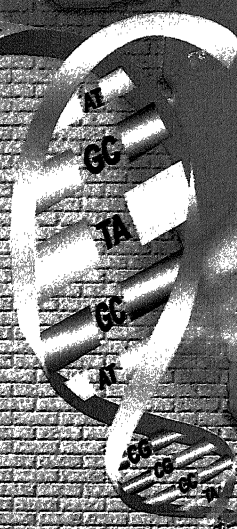
विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग

// विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 4
जुलाई 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

शादाब खालिद

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

सूचना प्रौद्योगिकी की उच्च शिक्षा में उपादेयता: भारतीय संदर्भ

डॉ० राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव

डिजिटल तकनीक आज मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर रही है। शिक्षा का महत्वपूर्ण क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह गया है। अब यह तकनीक डिजिटल से फोटोन की ओर तेजी से बदलाव की प्रक्रिया में है। निकट भविष्य में फोटोनिक तकनीक समाज के प्रयोग हेतु उपलब्ध हो जाने की पूरी आशा है। तकनीक में तेजी से होने वाले इस विकास के कारण सूचना का आदान–प्रदान प्रत्येक वर्ष में दुगुना होता जा रहा है।

इस तथ्य को समझना अति महत्वपूर्ण है कि केलव सूचना को ही शिक्षा नहीं कहा जा सकता या कि केवल सूचना ही ज्ञान नहीं है, यद्यपि सूचना को ज्ञान का आधार माना जा सकता है। ज्ञान तथ्यों तथा विचारों का एक सुसंगठित वक्तव्य है जो कि तथ्यपरक सत्य को उजागर करता है या कि प्रयोगात्मक उपलब्धियों को दर्शाता है। समाचार व मनोरंजन में भी ज्ञान निहित है और इन सभी में सूचना भी उपस्थित रहती है। आज सूचना का विस्फोट प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देता है और शिक्षित व्यक्ति भी अपने आप को कभी–कभी अशिक्षित जैसा महसूस करने लगता है क्योंकि वह सूचना प्रौद्योगिकी के तेजी से बढ़ते हुये आयामों के साथ अपने को कदम से कदम मिलाकर चलने में असहाय महसूस करने लगता है। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति से कैसे निपटा जाये ? सूचना की विस्फोटक स्थिति से निपटने में सूचना प्रौद्योगिकी के विभिन्न उपादानों का सक्रिय प्रयोग इस कार्य में सहायक सिद्ध हो सकता है। साधारण भाषा में कहा जाय तो सूचना की विस्फोटक स्थिति से निपटने के लिये सूचना प्रौद्योगिकी की सहायता लेना आवश्यक है।

सूचना प्रौद्योगिकी

यूनेस्को ने सूचना प्रौद्योगिकी को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'वैज्ञानिक, तकनीकी तथा इंजीनियरी जैसी विधायें तथा व्यवस्थापन तकनीक का प्रयोग सूचना को निष्पादित, संसाधित तथा प्रयोग करने के लिये कम्प्यूटर इत्यादि का प्रयोग करते हुये मानव तथा मशीन के बीच होने वाली क्रिया को, जो कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ी हों, जब इलेक्ट्रानिक आयाम प्रदान किया जाता है तो इस एकजुटता को ही सूचना प्रौद्योगिकी का नाम दिया जाता है।" व्यवहारिक रूप से सूचना प्रौद्योगिकी शब्द का प्रयोग सूचना को एकत्र, संसाधित और उसके संप्रेषण में प्रयोग की जाने वाली प्रौद्योगिकी के लिये किया जाता है। इसमें माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक तथा इन्फोइलेक्ट्रॉनिक तकनीकों को समाहित करते हैं। इसमें कम्प्यूटर, कार्यालय में प्रयोग किये जाने वाले इलेक्ट्रॉनिक उपकरण, दूर–संचार, औद्योगिक रोबोट, कम्प्यूटर नियंत्रित मशीनें, इलेक्ट्रॉनिक घटक तथा साफ्टवेयर आदि सभी आते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी का मूल उद्‌देश्य विभिन्न उपादानों का प्रयोग करने की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिये तथ्यों को उपलब्ध कराना तथा उनकी सहायता से मानव जीवन को समृद्धशाली बनाना ही है। अतः सूचना प्रौद्योगिकी में मूल रूप से साफ्टवेयर और हार्डवेयर का प्रयोग करते हुये प्रभावशाली व्यवस्थापन हेतु सूचना का आदान–प्रदान करना, सूचना को भंडारित करना, उसे पुनः प्राप्त करना, उसे संसाधित करना, संप्रेषित करना तथा उसे अधिक क्षेत्रों में प्रयोग हेतु उपलब्ध कराना है जिससे कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उत्थान को बढ़ावा दिया जा सके।

शिक्षण

शिक्षण के माध्यम से सामान्यतः छात्रों को सूचना प्रदान करने पर विशेष जोर दिया जाता है। परन्तु क्या शिक्षण का उद्‌देश्य केवल सूचना ही देना है ? सूचना के साथ–साथ उच्च शिक्षा के उद्‌देश्यों को निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया जा सकता है–

1. तर्क और सोचने की क्षमता को विकसित करना।
2. निर्णय करने तथा परखने की क्षमता को विकसित करना।
3. व्यवहारकुशलता, आत्म ज्ञान तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति सचेत करना।
4. वैज्ञानिक सोच, जोखिम उठाने की क्षमता का विकास, सहनशक्ति और एकाग्रता इत्यादि का विकास।

वर्तमान समय में भारत जैसे देश में जो भी सुविधायें उपलब्ध हैं उनके आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा करना कठिन प्रतीत होता है। आज भी शिक्षक जो व्याख्यान देते हैं उनसे अधिकांशतः तर्क और क्षमता का विकास नहीं हो सकता है जो आज शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा कर सके। चूँकि शिक्षा का उद्देश्य बहुआयामी प्रकृति का है इसलिये उसको प्राप्त करने की विधियाँ भी बहुआयामी होंगी और उन्हें एक सूत्र में बाँधकर ही प्रयोग करना होगा। इस दिशा में सूचना प्रौद्योगिकी अत्यधिक कारगर सिद्ध हो सकती है क्योंकि यह एक तथ्य है कि एक अध्यापक की क्षमताओं से कहीं अधिक सूचना प्रौद्योगिकी के उपादानों का प्रयोग करके हम शैक्षणिक कार्यों में सहजता, नवीनता तथा सरलता ला सकते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी सूचना के विभिन्न स्रोतों तक पहुँने में हमारी मदद कर सकती है तथा तर्क एवं क्षमता के विकास में जो महत्वपूर्ण रिक्तता मौजूद है उसको पूरा कर सकती है। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से सही सूचना मिलेगी जिसके कई उदाहरण भी होंगे और वह विभिन्न स्वरूपों में भी होगी। सूचना प्रौद्योगिकी में 'चैट' सुविधा एक ऐसी विधा है जिसके प्रयोग से छात्र अपने विचारों का आदान–प्रदान किसी भी विषय पर, किसी भी विशेषज्ञ से कर सकता है। यह ज्ञान को बढ़ाने के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगी। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से तथ्यों को प्रस्तुत करने में भी विविधता लायी जा सकती है जो कि छात्रों की एकाग्रता, समझदारी और सूचना को अधिक देर तक याद रखने की क्षमता के विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है। विश्व के किसी भी कोने से विशेषज्ञता हेतु सम्पर्क साधा जा सकता है। 'सुपर हाईवे' तथा 'साइबर स्पेस' की मदद से शिक्षा, शिक्षण तथा सीखने की प्रक्रिया की गुणवत्ता में आश्चर्यजनक रूप से विकास किया जा सकता है। परम्परागत प्रक्रिया और विधियों से हटते हुये सूचना प्रौद्योगिकी छात्रों को एक ऐसे जगत में ले जाती है जहाँ इनके लिये विविधता से भरा हुआ ज्ञान का अपार भंडार, विकल्प के नये–नये आयाम तथा द्वार खोलता है।

आज इन्टरनेट पर तमाम ऐसे वेबसाइट हैं जो निःशुल्क रूप से छात्रों और शिक्षकों को उनके तर्क तथा सोचने की शक्ति को विकसित करने के लिये सेवायें उपलब्ध कराते हैं।

संसाधनों का उपयोग

आज पूरी दुनिया में शिक्षा पर किये जाने वाले खर्च में कमी आती जा रही है। ऐसी स्थिति में शिक्षा के योजनाकारों, प्रशासकों तथा बुद्धिजीवियों को संसाधनों के विकास के विकल्प तथा व्यवस्थाओं के लिये नये ढंग से सोचने के लिये विवश किया है। इस दिशा में केन्द्रीय संसाधन केन्द्रों के विकास पर जोर दिया जा रहा है जहाँ विभिन्न विभागों के अध्यापक, छात्र तथा शोधार्थी उन संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं। संसाधनों को मिल–बाँट कर उपयोग में लाने की दिशा में किया गया प्रयास भारत जैसे देश के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इन्टरनेट की सुविधा का डाक्टर, शिक्षक तथा शोधार्थी उपयोग कर सकते हैं। यदि इसी प्रकार विभिन्न राष्ट्र उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपने संसाधनों का मिल–बाँट कर उपयोग करना चाहें तो सूचना प्रौद्योगिकी इसमें सहायक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि सूचना प्रौद्योगिकी में उपयोगकर्ता की संख्या, उपयोग करने के स्थान, अवधि, प्रकार तथा विधियों इत्यादि पर कोई बंदिश नहीं है।

अध्यापकों का व्यवसायिक विकास

शिक्षकों को समय–समय पर प्रशिक्षिति करना आवश्यक है जिससे वे अपने विषय तथा व्यवसायिक क्षेत्र में होने वाली नवीन सूचना तथा विकास के सम्बंध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कर सकें तथा अपनी क्षमता का विकास कर सकें। एक तरह से देखा जाये तो शिक्षकों के व्यवसायिक विकास में ऐसे प्रशिक्षण सतत् चलने वाली प्रक्रिया के रूप में होने चाहिये। परन्तु बहुत से ऐसे प्रशिक्षण संस्थान हैं जहाँ शिक्षकों की अत्यधिक संख्या के कारण प्रशिक्षित करने की सुविधाओं का अभाव है। ऐसे में सूचना प्रौद्योगिकी के विभिन्न

उपादानों का प्रयोग करने और केन्द्रीय संसाधन केन्द्रों को उपयोग में लाकर इस कमी को दूर किया जा सकता है। ऐसे केन्द्रों को कम्प्यूटर, इन्टरनेट, ऑडियो–वीडियो रिकार्डिंग सिस्टम इत्यादि से लैस किया जा सकता है। कुछ ऐसी सूचनायें या सामग्री भी तैयार की जा सकती हैं जो शिक्षकों को उनके व्यवसायिक विकास में सहायक सिद्ध हों। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों की पहचान करके उनके व्याख्यान कराये जा सकते हैं तथा उनकी वीडियो रिकार्डिंग भी की जा सकती है। ऐसे वीडियो कैसेट छात्रों तथा अध्यापकों को दिये जा सकते हैं। जहाँ शिक्षकों की कमी हो वहाँ ऐसे वीडियो प्रोग्राम छात्रों के लिये बहुत उपयोगी रहेंगे। यदि विभिन्न महाविद्यालयों में इन्टरनेट की सुविधा उपलब्ध करा दी जाये तो वहाँ के शिक्षक तथा छात्र अपने विषय में नवीनतम जानकारी देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों या विदेशों में विशेषज्ञों के साथ विचार–विमर्श करके प्राप्त कर सकते हैं, अपनी पसन्द की जानकारी और सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं। किसी–किसी विशेष विषय पर मल्टीमीडिया में सामग्री भी उपलब्ध करायी जा सकती है जिसे हार्ड डिस्क में भविष्य के प्रयोग हेतु डाउनलोड और स्टोर किया जा सकता है। इस प्रकार सूचना प्रौद्योगिकी शिक्षकों के व्यवसायिक विकास में विभिन्न स्तरों पर उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

बढ़ती हुई पहुँच

आज ऐसा लगता है कि सारा विश्व एक छोटे से गाँव के रूप में बदल गया है क्योंकि सूचना प्रौद्योगिकी की सहायता से हम किसी से भी बात कर सकते हैं, किसी पुस्तकालय में जा सकते हैं, किसी भी शैक्षणिक समस्या पर विचार–विमर्श कर सकते हैं, विचारों का आदान–प्रदान कर सकते हैं, कोई भी सूचना प्राप्त कर सकते हैं, उन सूचनाओं को खोज सकते हैं जो कि सामान्यतः नहीं मिल पाती हैं। लगता है आज दुनिया के हर कोने में हमारी पहुँच हो गई है। यह सब इन्टरनेट, वॉयस मेल, ई–मेल, वीडियो मेल, साइबर कैफे इत्यादि के बढ़ते हुये तंत्र के कारण संभव हो सका है। आज विदेशों मे जाना जरूरी नहीं रह गया है क्योंकि आप अपने ही शहर में दुनिया की सारी सूचनाओं को प्राप्त कर सकते हैं। पहले ऐसा कठिन था परन्तु आज सूचना प्रौद्योगिकी के कारण हमारी पहुँच में तेजी से विकास हो रहा है।

आज इन्टरनेट के माध्यम से कोई भी किसी लाइब्रेरी तक जिसकी सदस्यता खुली हुई है पहुँच सकता है। आज आप किसी भी विषय में उपलब्ध पुस्तकों के शीर्षक ढूँढ सकते हैं, किसी किताब में क्या सामग्री है इसकी जानकारी कर सकते हैं और यदि कुछ सामग्री पसन्द आ गई तो उसे डाउनलोड कर सकते हैं, जरूरत हो तो उन पृष्ठों को आप अपने कम्प्यूटर के प्रिन्टर से प्रिन्ट भी निकाल सकते हैं।

शोध और विकास

भारत जैसे देश में शोध और विकास औद्योगिक क्षेत्र के लिये बहुत उपयोगी है परन्तु आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में तथा शोध संस्थाओं तथा प्रयोगशालाओं में होने वाले शोध, मौलिक या व्यवहारिक शोध के रूप में हो रहे हैं। विश्वविद्यालयों के पास शोध करने के लिये धन का अभाव है। विभिन्न विश्वविद्यालयों का औद्योगिक क्षेत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः विश्वविद्यालयों में होने वाले शोध औद्योगिक विकास में बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से उद्योगों की आवश्यकताओं को जाना जा सकता है और उन क्षेत्रों की पहचान की जा सकती है जिनमें शोध की तत्काल आवश्यकता है। इसके लिये इन्टरनेट बहुत ही उपयोगी रहेगा। इस काम के लिये औद्योगिक घरानों से विश्वविद्यालयों में शोध हेतु परियोजनाओं को अनुदान भी मिल सकता है। सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग से शोध और विकास के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है जो कि भारत जैसे राष्ट्र के आर्थिक तथा सामाजिक विकास में आज की आवश्यकता है।

सर्वगुणी विश्वविद्यालय

जनसंख्या वृद्धि के कारण परम्परागत विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों में उन सभी उम्मीदवारों को उच्च शिक्षा हेतु प्रवेश नहीं मिल पाता जिनके पास विभिन्न विषयों में प्रवेश लेने हेतु योग्यता मौजूद है। इस समस्या के समाधान हेतु खुला विश्वविद्यालय तथा सुदूर शिक्षा विभागों की स्थापना की गई। आज ये सुविधायें भी कम पड़ने लगी हैं। ऐसे में तमाम विदेशी विश्वविद्यालयों ने विभिन्न राष्ट्रों में उच्च शिक्षा प्रदान करने हेतु अपने

दरवाजों को खोल दिया है। बहुत से लोगों ने इसका लाभ भी उठाया है परन्तु अधिकांश अपनी आर्थिक सीमाओं के कारण इस लाभ से वंचित रह गये हैं।

उच्च प्रौद्योगिकी के इस युग में लोगों ने इन्टरनेट पर विश्वविद्यालय खोलने प्रारंभ कर दिये हैं जहाँ सर्वगुणी विश्वविद्यालय के सभी गुण उपस्थित रहते हैं और जहाँ सभी सीमाओं तथा बाधाओं को नियंत्रित किया जा सकता है– जैसे विद्यार्थियों की संख्या, पाठ्यक्रम, विषयों के मेल, वर्ष में एक बार परीक्षा लेने के कार्यक्रम, शिक्षण कार्य में एकरसता, पाठ्य सामग्री की निम्न गुणवत्ता इत्यादि। किसी भी देश के, कोई भी भाषा बोलने वाले, गरीब या धनवान छात्रों का नामांकन किया जा सकता है। छात्रों की संख्या को ध्यान में रखते हुये सबसे बड़ी आवश्यकता इन्टरनेट की सुविधा का होना है। सर्वगुणी विश्वविद्यालय में छात्र किसी भी ऐसे कार्यक्रम में भागीदारी कर सकते हैं जिसके लिये निर्धारित न्यूनतम योग्यता को वे पूरा करते हों। यहाँ यदि छात्र का एक बार नामांकन या प्रवेश हो जाता है तो उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। वह किसी भी विषय पर कहीं भी और किसी भी समय ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सीख सकता है। वैसे यहाँ भी छात्रों को वे सभी औपचारिकताएँ पूरी करनी होती हैं जो सामान्यतः प्रवेश लेने हेतु किसी अन्य विश्वविद्यालय में करनी होती हैं– यथा फार्म भरना, प्रवेश परीक्षा देना, पंजीकरण, फीस जमा करना, इत्यादि। यह सब इन्टरनेट के माध्यम से 'आन लाइन' करना होगा, अपने ही घर पर बैठकर। प्रवेश लेने के पश्चात् छात्र अपनी रुचि के अनुसार कोई भी पाठ्यक्रम चुन सकता है जहाँ किसी भी एक कार्यक्रम में अनेकों पाठ्यक्रम उपलब्ध रहते हैं। पाठ्यक्रम का चयन करने के पश्चात् छात्र शिक्षण की किसी भी विधि यथा व्याख्यान पद्धति, विचार विमर्श पद्धति, सेमिनार पद्धति, स्वशिक्षण पद्धति का चयन शिक्षा ग्रहण करने के लिये कर सकता है। पाठ्य–सामग्री के किसी भी अंश को छात्र अपने प्रयोग हेतु 'डाउनलोड' कर सकता है। इस सामग्री को वह अपनी सुविधानुसार जितनी बार चाहे पढ़ सकता है। परम्परागत विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली सामूहिक शिक्षा से यह थोड़ा हटकर है जिसमें छात्र को व्यक्तिगत स्तर पर स्वयं ही छात्र तथा अध्यापक दोनों बनना पड़ता है।

मानव संसाधन विकास

किसी भी राष्ट्र की प्रगति, समृद्धि तथा विकास वहाँ के मानव तथा सामग्री के संसाधनों पर निर्भर करती है। तमाम उपलब्ध सामग्रियों को मानव के लाभ के लिये प्रयोग किया जाना बहुत कुछ वहाँ पर उपलब्ध मानव संसाधन पर निर्भर करता है। किसी भी राष्ट्र के सामग्री संसाधन सीमित हो सकते हैं परन्तु मानव संसाधन को असीमित कहा जा सकता है। अतः प्रशिक्षित लोगों का एक डाटा बेस बनाना अति आवश्यक है जिसके बिना किसी भी राष्ट्र की प्रगति, समृद्धि तथ विकास सम्भव नहीं है, और यदि ऐसा नहीं होता है तो विकास की गति बहुत ही धीमी रहेगी। आज अपने देश में मानव संसाधन या सामग्री संसाधन दोनों का डाटा बेस उपलब्ध नहीं है परन्तु सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से मानव संसाधन तथा सामग्री संसाधन का डाटा बेस बनाना संभव हो गया है। इस डाटा बेस के आधार पर हम उन क्षेत्रों की पहचान कर सकते हैं जहाँ पर प्रशिक्षित लोगों की कमी है। इतना ही नहीं, हम उन क्षेत्रों की भी पहचान कर सकते हैं जहाँ पर प्रशिक्षित लोगों की एक समयावधि में आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसा करने पर हम मानव संसाधन के विकास में होने वाली प्रगति को मॉनिटर कर सकते हैं।

वर्तमान में विकसित देशों या विकासशील देशों के पास ऐसे तंत्र मौजूद नहीं हैं जिनके माध्यम से ज्ञान की सभी विधाओं में लोगों को प्रशिक्षित किया जा सके। यदि ऐसा करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है तो जो स्तर होना चाहिये, उस स्तर की गुणवत्ता वाली आधारिक संरचना उपलब्ध नहीं है। अच्छी सुविधाओं का विकास करने के लिये अत्यधिक धन की आवश्यकता होगी जो भारत जैसे राष्ट्र के लिये संभव नहीं है। उदाहरण के लिये यदि हम उच्च कोटि का शोध करना चाहते हैं तो हमें शोधकर्मियों तथा अध्यापकों को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उन पत्र–पत्रिकाओं को उपलब्ध कराना अति आवश्यक है जो उस क्षेत्र में देश या विदेश में प्रकाशित होती हैं। यह सबको मालूम है कि कोई भी विश्वविद्यालय किसी एक विषय में तीन या चार से अधिक जर्नल पैसों की कमी के कारण नहीं मँगा पाता। इस समस्या का समाधान सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग से किया जा सकता है। बहुत सारे जर्नल इन्टरनेट पर निःशुल्क उपलब्ध हैं और बहुतों का शुल्क भी बहुत ....

शेष पृष्ठ 7 पर

जलवायु

भारत के सन्दर्भ में मानसून

ज्योति भाई

'मानसून' अरबी भाषा के 'मौसिम' शब्द से निकला है। किसी जमाने में अरब सागर के पश्चिमी तट के निवासी अपनी नावों के लिये हवा का सहारा लेते थे, क्योंकि हवा छह महीने तक लगातार नियमित रूप से, एक ही दिशाा में बहती थी। मौसम के अनुसार बहने वाली इस हवा का नाम 'मौसिम' रख दिया। यही मौसिम अरबी से पुर्तगाली और डच भाषाओं में होते हुये अब मानसून बन गया।

भारत सहित कई देशों से मानसून का गहरा संबंध है। म्याँमार, थाईलैण्ड, हिंदेशिया, कंबोडिया, दक्षिणी चीन, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, पूर्वी अफ्रीका तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया प्रमुख मानसूनी प्रदेश हैं। हमारे देश में 88 फीसदी वर्षा दक्षिण पश्चिम मानसून के द्वारा होती है जिसमें ताप, नमी, वायुदाब, वायुगति और वायुदिशा जैसे घटक काफी प्रभावकारी होते हैं।

कालिदास के काव्य में

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे माघमाश्लिष्ट सानुं
वप्रक्रीडा गजइव प्रेक्षणीयं ददर्श

मानसून की उत्पत्ति को कई वैज्ञानिकों ने अपने अपने ढंग से समझाया है। लेकिन बोर्दे नामक वैज्ञानिक की व्याख्या को ज्यादा मान्यता मिली है। बोर्दे के अनुसार वायुमण्डल की ऊपरी सतह में होने वाले वायवीय परिवर्तन ही मानसून की उत्पत्ति के मूल कारण हैं। उत्तरी गोलार्द्ध के उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में, मई तथा जून में, अधिक गर्मी पड़ती है। इस कारण इन महीनों में इस क्षेत्र का भूभाग, विशेषकर इसके मध्य का पठारी हिस्सा अधिक गर्म हो जाता है। इस कारण पृथ्वी की अन्तर्महाद्वीपीय वायु पट्टियों में परिवर्तन आ जाता है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध तक फैली हुई हिन्द महासागर की विशाल जलराशि का तापमान एशियाई भूखंड के तापमान से काफी कम रहता है। दक्षिण हिन्द महासागर में, उच्च वायु दाब की स्थिति निर्मित हो जाती है।

मानसून एक्सपेरीमेंट (मोनेक्स) कार्यक्रम के वैज्ञानिकों और सोवियत वैज्ञानिकों ने बड़े पैमाने पर मानसूनी क्षेत्र का सर्वेक्षण किया। इसके बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, मानसूनी पवन के बहाव की दिशा निर्धारण में, तिब्बत के पठारी भाग का महत्वपूर्ण स्थान है। मध्य एशिया का यही भाग निम्न वायुदाब का क्षेत्र उत्पन्न करता है, जिससे वायुमण्डल के ऊपरी हिस्से में खलबली मचती है और हिन्द महासागर से एशिया महाद्वीप की ओर मानसून का चलना आरम्भ होता है।

ये मानसून हिन्द महासागर के सुदूर, दक्षिणी भाग (आस्ट्रेलिया और कालागासी के मध्य के इलाके) से चलते हैं। एशिया के मध्य में न्यूनदाब वाले क्षेत्रों में पहुँचने से पूर्व इन हवाओं को विषुवत रेखा पार करनी होती है। हिमालय पर उत्पन्न न्यूनदाब का खिंचाव पवन के इस बहाव को और तेज कर देता है। इस प्रकार तेज गति और कजरारे बादलों के साथ मानसून सागर से थल की ओर चल पड़ता है।

हिन्द महासागर के सुदूर दक्षिणी हिस्से से उत्तर की ओर बहने वाली इन हवाओं को, सैकड़ों मील का रास्ता तय करना पड़ता है। इतनी लम्बी दूरी तक सागर पर से बहने के कारण ये हवाएँ नमी ग्रहण कर लेती हैं। तपी हुई भूमि के ऊपर की गर्म हवा और जल पूरित हवाओं के मिलन से, वातावरण आंदोलित हो जाता है। फलस्वरूप तेज झंझावात, गर्जन–तर्जन तथा बिजली की चमक के साथ पहली वर्षा के रूप में बरसात की शुरूआत होती है।

उमड़ते–घुमड़ते बादलों के सृजन का सामान्य सिद्धान्त यह है कि सूरज की गर्मी से प्रचंड ताप पाकर, समुद्रों, नदियों और तालाबों का पानी बड़ी मात्रा में भाप बनकर आसमान में पहुँचता है जो बाद में घनीभूत होकर नम और ठंडे स्थानों पर छोटी–छोटी गोलियों के रूप में परिवर्तित होकर, वर्षा का कारण बनती हैं। ये गोलियाँ पानी की भी होती हैं और बर्फ की भी। जब पानी की

होती हैं तो बूँदों के रूप में जमीन पर बरसती हैं और बर्फ की हों तो ओलों या बर्फ के रूप में। पानी की यह भाप जब आकाश से उतर पर पृथ्वी की राह लेती है तो कोहरा कहलाती है।

भारत में होने वाली वर्षा का लगभग 70 प्रतिशत दक्षिण पश्चिम मानसून से होता है। यह दक्षिण पश्चिम मानसून अरब सागर से होता हुआ, भारत के पश्चिमी तट पर आता है। यह लगभग चार महीनों तक यहाँ भरपूर जल बरसाता है। परन्तु वर्षा की मात्रा में कोई समानता नहीं होती। मानसूनी वर्षा की दूसरी विचित्रता यह है कि वर्षा की मात्रा स्थानीय भिन्नता रहते हुये भी वर्षा से प्राप्त जल की सम्पूर्ण राशि की मात्रा में समानता रहती है। इसका मतलब यह है कि किसी क्षेत्र में अतिवृष्टि से नदियों में भयंकर बाढ़ आ जाती है, फसलें बह जाती हैं और जन–धन की अपार क्षति होती है। दूसरी ओर कहीं–कहीं अनावृष्टि या कम वर्षा की स्थिति पैदा हो जाती है, जिससे देश का कोई दूसरा भाग सूखे की चपेट में आ जाता है।

मानसून का एक प्रकार चक्रवाती वर्षा का है। इस प्रकार की वर्षा में ठंडी और गर्म दोनों प्रकार की हवाओं का योगदान होता है। ये दो प्रकार की वायुराशियाँ स्थलीय ओर महासागरीय क्षेत्रों में प्रायः एकसाथ उत्पन्न होती हैं। स्थलीय वायुराशियाँ गरम प्रकृति की होती हैं जबकि महासागरीय ठंडी प्रकृति की होती हैं। एक ही समय में जब ये दोनों प्रकार की वायुराशियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो इनके बीच एक वाताग्र का निर्माण हो जाता है। वाताग्र का अर्थ यह है कि तीव्रवेग वाली गरम वायुराशियाँ प्रायः मन्द चाल वाली ठंडी वायुराशि में घुस जाती हैं। भीतर घुस आई इस ठंडी वायुराशि को गरम वायुराशि तीन तरफ से घेरने की कोशिश करती हैं जिससे चक्रवात का जन्म होता है।

मानसून की भविष्यवाणी

मानसून की भविष्यवाणी एक रोचक विषय है। इसीलिये उनके आगमन, उनसे होने वाली वर्षा की मात्रा और देश के विभिन्न भागों में उनके वितरण आदि के बारे में पूर्वानुमान लगाने में मौसमवैज्ञानिकों की सदा रुचि रही है। प्राचील काल से ही, बिना किसी उपकरण के, और बिना विश्वव्यापी अध्ययन के, मात्र अपनी अवलोकन क्षमता के आधार पर, लोग मानसून की भविष्यवाणी करते रहे हैं। ऐसा वे जीव–जन्तुओं के कुछ असामान्य व्यवहार और अपने अनुभवों के आधार पर किया करते
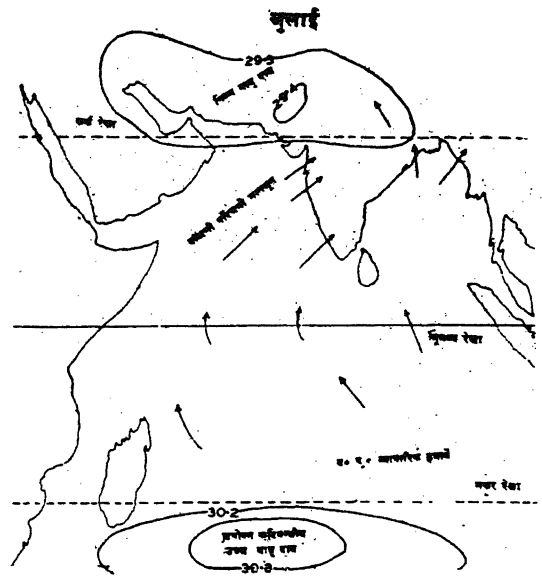
थे। ग्रामीण कहावतों के महापण्डित घाघ और भड्डरी हमारे देश के प्रसिद्ध मानसून विशेषज्ञ हो चुके हैं। आज से पाँच सौ वर्ष पहले मानसून और विभिन्न वस्तुओं के संबंध में कही गई इनकी उक्तियाँ काफी हद तक प्रासंगिक बनी हुई हैं।

अब मानसून की भविष्यवाणी मौसम उपग्रहों द्वारा एकत्रित किये जाने वाले आँकड़ों के विश्लेषण के आधार पर लगाये गये पूर्वानुमानों के आधार पर की जाती है। ये कृत्रिम उपग्रह वास्तव में अनेक वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त एक छोटी प्रयोगशाला की तरह काम करते हैं। ये उपग्रह प्रक्षेपण केन्द्रों से, अंतरिक्ष यानों द्वारा अंतरिक्ष में भेजे जाते हैं। उपग्रह में लगे उपकरण वायुमण्डल की ऊपरी परतों के तापमान, वायुदाब, आर्द्रता, सौर विकिरण, बादल आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी पृथ्वी स्थित प्रयोगशाला को प्रेषित करते रहते हैं, जहाँ सम्पूर्ण आँकड़ों का विश्लेषण कम्प्यूटर की मदद से किया जाता है और मौसम का पूर्वानुमान लगता जाता है। दूरदर्शन में नित्य ही मौसम की जानकारी इसी आधार पर दी जाती है।

यहाँ इस बात पर बल देना उपयुक्त होगा कि मानसून पवनों के आगमन तथा वर्षा की मात्रा और उसका वितरण आदि कुछ ऐसी घटनायें हैं जिनमें अनेक कारक एकसाथ कार्य करते हैं। विडंबना यह है कि इनमें से कुछ कारकों के बारे में हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित

है और उनके अन्तःप्रभावों तथा अन्य कारकों के साथ उनकी अन्तः क्रियाओं के बारे में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। इसीलिये कितने भी परिष्कृत यंत्रों की मदद से, और कितने ही परिश्रम से लगाये पूर्वानुमान वास्तव में अनुमान ही होते हैं। सही भविष्यवाणियाँ नहीं! इसी कारण पूर्वानुमानों के अनुसार किसी क्षेत्र विशेष पर बहुत अच्छी वर्षा होनी चाहिये फिर भी वहाँ कम बारिश होती है।

मानसून हमारे लिये महज एक वायुमंडलीय परिघटना भर नहीं है बल्कि यह सूखे, अकाल की आशंकाओं से निपटने का एक प्राकृतिक साधन भी है। इसीलिये हमारे यहाँ मानसून को इंद्र की कृपा से जोड़ा गया है। मानसून समय पर आ जाए और भरपूर जल वर्षा कर दे तो किसान मान लेते हैं कि इंद्र देव इस बार प्रसन्न हैं। प्रायः पहली जून से मानसून के उमड़ते-घुमड़ते बादल सितम्बर तक इस देश के विभिन्न भागों में आच्छादित रहते हैं। इस तरह ये शेष वर्ष के लिये न सिर्फ धरती की प्यास बुझा जाते हैं बल्कि तृषित मानव को अकाल-सूखे की दुश्चिंताओं से भी मुक्त कर देते हैं।

ग्रामोदय प्रकाशन
घूरपुर, इलाहाबाद-211 110

पृष्ठ 4 का शेष

कम है। इसी प्रकार हम सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग से कम खर्च में लोगों को प्रशिक्षित कर सकते हैं। किसी भी विषय में सूक्ष्म स्तर पर विशेषज्ञता हासिल करने के लिये सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग अति आवश्यक हो गया है।

सुदूर शिक्षा

जनसंख्या में वृद्धि के कारण उच्च शिक्षा की इच्छा रखने वाले तमाम छात्रों को परम्परागत महाविद्यालय या विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं मिल पा रहा है। ऐसे में योजनाकारों तथा प्रशासकों को उन विकल्पों के विषय में चर्चा करना आवश्यक हो गया है जिनके माध्यम से कुछेक विषयों में पत्राचार छात्रों को गुणवत्ता वाली उच्च शिक्षा दी जा सके। बहुत सारे विभागों ने कुछेक विषयों में पत्राचार पाठ्यक्रम शुरू किये हैं। इन पाठ्यक्रमों में छात्रों को मुद्रित सामग्री उनके स्थान तक पहुँचाई जाती है। इनमें से कुछ जगहों पर पूरक के रूप में तीन चार सप्ताह का सम्पर्क कार्यक्रम भी चलाया जाता है। मुद्रित सामग्री की अपनी सीमायें होती हैं परन्तु सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से सुदूर शिक्षा को नये आयाम मिले हैं। ऑडियो वीडियो सामग्री, कम्प्यूटर की सहायता तथा इन्टरनेट की सुविधा के कारण शिक्षा की प्रक्रिया में गुणात्मक परिवर्तन आया है। आज ऑडियो तथा वीडियो कान्फ्रेन्सिंग आसानी से की जा सकती है। सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग उच्च शिक्षण तथा सीखने की प्रक्रिया में, पाठ्यक्रम निर्धारण में तथा प्रवेश इत्यादि लेने में बहुत ही अच्छे ढंग से किया जा सकता है।

गुणवत्ता व्यवस्थापन

आज उच्च शिक्षा की गुणवत्ता से लाभान्वित होने वाले या उसका प्रयोग करने वाले लोग खुश नहीं हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि आज उच्च शिक्षा में आवश्यक बदलाव ले आना जरूरी है, विशेष रूप से 'इनपुट' प्रक्रियाओं तथा 'आउटपुट तथा फीडबैक' में। उच्च शिक्षा के महत्वपूर्ण इनपुट छात्र, अध्यापक, पाठ्यक्रम की सुविधायें इत्यादि हैं। उच्च शिक्षा की आज की स्थिति संभवतः उसके पिछले मूल्यांकन तथा मॉनिटरिंग की कमी के कारण है। सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग से उच्च शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था की गुणवत्ता में, व्यवस्थापन में अभूतपूर्व सहयोग लिया जा सकता है।

अध्यक्ष,
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार)
पश्चिमी खण्ड 7, आर.के.पुरम, नई दिल्ली-110066

बिजली का गिरना यानी तडितपात

डॉ० आशुतोष मिश्र

जब भी आकाश में बादल घिरते हैं तो प्रच्छन्न गड़गड़ाहट की आवाज सुनाई पड़ती है। किन्तु प्रायः बादलों के बीच रह रह कर बिजली कौंधती है और उसी के साथ कड़कड़ाहट की कर्णकटु ध्वनि भी सुनाई पड़ती है जिससे कलेजा तक काँप जाता है। कभी कभी धूल भरी आँधी फिर आकाश में मटमैले तेज भागते बादल, उनकी गड़गड़ाहट और उनके बीच बिजली की कौंध लगी रहती है। किन्तु इसके साथ जो सबसे विस्मयकारी घटना घटती है वह है बिजली का गिरना जिसे तडित पात या वज्रपात कहा जाता है। इसके फलस्वरूप मकान और वृक्ष क्षतिग्रस्त हो जाते हैं और मनुष्यों तथा पशुओं की मृत्यु हो जाती है। जिन लोगों ने किसी मकान या वृक्ष में बिजली गिरते देखा है वे जब आँखों देखा वर्णन करते हैं तो उसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं और ताण्डव नृत्य का दृश्य आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। अखबारों में प्रायः बिजली की चपेट में आये मनुष्यों एवं पशुओं के आहत होने के समाचार प्रायः आते रहते हैं। गाँवों में इसे इन्द्र का कोप कहते हैं। पौराणिक आख्यानों में इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों के छेदन का प्रसंग आता है। वह और कुछ नहीं केवल तडितपात है (हम जानबूझकर विद्युत के बजाय बिजली शब्द का व्यवहार कर रहे हैं)।

आपने देखा होगा कि बिजली कड़की और आकाश मार्ग में प्रकाश की धारा बिखेरती हुई पृथ्वी में आकर समा गई। न जाने कितना प्रकाश उत्सर्जित होता है! मानो किसी वेल्डिंग की दुकान पर निकलने वाली चिंगारियाँ हों।

तडित क्या है ?

जब आकाश के किसी भाग में इतना विद्युत आवेश एकत्र हो जाता है कि वह वायु के प्रतिरोध की परवाह न करते हुये भूमि की दिशा में या क्षैतिज दिशा में विसर्जन (Discharge) के रूप में प्रकट होता है तो उसे आकाशीय बिजली (Lightening) या बिजली कहते हैं। साहित्य में तडित शब्द प्रयुक्त होता है। आकाश के मेघों को चीरते हुये पृथ्वी की ओर आने वाली तीव्र प्रकाश धाराओं को ही बिजली या तडित कह सकते हैं। प्रायः यहाँ बिजली हमेशा काले कजरारे या कपासी मेघों के साथ रहती है। किन्तु यह बर्फीले तूफानों तथा धूल भरी आँधियों में और कभी कभी विस्फोट करने वाले ज्वालामुखियों की धूल और गैसों में भी देखी जाती है। बिजली की चमक तडित झंझा के समय बादलों के भीतर, बादलों के बीच देखी जा सकती है। कभी कभी तो इतनी बार बिजली चमकती है कि आँखें मुंद जाती हैं। आँखों के सामने दीपावली के अवसर पर पटाखों के लगातार छूटने जैसा दृश्य उपस्थित होता है। लोग इस दृश्य से भयभीत होते रहे हैं जो स्वाभाविक ही है किन्तु थोड़ी सी असावधानी से तडितपात की चपेट में आने पर मृत्यु ध्रुव है।

तडित की उत्पत्ति

सर्वप्रथम बादल के भीतर एक वैद्युत ध्रुव बनता है। चूँकि बादल के भीतर आवेश दूर दूर तक स्थित रहते हैं अतः आवेश के अनेक क्षेत्र बन जाते हैं। ऐसा प्रस्ताव है कि गर्जनमेघ के भीतर आवेशों का वितरण इस तरह होता है कि पर्याप्त धन आवेश बादल के ऊपरी क्षेत्र में चला जाता है और बादल के निलचे भाग में पर्याप्त ऋण आवेश उत्पन्न हो जाता है। बादल के सबसे निचले भाग में संचित विद्युत आवेश बहुत अधिक हो जाता है तो विद्युत विसर्जन होता है। पानी की बूँदों तथा हिम कणों के बीच पारस्परिक क्रिया होने से विद्युत आवेश का पृथक्करण होता रहता है।

दक्षिण अफ्रीका के विज्ञानी डी.जे. मलान ने बादल के भीतर आवेश वितरण का जो प्रारूप तैयार किया है वह चित्र में प्रदर्शित है।

ज्ञात हो कि पृथ्वी से 10 किलोमीटर की ऊँचाई पर बादल में धन आवेश रहता है जहाँ पर तापमान काफी निम्न होता है। यह -45^0 से0 होता है। बादल में ऋण आवेश पृथ्वी पर 5 किलोमीटर की ऊँचाई पर रहता है। धन तथा ऋण आवेश सदैव समान मात्रा में रहते हैं। यह

मात्रा 40 कूलाम है। 2 किलोमीटर की ऊँचाई पर ताप $+5^0$ से0 रहता है और धन आवेश अत्यल्प रहता है। बादल तथा धरती के बीच का वैद्युत विभव 10^8 वोल्ट होता है। विद्युत आवेश हिमकणों या जल की बूँदों या दोनों में निवास करता है। विद्युत विसर्जन की क्रिया किन्हीं दो विपरीत आवेश वाले क्षेत्रों में या फिर बादल तथा आसपास की वायु के मध्य हो सकती है।

जो बिजली बादल से धरती तक आती है वह बहुत महत्वपूर्ण हैं। जब भी अल्प धन आवेश तथा ऋण आवेश क्षेत्र के बीच वैद्युत विभंग होता है तो बादल से लेकर धरती तक चमक उत्पन्न होती है। यह चमक 50—50 माइक्रोसेकेंड के अन्तराल पर 50 मीटर लम्बी सरणि के रूप में दिखती है जिसमें धरती की ओर अनेक शाखायें फूटी रहती हैं। इन शाखाओं में कई सौ एम्पियर की विद्युत धारा प्रवाहित होती रहती है और यह धारा 1.5×10^5 मीटर प्रति सेकण्ड के वेग से (यह वेग प्रकाश के वेग का 1/2000 होता है) आगे बढ़ती हैं। इस चमक का व्यास कुछ सेंटीमीटर से लेकर कुछ मीटर तक रहता है। किन्तु वास्तव में वह भीतरी भाग जिसमें से धारा प्रवाहित होती है एक दो सेंटीमीटर ही होता है। ज्यों ज्यों चमक की शाखायें धरती के निकट पहुँचती हैं इस चमक की धारा में 5 कूलाम आवेश एकत्र हो जाता है जिससे धरती पर खड़े गिरजाघर की चोटी, मकान या अन्य वस्तु से ऊपर की दिशा में उत्सर्जन होता है जो धरती की सतह से 50 मीटर की ऊँचाई पर मुख्य धारा से मिलता है। इस समय मिलन बिन्दु पर बादल धरती से शार्ट सरकिंट हो जाता है जिससे अत्यन्त चमकीला घात उत्पन्न होता है। इस तरह 20 हजार से 2 लाख ऐम्पियर की धारा उत्पन्न हो सकती है और शाखाओं में 30 हजार केल्विन ताप पैदा होता है। चूँकि यह मिलन धरती के निकट होता है इसलिये वापसी घात उन उन बिन्दुओं पर हो सकता है जहाँ—जहाँ उपशाखा प्रमुख प्रवाह से मिलती है और तीव्र चमक उत्पन्न होती है। यह घात अत्यल्प समय में बादल तक पहुँच जाता है। इसके विपरीत ऊपर से नीचे आने वाला घात उसी दूरी को 20 मिलीसेकंड में तय करता है जिससे चमक रुक रुक कर उत्पन्न होती दिखती है।

इस चमक के समय वायुमण्डल की गैसों का आयनीकरण होता है और प्लाज्मा बनता है जिसका ताप 30 हजार केल्विन होता है तथा दाब 10 वायुमण्डल तक पहुँच जाता है। चूँकि वापसी घात की शाखायें अतिस्वनिक
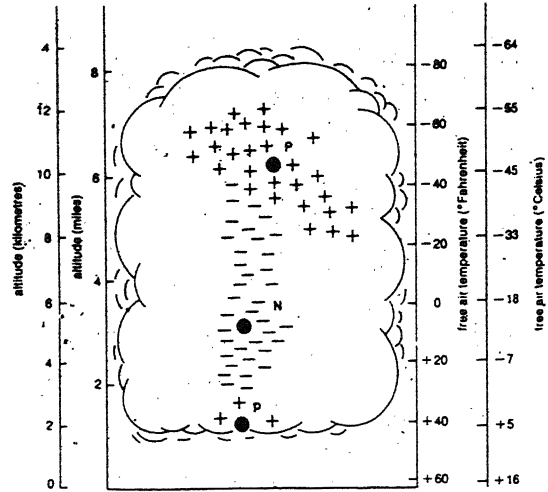
Figure 35: Probable distribution of the thundercloud charges P, N, and p (according to D.J. Malan). Point charges are indicated by solid black circles.

गति से फैलती हैं इसलिये घोर गर्जन उत्पन्न होता है। नीचे से ऊपर आने वाली चमक से ऐसा लगता है कि बिजली की चमक नीचे से ऊपर जा रही है।

यह चमक प्रायः बादल के भीतर ही रहती है। शायद ही यह एक बादल से दूसरे बादल को जाती दिखे। जब बादल के भीतर बिजली चमकती है तो बादल 0.2 सेकंड के लिये प्रकाशित हो उठता है। इस अवधि में 20 कूलाम के तुल्य विसर्जन होता है जो बादल से धरती के बीच विसर्जन के तुल्य है। चमक में 1000—4000 ऐम्पियर विद्युत धारा रहती है।

आखिर गर्जन क्यों ?

जब वायु से स्फुलिंग या बिजली की चमक गुजरती है तो वायु तेजी से गर्म होती है और एक बेलनाकार स्तम्भ अतिस्वनिक वेग से फैलता है। एक या दो मीटर के भीतर ही घात तरंग क्षीण होकर ध्वनि तरंग बन जाती है। गर्जना के रूप में सुनाई पड़ने वाली ध्वनि धारा की पूरी लम्बाई से आती है किन्तु बीच के माध्यम द्वारा अवरोध से वह रह रह कर गड़गड़ाहट भयंकर गर्जन के रूप में सुनाई पड़ती है। चूँकि प्रकाश 2993000 किलोमीटर की गति से चलता है और ध्वनि 335 मीटर की गति से अतः पहले चमक दिखती है और तब गर्जन ध्वनि सुनाई पड़ती है। ध्यान रहे, 24 किलोमीटर के ऊपर होने वाली चमक की गर्जना धरती पर नहीं सुनाई पड़ती। ....शेष पृष्ठ 12 पर

मौसम के तेवर को पहचानें

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

इलाहाबाद में मैं पिछले 38 वर्षों से रह रहा हूँ। यहाँ गर्मी के मौसम में, जब से मैं महसूस कर रहा हूँ, शिद्दत की गर्मी पड़ती है। गर्मी और लू के कारण सड़कों पर लोग कम ही दिखते हैं। जीवन कुछ मंथर गति से चलने लगता है। किन्तु इन दिनों जिस तरह सूरज तप रहा है, उससे ऐसा अनुमान है अब गर्मी अपने चरम पर पहुँचेगी। एक चीज़ जो और इन दिनों देखने में आई है वह यह कि मौसम में कुछ परिवर्तन आया है। सच्चाई यह है कि मौसम तुनकमिजाज़ हो गया है। मानव ने अपनी अविवेकपूर्ण गतिविधियों से प्रकृति को क्रुद्ध कर दिया है और अब प्रकृति बदले के 'मूड' में है। यह स्थिति मात्र इलाहाबाद की नहीं है, सारे संसार के मौसम में परिवर्तन दिख रहा है।

जलवायु संबंधी अध्ययनों, परियोजनाओं से जो आँकड़े प्राप्त हुये हैं उनके विश्लेषण से ऐसा लगता है जैसे हमें पहले से कहीं अधिक सर्दी, गर्मी और वर्षा का सामना करना होगा। मौसमों का यह बदला चेहरा स्वाभाविक रूप से भयानक दिखता है। अब समय आ गया है जब हमें न केवल चौकन्ना रहना होगा, वरन् उन सभी गतिविधियों को नियंत्रित करना होगा, जिनके कारण मौसम का तेवर बदला है। आने वाले समय में हम अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, बाढ़, जमा देने वाली सर्दी और अनेक प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं की चपेट में होंगे। इस संबंध में 'डाउन टु अर्थ' (Down To Earth) नामक पत्रिका के 15 फरवरी 2001 अंक में प्रकाशित लेख 'स्वेट एण्ड शिवर' (Sweat and Shiver) काफी चौंकाने वाला है।

वैज्ञानिकों और अनुसंधानकर्ताओं का यह निश्चित मत है कि गर्मी, सर्दी और वर्षा की उग्र स्थितियाँ प्राकृतिक सम्पदाओं और मानव समाज को अवश्य ही प्रभावित करेंगी। 1987 के बाद इस प्रकार की 360 विनाशकारी घटनाओं में प्रत्येक में 5 मिलियन अमेरिकी डॉलर का नुकसान हुआ है।

1988 में आये एक भयानक मिच तूफ़ान में मध्य अमेरिका में 10,000 से अधिक लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा था। 'साइंस' (Science) नामक पत्रिका के जिल्द 289, अंक 5484 में प्रकाशित सूचना के अनुसार 1992 में आये एक अन्य विनाशकारी एण्ड्रियू तूफ़ान में 30 बिलियन अमेरिकी डॉलर की हानि हुई थी।

मौसमी तीव्रताओं को मोटे तौर पर दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो प्रतिदिन का तापमान और वार्षिक वर्षा संबंधी आँकड़े और दूसरा तूफ़ान और अनावृष्टि जैसी कभी-कभार घटने वाली आपदाओं से संबंधित आँकड़े। इस प्रकार के आँकड़ों के अध्ययन से जो संकेत मिलता है वह यह कि ऐसी घटनाओं के मूल में 'हरित पौधगृह गैसों' की वृद्धि है जो जलवायु को प्रभावित करती है।

उच्च ताप

आमतौर से विश्व का औसत तापमान स्थिर होना चाहिये किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में तापमान में 0.6^{0} सेंटीग्रेड की वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का कारण प्रतिदिन का अधिक तापमान नहीं, वरन् न्यूनतम तापमान है। अमेरिका में किये गये एक अध्ययन के अनुसार 1950 के वर्षों की तुलना में 1990 के वर्षों में पालामुक्त मौसम 11 दिन पहले आ गया। यहीं किये गये एक अन्य अध्ययन से पता चला कि ऐसे दिनों में कमी पायी गयी जब पानी जमकर बर्फ हो जाता है। इसी प्रकार के आँकड़े आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में भी किये गये अध्ययनों से प्राप्त हुये जो यह दर्शाते थे कि प्रतिदिन के न्यूनतम तापमान में वृद्धि और हिमीकरण तापमानों में कमी देखी गई। यही नहीं, आभासी तापमान (मानव शरीर पर तापमान और आर्द्रता का मिला-जुला प्रभाव

मनुष्य के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है), में भी अमेरिका में वृद्धि पायी गई। वास्तव में वातावरण में जलवाष्प की मात्रा में बढ़ोत्तरी आंशिक रूप से आभासी तापमान में बढ़ोत्तरी का कारण होती है। विश्व के अन्य देशों में किये गये इस प्रकार के अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रतिदिन का न्यूनतम तापमान तो समान रूप से इस संबंध में प्रभावी है, किन्तु प्रतिदिन के अधिकतम तापमान के अध्ययनों से इस प्रकार के संकेत नहीं मिलते हैं।

अति वृष्टि

बदलते हुये समय के साथ वर्षा के चरित्र में भी परिवर्तन आता है। 1910 के बाद अमेरिका में 101.6 मिलीमीटर (4 इंच) और 50.8 मिलीमीटर (2 इंच) से अधिक वर्षा वाले दिनों की संख्या बढ़ी है। इससे 5–10 प्रतिशत कुल वार्षिक वृष्टिपात में वृद्धि हुई है। वास्तव में विश्व के अधिकतर देशों में जहाँ भी इसी प्रकार का वृष्टिपात हुआ है, वहाँ वृष्टिपात की मात्रा मौसम की तीव्रता में परिवर्तन पर निर्भर रही है।

विश्व के कुल क्षेत्र के अधिकांश में तो अधिक जलवृष्टि की मात्रा बढ़ी है, किन्तु अपेक्षाकृत शुष्क आँधी–तूफानों की स्पष्ट प्रवृत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती है। वैसे 1940 के वर्षों के बाद तेज़ तूफ़ानों की संख्या घटती नज़र आयी है।

जलवायु मॉडल

वातावरण में हरित पौधगृह गैसों की मात्रा के बढ़ने का जलवायु पर क्या प्रभाव पड़ता है, इससे संबंधित अनुरूपण मॉडलों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे–जैसे हरित पौधगृह गैसों की मात्रा वातावरण में बढ़ती है उसी अनुपात में धरती के सतह का तापमान बढ़ता है अर्थात् धरती गर्माती जाती है। इससे वातावरण में नमी बढ़ती है, जिससे वृष्टिपात की दर बढ़ जाती है। ये मॉडल भविष्यवाणियाँ करते हैं– यथा औसत तापमान अपेक्षाकृत शुष्क होंगे, दैनिक तापमान श्रृंखला में कमी, अत्यधिक ठंड में कमी और वर्षा में वृद्धि। हाल में किये गये अध्ययनों से पहले के अध्ययनों में समानता दिखाई देती है। दोनों अध्ययनों का सार है–

1. औसत तापमान में वृद्धि जो आगे और भी बढ़ेगी।
2. कम तापमान वाले दिनों में कमी।
3. जलवृष्टि की तीव्रता में बढ़ोत्तरी।
4. विश्व के मध्य महाद्वीपी क्षेत्रों में गर्मियों में सूखे में वृद्धि और वर्षा में कमी।
5. लम्बे सूखे समय का बार–बार आना।

कुछेक नये अध्ययनों से पता चलता है कि प्रशांत महासागर के क्षेत्र में जलवायु पैटर्न का झुकाव एल नीनो (Al Nino) जैसा होगा। सागर की सतह के तापमान में भी परिवर्तन होगा। एल नीनो के प्रभाव से अधिक वाष्पीकरण होगा और परिणामस्वरूप अधिक वर्षा होगी। प्रशांत के मध्य और पूर्वी क्षेत्रों में तीव्र वर्षा होगी और इसी के साथ आस्ट्रेलिया में कम बारिश होगी। किन्तु आंधी और चक्रवात के अध्ययन संबंधी मॉडलों के अध्ययन के पश्चात् का कैसा चरित्र होगा, कैसा व्यवहार होगा, यह निश्चित नहीं है। हाँ, जिस एक विषय पर सभी वैज्ञानिक सहमत हैं वह है पौधगृह गैसों की बढ़ती मात्रा का वातावरण पर प्रभाव।

प्रभाव

यह निर्विवाद सत्य है कि इक्कीसवीं शती में हवा में पौधगृह गैसों की लगातार बढ़ती हुई मात्रा के परिणामस्वरूप प्राकृतिक आपदाओं और विध्वंसक घटनाओं का बढ़ना निश्चित है। एक अनुमान के अनुसार 1950 के वर्षों में जहाँ अमेरिका को प्राकृतिक आपदाओं के कारण 100 मिलियन डॉलर प्रतिवर्ष की हानि उठानी पड़ी वहीं 1990 के वर्षों में यह हानि बढ़कर 6 बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष आंकी गई। इस अवधि में (1990 के वर्षों में) अत्यधिक विनाशकारी आँधियाँ आईं। यही नहीं, ओलों और तेज़ हवाओं से जहाँ 1950 के वर्षों में प्रतिवर्ष 30 मिलियन अमेरिकी डॉलर की क्षति उठानी पड़ी, वहीं 1990 के वर्षों में यह आर्थिक क्षति बढ़कर प्रतिवर्ष 320 मिलियन डॉलर हो गई।

बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण सुरक्षित स्थानों में आवास–सुविधा न मिलने के कारण लोगों को विवश होकर आंधी–तूफ़ान वाले क्षेत्रों में पलायन करना पड़ा। बढ़ती जनसंख्या के प्रभाव से अत्यधिक सर्दी और अत्यधिक गर्मी की स्थितियों में भी वृद्धि हुई। ऐसी आशंका है कि आने वाले वर्षों में बिगड़ैल मौसमों के

कारण तीव्र विनाशकारी स्थितियाँ पैदा होंगी।

जलवायु और मौसम के प्रभाव से वनस्पति और प्राणि प्रजातियाँ भी अछूती नहीं रहीं। धरती के बढ़ते ताप के प्रभावों को देखते हुये जीव जातियों में परिवर्तन की भविष्यवाणियाँ पहले भी की गई हैं। जलवायु में परिवर्तन जीव जातियों की संख्या, विवरण, आकृति, संख्या और प्रकृति पर विपरीत प्रभाव डालता है। इसके कारणों में एक कारण है तापमान का किसी विशेष अवसीमा या दहलीज़ पर पहुँचना। तापमान का परिवर्तन जीव जाति की शारीरिक संरचना के लक्षणों में बदलाव तो लाता ही है, साथ ही साथ वितरण के फैलाव में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी प्रजाति के इस प्रकार के वितरण में बदलाव को उत्तरी अमेरिका में पायी जाने वाली एक खास किस्म की तितली के उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है। अमेरिका में इस तितली को एडिथ की चेकस्पॉट तितली के नाम से जाना जाता है। तापमान में परिवर्तन के परिणामस्वरूप इस तितली ने अपने वितरण की दूरी को उत्तर दिशा की ओर 92 किलोमीटर तब बढ़ा लिया था।

आज ज्ञान–विज्ञान के जिस शिखर तक पहुँच सके हैं उसके आधार पर यह कहना कठिन है कि मौसमों का परिवर्तन प्रजातियों की सामाजिक संरचना और स्वभाव को किस प्रकार प्रभावित करता है, किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि तापमान में परिवर्तन से अत्यधिक सर्द और अत्यधिक गर्म मौसमों की स्थितियाँ निर्मित होती हैं। अतएव अब समय आ गया है जब हमें बदलते मौसमों के मिजाज़ को सावधानीपूर्वक समझकर ही अपने अगले क़दम उठाने होंगे।

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211 002

पृष्ठ 9 का शेष.........

तडितपात उच्च वोल्टता के कारण अत्यन्त घातक होते हैं। जान माल की हानि इसी कारण होती है।

सुरक्षा के उपाय

तडितपात से बचने के लिये उच्च स्थानों (बिन्दुओं) पर विद्युच्चालक या विद्युत दण्ड (Lightening Conductor) स्थापित किया जाता है जिसमें से होकर बिजली जमीन के भीतर चली जाती है और कोई हानि नहीं पहुँचती।

यदि तडितपात के समय आप खुले मैदान में हों तो आप किसी गड्ढे में या गहरे स्थान में छिप कर अपनी रक्षा कर सकते हैं। अच्छा हो कि बिजली गिरने के समय खुली जगह छोड़कर घर के भीतर चले जायें। इससे बचाव हो जायेगा।

विद्युत दण्ड (Lightening Rod)

यह धातु का (प्रायः तांबे का) दण्ड या लट्ठा होता है जो बिजली गिरने से इमारतों को क्षतिग्रस्त होने से बचाने के उद्देश्य से इमारत के सबसे ऊँचे स्थान पर स्थापित किया जाता है। बादल के निकट होने से प्रेरण द्वारा इसमें विपरीत आवेश बन जाता है और बिजली इसी दण्ड से होकर जमीन के भीतर चली जाती है। इसे विद्युत चालक भी कहते हैं।

चूँकि बिजली सदैव सबसे ऊँचे स्थित वस्तु पर प्रहार करती है इसलिये विद्युत चालक को ऊँचे स्थान पर लगाकर उसे न्यून प्रतिरोधकता केबिलों के द्वारा जमीन से जोड़ दिया जाता है। इमारतों में लगे विद्युतचालक के द्वारा बिजली मिट्टी में चली जाती है और पानी के जहाज में लगे विद्युत चालक से बिजली पानी में समा जाती है। विद्युत चालक बिजली से सुरक्षा इसलिये प्रदान कर पाता है क्योंकि यह इमारत के गैरचालक भागों से विद्युत धारा (बिजली) को मोड़ देता है जिससे विद्युत धारा न्यूनतम प्रतिरोध का का मार्ग अपना कर दण्ड तथा केबल से होकर प्रवाहित होती है। विद्युत चालक न होने से गैर चालक पदार्थ का प्रतिरोध अत्यधिक होता है इसलिये विद्युत धारा का मार्ग गर्म हो जाता है, जिससे प्रायः आग लग जाती है और अन्य प्रकार की क्षति होती है।

प्लेनो, टेक्सास
यू0एस0ए0

ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट

✍ डॉ० कृष्ण कुमार मिश्र

ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट विज्ञान जगत में चर्चा के साथ-साथ समाचार माध्यमों में भी लगातार सुर्खियों में है। पिछले साल 26 जून को विज्ञान के इतिहास में तब एक और स्वर्णिम अध्याय जुड़ गया जब ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट के रफ ड्राफ्ट के पूरा होने की औपचारिक घोषणा की गई। प्रोजेक्ट के वैज्ञानिकों ने विधिवत् एक संवाददाता सम्मेलन बुलाकर बताया कि जीनोम की मैपिंग पूरी कर ली है। इसके बाद तो दुनिया भर के अखबार प्रोजेक्ट संबंधी हेडलाइनों से पटे पड़े थे। संचार माध्यमों ने जीवन की कुंडली खोज लिये जाने का डंका पीट दिया। किसी ने अमरत्व प्रदान करने वाली पौराणिक संजीवनी पा लेने की दुंदुभी बजा दी। टाइम्स न्यूजपेपर समूह ने एक कदम आगे जाते हुये घोषणा कर दी कि इंसान अब 1200 साल जिंदा रह सकता है। तो आइये असलियत से अवगत हों। **- सम्पादक**

ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट एक अति महत्वाकांक्षी परियोजना रही है तथा इसमें अमेरिका के यू०एस० डिपार्टमेन्ट ऑफ एनर्जी तथा नेशनल इंस्टीट्यूट्स ऑफ हेल्थ की भागीदारी थी। वैसे तो ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट का औपचारिक श्रीगणेश 1990 में हुआ था और उस समय इसे पूर्ण करने के लिये 15 साल की समयावधि तय की गई थी लेकिन तकनीकी के क्षेत्र में आयी क्रांति तथा उसकी वजह से कार्य में अपेक्षानुरूप कहीं तेजी से उन्नति होने से परियोजना अपने पूर्व निर्धारित समय से दो साल पहले ही पूरी होने जा रही है। परियोजना के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये गये थे : 1. मनुष्य के डीएनए के लगभग एक लाख जीनों की पहचान करना 2. मनुष्य के डीएनए बनाने वाले करीब 3 अरब बीस करोड़ क्षारकों का निर्धारण करना 3. सूचनाओं को डाटाबेस में संचित करना 4. ज्यादा तेज और कार्यक्षम सीक्वेंसिंग प्रौद्योगिकी का विकास करना 5. आँकड़ों के विश्लेषण के लिये टूल्स विकसित करना 6. परियोजना से उठने वाले नैतिक, विधिक और सामाजिक मुद्दों का निराकरण।

इस परियोजना के तीन चरण हैं। पहला चरण 1990 में शुरू हुआ। तब इसे 15 वर्षीय प्रोजेक्ट के रूप में लिया गया था और इसके लिये 3 अरब डॉलर की धनराशि आबंटित की गई थी। इसके तहत मनुष्य के करीब एक लाख जीनों में मौजूद लगभग तीन अरब क्षारयुग्मों का निर्धारण करने का लक्ष्य रखा गया था। लेकिन कार्य में उम्मीद से भी अधिक तीव्र गति से प्रगति होने के नाते पहली पंचवर्षीय योजना, जो कि 1990–1995 तक तय की गई थी, उसका 1993 में पुनरावलोकन करके आगे के लिये नई समय–सारिणी तैयार की गई। संशोधित समय–सारिणी के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना को वहीं समाप्त मान लिया गया तथा वहीं से दूसरी पंचवर्षीय योजना चालू की गई जो 1993–1998 तक निर्धारित की गई। इस समय चालू तीसरी योजना के अंतिम चरण में क्षारयुग्मों का पूरा डाटाबेस तैयार करने का कार्य किया जा रहा है। इस परियोजना की कालावधि 1998–2003 है। वैसे परियोजना जब शुरू की गई थी उस समय इसमें कुछ ही शोध संस्थायें संलग्न थीं लेकिन इस समय अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, जापान सहित कुल 18 देश इस कार्य में लगे हैं। चीन इस परियोजना में शामिल होने वाला नवीनतम सदस्य है।

विज्ञान जगत के लिये यह एक सुखद संयोग होगा कि जब वर्ष 2003 में ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट पूर्ण होगा, वह साल वाटसन और क्रिक द्वारा 1953 में डीएनए की खोज का स्वर्ण जयंती वर्ष होगा। आज दुनिया में इस प्रोजेक्ट को लेकर काफी उत्साह तथा उम्मीदें हैं। इसीलिये कहा जाने लगा है कि 21वीं सदी जीवविज्ञान की सदी है। बहुत हद तक यह भी जान पड़ता है कि आज विज्ञान में जो शोध हो रहे हैं वे ज्यादातर जीवन या जैविक गतिविधियों से जुड़े हुये हैं। अतः यदि जीवविज्ञान को लेकर इतना उत्साह एवं उम्मीदें हैं तो उसे अनापेक्षित या अतिरंजित नहीं कहा जा सकता।

आइये देखें कि ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट क्या है ? इतने जोर–शोर से प्रचारित होने की वजहें क्या हैं ? मनुष्य के जीनोम के बारे में जान लेने पर मानव जीवन और उसके सरोकारों पर आखिर क्या फर्क पड़ेगा ? क्या सचमुच इस प्रोजेक्ट के साथ कोई चमत्कार होने जा रहा है ? क्या मानव तमाम बीमारियों पर विजय प्राप्त कर सकेगा या फिर उसकी तकलीफें हमेशा के लिये समाप्त हो जायेंगी ?

जैसा कि हम जानते हैं कि हर जीव का शरीर कोशिकाओं से बना होता है। मानव शरीर में अनुमानतः दस हजार करोड़ कोशिकायें होती हैं। कोशिकाओं में पाये जाने वाले तरल को जीवद्रव्य कहते हैं। यह जलीय घोल होता है जिसका ज्यादातर हिस्सा पानी होता है। जीवन की सारी क्रियायें इसी जीवद्रव्य से संपादित होती हैं। कोशिका में एक गाढ़े रंग की रचना होती है जिसे केन्द्रक कहते हैं। केन्द्रक मुख्यतः न्यूक्लियोप्रोटीन यानी न्यूक्लिक अम्ल और प्रोटीन का बना होता है। न्यूक्लिक अम्ल दो प्रकार का होता है– राइबोन्यूक्लिक अम्ल तथा डीऑक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल। न्यूक्लिक अम्ल आनुवांशिक गुणों के वाहक होते हैं। माता–पिता से उनकी संततियों में आनुवांशिक गुण न्यूक्लिक अम्लों के माध्यम से लाये जाते हैं। न्यूक्लिक अम्ल केन्द्रक में खास रचनाओं में पाया जाता है जिसे गुणसूत्र या क्रोमोसोम कहते हैं। मनुष्य के शरीर की हर कोशिका में 23 जोड़े अर्थात् 46 गुणसूत्र पाये जाते हैं। इसमें 22 जोड़े ऑटोसोम्स तथा एक जोड़ा सेक्स क्रोमोसोम्स होते हैं। इस एक जोड़े सेक्स क्रोमोसोम में एक्स और वाई गुणसूत्र होते हैं। ये ही भावी संतति का लिंग निर्धारित करते हैं कि वह लड़का होगा या लड़की। पुरुषों में दोनों की एक–एक प्रतियाँ पाई जाती हैं जबकि स्त्रियों में एक जोड़ा सिर्फ एक्स गुणसूत्र होते हैं। चूंकि ये पैत्रिक गुणों के वाहक होते हैं तथा देखने में सूत्र धागे जैसे होते हैं, इसलिये उनका नाम गुणसूत्र पड़ा। इन गुणसूत्रों में जीन होते हैं। ये जीन डीएनए के कुछ खास हिस्से होते हैं जो किसी प्रोटीन विशेष के निर्माण के लिये उत्तरदायी होते हैं। मनुष्य के शरीर की एक कोशिका में करीब 2 मीटर लम्बा डीएनए होता है। एक मीटर के लाखवें भाग के बराबर जैसी सूक्ष्म कोशिका में इतना लम्बा डीएनए बड़ी सघनता से समायोजित रहता है। यदि गणना करें तो पूरे शरीर में मौजूद डीएनए की कुल लंबाई करोड़ों किलोमीटर ठहरती है।

डीएनए रासायनिक तौर पर बहुलक होते हैं। ये बहुलक अनेक अणुओं के समुच्चय होते हैं। स्पष्ट है ये सामान्य से कहीं बड़े अणु होते हैं और इनका अणुभार आम अणुओं से हजारों गुना होता है। डीएनए मूलतः तीन तरह के घटकों से बनता है। ये हैं–नाइट्रोजनी क्षार, शर्करा और फास्फोरिक अम्ल। फास्फोरिक अम्ल को जीवविज्ञान की भाषा में फास्फेट भी कहते हैं। नाइट्रोजनी क्षार नाइट्रोजन युक्त क्षारीय प्रकृति के यौगिक होते हैं। मोटे तौर पर ये दो प्रकार के होते हैं– प्यूरीन्स और पिरामिडीन्स। प्यूरीन्स के अंतर्गत एडीनिन और गुआनिन क्षार आते हैं। पिरीमिडीन्स में साइटोसीन, थाइमिन और यूरेसिल का समावेश होता है। न्यूक्लिक अम्ल में पायी जाने वाली शर्करा पेंटोज सुगर कहलाती है क्योंकि इसका एक अणु पाँच कार्बन परमाणुओं का बना होता है। यह शर्करा दो तरह की होती है– राइबोज और डिआक्सीराइबोज। डिआक्सीराइबोज शर्करा में राइबोज की तुलना में एक आक्सीजन परमाणु कम होता है यानी उसे उसके संगत नाम के आधार पर एडिनोसीन या फिर गुआनोसीन कहा जाता है। इसमें जब फास्फेट अणु जुड़ जाता है तो एक न्यूक्लिओटाइड का निर्माण होता है जिसे क्रमशः एडिनिलिक अम्ल या गुआनिलिक अम्ल कहते हैं। इसी तरह से पिरीमिडीन्स भी शर्करा और फास्फेट से मिलकर सिटिडिलिक अम्ल, थिमिडिलिक अम्ल तथा यूरिडिलिक अम्ल बनाते हैं। इस तरह ये तीनों घटक क्षार, शर्करा और फास्फेट आपस में संयुक्त होकर एक न्यूक्लियोटाइड अणु बनाते हैं। न्यूक्लियोटाइड के ऐसे हजारों लाखों अणु संयुक्त होकर पॉलीन्यूक्लियोटाइड जैसे विशाल अणु बनाते हैं। डीएनए भी एक पॉलीन्यूक्लियोटाइड है। इसकी एक श्रृंखला में अनेकानेक न्यूक्लियोटाइड होते हैं। प्रजनन के समय शुक्राणु या डिंब निर्माण के समय डीएनए द्विविभाजित होता है। इस दौरान कोशिका में डीएनए की हूबहू प्रतिलिपि तैयार होती है और वही द्वितीय प्रतिलिपि संतति को प्राप्त होती है। शरीर में प्रोटीन संश्लेषण में भी डीएनए की महती भूमिका होती है।

तो ये अणु किस तरह से व्यवस्थित होते हैं ? वे किस तरह की संरचना का निर्माण करते हैं ?

केन्द्रक में डीएनए ऐसे ही नहीं पड़ा रहता बल्कि वह खास ज्यामितीय संरचना में यानी दो लड़ियों

में बुना होता है। ये लड़ियाँ आपस में द्वियुग्मित संरचना बनाती हैं। आकृति में ये लड़ियाँ लहरदार और सीढ़ीनुमा होती हैं। दो लड़ियों के नाइट्रोजनी क्षारों के बीच हाइड्रोजन बंध काम करता है। हाइड्रोजन बंध एक विद्युतस्थैतिक आकर्षण होता है जो किन्हीं दो विपरीत आवेशित ध्रुवों के मध्य कार्य करता है। डीएनए में क्षारकों के बीच दो एवं तीन हाइड्रोजन बंध होते हैं। हालाँकि ये हाइड्रोजन बंध सहसंयोजक बंध की तुलना में काफी कमजोर होते हैं और उनकी सामर्थ्य करीब 4–5 किलोकैलोरी प्रति मोल होती है लेकिन डीएनए की लड़ियों को जोड़े रखने और उन्हें खास ज्यामितीय संरचना प्रदान करने में इनकी अहम भूमिका होती है।

यहाँ रोचक बात यह है कि मानव के डीएनए सीक्वेंसिंग का बीड़ा सबसे पहले अमेरिका ने उठाया था लेकिन खमीर (यीस्ट) के क्रोमोसोम्स–III की सीक्वेंसिंग का काम सबसे पहले यूरोप में हुआ था। इस काम में लगभग सौ प्रयोगशालाओं के करीब 3000 शोधकर्ता लगे हुये थे। इस जीनोम की लंबाई 3 लाख 15 हजार 399 मीटर थी। सन् 1995 के मध्य तक एन्फ्लुएंजा के जीवाणु का पूरा जीनोम तैयार कर लिया गया था। बाद में एनफ्लुएंजा की अन्य जीवाणु प्रजातियों का भी जीनोम तैयार हुआ। खमीर के पूरे जीनोम में कुल एक करोड़ बीस लाख क्षार होते हैं। सन् 1996 के अंत तक खमीर का पूरा जीनोम तैयार कर लिया गया था।

जीनोम के अध्ययन में सबसे पहले गुणसूत्रों को छोटे–छोटे टुकड़ों में काट लेते हैं। इन टुकड़ों का क्लोन तैयार करते हैं फिर इनके डीएनए का पाँच बार विश्लेषण करके उनमें मौजूद क्षारकों का क्रम निर्धारित करते हैं। उस समय तक इलेक्ट्रोफोरेसिस से डीएनए को न्यूनतम 30,000 न्यूक्लिटाइडों तक के ही छोटे टुकड़ों में तोड़ा जा सकता है। अतः पूरे ह्यूमन जीनोम को इस तरह से तोड़ने पर कुल करीब एक लाख टुकड़े तैयार होते हैं। इतनी संख्या में इन टुकड़ों की सीक्वेंसिंग करके सभी टुकड़ों को फिर से उनके वास्तविक क्रम में समंजित करना एक दुरूह कार्य होता है। लेकिन प्रौद्योगिकी में आयी क्रांति के कारण यह काम आसान हो गया। इसमें ऑटोमैटिक सीक्वेंसिंग मशीनों ने अग्रणी भूमिका अदा की। वरना इतने तंतुओं को फिर से सही क्रम में जोड़ना एक तरह से असंभव ही था। सीक्वेंसिंग में क्रैग वेण्टर की खोज के कारण गति आई। वेण्टर ने ही कहा कि हम अपेक्षाकृत कम खर्च और अवधि में ही जीनोम परियोजना को पूर्ण कर सकते हैं। उन्होंने 1998 में परकिन–एल्मर के सहयोग से सेलेरा जीनोमिक्स की स्थापना की। इस कंपनी ने द्रुतगति से सीक्वेंसिंग करने वाली मशीन की खोज की थी जो पाँच लाख क्षारयुग्मों की एक दिन में सीक्वेंस कर सकती है। सन् 1999 के प्रारम्भ में सेलेरा जीनोमिक्स ने 300 ऐसी मशीनें खरीदीं। इसके परीक्षण के तौर पर उन्होंने फलमक्खी के जीनोम की सीक्वेंसिंग की। उसे उन्होंने कुछ ही महीनों में पूरा कर लिया। फलमक्खी के जीनोम में 13 करोड़ बीस लाख क्षारयुग्म होते हैं। इस काम में जापान और चीन के भी हाथ बँटाने से स्पष्ट है कार्य को गति मिली। जापान ने सैकड़ों मशीनें इस काम में लगा दीं। इस तरह ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट एक प्रकार से कुछ वैज्ञानिकों के प्रयास और उनकी दूरदृष्टि का फल है।

परियोजना में समय के साथ लोग नई–नई युक्तियों और विचारों के साथ जुड़ते गये और कार्य आगे बढ़ता गया और आज इसकी पूर्णता सन्निकट है। नई सहस्राब्दी की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है लेकिन इसके साथ पहेली भी जुड़ी है। पहेली इसलिये क्योंकि इन तीन सौ बीस करोड़ क्षारयुग्मों के क्रम से क्या निहितार्थ हैं, इनमें जीवन का कौन सा भेद छिपा है, यह जानना सबसे बड़ा काम है। इस तरह आगे असीमित कार्य एवं संभावनाओं के द्वार हमारे लिये खुले हैं। जो सबसे खास बात है वह यह है कि मानव शरीर में मौजूद लगभग एक लाख जीनों में से बहुत से ऐसे हैं जो फिलहाल किसी काम के नहीं लगते लेकिन उनके भी कोई अर्थ जरूर होने चाहिये। हालाँकि ये सभी जीन हर कोशिका में विद्यमान हैं लेकिन विभिन्न ऊतकों में अभिव्यक्त होने वाले जीनों की संख्या अलग–अलग होती है। हमें यह जानने की जरूरत है कि कैसे डीएनए का हिस्सा सक्रिय हो उठता है और मैसेंजर आरएनए का निर्माण करता है जो एक प्रोटीन विशेष के संश्लेषण के लिये उत्तरदायी होता है। आखिर डीएनए के सक्रिय होने के लिये संकेत कहाँ से आता है ? यह वास्तव में बड़ी ही गूढ़ प्रक्रिया है जिसके उद्घाटन से कई रहस्यों से परदा हट जायेगा।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मानव जीनोम तथा दूसरे जीवों यथा फलमक्खी या चूहे के जीनोम में क्या समानता है ? हम इन जीवों में जीनोम का क्रम बदल कर देख सकते हैं कि उसके क्या संभावित नतीजे होते

हैं। इनका हम अपने हित में इस्तेमाल कर सकते हैं क्योंकि हमें मालूम हो जायेगा कि कौन सा जीन किस अंग के निर्माण के लिये उत्तरदायी है। एक काम यह होगा कि यदि हमें पता चल जाये कि अमुक जीन बाद में चलकर अमुक रोग का कारण बनता है तो भ्रूणावस्था में ही जैवप्रौद्योगिक तरीकों से उसका निराकरण कर सकते हैं। इस तरह हम तमाम आनुवंशिक कष्टों से निजात पा सकते हैं। हालाँकि अभी यह कहना थोड़ी जल्दबाजी हो सकती है लेकिन हम उसी दिशा में आगे बढ़ रहे हैं और इतने बड़े मिशन में लगने का हमारा अभीष्ट भी वही है। कई बीमारियाँ तो ऐसी हैं जो एकदम से लाइलाज हैं और उनसे प्रभावित रोगी हमेशा के लिये पीड़ा भोगने को अभिशप्त हो जाता है। यदि इलाज के क्षेत्र में हमें सफलता मिल गई तो कई तरह के रोगों से छुटकारा मिल जायेगा। उदाहरणार्थ यदि हमें पहले से मालूम हो जाये कि अमुक जीन कैंसर या ट्यूमर के लिये उत्तरदायी है तो पहले से ही हम उसके निदान के लिये ऐसा कुछ कर सकते हैं जिससे बाद में चलकर वह कैंसर का कारण नहीं बन सकेगा। इनसे हमें नई दवाइयाँ बनाने में भी मदद मिल सकेगी। फिलहाल ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट से बड़ी आशायें जुड़ी हैं। आने वाले दिनों में चिकित्सा के क्षेत्र में चमत्कारिक बदलाव आने की प्रबल संभावना है।

इस प्रोजेक्ट का एक महत् उद्‌देश्य यह है अलग–अलग समुदायों में डीएनए का अंतर का अध्ययन करना। मनुष्य जेनेटिक तौर पर आपस में 99.8 प्रतिशत समानता रखते हैं यानी मानव प्रजाति में जेनेटिक स्तर पर सिर्फ 0.2 प्रतिशत का ही अंतर है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि किन्हीं 500 न्यूक्लियोटाइडों में मात्र एक न्यूक्लियोटाइड ऐसा होता है जो किन्हीं दो व्यक्तियों में भिन्न होता है। इसका मोटा–मोटा अर्थ यह हुआ कि किन्हीं दो व्यक्तियों के पूरे 3 अरब जीनोम में करीब 60 लाख जीनोम का अंतर होता है। सांख्यिकीय तौर पर यह तथ्य भले ही बहुत हलका फुलका लग रहा हो लेकिन जीनोम में परिवर्तन के गहरे निहितार्थ होते हैं। दूसरी बात यह है कि मनुष्य में मिलने वाले लगभग 60 हजार जीनोम पूरे जीनोम का 3 से 5 प्रतिशत होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि इन शब्दों एवं वाक्यों के बीच तमाम अक्षर यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं जिनका कोई न कोई अर्थ जरूर होना चाहिये। उन सबके बारे में जानना एक चुनौती से कम नहीं है। कभी–कभी जीनोम में बदलाव के गंभीर नतीजे होते हैं। जैसे सिर्फ डीएनए की जगह गुआनिन हो जाने से थैलेसीमिया जैसी बीमारी हो सकती है। लेकिन यह परिवर्तन ही प्राकृतिक वरण और विकास का मूल रहा है। कोई भी जीव प्रजाति बिना परिवर्तन के अस्तित्व ही नहीं बचा सकती क्योंकि वह रोगाणुओं के प्रति अतिशय सुग्राही हो जायेगी तथा नष्ट हो जायेगी। ऐसा भी हो सकता है कि मात्र एक खास जीवाणु ही पूरी प्रजाति का समूल नाश कर दे यानी यह विभिन्नता एक प्राकृतिक वरदान है।

बहुधा हम आबादी को तमाम समस्याओं का कारण मानने के आदी हो चले हैं लेकिन वास्तव में देखा जाये तो जीनोम के तौर पर यह एक वरदान है। अब जबकि जेनेटिक प्रौद्योगिकी की महान शक्ति मनुष्य के हाथ में आने जा रही है, हमें रुककर इस बात पर गौर करने की जरूरत है कि हम इस ज्ञान का किस तरह से मानवता के हित में इस्तेमाल करें। इस इस्तेमाल में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिये। कोशिश यह होनी चाहिये कि इसके द्वारा भेदभावरहित और समतामूलक समाज का निर्माण करें जहाँ हर व्यक्ति को इसका बराबर फायदा मिल सके। इस तकनीकी में हमें इस बात का पता चल जायेगा कि किन तरह की दवाओं से लोगों पर दुष्प्रभाव पड़ता है और क्यों ? इसे हम जीनोटाइप के आधार पर भी वर्गीकृत कर सकते हैं। इस तरह यदि हमें पता चल गया कि अमुक व्यक्ति अमुक जीनोटाइप का है तो उस पर लागू होने वाली दवा के इस्तेमाल से हम रोगी का सही–सही इलाज कर सकते हैं। हमारा देश इस मामले में भाग्यशाली है कि हमारे पास दुनिया की आबादी का एक छठवाँ हिस्सा है यानी हमारे पास 16 प्रतिशत जीनपूल मौजूद है। देश की आबादी को भले हम अपनी तमाम कमियों और पिछड़ेपन की वजह मानें लेकिन जहाँ तक जीनपूल का सवाल है, उसमें हम बहुत संपन्न हैं। जीनपूल की प्रचुरता में सिर्फ चीन ही हमसे आगे है। यह जीनपूल हमारे लिये लाभप्रद है तथा हम इसका सदुपयोग कर सकते हैं।

होमी भाभा परमाणु केन्द्र
टाटा मौलिक अनुसंधान संस्थान
वी.एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द,
मुंबई–400 088

हजारों साल पुराना है तपेदिक

डॉ० यतीश अग्रवाल

तपेदिक का इतिहास हजारों साल पुराना है। ट्यूबरक्यूलोसिस, टी.बी., क्षय रोग, यक्ष्मा, कन्जम्पशन इसी रोग के दूसरे नाम हैं। ऋग्वेद के अष्टम अध्याय के 161वें सूत्र के पहले श्लोक में इसका उल्लेख करते हुये कहा गया है: "रोगी, यज्ञ सामग्री के द्वारा मैं तुम्हें राजयक्ष्मा से छुड़ाता हूँ, इससे तुम्हारे जीवन की रक्षा होगी....."। अथर्ववेद, पुराणों और चरक–संहिता में भी इस रोग के लक्षणों और उपचार का समयानुरूप वर्णन है। चरक ने इसे असाध्य रोग कहा है और सलाह दी है कि रोगी को एक स्वस्थ दुधारू बकरी के साथ जंगल में स्वच्छ हवा में भेज दिया जाये।

18वीं सदी तक ब्रिटेन और दूसरे यूरोपीय देशों में भी तपेदिक एक महारोग बना हुआ था। सुविख्यात कवि जॉन बनयन ने इसे सत्रहवीं सदी में मौत का सरगना होने की पदवी दी। मध्यकालीन यूरोप में यह मृत्यु का रोमांटिक और फैशनेबुल रास्ता समझा जाता रहा।

तपेदिक के विरुद्ध पहली सक्षम दवाएँ सन् 1944, 1946 और 1952 में ईजाद की गईं। आज यह रोग लगभग पूरी तरह साध्य है, फिर भी लोग इसके दुस्साध्य इतिहास के आतंक से मुक्त नहीं हो सके हैं। बिना इलाज यह आज भी यम का मीत है।

तपेदिक क्या है ?

तपेदिक एक संक्रामक रोग है। यह मुख्यतः फेफड़ों में होता है और माइकोबैक्टीरिया ट्यूबरकुलोसिस बैक्टीरिया से उपजता है। कुछ मामलों में यह व्याधि माइकोबैक्टीरिया परिवार के कुछ दूसरे सदस्यों से भी होती है।

यह रोग कैसे उत्पन्न होता है ?

तपेदिक के बढ़े हुये मामलों में रोगी के फेफड़ों में बड़े–बड़े जख्म बन जाते हैं। यदि रोगी इलाज न ले रहा हो, तो उन जख्मों में लाखों–अरबों की संख्या में माइकोबैक्टीरिया भरे रहते हैं। रोगी जब खाँसता, छींकता या साँस छोड़ता है, तो उसकी छाती से कुछ माइकोबैक्टीरिया वातावरण में आ जाते हैं। जो कोई इस वातावरण में साँस लेता है, माइकोबैक्टीरिया उसके फेफड़ों में पहुँच जाते हैं।

इसके आगे का घटना–क्रम हर व्यक्ति की अपनी शारीरिक ताकत पर निर्भर करता है। यदि उसकी रोग–प्रतिरोधक क्षमता ताकतवर होती है, तो वह माइकोबैक्टीरिया को चबा जाता है और व्यक्ति रोग से साफ बच जाता है। कुछ व्यक्तियों में माइकोबैक्टीरिया की मात तो हो जाती है पर वे नजर बचाकर शरीर में इधर–उधर छुप जाते हैं। जैसे ही परिस्थितियाँ उनके अनुकूल बनती हैं ये फिर से उग्र हो उठते हैं और रोग पैदा करते हैं।

पाँच से दस प्रतिशत मामलों में जीत माइकोबैक्टीरिया की ही होती है और उनकी पहली पैठ रोगकारी सिद्ध होती है।

क्या तपेदिक का जादू-टोने, भूत-प्रेत से भी कोई संबंध है ?

बिलकुल नहीं। जर्मन डाक्टर कॉख ने सन् 1882 में ही यह साबित कर दिया था कि तपेदिक संक्रामक रोग है और माइकोबैक्टीरिया से होता है।

क्या यह रोग परिवारों में आनुवांशिक रूप से भी होता है ?

नहीं। यद्यपि किसी–किसी परिवार में कई सदस्य एकसाथ या अलग–अलग समय पर रोग को भुगतते हैं, यह इस बात का कतई सूचक नहीं है कि तपेदिक आनुवांशिक रोग है। यह मात्र इसकी संक्रामकता दर्शाता है। परिवार में किसी एक के तपेदिक–पीड़ित होने पर उसके संक्रमण से दूसरों को रोग होने का जोखिम स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता है।

तपेदिक किस उम्र का रोग है ?

यह रोग किसी भी उम्र में हो सकता है। बच्चे, किशोर, वयस्क, मध्यमवय और वृद्ध सभी इससे पीड़ित हो सकते हैं।

क्या तपेदिक शरीर के अन्य अंगों में भी हो सकता है ?

यद्यपि सबसे अधिक मामले फेफड़े के तपेदिक के होते हैं, लेकिन यह व्याधि शरीर के लगभग हर किसी अंग को पीड़ित कर सकती है। हड्डियाँ, जोड़, आँतें, लसीका पर्व (लिम्फ नोड) बहुतों में इससे ग्रस्त हो जाते हैं, पर मस्तिष्क, मस्तिष्क की झिल्ली, उदर, जिगर, तिल्ली, गुर्दे, त्वचा, शरीर का कोई भी अंग तपेदिक से रुग्ण हो सकता है। फेफड़ों, दिल और उदर में यह शोथ हो जाये, तो उनमें पानी भर जाता है।

तपेदिक जननांगों को भी प्रभावित कर सकता है। स्त्रियों में डिंब–ग्रंथियाँ, डिंबवाही–नलियाँ और गर्भाशय में यह व्याधि हो सकती है जिससे स्त्री अपनी प्रजनन–क्षमता गँवा सकती है। पुरुषों में भी अंड–ग्रंथियाँ और जनन–प्रणाली के दूसरे अंग तपेदिक से पीड़ित हो सकते हैं।

तपेदिक हो जाने पर इसका पता कैसे चलता है ?

पहला शक अकसर लक्षणों के आधार पर ही बनता है– शाम को हलका 99^0–100^0 फारेनहाइट बुखार हो जाना, काम में जी न लगना, भूख का अचानक मर जाना, वजन का लगातार घटते जाना, चार हफ्तों से अधिक बिना किसी दूसरे कारण के खाँसी होना, खाँसी में खून आना, गर्दन में गाँठें बन जाना और साधारण ऐंटिबॉयोटिक दवा से ठीक न होना, आँतों में रुकावट आ जाना जैसे विविध लक्षण तपेदिक की संभावना जगाते हैं। कुछ मरीजों में सामान्य शारीरिक जाँच–परीक्षण के दौरान भी रोग के होने के संकेत मिलते हैं।

ऐसे में क्या-क्या जाँच की जाती है ?

कुछ बातें तो रोगी की शारीरिक जाँच से ही स्पष्ट हो जाती हैं। फिर जैसे जो संभावना बनती है उसके आधार पर जाँचें की जाती हैं। फेफड़ों के तपेदिक की संभावना दिखती है तो छाती का एक्स–रे लिया जाता है, थूक–बलगम की जाँच की जाती है। गर्दन में गाँठें हों, तो सुई डालकर भीतर से ऊतक का नमूना लिया जाता है और जाँच के लिये भेजा जाता है। छाती या उदर में पानी भर जाये, तो उसे सुई से निकालकर उसकी जाँच की जाती है। इसी प्रकार आँतों की टी.बी. का शक होने पर बेरियम एक्स–रे, मस्तिष्क की टी.बी. की संभावना होने पर सी.टी. स्कैन, उदर और जनन प्रणाली की जाँच के लिये अल्ट्रासाउण्ड, रीढ़ की जाँच के लिये एक्स–रे, सी.टी. स्कैन और एम.आर.आई.– यह जाँच–परीक्षण का सिलसिला इतना जटिल है कि इसका फैसला डॉक्टर पर ही छोड़ देना चाहिये।

कुछ पेचीदा मामलों में हर जाँच के बाद भी मामला सुलट नहीं पाता और मात्र अनुमान के आधार पर ही रोगी की सहमति से तपेदिकरोधी दवाएँ चलाकर आँकना पड़ता है कि उसकी तकलीफ में आराम है या नहीं।

निदान में माण्टू टेस्ट कितना उपयोगी है ?

उसकी भूमिका सीमित ही होती है। उसके पॉजिटिव होने से यही पता चलता है कि शरीर में माइकोबैक्टीरिया की पैठ है, लेकिन यह पुष्टि नहीं होती कि रोग सक्रिय है और दवा करने की जरूरत है या नहीं।

जिन्हें बी.सी.जी. का टीका लगा होता है उनमें इस टेस्ट का महत्व भी नहीं रह जाता, चूँकि बी.सी.जी.

लगे होने पर टेस्ट बिना संक्रमण के भी पॉजिटिव हो सकता है।

सुनते हैं कि तपेदिक का इलाज बहुत लंबा चलता है। ये दवाएँ कितने समय तक लेनी होती हैं ?

यह इस पर निर्भर करता है कि इलाज में कौन–कौन सी और कितनी दवाएँ दी जाती हैं। शुरू में यदि दो महीने तक चार दवाएँ : आई.एन.एच., रिफेम्पीसीन, इथेमब्यूटोल और पायराजायनामाइड चलती रहें, तो अगले चार महीने सिर्फ आई.एन.एच. और रिफेम्पीसीन देकर इलाज पूरा किया जा सकता है। पर दूसरे कई विकल्प भी हैं, जिनमें इलाज एक से डेढ़ साल भी चलता है।

क्या ये दवाएँ नुकसान नहीं करतीं ?

कर सकती हैं, पर सावधानी बरती जाये और मुश्किल आने पर डॉक्टर से राय लेने पर कोई विरला ही मामला ऐसा होता है जो इलाज पूरा नहीं कर पाता। जरूरी होने पर दवाएँ बदली भी जा सकती हैं।

क्या लक्षणमुक्त होने पर दवा छोड़ देने से कोई नुकसान हो सकता है ?

लक्षणों में आराम तो कुछ हफ्तों बाद ही आ जाता है, लेकिन इस समय दवा बंद करना सरासर गलत है। माइकोबैक्टीरिया बहुत शातिर होते हैं, जरा सी छूट मिलते ही ये फिर से बढ़ने लगते हैं और दुबारा रोग पैदा कर देते हैं। इस बीच कई बार ये अपनी संरचना इतनी बदल लेते हैं कि पहले काम कर रही दवाएँ उन पर अब असर नहीं कर पातीं। तब इन दुसाध्य नस्ल के माइकोबैक्टीरिया को पस्त करने के लिये मँहगी तपेदिकरोधी दवाओं की शरण में जाना पड़ता है। कुछ मामलों में कोई दवा काम नहीं करती और रोग प्राणलेवा बन जाता है।

क्या गर्भवती और स्तनपान करा रही माताएँ भी तपेदिकरोधी दवाएँ लेती रह सकती हैं ?

हाँ, लेकिन ऐसी महिलाओं को अपने गर्भवती होने या शिशु को स्तनपान कराने की जानकारी डॉक्टर को जरूर दे देनी चाहिये।

क्या यह इलाज अस्पताल या सेनेटोरियम में भर्ती करके ही किया जा सकता है ?

बिलकुल नहीं, यह पूरा इलाज घर पर ही किया जा सकता है। भर्ती करने की जरूरत सिर्फ उन मरीजों को होती है जिनका रोग बहुत बिगड़ चुका होता है। उनमें भी स्थिति में सुधार आने के बाद मरीज को घर भेज दिया जाता है जहाँ उसकी दवा चलती रहती है।

इससे तो रोग उसके परिवारजनों में फैल सकता है ?

यह संभावना सिर्फ कुछ ही मामलों में होती है जिनके थूक–बलगम में माइकोबैक्टीरिया बड़ी संख्या में मौजूद होते हैं। इन मरीजों में भी दवा शुरू करने के अड़तालीस घंटे के बाद ही बैक्टीरिया नब्बे प्रतिशत तक घट जाते हैं और दो हफ्ते पूरे होते–होते उनकी संक्रामकता बिलकुल खत्म हो जाती है। खतरा तो तब होता है जब कोई दवा न ले और उसके फेफड़ों में टी.बी. के खुले जख्म हों।

क्या तपेदिक के रोगी के बरतन और व्यक्तिगत चीजों की कुछ खास संभाल करनी होती है ?

नहीं, बरतन और व्यक्तिगत चीजों से रोग नहीं फैलता। इसीलिये न तो इन्हें अलग रखना जरूरी है, न खास ढंग से साफ करना ही।

क्या ठीक हो जाने के बाद तपेदिक फिर से हो सकता है ?

यह आशंका उन्हीं मामलों में अधिक रहती है जिन्होंने इलाज अधूरा छोड़ दिया होता है। इलाज पूरा लिया जाये तो फिर से रोग के उभरने की दर सिर्फ एक से दो प्रतिशत है। यह पुनरावृत्ति प्रायः इलाज के पहले या दूसरे साल में ही होती है, अतएव इतने समय तक डॉक्टर की निगरानी में रहना उपयोगी है।

हाँ, जिन लोगों को एड्स हो, उन्हें ताउम्र ही निगरानी में रहना होता है। उनमें तपेदिक कभी भी फिर से उभर सकता है।

क्या एड्स और तपेदिक के बीच भी कोई संबंध है ?

हाँ, एड्स में शरीर की प्रतिरोधक ताकत बिलकुल कमजोर पड़ जाती है जिससे माइकोबैक्टीरिया को बढ़ने की पूरी छूट मिल जाती है। इसीलिये तपेदिक एड्स–पीड़ितों के लिये मृत्यु का बहुत बड़ा कारण है।

तपेदिक से बचाव के लिये जन्म से कुछ दिनों बाद ही बी.सी.जी. का टीका दिया जाता है, फिर भी यह धरती पर इतने व्यापक रूप से फैली है। ऐसा क्यों ?

बी.सी.जी. तपेदिक के फैलाव को रोक पाने में बहुत समर्थ नहीं है। उसकी उपयोगिता रोग की गंभीरता बाँधे रखने में है। यह बच्चों के मस्तिष्क के तपेदिक और पूरे शरीर में फैल जाने वाली मिलयरी टी.बी. से ही बचा पाता है। इसीलिये प्रयास जारी हैं कि एक बेहतर टीका तैयार किया जाये।

📖 सी–1/1584, बसन्त कुंज
नई दिल्ली–70

एक परिचय : डॉ0 यतीश अग्रवाल

जन्म 20 जून, 1956 बरेली (उ0प्र0)। आरंभिक शिक्षा दिल्ली एवं लखनऊ में। आयुर्विज्ञान की उच्चतर शिक्षा यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ मेडिकल साइंसेज, दिल्ली, वल्लभ भाई पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट, दिल्ली, किंग्जवे कैंप टी.बी. अस्पताल, दिल्ली और सफदरजंग अस्पताल से। दिल्ली विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑफ मेडिसिन। 1998 में फाउंडेशन फॉर डिटेक्शन ऑफ अर्ली गैस्ट्रिक कार्सिनोमा, जापान के तत्वावधान में अंतर्राष्ट्रीय फेलोशिप और नेशलन कैंसर सेंटर हॉस्पिटल, टोक्यो में उच्चतर प्रशिक्षण। संप्रति, दिल्ली के सफदरजंग अस्पताल में वरिष्ठ चिकित्सक।

डॉ0 अग्रवाल देश में जनप्रिय आयुर्विज्ञान संस्थान के प्रमुख रचनाकारों में से हैं। सन् 1980 से उनके लेख–चिंतन और स्तंभ देश के प्रमुख राष्ट्रीय हिंदी, अंग्रेजी दैनिकों और पत्र–पत्रिकाओं में नियमित रूप से प्रकाशित होते आ रहे हैं। उन्होंने बच्चों, किशोरों और नवसाक्षरों के लिये भी प्रचुर रूप से लिखा है और रेडियो–टेलीविजन के लिये भी सीरियलों के अभिकल्प और लेखन किये हैं। उनके स्तंभ स्वास्थ्य सुलझन, यू आस्क – वी आंसर, परामर्श, दस सवाल, स्वास्थ्य परिक्रमा, चेक आउट, क्रूसेड फॉर हेल्थ अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं और उनकी 23 प्रकाशित पुस्तकों में कुछ का अन्य भारतीय भाषाओं, अंग्रेजी और चीनी में भी अनुवाद हुआ है।

डॉ0 अग्रवाल को भारत सरकार के आत्माराम सम्मान (1999), राष्ट्रीय विज्ञान पुरस्कार (1999), मेघनाद साहा सम्मान (1991, 92, 93), स्वास्थ्य मंत्रालय के राष्ट्रीय पुरस्कार (1994, 95, 97), आई.ओ.सी. के हिंदी साहित्य सम्मान (1992), राष्ट्रीय विशिष्टता पुरस्कार (1992,93) और विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद के विज्ञान वाचस्पति पुरस्कार (1999) से अलंकृत किया जा चुका है।

प्रकाशित कृतियाँ :

❑ रक्त की कहानी ❑ शल्यचिकित्सा की कहानी ❑ जटिल रोग सरल उपचार ❑ रोग निरोग ❑ डायबिटीज के साथ जीने की राह ❑ हृदय रोग ❑ दांपत्य विज्ञान ❑ प्यार के मोती (एड्स पर केंद्रित) ❑ मन के रोग ❑ हृदय रोग से कैंसर तक ❑ द स्टोरी ऑफ ब्लड ❑ बॉडी टॉक ❑ चिकित्सा विज्ञान की कहानियाँ ❑ स्वास्थ्य के 300 सवाल ❑ पेट के रोग ❑ सबके लिये स्वास्थ्य ❑ नारी विज्ञान ❑ नेत्र रोग ❑ नारी शरीर का व्याकरण ❑ तुरंत उपचार ❑ तन मन साधे सब सधै ❑हार्ट केयर ❑ आल अबाउट हैविंग अ बेबी

घट रहे हैं वन्य क्षेत्र

✍ त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

वन हमारे प्राकृतिक संसाधनों के अमूल्य स्रोत हैं। इनसे हमें इमारती लकड़ी, ईंधन तथा अनेक जड़ी बूटियाँ मिलती हैं। वन कई महत्वपूर्ण उद्योगों के लिये कच्चा माल भी उपलब्ध कराते हैं जिनसे लाखों करोड़ों लोगों का जीवनयापन होता है। वनों में विभिन्न प्रकार के जीव–जन्तु अपना आवास बनाते हैं। मानव जीवन के अस्तित्व के लिये वनों की उपयोगिता सर्वविदित है। पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखने, पर्यावरण संवर्धन तथा भूमि और जल के संरक्षण में वनों का विशेष महत्व है।

औद्योगिक विकास, शहरीकरण, बढ़ती हुई जनसंख्या तथा बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति तथा मनुष्य की उपभोगी प्रवृत्ति के कारण विश्व के अनेक देशों में वनों को तेजी से काटा जा रहा है जिसके फलस्वरूप वन क्षेत्र घटते जा रहे हैं।

आँकड़े यह बताते हैं कि सारे संसार में प्रतिवर्ष लगभग 170 लाख हेक्टेयर भूमि के वन नष्ट हो रहे हैं। विषुवत् प्रदेश के घने वनों के विनाश की गति 110 लाख हेक्टेयर प्रतिवर्ष आँकी गई है। इंडोनेशिया में प्रतिवर्ष 5 लाख हेक्टेयर वन कट रहे हैं, थाईलैंड में 3.3 लाख हेक्टेयर, मलेशिया, बर्मा, लाओस तथा फिलीपाइन्स में 1.25 लाख हेक्टेयर की दर से वन कट रहे हैं।

रूस और कनाडा को छोड़कर अन्य सभी औद्योगिक देशों में मूल वनों का लगभग सफाया हो चुका है। अपने देश मं भी वनों का कटाव बड़ी तेजी से चल रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हमारे देश का 33 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र वन वृक्षों के ढका हुआ था। आज हमारे देश के लगभग 20 प्रतिशत भू–भाग पर ही वन शेष बचे हैं। वास्तविकता तो यह है कि मात्र 12 प्रतिशत भू–भाग पर ही सघन वन हैं, जबकि 1952 में 22–23 प्रतिशत भू–भाग वनों से आच्छादित था। उपग्रह से प्राप्त चित्रों से यह पता चला है कि सन् 1973 से 1981 के दौरान हमारे वनों के क्षेत्रफल में 16 प्रतिशत की कमी आई। पर्वतीय क्षेत्रों में वनों का विनाश निश्चित रूप में भयावह रूप धारण कर चुका है।

1952 में जब हमारी राष्ट्रीय नीति बनी, तब देश के 23 प्रतिशत भू–भाग पर वन वृक्ष थे और उसे क्रमशः बढ़ाकर 33 प्रतिशत करने का संकल्प लिया गया था। परन्तु निरन्तर कटाव की वजह से वन क्षेत्र बढ़ने की जगह घटते ही जा रहे हैं। यह चिन्ता का विषय है। वैज्ञानिकों का यह मानना है कि पर्वतीय क्षेत्रों में 60 प्रतिशत तथा मैदानों में 20 प्रतिशत भू–क्षेत्र पर वन होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा न होने पर पर्यावरण व पारिस्थितिक असंतुलन फैलने का डर बना रहता है। वैज्ञानिकों का यह भय हाल के वर्षों में सच में बदलता नजर आ रहा है।

अनेक मानवीय गतिविधियों की वजह से वातावरण में कार्बन डाइ आक्साइड गैस की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है। 1965 में वायुमंडल में कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा 320 पी.पी.एम. थी। आज इसका स्तर 380 पी.पी.एम. के लगभग है। यह संभावना है कि भविष्य में भी कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा इसी दर से बढ़ती रहेगी। वातावरण में कार्बन डाइ आक्साइड गैस के बढ़ते हुये स्तर को नियंत्रित रखने में वनों का महत्व है क्योंकि वृक्षों के हरे भाग प्रकाश की उपस्थिति में जमीन से पानी लेकर इस गैस का उपयोग (प्रकाश संश्लेषण) कार्बोहाइड्रेट के निर्माण में करते हैं। यदि पृथ्वी पर वनों का पर्याप्त क्षेत्र मौजूद हो तो वायुमंडल में कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा पर नियंत्रण अपने आप लग जायेगा और यह नियंत्रण हमारे लिये उपयोगी ही होगा।

वन धरती का संरक्षण करते हैं। वन विनाश के कारण धरती की उपजाऊ शक्ति कम होती है, मिट्टी में जैव घटकों की कमी के कारण वह धीरे–धीरे बंजर बन जाती है जिसमें दुबारा वनस्पतियाँ नहीं उग पाती हैं। वन वृक्षों का आवरण कम होने से मिट्टी का अपरदन बड़ी सुगमतापूर्वक और तेजी से होता है क्योंकि तब वर्षा का पानी सीधे धरती पर तेज़ धार के रूप में पड़ता है और मिट्टी को बाँध कर रखने के लिये पेड़ों की जड़ों का जाल नहीं होता है। विशेषज्ञों का यह मानना है कि इस

प्रकार प्रतिवर्ष लगभग 6 करोड़ टन उपजाऊ मिट्टी बाढ़ के जल के साथ बह कर नदी व समुद्र में चली जाती है। इससे धन, जन और राष्ट्रीय विकास को जो हानि पहुँचती है उसके बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पर्वतीय क्षेत्रों में ढालू भूमिखंडों को अपना स्वरूप बनाये रखने में वनस्पतियाँ तथा वृक्ष मदद करते हैं। वन विनाश के चलते ये भूमिखंड अपने आपको सँभाल नहीं पाते हैं जिसके फलस्वरूप उन क्षेत्रों में भूमि स्खलन की समस्या काफी बढ़ जाती है। गत वर्षों में काफी भू–स्खलन हुये हैं जिनमें अपार जन–धन की हानि हुई है। वनों का बेतहाशा कटाव यदि न रुका तो भविष्य में इसी तरह के भयंकर भूस्खलन भारी मात्रा में होंगे और हम उनकी मार सहने के लिये विवश होंगे।

भू–गर्भ में जल भंडारों की जल आपूर्ति में वनों तथा वनस्पतियों का महत्व है। पृथ्वी पर घने रूप में फैले वृक्ष वर्षा के पानी को बहने से रोक देते हैं जिससे पानी सीधे बह जाने के स्थान पर धरती में संचित हो जाता है। वृक्षों और वनस्पतियों की जड़ें जमीन के अन्दर काफी गहराई तक फैली रहती हैं। वर्षा का कुछ पानी इन्हीं जड़ों के सहारे जमीन के अन्दर पहुँचकर भूमिगत जलस्रोतों में वृद्धि करता है। वन क्षेत्रों में छाया भी बनी रहती है जिसकी वजह से पानी का वाष्पीकरण धीरे–धीरे होता है और भूमि में जल का भंडार बराबर बना रहता है। वन विनाश के कारण भूमिगत जल स्रोतों का स्तर कम होता जा रहा है।

वन जलवाष्प युक्त बादलों को अपनी ओर आकर्षित करने और रोकने की क्षमता रखते हैं। वृक्षों की पत्तियों से जल का वाष्पीकरण होता रहता है। इस कारण वनों के आस–पास ठंडक बनी रहती है। वनों के पास पहुँचते ही वाष्पमय बादल संघनित होकर वर्षा के रूप में बरसने लगते हैं। संभवतः यही कारण है कि वन–विहीन क्षेत्रों की तुलना में वन क्षेत्रों में अधिक वर्षा होती है। वनों की क्षति ने जलवायु चक्र को बुरी तरह से प्रभावित किया है। शिलांग, असम और गुवाहाटी के अधिकांश हिस्सों में अब आजादी से पहले की तुलना में लगभग 20 प्रतिशत कम वर्षा होती है। देश के अन्य भागों में भी जहाँ कि वन क्षेत्र काटे जा रहे हैं, वर्षा की स्थिति करीब–करीब यही है।

कटते हुये वन बाढ़ को भी आमंत्रित करते हैं। वन या वनस्पति से विहीन क्षेत्रों में वर्षा की बूँदों का सीधा प्रहार जमीन पर होता है जिसकी वजह से मिट्टी के कण अपनी जगह छोड़कर वर्षा के पानी के साथ मिल जुलकर बहने लगते हैं। पानी के साथ मिट्टी के कणों के बहने से पानी का कटाव और बढ़ जाता है। इसकी वजह से जमीन पर नालियाँ बन जाती हैं। वनस्पतिविहीन भू–पटल की मिट्टी में चिपक या जकड़न दोनों का अभाव होता है इसलिये पानी नालियों में बेरोक–टोक बहता रहता है और वर्षा का पानी अपने साथ–साथ मिट्टी को भी लेकर आगे बढ़ता रहता है। मिट्टी युक्त पानी के तीव्र गति से बहाव की वजह से धरती के धरातल पर गहरे–गहरे गड्ढे बन जाते हैं। मिट्टी के बह जाने से भूमि पथरीली होती जाती है जिससे इस प्रकार के भू–पटल पर समय के साथ भू–क्षरण तेजी से होने लगता है। ऐसी भूमि में वनस्पतियाँ भी नहीं उग पाती हैं। वनविहीन क्षेत्रों में वर्षा के पानी का बहाव तेज गति से होता है। जैसे–जैसे यह पानी मैदानी इलाकों में आता है, इसकी गति प्रचंड होने लगती है और यह बाढ़ का रूप धारण कर लेता है। इस प्रचंड गति से बहते पानी में अपने साथ सब कुछ बहा ले जाने की काफी क्षमता होती है। कटते हुये वनों की वजह से हमारे देश के कई हिस्से प्रतिवर्ष बाढ़ की चपेट में आते हैं और उसकी विभीषिका झेलते हैं।

भूमि पर वनों का आवरण बरसात के झोंकों को झेल लेता है। वन वृक्षों की जड़ें मिट्टी को अपने जाल में फँसाये रखती हैं तथा भूमि की रक्षा करती हैं और भू–स्खलन को रोकती हैं। वन वृक्ष हमारे जीवन को आधार देते हैं और विभिन्न प्रकार के जीव जन्तुओं को शरण देते हैं। ये हमारे जैविक पर्यावरण के साधन भी हैं। यह सब जानते हुये भी यह कितने आश्चर्य की बात है कि मात्र आर्थिक लाभ के लिये ही वनों को निर्बाध रूप से काटा जा रहा है। इससे न केवल पर्यावरण ही प्रभावित हो रहा है बल्कि मानव का भविष्य भी खतरे में पड़ गया है। मानव के उज्ज्वल भविष्य के लिये यह आवश्यक है कि वनों के विनाश पर तत्काल रोक लगे। वन–प्रबंधन, वन संरक्षण को प्रभावी तरीकों से लागू करके ही ऐसा किया जा सकता है।

मुख्य संपादक - स्पंदन
रक्षा शरीर क्रिया एवं संबद्ध विज्ञान संस्थान
तिमारपुर, लखनऊ रोड, दिल्ली- 54

फफूँद: कितनी हितकर कितनी अहितकर

✍ डॉ० चन्द्रशेखर पाण्डेय

बरसात के मौसम में जब कई दिनों तक धूप नहीं निकलती और लगातार बारिश के कारण वातावरण में अत्यधिक नमी हो जाती है तो देखा जाता है कि प्रयोग में न आ रही चमड़े की वस्तुओं, जूतों इत्यादि में एक भूरा–सफेद पदार्थ जमा हो जाता है। कभी–कभी यह कपड़ों में भी उत्पन्न हो जाता है। जेली, जैम तथा कई पके हुये खाद्य पदार्थों के ऊपर भी यदि वे बहुत समय तक अप्रयुक्त रखे रहें, यही भूरा–सफेद पदार्थ उग आता है। इसे ही फफूँद या कवक (Fungus) कहा जाता है।

जीवविज्ञान के अनुसार फफूँद एक प्रकार के छोटे पौधे हैं, किन्तु सामान्य हरे पेड़–पौधों से भिन्न हैं। कारण यह है कि फफूँद में क्लोरोफिल नामक पदार्थ नहीं रहता जिससे कि यह अपना भोजन स्वयं नहीं बना सकते। फलतः अपने भोजन के लिये ये जीवित अथवा मृत पेड़–पौधों या जानवरों पर निर्भर रहते हैं और उन्हीं से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इनमें फूल भी नहीं लगते। अब तक फफूँद की एक लाख से भी अधिक जातियों का पता लगाया जा चुका है। फफूँद अत्यंत छोटी आकार की हो सकती है और विशालकाय भी। Giant Puffball फफूँद का व्यास एक मीटर से भी अधिक होता है।

फफूँद को अपनी वृद्धि के लिये आक्सीजन, पर्याप्त जल तथा कार्बोहाइड्रेट या अन्य कार्बनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। बरसात में अधिक नमी और उचित ताप होने से साधारणतया खाद्य पदार्थों की खुली सतह पर ही ये वृद्धि करते हैं। जैम व जेली में यदि परिरक्षक न मिले हों तो उनकी ऊपरी सतह पर फफूँद उत्पन्न हो जाती है। इसलिये प्रायः इनकी बोतलों में मोम पिघलाकर डाल दी जाती है, इससे खाद्य पदार्थों का आक्सीजन से सम्पर्क कट जाता है और फफूँद पैदा नहीं हो सकते। ग्लूकोस और फ्रक्टोस फफूँद के लिये मुख्य खाद्य पदार्थ हैं। कुछ फफूँदें वायु से सीधे नाइट्रोजन ले सकती हैं, परन्तु पेड़ पौधों की तरह अधिकतर फफूँद नाइट्रोजन के लिये नाइट्रेट, अमोनिया तथा अन्य पदार्थों पर निर्भर रहते हैं।

फफूँद के जीवन में एंजाइमों का विशिष्ट स्थान है। वे अनेक प्रकार के एंजाइम पैदा करते हैं, जो उन पदार्थों को जिन पर फफूँद लगती है, विभाजित कर उन्हें छोटे रासायनिक पदार्थों में बदल देते हैं। तब ये पदार्थ फफूँद द्वारा सीधे आत्मसात कर लिये जाते हैं। फफूँद अपने अन्दर कार्बोहाइड्रेट को जमा भी करते हैं। मुख्यतः यह ग्लाइकोजन के रूप में जमा होता है। कुछ फफूँदें पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन और वसा भी उत्पन्न करते हैं।

फफूँद की एक विशेषता यह है कि अपने जीवन चक्र में यह स्पोर पैदा करती है, जिन्हें फफूँद के बीज के रूप में माना जा सकता है क्योंकि इन्हीं से नये नये फफूँद पैदा होते हैं। स्पोर प्रायः गहरे भूरे रंग के अत्यंत महीन चूर्ण के रूप में होते हैं। इनमें जल की मात्रा थोड़ी रहती है, अपने हलकेपन के कारण ये हवा द्वारा आसानी से दूर–दूर तक फैल जाते हैं। कुछ फफूँद बड़ी मात्रा में स्पोर उत्पन्न करते हैं। सामान्य कुकुरमुत्ता (Mushroom) जो एक प्रकार का फफूँद है, लाखों की संख्या में स्पोर कण बनाता है। फफूँदों के स्पोर कण हजारों किलोमीटर तक हवा में उड़ सकते है, तब भी उनकी प्रजनन शक्ति बनी रहती है। हाँ, केवल स्पोरों की एक सीमित संख्या ही ऐसे स्थानों पर गिरती है जहाँ वे उग सकते हैं। कुछ फफूँदें एक गंधयुक्त पदार्थ उत्पन्न करती हैं जो अनेक कीड़ों को आकर्षित करती हैं और ये कीड़े स्पोर को वितरित करने में सहायक होते हैं। ऐसा भी नहीं है कि फफूँद केवल परजीवी ही हो। कई बार यह शैवाल के साथ मिलकर एक ऐसी मिली जुली रचना करते हैं कि ये दोनों

एक दूसरे के जीवन–यापन के लिये आवश्यक अंग बन जाते हैं। ऐसी संरचना को लाइकेन (काई) के नाम से जाना जाता है। शैवाल हरे होते हैं और अपने तथा फफूँद के लिये भोजन निर्माण करते हैं। फफूँद का काम पानी और लवण प्राप्त करना और शैवाल की रक्षा करना है। प्रकृति में सहजीविता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ फफूँदें कई पौधों की जड़ों में रहती हैं। ये उन जड़ों से अपना भोजन प्राप्त करती हैं परन्तु यह देखा गया है कि ये फफूँदें उन जड़ों के क्रमिक विकास के लिये भी आवश्यक हैं। फफूँदों की इस श्रेणी में कई प्रकार के मशरूम आते हैं।

रोगोत्पादक मशरूम

कई प्रकार के फफूँद पेड़–पौधों में एवं फसलों में अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। गेहूँ, मक्का और इसी प्रकार के अन्य पौधों में Black Stem Rust नामक बीमारी फफूँद से पैदा होती है। इसमें पौधे और अनाज की बालें एक गहरे भूरे रंग के पदार्थ से ढक जाती हैं और फसल नष्ट हो जाती है। आलू में Powdery Scab, Wart, Blight तथा सेब में Scab नामक रोग उत्पन्न होते हैं। 1845 में आयरलैण्ड में भयंकर रूप से आलू में Blight रोग फैला। चूँकि आलू ही वहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन था अतः सारा देश अकाल की चपेट में आ गया। अनुमानतः 5 लाख लोग मृत्यु को प्राप्त हुये और भूख से बचने के लिये लगभग 20 लाख लोग स्वदेश छोड़कर उत्तरी अमेरिका में जा बसे। बीस वर्ष बाद एक अन्य फफूँदजनित रोग ने फ्रांस की अंगूर की फसल को इतनी हानि पहुँचाई कि फ्रांस का शराब उद्योग नष्टप्राय हो गया। इसी समय एक वैज्ञानिक ने संयोगवश यह पाया कि नीला थोथा और चूने के मिश्रण से फफूँद पर विजय पाई जा सकती है। इसे बोर्डो मिश्रण का नाम दिया गया जो आज भी एक प्रमुख फफूँदनाशक दवा के रूप में प्रयोग की जाती है।

संग्रहीत खाद्य पदार्थों को फफूँदों से सर्वाधिक खतरा होता है क्योंकि उपयुक्त दशाओं में फफूँद के लिये ये सबसे सुलभ भोज्य हैं। पका हुआ भोजन, फलों से निर्मित पदार्थ, डबल रोटी इत्यादि में फफूँद लगना एक साधारण बात है। राई के पौधों में अर्गट नामक फफूँद उत्पन्न हो जाता है जो न केवल इसके बीजों को नष्ट करता है, वरन अनेक अत्यंत विषैले पदार्थों का निर्माण भी करता है। ऐसे अनाज का उपयोग घातक हो सकता है।

फफूँद से पैदा होने वाली बीमारियाँ प्रायः मनुष्य के बाहरी अंगों जैसे त्वचा, बाल व नाखूनों को प्रभावित करती हैं। Ringworm और Athlete's Foot ऐसे ही रोग हैं। कुछ ऐसे भी फफूँद हैं जो शरीर के आंतरिक अंगों पर भी आक्रमण कर देते हैं। ये फफूँद हवा में उड़ते हुये अपने स्पोरों के द्वारा फेफड़े, नाक और मुँह की श्लेष्म झिल्लियों में चले जाते हैं और उन्हें रोगी बना देते हैं। यह पाया गया है कि जिन लोगों में किसी कारणवश प्रतिरक्षात्मक संस्थान कमजोर पड़ जाता है उनमें इन फफूँदों का आक्रमण अत्यधिक प्रभावशाली होता है। फफूँद जीवित मछलियों पर भी आक्रमण कर देता है। नगरों के गंदे जल की नालियों में Aspergillus और Geotrichum जाति के फफूँद पाये जाते हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं।

कई प्रकार के फफूँद कटी हुई इमारती लकड़ी को नष्ट कर देते हैं। फफूँद की कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जो जीवित पेड़ों को भी क्षति पहुँचाती हैं।

लाभकारी फफूँद

फफूँद केवल अहितकर ही नहीं हैं। वे हमारे जीवन के लिये अनेक उपयोगी पदार्थ भी तैयार करते हैं। सर्वाधिक चर्चित ऐंटीबायोटिक औषधि पेनिसिलीन जिसकी खोज के लिये तत्संबंधित वैज्ञानिक को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया पेनिसिलियम फफूँद से उत्पन्न की जाती है। फफूँदों से प्राप्त की गई कई अन्य औषधियाँ आज अनेक रोगों के उपचार के लिये उपलब्ध हैं।

औद्योगिक रूप में कई रसायन केवल फफूँद के ही माध्यम से तैयार किये जाते हैं। गुड़, शीरा तथा ऐसे ही अन्य पदार्थों के किण्वन Saccharomyces नामक फफूँद द्वारा होते हैं जिससे ऐल्कोहल बनता है। खमीर

......शेष पृष्ठ 28 पर

विज्ञान कथा

पहला मानव क्लोन

✍ विजय चितौरी

वह बड़ा ही अद्‌भुत, अविश्वसनीय और अकथनीय दृश्य था। आज से लगभग 30 वर्ष पूर्व सन् 2030 का दृश्य। लोग आँखें फाड़–फाड़ कर पार्वती के बेटे सुनील को देख रहे थे। लोग समझ नहीं पा रहे थे कि उस बच्चे को सुनील मानें या न मानें। सुनील तो पाँच साल पहले प्रयाग के महाकुंभ में मची भगदड़ के दौरान खो गया था। उस हादसे में अनेक बच्चे कुचल कर मर गये थे। इसीलिये अनुमान था कि सुनील भी कुचल कर मर गया होगा। उस समय सुनील लगभग पाँच साल का बच्चा था। पार्वती की गोद का यह बच्चा यदि सुनील ही है तो उसे इस समय 10 साल का होना चाहिये। लेकिन बच्चा तो एकदम वही है जिसे पार्वती मेला लेकर गयी थी। पाँच साल पहले का बच्चा एकदम उसी वय का कैसे हो सकता है ? पाँच साल का बीता समय और उस दरम्यान हुआ बच्चे का विकास कहाँ गया ? कुछ ऐसे ही प्रश्न थे जो दिमाग़ पर हथौड़े जैसी चोट कर रहे थे और जिनका समाधान किसी को भी नहीं सूझ रहा था।

समाधान के लिये पार्वती से थोड़ा हटकर एक और भीड़ जुटी थी। यह भीड़ मीडिया वालों की थी। ये लोग बच्चे को लाने वाले डॉ0 प्रशान्त को घेरे हुये उनसे तरह–तरह के सवाल कर रहे थे। डॉ0 प्रशान्त कुछ सवालों के जवाब तो देते पर कुछ को हँसकर टाल जाते। कुछ लोग अपने सवालों का सटीक जवाब न पाकर झुँझला उठे और तरह–तरह की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे। एक ने कहा, "डाक्टर, यदि यह पाँच साल पहले वाला सुनील है तो इसकी आयु इस समय दस साल होनी चाहिये। यह तो एकदम वही है जो पाँच साल पहले था। आपके पास इसका क्या जवाब है ?"

एक अन्य की प्रतिक्रिया थी: "यह सुनील तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह न अपनी माँ को पहचान पा रहा है और न अपने साथियों को। यह जरूर कोई साजिश है।"

तीसरे की शंका थी: "किसी बच्चे की प्लास्टिक सर्जरी करके उसे ही सुनील बनाया गया है। असली सुनील तो कुचल कर पाँच वर्ष पूर्व ही मर गया था। पुलिस ने ऐसे कई मृत बच्चों को लावारिस लाशों के रूप में उनका अंतिम संस्कार कर दिया था। अखबारों में ऐसे बच्चों के फोटो छपे थे।"

चौथे ने सवाल किया–"डॉक्टर साहब! आप यह बतायें कि विज्ञान का ऐसा कौन सा सिद्धान्त या दुनिया का ऐसा कौन सा अस्पताल है जो आदमी की आयु को नियंत्रित कर सकता है ? मेरी जानकारी के अनुसार अब तक तो ऐसी कोई खोज नहीं हुई है। फिर यह सुनील कैसे हो सकता है ?"

बहुत सारी प्रतिक्रियायें सामने आने के बाद डॉ0 प्रशान्त ने बहुत ही नपे–तुले शब्दों में सभी प्रश्नों के उत्तर देते हुये कहा–

"यह सुनील है या नहीं, इस बात को आप लोग पार्वती से पूछिये। माँ से ज्यादा बेटे को कौन पहचान सकता है ? रही बात सुनील की आयु पाँच साल पर स्थिर कैसे हो गयी, यह रहस्य अभी मैं आप लोगों को बताना नहीं चाहता क्योंकि यह उपयुक्त समय नहीं है। हाँ, इतना आश्वासन अवश्य दे रहा हूँ कि उचित समय आने पर मैं आप सबको इसका रहस्य अवश्य बता दूँगा।"

एकाएक प्रशान्त की निगाह मेरे ऊपर पड़ी। उचककर उसने अपना दायाँ हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। प्रशान्त मेरा बचपन का दोस्त है। इसी गाँव का है। हम दोनों जूनियर कक्षाओं तक साथ–साथ पढ़े थे। उसके पश्चात् प्रशान्त विज्ञान वर्ग में चला गया और मैं कला वर्ग में। प्रशान्त प्रारंभ से ही अत्यन्त मेधावी छात्र था, लेकिन निर्धन था। पार्वती के पति निरंजन ने प्रशान्त की हर तरह से सहायता की थी। निरंजन के सहयोग से ही

वह एम.बी.बी.एस. की डिग्री हासिल कर सका था। आज प्रशान्त बहुत बड़ा डॉक्टर होकर अपने ही गाँव में आया है। वैसे वह पहले भी आया है पर इस बार साथ में एक अचरज भरी कहानी लेकर।

हाथ मिलाते ही मैंने प्रशान्त को अपनी ओर खींच लिया और उसे भीड़ से बाहर निकालकर उसे लगभग घसीटते हुये तेजी से अपने घर की ओर लेकर चल दिया।

घर आकर बैठते ही मैंने कौतूहल मिश्रित शब्दों में पूछ ही लिया– "प्रशान्त यार! सच बताना इस बच्चे के पीछे क्या रहस्य छिपा है ? मैं वादा करता हूँ हमारी–तुम्हारी बात गोपनीय ही रहेगी।" यह सुनते ही डाक्टर प्रशान्त ठठाकर हँस पड़े। बोले, "दोस्त अभी इस रहस्य को रहस्य ही रहने दो। तुम तो जानते हो कि मैं पार्वती भाभी का कितना सम्मान करता हूँ। पार्वती भाभी और निरंजन भैया का उपकार क्या मैं जीवन भर भूल सकता हूँ, जिन्होंने अपना पेट काटकर अपने बेटे की तरह मुझे शिक्षा दिलाई और आज मैं जो इतना बड़ा डॉक्टर बन सका हूँ, यह उन्हीं का आशीर्वाद है। मैंने पार्वती भाभी के उपकार के बदले उनका बेटा लाकर दिया है।" इतना कहते–कहते डॉ0 प्रशान्त काफी भावुक हो उठे। उनकी आँखें तरल दिख रही थीं। सम्भवतः भावातिरेक में वे अपने आपको रोक नहीं पाये और सच उनके मुख से निकल ही गया। "यह बच्चा सुनील नहीं, सुनील का क्लोन है। किन्तु उनके उपकार के आगे सुनील का क्लोन बनाने में मैंने जितनी मेहनत की है वह कुछ भी नहीं है। यही नहीं, मैं दुनिया के इस पहले मानव क्लोन को बनाने का दावा भी इसीलिये नहीं कर रहा हूँ। यदि ऐसा करूंगा तो पार्वती भाभी को दिये उस वचन के विपरीत जाऊँगा, जिसमें मैंने उन्हें आश्वासन दिया था कि एक दिन सुनील को लाकर उनकी गोद में डाल दूँगा।" आखिर आज वह दिन आ ही गया है। पार्वती भाभी आज कितनी अधिक खुश होंगी, हम तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिये मेरे दोस्त! इस राज़ को राज़ ही रहने दो।

"डॉक्टर! यकीन मानो मैं यह राज कभी नहीं खोलूँगा। लेकिन यार, कम से कम मुझे तो बताओ कि यह क्लोन तुमने कहाँ और कैसे तैयार किया ?" क्या दूसरे देशों में भी मानव क्लोन बनाने के प्रयास चल रहे हैं ?

डॉक्टर प्रशान्त ने एक गहरी साँस खींची और सुनील के क्लोन की कहानी शुरू कर दी– पिछले प्रयाग के मेले में हुई दुर्घटना और हादसे को तो तुम अच्छी तरह जानते हो। भीड़ में अचानक मची भगदड़ से सैकड़ों लोग कुचल गये थे। इनमें दर्जनों तो बच्चे थे। उस समय मेले को ध्यान में रखकर मेरी विशेष ड्यूटी इलाहाबाद मेडिकल कॉलेज में लगायी गई थी। जिस समय घायलों को अस्पताल लाया जा रहा था उस समय मैं ड्यूटी कर रहा था। भीड़ से कुचले लोगों में ही एक बच्चा भी मेरे पास लाया गया । बच्चे पर एक नजर डालते ही मैं चौंक पड़ा। उसे देखकर मैं समझ गया कि वह बच नहीं पायेगा। मैनें असिस्टेन्ट को आदेश दिया कि बच्चे को आक्सीजन पर रखा जाये। इसी समय मेरी निगाह बच्चे की फटी जेब पर गई जिसमें उसका स्कूल का परिचय–पत्र दिख रहा था। कौतूहलवश मैंने बच्चे का परिचय पत्र निकाल कर उस पर निगाह डाली।

सरस्वती विद्या मन्दिर, जगतपुर
नामः सुनील
पिता का नामः निरंजन
कक्षा : प्रथम

परिचय पत्र देख कर तो मैं सन्न रह गया। जीवन और मौत के बीच झूल रहा या बच्चा मेरे पूज्य स्व0 निरंजन भैया का इकलौता बेटा था। मैंने जल्दी–जल्दी स्टेथेस्कोप से बच्चे की जाँच करना शुरू किया। उसकी नाड़ी देखी जो लगातार मंद पड़ रही थी। मैं निराश हो गया। आँखों के सामने अंधेरा छाने लगा। निराशा के इसी अंधकार में एकाएक मेरे दिमाग़ में एक बिजली कौंधी। मैंने नर्स को तुरन्त आदेश दिया, पेशेन्ट को तुरन्त आपरेशन थियेटर में ले चलो। मैं स्वयं तेजी से आपरेशन थियेटर की ओर चला। थियेटर में मैंने उसके शरीर के विभिन्न अंगों के कुछ ऊतक अलग करके उन्हें संरक्षित कर लिया। सुनील को तो मैं नहीं बचा पाया, लेकिन मेरी प्रयोगशाला में सुनील की जीवित कोशिकायें प्रयोग के लिये सुरक्षित रख ली गयीं।

"सुनील के शरीर की कोशिकाओं को जीवित अवस्था में संरक्षित करने का मेरा उद्देश्य तो तुम समझ ही गये होगे। मैंने उसी समय निश्चय कर लिया था कि सुनील न सही लेकिन मैं सुनील का क्लोन अवश्य बनाऊँगा। भले ही उसके लिये मुझे जमीन–आसमान क्यों न एक कर देना पड़े।"

"मित्र, तुम तो जानते हो कि भारत सरकार की एक विशेष योजना के तहत मुझे कुछ वर्षों तक विदेशों में चिकित्सा संबंधी उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था। उसी बीच कुछ माह मुझे स्काटलैण्ड के रोसलिंग इन्स्टीट्यूट में भी काम करने का अवसर मिला था। यह वही इन्स्टीट्यूट है जहाँ 1997 में सबसे पहले इयान बिल्मिट के नेतृत्व में भेड़ की पहली क्लोन 'डाली' का जन्म हुआ।"

"डॉक्टर, पहले यह तो बताओ कि यह क्लोन क्या होता है ? ताकि आगे की बात को मैं समझ सकूँ।"

"क्लोन को किसी जीव की कलम कह सकते हैं। जिस तरह नींबू की डाल पर कलम बाँधकर हूबहू वैसा ही नींबू का पौधा तैयार किया जा सकता है, उसी तरह किसी भी जीव का क्लोन या कलम भी तैयार हो सकता है। लेकिन यह काम आसान नहीं है। अब जरा क्लोन का सिद्धान्त भी समझ लो। जीव की प्रत्येक कोशिका के केन्द्रक में गुणसूत्र होते हैं। इन गुणसूत्रों में जीवन का पूरा आकार, स्वभाव और प्रकृति अंकित होती है। नर और मादा के मिलन के समय नर के शुक्राणु और मादा की अण्डकोशिका का मिलन होता है। इन दोनों में पूरे गुणसूत्र न होकर आधे आधे ही होते हैं। जैसे मानव में कुल 46 गुणसूत्र होते हैं तो उसमें पुरुष के शुक्राणु में 23 गुणसूत्र तथा स्त्री की अण्डकोशिका में भी 23 गुणसूत्र होते हैं। इस प्रकार मनुष्य में 23 जोड़े अर्थात् कुल 46 गुणसूत्र होते हैं। शुक्राणु और अण्डकोशिका के मिलन से 46 गुणसूत्र वाला भ्रूण बनता है जो बाद में विकसित होकर बच्चा या बच्ची में विकसित हो जाता है।"

"लेकिन क्लोन के मामले में अण्डकोशिका या शुक्राणु की जरूरत नहीं होती। इसके लिये शरीर की अन्य कोई भी कोशिका लेकर उसे ही भ्रूण की तरह विकसित किया जा सकता है। सुनील का क्लोन बनाने के लिये मैंने सुनील की हथेली से ऊतक को अलग किया। हमारी प्रयोगशालाओं में अब परखनली शिशु विकसित करने की तकनीक आम हो गयी है। उसी तकनीक का इस्तेमाल करके मैंने एक महिला की अण्डकोशिका प्राप्त की। उक्त अण्डकोशिका का नाभिक निकाल कर उसकी जगह सुनील की कोशिका का नाभिक फिट कर दिया। अब इस नयी कोशिका को हल्के विद्युत् स्पर्शाघात द्वारा सक्रिय किया। सौभाग्य से कोशिका सक्रिय हो गई। अब यह कोशिका भ्रूण बन गई। इसे एक अन्य स्त्री में स्थानान्तरित कर दिया गया जिसका गर्भ किराये पर लिया गया था। भ्रूण उक्त महिला के गर्भ में पलने लगा। सही समय पर स्वाभाविक प्रसव हुआ। इस तरह सुनील का क्लोन धरती पर आ गया।"

"उक्त क्लोन का पालन–पोषण कैसे और कहाँ हुआ ?"

"दो वर्ष की अवस्था तक तो उसका पालन–पोषण हमारी नौकरानी ही करती रही। उसके पश्चात् हमने उसे एक अनाथालय में भर्ती करवा दिया। ऐसा मैंने जानबूझकर किया। ज़्यादा समय तक यदि बच्चे को हम लोग अपने पास रखते तो वह हम पति पत्नी को माता पिता समझने लगता। ऐसी स्थिति में उसे पार्वती को सौंपने में दिक्कत आती। मेरे निर्देश पर अनाथालय में उसे कुछ इस तरह बताया जाता रहा कि वह एक मेले में अपनी माँ से बिछड़ गया था। उसकी माँ की खोज हो रही है। जैसे ही उसकी माँ मिल जायेगी उसे उसकी माँ को सौंप दिया जायेगा। ऐसा कहने से बच्चे में अनाथों के अन्दर पलने वाली हीनभावना का विकास नहीं होने पाया।"

"लेकिन डॉक्टर, सुनील का यह क्लोन अपनी माता पार्वती को पहचान सकता है क्या ?"

"यह महत्वपूर्ण नहीं कि क्लोन अपनी माँ को पहचान सकता है, या नहीं। आवश्यक यह है कि वह पार्वती भाभी को ही माँ समझे।" "डॉक्टर! तुमने दुनिया का पहला क्लोन बनाया है। किसी कारणवश भले ही तुम इस अनुसंधान का श्रेय न लेना चाहो, लेकिन दूसरे देशों में मानव क्लोन बनाये जाने की संभावनायें कैसी हैं ?"

"मानव क्लोन बनाने वाला मैं पहला वैज्ञानिक हो सकता हूँ लेकिन दुनिया की अनेक प्रयोगशालाओं में इस प्रकार के प्रयोग जारी हैं और सफलता की सूचना शीघ्र ही मिलेगी। अनेक देशों में तो मानव क्लोन बनाने संबंधी अनुसंधान पर सरकार की ओर से प्रतिबंध है। किन्तु मेरा विश्वास है कि सन् 2050 तक तो मानव क्लोन बनाना अपेक्षाकृत सरल हो जायेगा। मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे सफलता जल्दी मिल गई। मैं इस मानव क्लोन बनाने की तकनीक में और सुधार करने का प्रयास कर रहा हूँ।"

"इस क्लोन में कुछ कमी रह गई है क्या ?"

"हाँ, क्यों नहीं। वैसे यह क्लोन हू–ब–हू सुनील है लेकिन आगे चलकर शरीर अथवा मस्तिष्क में क्या कमी आयेगी यह तो बाद में ही मालूम पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि अभी सफलता दर बहुत ही कम है। मुझे इस सफलता के पहले 150 प्रयोगों में असफलता हाथ आई थी। आगे अपनी तकनीक में मैं कितना सुधार कर पाऊँगा, असफलता दर में कमी कर पाऊँगा या नहीं, यह भविष्य के गर्भ में है। इस समय तो मुझे इस बात का संतोष है कि मैं पार्वती भाभी की सूनी गोद में सुनील को डाल सका। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि इस प्रकार के प्रयोग मानवता के हित में ही होने चाहिये।"

घूरपुर, इलाहाबाद–212110

पृष्ठ 24 का शेष ....

(Yeast) नामक फफूँद को आटे या मैदे में मिलाकर रखने से यह कार्बन डाइआक्साइड बनाता है जिसके प्रभाव से डबल रोटी या अन्य भोज्य पदार्थ हलके व छिद्रयुक्त बन जाते हैं। Aspergillus niger नामक फफूँद सिट्रिक अम्ल बनाने में प्रयुक्त होता है। दूध से पनीर बनने में भी कई प्रकार के फफूँदों का प्रयोग होता है।

मिट्टी में पाये जाने वाले अनेक फफूँद सड़ते हुये पेड़–पौधों के सेल्यूलोस और प्रोटीन को विच्छेदित करके ह्यूमस में बदल देते हैं। ह्यूमस मिट्टी की उर्वरा शक्ति और गुणों में वृद्धि करता है। मिट्टी में अन्य प्रकार के फफूँद सूक्ष्मजीवधारियों जैसे– अमीबा, नैमेटोड आदि को बाँध लेते हैं और उन्हें नष्ट कर डालते हैं। इस प्रकार ये हानि पहुँचाने वाले सूक्ष्मजीवधारियों से मनुष्य और पौधों की रक्षा करते हैं।

खुम्ब (Mushroom) भी एक प्रकार की फफूँद है। कुछ खुम्ब खाये जाते हैं पर कुछ अत्यंत विषैले होते हैं। ये प्रायः जगंलों और सड़ती हुई लकड़ी आदि वस्तुओं पर पैदा होते हैं। अधिकतर खुम्ब उचित दशाओं में बहुत तेजी से वृद्धि करते हैं और उतने ही वेग से समाप्त हो जाते हैं। उगते समय इनमें इतना बल होता है कि वे कड़ी धरती और अन्य वस्तुओं को तोड़कर निकल सकते हैं।

पहाड़ों में रहने वाले कई ग्रामीण खाने योग्य खुम्ब को पहचानने में निपुण होते हैं। यूरोप में खुम्ब रोमन साम्राज्य के समय में भी प्रिय खाद्यवस्तु थी। कहा जाता है कि सम्राट नीरो को एक विशेष खुम्ब अत्यंत प्रिय थी।

खुम्ब की एक विषैली प्रजाति एमैनिटा है। इसमें मस्कैरीन, एमैटाक्सिन जैसे विष रहते हैं।

मूँगफली तथा कुछ अन्य खाद्य पदार्थों में ऐस्पर्जिलस फ्लैवस (Aspergillus Flavus) नामक फफूँद का प्रकोप होने पर एफ्लाटाक्सिन (Aflatoxin) नामक विषैला पदार्थ पैदा हो जाता है। इस विष से प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्या में मछलियों, मुर्गियों और पालतू पशुओं की मृत्यु होती है। आज तक ज्ञात तमाम पदार्थों में लिवर में कैंसर पैदा करने वाले विषों में यह सबसे सशक्त है।

आजकल व्यापारिक रूप से उगाये जाने वाले खुम्बों में बटन मशरूम मुख्य है। खुम्ब में अधिकांश भाग पानी होता है और कुछ मात्रा में प्रोटीन रहता है। इसकी जनप्रियता का मुख्य कारण है इसका विशिष्ट स्वाद।

एमेरिटस प्रोफेसर
रसायन विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला

विज्ञान वार्ता

मच्छर लड़ेगा मलेरिया से

ब्रिटेन के वैज्ञानिकों की अगुआई में यूरोपीय वैज्ञानिकों के एक दल ने दुनिया में पहली बार मलेरिया फैलाने वाले मच्छर में पराया जीन डालकर शत्रु को मित्र में बदलने का करिश्मा कर दिखाया है। अब यह मच्छर मलेरिया के विरुद्ध युद्ध का सिपाही बनेगा।

मच्छर के वंशाणु कोश (जीनोम) में ऐसा पराया जीन डाला गया है, जो कि 'मार्कर' का काम करता है। इसका मतलब यह हुआ कि मच्छर के वंशाणुओं को काबू में करके मलेरिया को भी काबू में किया जा सकेगा।

इरादा यह है कि मलेरिया पैदा करने वाले परजीवी के साथ सदियों से चले आ रहे मलेरिया मच्छर के रिश्ते में दरार डाल दी जाये। इसके लिये या तो इसे आदमी के खून की बजाय जानवरों का खून चूसने का आदी बना दिया जाये या फिर मलेरिया–मच्छर को पूरी तरह बधिया कर दिया जायेगा, ताकि वह अपनी संतानें न पैदा कर सकें।

लंदन के इम्पीरियल कॉलेज के वैज्ञानिक तथा जर्मनी में हाइडलबर्ग स्थित यूरोपियन मोलीक्यूलर बायोलोजी लेबोरेटरी के वैज्ञानिकों ने इस बारे में विज्ञान के साप्ताहिक 'नेचर' में अपने प्रोजेक्ट की पूरी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है। इसमें उन्होंने यह दावा किया है कि मलेरिया के विरुद्ध संघर्ष में यह खोज अवश्य ही एक नयी संभावना का मार्ग प्रशस्त करेगी।

इम्पीरियल कॉलेज के डॉक्टर ऐण्ड्रिया क्रिसाण्टी इस वैज्ञानिक दल के वरिष्ठ सदस्य हैं। उनका कहना है कि "हमारे पास अब इतना ज्ञान है कि उसके उपयोग से हम मच्छर के उन्हीं वंशाणुओं को निशाना बनायेंगे, जो कि उसे मलेरिया फैलाने से रोकें। हमें भरोसा है कि अगले पाँच सालों में ही ऐसा पराजीनी मच्छर तैयार हो जायेगा, जो सुरक्षित होगा और मलेरिया पैदा करने वाले परजीवी को फैलाने में असमर्थ होगा।"

वे आगे बताते हैं, "हम पिछले पंद्रह वर्षों से पराजीनी मच्छर के विकास में जुटे हुये हैं। यह मलेरिया का इलाज तो नहीं है, लेकिन अब हमें पता चल गया है कि हमें कौन सी कुंजी नहीं मिल रही थी। इस मच्छर की जैव–क्रियाओं का अध्ययन करने में संलग्न वैज्ञानिकों को भी इस नयी खोज से आसानी हो जायेगी और वे मलेरिया परजीवी से इसके गठबंधन की गांठें खोल सकेंगे।"

यह परियोजना बिल्कुल सही समय पर ही मुकाम पर पहुँची है, क्योंकि इन्हीं दिनों विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दुनिया भर में मलेरिया के विरुद्ध संघर्ष का एक संयुक्त वैज्ञानिक अभियान छेड़ा है। डब्ल्यू एच ओ के नाम से मशहूर संयुक्त राष्ट्र के इस संगठन के अनुसार आज भी हर साल 50 करोड़ लोग मलेरिया से संक्रमित होते हैं और उनमें से लगभग 27 लाख अपने प्राण गँवा बैठते हैं। यह रोग अत्यंत सूक्ष्म परजीवी के कारण पैदा होता है, जिसका नाम है प्लास्मोडियम। यह एक कोशिका वाला प्रोटोजुआ है, और स्वयं तो पंगु है लेकिन मच्छर पर सवारी गाँठ कर आदमी पर हमला बोलता है। अपने अंडों को प्रोटीन युक्त पोषक आहार देने के लिये मादा मच्छर आदमी का खून खींचती है और इसी प्रक्रिया में वह मलेरिया–परजीवी को आदमी के खून में छोड़ देती है।

एक बार आदमी की रुधिर प्रणाली में घुसपैठ होने पर यह परजीवी आदमी के जिगर में अपना आसन जमा लेता है और एक से दो, दो से चार में विभाजित होता हुआ इतनी संख्या बढ़ा लेता है कि रुधिर में उपस्थित लाल कोशिकाओं पर हमला बोल सके। अकेले अफ्रीका में ही हर साल मलेरिया के कारण दस लाख से ज्यादा मौतें होती हैं और मरने वालों में एक बड़ी संख्या बच्चों की होती है।

दुनिया भर में मलेरिया की स्थिति काबू से बाहर होने लगी है। इसे पैदा करने वाला परजीवी प्लास्मोडियम

फाल्सीपेरस इतना ढीठ हो गया है कि मलेरिया के इलाज में काम आने वाली अधिकतर दवाओं का इस पर कोई असर नहीं होता। दूसरी ओर इसे फैलाने वाले मच्छर महाशय भी इतने शक्तिशाली बन गये हैं कि अब वे कीटनाशी छिड़कने पर भी नहीं मरते।

इन परिस्थितियों में यह तकनीक किस तरह मलेरिया को काबू में कर सकेगी, इसका खुलासा करते हुये डाक्टर क्रिसाण्टी बताते हैं, "मच्छर के अंदर एक ऐसा माहौल बनाया जा सकता है, जो मलेरिया परजीवी का वहाँ जीना मुश्किल कर दे। साथ ही यह भी संभव है कि मच्छर को आदमी के खून की बजाय जानवरों के खून का आदी बना दिया जाये। या फिर मच्छरों की संख्या कम करने के लिये उनकी एक ऐसी नस्ल बनायी जाये जो प्रजनन में असमर्थ हों और सभी नर मच्छर बधिया ही पैदा हों।"

इससे पहले ड्रोसोफिला नामक फलमक्खी में पराये जीन प्रविष्ट करने की तकनीक सफल हो चुकी है। इसी तकनीक से एनाफिलीज़ स्टेफेंसी में भी पराया जीन डाला जा चुका है। असल में इस शोध–परियोजना से पहले सभी यह सोचते थे कि शायद पराया जीन डालने की तकनीक मलेरिया फैलाने वाले मच्छर में कामयाब न हो।

इसके लिये वैज्ञानिक–दल ने एक अड़चन को हटाने में सफलता पायी। अड़चन यह थी कि मादा मच्छर के अंडे बड़ी जल्दी अपने चारों ओर का आवरण इतना कड़ा बना लेते थे कि उनमें बाहरी जीन का माइक्रो–इंजेक्शन लगाना बड़ा कठिन था। तब वैज्ञानिकों ने एक ऐसा रसायन खोजा जो कड़ा आवरण बनने की प्रक्रिया को धीमा कर देता है। मच्छर के भ्रूण के विकास में यह यौगिक कोई बाधा नहीं डालता। इस तरह जो पराजीवी मच्छर पनपा उसमें एक ऐसा जीन यानी वंशाणु डाला गया है जिसके कारण यह मच्छर पराबैंगनी प्रकाश में हरी चमक पैदा करता है। इस तरह यह पहचान करना आसान हो गया कि किस मच्छर में पराया जीन प्रविष्ट हुआ है।

इस खोज की खबर का अनेक वैज्ञानिक क्षेत्रों में स्वागत हुआ है। उष्णकटिबंधीय रोगों पर अनुसंधान और प्रशिक्षण के विशेष संयुक्त राष्ट्र कार्यक्रम के निदेशक डॉक्टर कार्लोस मोरेल का विचार है, "एनाफिलीज विकसित करने की घोषणा आणविक कीटविज्ञान की महान उपलब्धि है। अब इन हरे मच्छरों ने मलेरिया नियंत्रण के नये रास्तों पर दौड़ने की हरी झंडी दिखा दी है।"

– साभार

प्रदूषण का प्राकृतिक समाधान : नरकुल

प्रकृति के उपयोग से ही प्रकृति की रक्षा करना अब दिवास्वप्न नहीं रहा। ब्रिटेन के वैज्ञानिकों ने प्रयोगों में देखा कि नरकुल या सरकंडे के पौधे अनेक प्रकार के औद्योगिक छीज़न की सफाई करने में समर्थ हैं, जिसमें केवल तेल–शोधन और तेल के लिये खोदे जा रहे कुओं से निकला छीज़न भी शामिल है।

देखा यह गया है कि सरकंडे किसी भी औद्योगिक और व्यापारिक प्रक्रिया से पैदा किये गये गंदे पानी की सफाई करते हैं और वे इस पानी को फिर से इस्तेमाल करने लायक बना देते हैं।

इस तकनीक की समस्या के अनुसार नियोजित करने में उत्तरी इंग्लैण्ड की एक कंपनी 'ओसन्स एन्वायरनमेंट लिमिटेड' ने दक्षता हासिल की है। यह समस्याग्रस्त क्षेत्रों में नरकुल के पौधे उगाने और उन तक छीज़न किये गये पानी से पर्यावरण के अनुकूल जलाशय बनाने का काम बखूबी निभाती है।

इस तरह यह कंपनी अनेक प्रकार के औद्योगिक, कृषिजन्य, शहरी और घरेलू छीज़न को लागत की दृष्टि से कारगर और पर्यावरण की दृष्टि से निरापद तरीके से निपटाती है।

नरकुल का पौधा जल–भराव वाली जमीनों में ही आसानी से उग आता है। यह सदाबहार होता है। यहाँ उगाने के लिये नरकुल की जो प्रजाति चुनी गई है, उसका नाम है– फ्रेग्माइटस ऑस्ट्रेलिस। हर बार इंग्लैण्ड के बसंत के मौसम में इस पौधे की हरी टहनियाँ जड़ों का

काम कर रहे प्रकंदों से फूट पड़ती हैं। इन प्रकंदों के साथ एक खास किस्म के जीवाणु भी पनपते हैं। ये बैक्टीरिया ही हर तरह के छीज़न पर क्रिया करके उसकी गंदगी दूर कर देते हैं। पूरे जाड़ों भर नरकुलों की क्यारियों से यह काम लिया जा सकता है।

ओसन्स एन्वायरनमेन्टल इंजीनियरिंग कंपनी नरकुल की क्यारियाँ बनाकर गंदा पानी साफ करने के प्रयोग पिछले 15 सालों से कर रही है। इस दौरान इस अनुसंधान को आगे बढ़ाने के लिये इसे ब्रिटेन की सरकार के वित्तीय अनुदान के अलावा ब्रेडफर्ड की बिज़नेस लिंक नामक संस्था से क्वालिटी ऑव एन्वायरनमेन्ट पुरस्कार भी दिया गया है। बिज़नेस लिंक पूरे ब्रिटेन में इस बारे में सलाह देने के केन्द्र बनाने और छोटे और मध्यम आकार के उद्यमों को विकसित करने और फलने–फूलने में उनकी मदद करने के लिये बनाया गया है।

ओसन्स कंपनी अपने ग्राहकों की माँग के अनुसार नरकुल के पौधों की छोटी–बड़ी क्यारियाँ बनाने और उनकी देखभाल का काम करती है। प्रायोगिक क्यारियों के अलावा इस कंपनी ने आइसीआइ, ब्रिटिश स्टील, बीपी ऐमको, बीएचपी, पेट्रोलियम डिवलेपमेंट ओमान और अन्य बड़ी–बड़ी कंपनियों के लिये बड़े–बड़े नरकुल क्षेत्र भी विकसित किये हैं।

क्यारियाँ और खेत बचाने के अलावा वहाँ की पनीली छीज़न और गंदे पानी की जाँच के लिये कंपनी के पास अपनी ही प्रयोगशाला है, जहाँ मिट्टी और पानी के नमूनों की जाँच की जाती है। इस तरह यह कंपनी प्रदूषण का प्राकृतिक समाधान प्रस्तुत करने के लिये प्रसिद्ध हो गयी है।

भारत में नरकुल जंगली अवस्था में उगता है अतः इसका उपयोग प्रदूषण की रोकथाम के लिये किया जाना चाहिये।

–साभार

श्रद्धांजलि

प्रो० उमाशंकर श्रीवास्तव का निधन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राणिविज्ञान विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० उमाशंकर श्रीवास्तव का गत 9 जून को नई दिल्ली में निधन हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के प्राणि विज्ञानी प्रो० श्रीवास्तव राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के पूर्व अध्यक्ष थे। वे विज्ञान परिषद् प्रयाग की अंतरंग सभा के वर्षों तक सदस्य रहे। वे विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका के संपादक मंडल के सदस्य भी थे। प्रो० उमा शंकर श्रीवास्तव को विज्ञान परिषद् परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि

- सम्पादक

परिषद् का पृष्ठ

विश्व पर्यावरण दिवस पर गोष्ठी सम्पन्न

विश्व पर्यावरण दिवस के अवसर पर 5 जून 2001 को विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता अवकाश प्राप्त निदेशक (उद्यान) श्री दर्शनानन्द ने की। डॉ0 ईश्वर चन्द्र शुक्ल (प्रोफेसर रसायन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय) कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे तथा संचालन प्रो0 अशोक कुमार गुप्त ने किया।

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री दर्शनानन्द ने विश्व की वर्तमान पर्यावरणीय स्थिति पर चिंता प्रकट करते हुये पर्यावरण संरक्षण संबंधी प्रयासों में तीव्रता लाने व तत्संबंधित कानूनों का कड़ाई से पालन करने पर बल दिया। उन्होंने कहा कि आज भूमि, जल, वायु सभी प्रदूषण से ग्रस्त हैं। पालीथीन के बढ़ते प्रयोग पर भी उन्होंने चिन्ता व्यक्त की।

मुख्य अतिथि डॉ0 आई.सी. शुक्ल ने एन्टी कैंसर ड्रग्स विषयक संगोष्ठी में भाग लेने हेतु एथेंस व यूरोप के अन्य नगरों की अपनी यात्रा के विषय में बताया तथा मेडिसिनल ड्रग्स पर विश्व के विभिन्न देशों में हो रहे शोधकार्यों की जानकारी दी।

विज्ञान परिषद् प्रयाग के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने आगंतुक अतिथियों का स्वागत करते हुये डॉ0 शुक्ल को उनकी यात्रा के लिये शुभकामना दी। उन्होंने कहा कि सामाजिक और मानसिक प्रदूषण ही पर्यावरण प्रदूषण का मुख्य कारण है। इसके निदान हेतु प्रबल इच्छा शक्ति एवं आत्मसंयम की आवश्यकता होगी। पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति का त्याग कर प्राच्य आदर्श, 'सादा जीवन उच्च विचार' को अपनाना होगा।

श्री प्रेमचंद्र श्रीवास्तव ने अनेक संस्मरणों के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण के प्रति लोगों की उदासीनता की प्रवृत्ति को उजागर किया तथा जन जागृति की आवश्यकता बताई।

डॉ0 वी.के. ललोरिया ने कहा कि तात्कालिक लाभ के लिये आज लोग प्राकृतिक संसाधनों का आवश्यकता से अधिक दोहन कर रहे हैं। भारत में पर्यावरण संरक्षण के प्रति चेतना जागृत करने की जरूरत है।

डॉ0 अशोक कुमार गुप्त ने कहा कि अब तक किये गये पर्यावरण संरक्षण संबंधी प्रयासों का विशेष लाभ नहीं मिल पाया है। गंगा प्रदूषण का उदाहरण देते हुये उन्होंने विशेष प्रयास करने पर बल दिया।

डॉ0 दिनेश मणि ने मृदा प्रदूषण की चर्चा करते हुये उर्वरकों के अंधाधुंध प्रयोग पर चिंता व्यक्त की तथा उच्च उत्पादक क्षमता वाली प्रजातियों के कारण मृदा उर्वतरता में आई कमी का उल्लेख किया।

डॉ0 विनोद गुप्त ने कहा कि पर्यावरण दिवस के दिन पर्यावरण की सुरक्षा हेतु संकल्प करना चाहिये तथा संकल्प को कार्यरूप में परिणत करना चाहिये।

देवव्रत द्विवेदी ने पर्यावरण संबंधी स्वरचित कविता प्रस्तुत की।

इसके अलावा श्री उमेश कुमार शुक्ला, कु0 विनीता शुक्ल तथा कु0 पूनम जायसवाल ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

इस अवसर पर श्री अरुण राय, श्री चन्द्रभान सिंह आदि उपस्थित थे।

देवव्रत द्विवेदी

2001 के विज्ञान पार्षद

1. **श्री चंचल मल चौरड़िया (जोधपुर)**
2. **श्री रामेश्वर परिहार (जोधपुर)**
3. **डॉ0 आर.सी. शर्मा (जोधपुर)**
4. **डॉ0 आर.एन. भार्गव (जोधपुर)**
5. **डॉ0 (श्रीमती) सुमन जोशी (जोधपुर)**
6. **डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा (गाजियाबाद)**

– प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।
6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7- पत्रिका का अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200

अगस्त 2001

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका
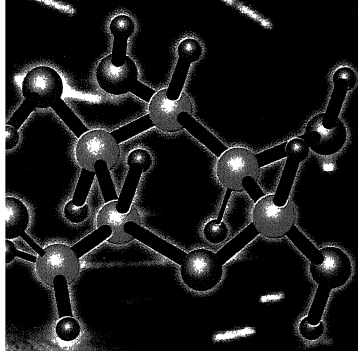
कृषि और जैव प्रौद्योगिकी

पेट्रोलियम की खोज

प्रदूषण की पैठ घरों के भीतर

एण्टीबायोटिक्स

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 5
अगस्त 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

शादाब खालिद

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

प्रदूषण की पैठ घरों के भीतर

डॉ० अमरनाथ दत्त गिरि

वायु प्रदूषण के बारे में पिछले कुछ वर्षों में बहुत कुछ लिखा गया है, पर इसे आज भी घरों के बाहर का ही मामला समझा जाता है। आम धारणा है कि घरों के अंदर आते ही प्रदूषण का प्रभाव नहीं रहता। पर दिल्ली स्थित एनवायरनमेन्टल मॉनिटरिंग ट्रेनिंग एंड रिसर्च सेन्टर द्वारा किये गये एक अध्ययन 'एक्सपोजर एसेसमेंट टू सस्पेंडेड पर्टिकुलेट मैटर इन द मिडिल क्लास पापुलेशन ऑफ दिल्ली' से दिल्ली के भवनों और घरों के अंदर के वायु प्रदूषण की भयावह तस्वीर उभरती है। अध्ययन के अनुसार श्वास रोगों और घरों के अंदर धूल कणिकाओं की सांद्रता का गहरा संबंध है। इस अध्ययन के लिये दिल्ली में कई स्थानों पर विशेष तौर पर बहुमंजिले आवासीय फ्लैट वाले क्षेत्रों में घरों के अंदर और बाहर की वायु का विश्लेषण किया गया तथा लोगों के स्वास्थ्य के आँकड़े प्रश्नपत्र के माध्यम से एकत्रित किये गये।

अध्ययन के अनुसार 58 प्रतिशत व्यक्ति श्वास संबंधित रोगों से पीड़ित हैं, और इसमें 21 प्रतिशत को गंभीर रोग हैं। कणिकीय पदार्थों की सांद्रता घरों के अंदर, वातानुकूलित और गैर–वातानुकूलित कार्यालयों और विद्यालयों में मापी गई। वातानुकूलित कार्यालयों में कणिकाओं की औसत सांद्रता 176 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर पाई गई। विद्यालय भवनों के अंदर कणिकाओं की औसत सांद्रता 380 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर थी। घरों के अंदर के पर्यावरण के संदर्भ में दक्षिण दिल्ली की स्थिति सबसे अच्छी है और पश्चिम दिल्ली की सबसे खराब आंकी गई।

रिपोर्ट के अनुसार घरों के अंदर के वातावरण में कणिकीय पदार्थों की सांद्रता और श्वास संबंधी रोगों में गहरे संबंध मिले। महिलायें और छोटे बच्चे दिन भर में 22 घंटे की अवधि तक घरों के भीतर बिताते हैं। इस कारण इनमें श्वास संबंधी परेशानियां अधिक होती हैं। आधे वर्ष से 4 वर्ष तक आयु वर्ग के बच्चे सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। दिल्ली की 12.5 प्रतिशत आबादी दमे से पीड़ित है। इसमें वयस्क पुरुषों की अपेक्षा वयस्क महिलाओं की संख्या अधिक है। दमे के सर्वाधिक मामले उत्तरी दिल्ली तथा सबसे कम दक्षिणी दिल्ली में मिले।

रिपोर्ट में आगे बताया गया है कि श्वसन संबंधी रोगों की दवाइयां जैसे सिट्रीजीन, सलब्यूटामोल, ब्रोमजीन, एमोक्सिसीलीन, इरिथ्रोसिन और नेब्यूलाइजर की बिक्री दिल्ली में 20 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। श्वास संबंधी रोगों का इलाज करने में दिल्ली की मध्यवर्गीय आबादी 172 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष की दर से खर्च कर रही है। यदि यह मान लें कि पूरी दिल्ली की एक करोड़ आबादी में से आधी मध्य वर्ग की है तो यह वर्ग सम्मिलित तौर पर प्रतिवर्ष 86 करोड़ रुपये श्वास की बीमारियों पर खर्च करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार आज दुनिया के 25 प्रतिशत रोगों और विकारों की जड़ पर्यावरण की बर्बादी है। रिपोर्ट में वैज्ञानिकों ने प्रदूषण और वनों की अंधाधुंध कटाई जैसी पर्यावरणी चोटों का जन स्वास्थ्य की दृष्टि से विश्लेषण किया है। खास बात यह है कि इसमें घर के भीतर के प्रदूषण को भी खासा महत्व दिया गया है। बताया गया है कि वायु प्रदूषण से हर साल होने वाली 30 लाख मौतों में से 28 लाख लोग घर के भीतर के वायु प्रदूषण से मरते हैं।

भारत में हर वर्ष करीब पाँच लाख लोग घरेलू प्रदूषण के कारण मौत का शिकार हो जाते हैं। घरों में स्वच्छ हवा के आगमन की सुविधा न होने, चूल्हों से निकले विषैले धुयें और एयरकंडीशनरों के कारण हर तरह से सुरक्षित और साफ–सुथरा दिखाई देने वाला घर भी मौत का कारण बन सकता है।

पर्यावरणविद देश में इमारतों के भीतर की हवा

को हानिरहित रखने और उसकी गुणवत्ता के मानदंड निर्धारित करने के लिये कार्य कर रहे हैं। दिल्ली में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान के ऊर्जा अध्ययन केन्द्र के पूर्व अध्यक्ष प्रो0 एन.के. बंसल के अनुसार कृत्रिम एयरकंडीशनरों पर निर्भरता बढ़ने के कारण लोगों को कई तरह की बीमारियाँ हो रही हैं। इनमें प्रमुख हैं, मिचली, जुकाम, सिरदर्द और अनिद्रा। प्रो0 बंसल का कहना है कि अगर किसी इमारत के भीतर जहरीली गैसों से प्रदूषित हवा की निकासी और स्वच्छ हवा के आगमन की कोई व्यवस्था नहीं होगी तो ऐसी इमारतों में रहने वाले लोग कुछ खास बीमारियों के शिकार होने लगेंगे।

आई.आई.टी. के ही डॉ0 अविनाश चंद्र का कहना है कि "घरों और इमारतों के भीतर की हवा की गुणवत्ता के बारे में कानून अथवा जरूरी दिशानिर्देश के अभाव के कारण यह समस्या बढ़ती ही जा रही है। हमारा संस्थान थर्मल कम्फर्ट और हवा की गुणवत्ता के लिये कुछ दिशा निर्देश तैयार करने का प्रयास कर रहा है जिसमें योजनाकारों और वास्तुशिल्पियों को स्वास्थ्यवर्धक और पर्यावरण के लिये मददगार इमारतें बनाने में जरूरी सहायता मिल सके।"

इमारती हवा की गुणवत्ता के बारे में कहीं कोई कानून मौजूद नहीं है लेकिन इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे विकसित देशों में इस मामले में कुछ दिशानिर्देश जरूर निर्धारित किये गये हैं ताकि मौसम की परिस्थितियों के अनुसार इमारतों का डिजाइन बनाया जा सके। प्रदूषण नियंत्रण अधिकारी सिर्फ बाहरी वायु प्रदूषण को लेकर चिंतित रहते हैं और घरेलू हवा में बढ़ते प्रदूषण पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

संस्थान राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों, वास्तुशिल्पियों और नियोजन एवं निर्माण से जुड़े अन्य अनेक लोगों से संपर्क कर रहा है ताकि घरेलू और इमारती हवा की गुणवत्ता बनाये रखने के लिये जरूरी हिदायतें तैयार की जा सकें।

यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया में सेंटर फॉर आक्यूपेशनल एंड एन्वायरनमेंट हेल्थ के प्रो0 आर. किर्क आर0 स्मिथ का कहना है कि घरेलू प्रदूषण कई बार बाहरी प्रदूषण से अधिक घातक साबित हो सकता है क्योंकि इसमें ज्यादातर विषैलापन घरेलू स्रोतों से आता है। स्मिथ ने भारत के विभिन्न शहरों में किये गये अध्ययन के आधार पर बताया कि भारत में घरेलू और इमारती प्रदूषण के कारण कम से कम पाँच लाख लोग हर वर्ष असमय की मौत का शिकार हो जाते हैं। यह संख्या वार्षिक राष्ट्रीय मृत्यु दर का कम से कम चार से छह प्रतिशत है। ग्रामीण घरों में तो जैव ईंधन के इस्तेमाल के कारण घातक प्रदूषण होता है बल्कि शहरों में इमारतों के डिजाइन और घरों के भीतर इस्तेमाल होने वाला सामान ही प्रदूषण की जड़ होता है। घरों को मौसम के अनुसार ठंडा या गर्म रखने के उपकरणों, आर्द्रता निरोधक प्रणालियों, भवन सामग्री का इस्तेमाल, इंसुलेशन वाली एस्बेस्टास और कुछ खास तरह के फर्नीचर के कारण आमतौर पर घर का वातावरण प्रदूषित हो जाता है। एस्बेस्टास से निकलने वाली अशुद्धियों के कण अगर हवा के साथ शरीर में प्रवेश कर जायें तो फेफड़ों की गंभीर समस्यायें पैदा कर सकते हैं जबकि घरेलू रेडान गैस को पूरे विश्व में फेफड़ों के कैंसर का सबसे बड़ा कारण माना जाता है।

यूरेनियम और थोरियम जैसे रेडियोधर्मी पदार्थों के सड़ने से रेडान गैस बनती है। पहाड़ों और मिट्टी में यह गैस प्राकृतिक क्रिया के रूप में बनती है। वैसे रेडान से संबद्ध समस्यायें सभी देशों में होती हैं लेकिन ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा और जर्मनी जैसे विकसित और समृद्ध देश इमारती सामग्री पर खास ध्यान देकर इस समस्या से बचे हुये हैं। पर्यावरणविद् इकबाल मलिक का कहना है कि बैक्टीरिया और वायरस जैसे जैव पदार्थ, पालीथीन से निकलने वाले रेशे, हवा को स्वच्छ बनाये रखने के लिये इस्तेमाल किये जाने वाले स्प्रे, कीटनाशकों और घरों में पेंट की परतें उखड़ने से हवा प्रदूषित होती है और यह ऐसा प्रदूषण है जो बहुत देर तक हवा में ही रहता है और स्वास्थ्य के लिये कई बड़ी समस्यायें पैदा करता है। इन प्रदूषणों से प्रत्यक्ष तौर पर भले ही कोई बीमारी नहीं होती लेकिन धीरे–धीरे ये अपने संपर्क में आने वालों के शरीर को खोखला कर देते हैं। इनके संपर्क में रहने वाले लोगों की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है और आमतौर पर कभी कभार होनी वाली बीमारियाँ उन्हें

बार–बार होने लगती हैं। इनके सबसे ज्यादा शिकार महिलायें, बच्चे और वृद्ध लोग ही होते हैं क्योंकि घरों में इन्ही लोगों को सबसे ज्यादा वक्त गुजारना होता है।

हाल के वर्षों में इस समस्या में बेहद इजाफा हुआ है क्योंकि इस दौरान ऊर्जा संरक्षण उपायों के तौर पर हवारोधी इमारतें ज्यादा बनने लगी हैं। हमारी इमारतें करीब 60 से 80 अरब के. डब्लू. एच. ऊर्जा ग्रहण करती हैं और पांच से सात करोड़ टन ग्रीनहउस गैस हवा में छोड़ देती हैं। इससे मानवीय स्वास्थ्य को भारी नुकसान पहुँचता है। बिजली क्षेत्र से निकलने वाली कुल गैसों का यह करीब 20 प्रतिशत है। उचित है कि घरों के निर्माण में पर्यावरण के लिये उपयोगी सामग्री इस्तेमाल की जाये और नवीन ऊर्जा पद्धतियों को अपनाया जाये। हमने पश्चिमी देशों की नकल करके ऊँची–ऊँची इमारतें तो बनी लीं लेकिन इस दौरान हम अपने देश की गर्म जलवायु के बारे में भूल गये हैं। इमारतों के भीतर होने वाला प्रदूषण और उससे होने वाली बीमारियाँ इसी भूल का नतीजा हैं। वास्तुशिल्पियों और योजनाकारों को स्थानीय पर्यावरण की स्थिति को ध्यान में रखते हुये इमारतें और घरों के डिजाइन तैयार करने चाहिये। भीतरी भाग को खुला रखने के लिये घरों में ज्यादा खुली जगह होनी चाहिये। इन छोटी–छोटी बातों को ध्यान में रखकर घरेलू वायु प्रदूषण के खतरे को कुछ हद तक कम किया जा सकता है।

प्रदूषण, धूल, पड़ोस की बिल्ली या किसी भी चीज से एलर्जी हो सकती है। लेकिन क्या घर की गर्द में रहने वाले अति सूक्ष्मकीटाणु से भी ? डाक्टरों का कहना है कि ये सूक्ष्मकीटाणु खतरनाक जीव हैं, जो हवा के माध्यम से एलर्जी उत्पन्न करते हैं। इंडियन अकादमी ऑफ एलर्जी के अध्यक्ष डॉ0 एच. परमेश कहते हैं, "दमे के कम से कम पचास फीसदी मामले इसी घरेलू कीटाणु की वजह से होते हैं, जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। आज घर के अंदर का प्रदूषण ज्यादा खतरनाक हो गया है और कीटाणुजनित प्रदूषण अब एलर्जी की एक बड़ी वजह है। "घरेलू गर्द के प्रति ग्राम 100 कीटाणु एलर्जी पैदा करने के लिये काफी हैं। प्रति 500 कीटाणु सांस लेने में कठिनाई पैदा कर सकते हैं। लेकिन अध्ययनों से पता चलता है कि औसत भारतीय घरों में जिनमें कालीन बिछे हों, परदे लगे हों, घर के अंदर पौधे रखे हों, गुदगुदे खिलौने हों, प्रतिग्राम ऐसे 4000 कीटाणु होते हैं।

बंगलौर के इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस में जैव रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो0 पी.वी. सुब्बाराव बताते हैं, "दुनिया की करीब 10 फीसदी आबादी इसी घरेलू गर्द में विद्यमान सूक्ष्मकीटाणुओं से होने वाली एलर्जी की शिकार है।" राव गर्द एलर्जी का क्लीनिक चलाते थे, जहाँ 12 वर्ष में करीब 6000 मरीजों ने इलाज कराया। अब वे बंगलौर के विट्ठल माल्या वैज्ञानिक एवं अनुसंधान फाउंडेशन के विज्ञान निदेशक हैं। वे कहते हैं उन 6000 मरीजों में से करीब एक चौथाई की एलर्जी की वजह घरेलू गर्द में विद्यमान कीटाणु थे। मुंबई में एक अध्ययन के मुताबिक बच्चों में करीब 34 फीसदी दमा इन्हीं कीटाणुओं से होता है। 0.1 से 0.5 मिमी आकार के इन कीटाणुओं की पूरी सेना होती है घरों में। उनके लिये भोजन की कोई समस्या नहीं है। सिर की रूसी और शरीर की त्वचा का शल्क तक वे कुछ भी खाकर जीवित रह सकते हैं। इसकी हर मादा 35 से 100 अंडे देती है। पंद्रह साल पुराने तकिये का एक तिहाई हिस्सा इन कीटाणुओं के मल से भरा हो सकता है।

इन कीटाणुओं का मल वायु में फैल जाता है और एलर्जी पैदा करता है। एक कीटाणु अपने तीन महीने के जीवन में अपने भार का लगभग तीन गुना मल उत्सर्जित करता है। अति संवेदनशील मरीजों में इसकी प्रतिक्रियास्वरूप आँख–नाक से पानी गिरने से लेकर बार–बार छींक आना और खाँसी तक हो सकती है। बच्चों का बहुत छोटी उम्र में ही इन कीटाणुओं से पाला पड़ जाये तो उन्हें जीवन भर के लिये दमा हो सकता है।

अध्ययनों से पता चला है कि वैक्यूम क्लीनिंग से केवल 5 से 10 फीसदी कीटाणु ही कम होते हैं। और कभी–कभी तो वैक्यूम क्लीनर हवा में कीटाणुओं के लाखों कण प्रवाहित कर देते हैं।

कीटनाशकों के छिड़काव और बिस्तरों पर सिंथेटिक रसायन डालने से इन कीटाणुओं से मुक्ति पाई जा सकती है। लेकिन ये चीजें स्वयं में हानिकारक हैं।

इन कीटाणुओं को मारने के लिये विशेष कीटनाशक का अनुसंधान जारी है। अगस्त 1999 में विट्ठल माल्या फाउंडेशन ने ऐसा कीटनाशक पेटेंट कराया है जिसका दावा है कि यह 6 से 8 हफ्तों के लिये वातावरण को इन कीटाणुओं से मुक्त रखेगा। तब तक कुछ सरल उपाय मददगार हो सकते हैं। नमी वाले घरों में ऐसे कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है, जिसकी वजह से एलर्जी की संभावना ज्यादा होती है। ये कीटाणु बिस्तरों और कालीनों में ज्यादा रहते हैं। लेकिन ये कीटाणु ऊँचे तापमान में जीवित नहीं रह सकते। इसलिये कभी–कभी बिस्तर के गद्दों, कालीनों, तकियों और दरियों को धूप में सुखायें।

आधुनिकता की अंधी दौड़ में, हम जाने अनजाने बीमारियों को न्यौता दे रहे हैं। पिछले एक अर्से से नई पीढ़ी में आँख जलने, सिरदर्द और साँस लेने की तकलीफ बढ़ी है। दरअसल घरेलू साज–सामान में लगी कालीन की निचली पट्टी, प्लाईवुड, फोम और प्लास्टिक से एक घातक गैस उत्पन्न होती है। 'फॉर्मेल्डहाइट' गैस नजर नहीं आती, मगर दुर्गंध फैलाती है। यह गैस कुछेक सौन्दर्य प्रसाधनों, बालों के कंडीशनरों और फर्नीचर जोड़ने के पदार्थ से भी उठती है। एक अमेरिकी शोध के अनुसार 'फॉर्मेल्डहाइट' गैस की उत्पत्ति तब बढ़ जाती है, जब घर में नया फर्नीचर लगाया जाता है या पुराने फर्नीचर पर पालिश की जाती है। अगर घर में नया फर्नीचर लाने के फौरन बाद वायरल इन्फेक्शन की शिकायत हो तो डॉक्टर से संपर्क करना चाहिये। सुबह–शाम परिवार का खाना पकाते समय रसोईघर भी सुरक्षित नहीं है। गैस कुकर से आसानी जरूर है, लेकिन आपकी सेहत बिगड़ती है। गैस कुकर के बढ़ते चलन की वजह से रसोईघर के वातावरण में नाइट्रोजन डाइआक्साइड गैस घुलती रहती है। विद्युत् कुकर अपेक्षाकृत ठीक हैं क्योंकि इनके मुकाबले गैस कुकर सात गुना अधिक नाइट्रोजन डाइआक्साइड वातावरण में छोड़ते हैं। उधर रसोई ईंधन के रूप में पारंपरिक लकड़ी कोयला या गोबर जलाने से भी बैंजो नामक विषाक्त गैस निकलती है जो जानलेवा तक हो सकती है। मिट्टी के तेल के स्टोव पर खाना बनाना भी सेहत के लिये कम नुकसानदायक नहीं है। जहरीले धुयें के शोध के लिये मिट्टी के तेल चालित स्टोव को एक छोटे से कमरे में, जलता हुआ बंद किया गया, कुछ घंटे बाद कमरा खोला गया तो उसमें नाइट्रोजन पराक्साइड, सल्फर डाइआक्साइड और कार्बन मोनो आक्साइड गैसें भरी पाई गईं।

बताया जाता है कि अमेरिका में हर साल लगभग 200 व्यक्ति मिट्टी के तेल और गैस चालित उपकरणों के इर्द–गिर्द पर्याप्त हवादार वातावरण न होने की वजह से मरते हैं। न हमारे देश में ऐसे आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि यहाँ कभी ऐसे कोई अध्ययन की जरूरत ही नहीं समझी गई। फिर भी रात को कोयला जलाकर, कमरा बंद करके सोते समय दम घुटने से मृत्यु की इक्का–दुक्का दुर्घटनायें होती रहती हैं। खराब वेंटीलेशन के कारण पैदा हुई 'नाइट्रोजन डाइआक्साइड' गैस दुर्गन्धरहित और रंगरहित गैस है। इससे खासतौर से बच्चों को शिकायत हो सकती है। इलाज आसान है– हवादार घर खासतौर से रसोईघर, जहाँ स्टोव या गैस चूल्हे रखे हैं, हैलोजन लैम्प यो फ्लोरसेंट टेबल लैम्प के नजदीक करके पढ़ाई–लिखाई नहीं करनी चाहिये। निकलने वाली किरणें घातक साबित हो सकती हैं।

रसोईघर में इस्तेमाल किये जा रहे बर्तन भी स्वास्थ्य के लिये संकट खड़ा कर सकते हैं। एल्युमिनियम के बर्तनों से बहुतेरे खतरे हैं। एल्युमिनियम और खाद्य पदार्थों के मध्य आँच में एक रासायनिक प्रक्रिया चलती है जिससे व्यंजन पर आक्साइड की तह जम जाती है। ऐसा दूषित भोजन खाने से गुर्दे की तकलीफ हो सकती है। और हाँ, नये जमाने के आधुनिक नानस्टिक बर्तनों का इस्तेमाल, आजकल हमारे रसोईघरों में जोर–शोर से हो रहा है। नानस्टिक बर्तन देखने में तो साफ स्वच्छ लगते हैं, मगर गोश्त पकाते समय रसायन लिपट जाता है। कारसीनोजन एक तरह का धीमा विष है, जो अनजाने में रोज रोज आपके शरीर में प्रवेश करता है।

निःसंदेह सीसा एक घातक पदार्थ है। कुछ वर्ष पहले भारत में स्वच्छ पर्यावरण के लिये सीसारहित पेट्रोल की बिक्री आरंभ की गई थी। सीसा से सेहत के बढ़े खतरों का अंदाजा इसी सरकारी कदम से लगाया जा सकता है कि अब देश में केवल सीसारहित पेट्रोल चालित इंजनयुक्त मोटर गाड़ियों के निर्माण की अनुमति

है। सीसा कई बीमारियों की जड़ है। खून में सीसा की मात्रा से बच्चों की वृद्धि और व्यवहार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। वाहनों के प्रदूषण से सीसा वातावरण में फैलता ही है। लेकिन घरों के भीतर कुछ रोगन पेंट और आटोमैटिक बैटरियों से भी सीसा की जहरीली गैस उठती है। वैसे भी पेंट तो है ही ढेरों हानिकारक रसायनों का घोल। वैज्ञानिकों के मतानुसार घरों की दीवारों पर हरा पेंट तो सख्त मना है। हरे रंग के तमाम शेडों में संखिया नामक विषमय रसायन का बढ़–चढ़कर इस्तेमाल होता है। उमस के दिनों में हरा पेंट संखिया रसायन की जहरीली गैस छोड़ता है।

कीटनाशक दवाओं और मच्छर भगाने वाले इलेक्ट्रिक मैटों का इस्तेमाल भी अच्छी सेहत पर प्रश्नचिन्ह है। घरेलू कीटनाशक दवाओं के अत्यधिक प्रयोग से 2 से 11 वर्षीय बच्चों को रक्त कैंसर तक हो सकता है। कुछ वर्ष पूर्व यह तथ्य कैलीफोर्निया स्थित डेविड ग्रांट मेडिकल सेंटर के विशेषज्ञों ने लंदन से प्रकाशित किया था। शिशु चिकित्सा विभाग के विशेषज्ञ डॉ0 जैरी रीब की अध्यक्षता में कैंसर विशेषज्ञों के एक दल ने 8 वर्षों के लंबे अध्ययन के बाद यह दावा किया।

कीटनाशकों के अतिरिक्त पेंट, दर्द जलन की बाम, हेयर स्प्रे, शेविंग जेल, परफ्यूम सहित तमाम प्रसाधनों में एरोसोल नामक रसायन का इस्तेमाल बढ़ा है। बोतलों से तरल को फोम की शक्ल में, तेज रफ्तार से बाहर बौछार निकालने के लिये एरोसोल सहायक होता है। लेकिन निरंतर प्रयोग से दिल, फेफड़ों और शरीर के नाजुक अंगों पर दूरगामी कुप्रभाव पड़ता है। बगल के पसीने की दुर्गंध मिटाने के तौर पर, डियोडरेंट प्रसाधन काम आता है। डियोटरेंट से साँस तकलीफ और फेफड़ो की एलर्जी हो सकती है। आँखें भी खराब होती हैं। पहले से बीमार व्यक्तियों को तो इनसे दूर ही रहना बेहतर है। अगर परिवार का कोई सदस्य सिगरेट पीता है, तो समझिये आपका घर प्रदूषणरहित हो ही नहीं सकता और अगर कमरे में सिगरेट पीता व्यक्ति और एक हीटर चालू है तो फिर हालत बद से बदतर हैं। कमरे की आबोहवा में बड़ी मात्रा में कार्बन मोनोआक्साइड घुलती रहेगी। साँस की परेशानी और फेफड़ों की बीमारी जकड़ सकती है। खून में कार्बन मोनोआक्साइड की मात्रा एकाएक बढ़ने से अनजाइना का खतरा कई गुना बढ़ जाता है। जी मिचलाता है, उल्टी आने को होती है और सिरदर्द हो सकता है। आँखों से पानी बहने और जलन की शिकायत रहती है।

याद रखिये घर बाहर सिगरेट पीने वाले व्यक्तियों से दूर रहना ही बेहतर हैं क्योंकि उनका स्वास्थ्य तो बिगड़ ही रहा है। आपको भी खतरे में डाल रहे हैं। इसे **पैसिव स्मोकिंग** कहते हैं। अमेरिकी मेडिकल अनुसंधानकर्ताओं का दावा है कि पैसिव स्मोकिंग से प्रतिवर्ष 60 हजार व्यक्ति मरते हैं। जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन में प्रकाशित अनुसंधान रिपोर्ट में कहा गया है कि आपके चारों ओर फैला सिगरेट का धुआँ हृदय पर सबसे घातक असर डालता है।

तपती गर्मी से राहत पहुँचाते एयर कंडीशनर भी सेहत के लिये खतरा पैदा करते हैं। हालाँकि सभी एयर कंडीशनर निर्माता कंपनियाँ ज्यादा ठंडक के लिये कमरे को पूर्णतः बंद रखने की सलाह देती हैं, लेकिन डाक्टरों की राय अलग है। आस्ट्रिया के कामनवेल्थ डिपार्टमेंट ऑफ हेल्थ के डॉक्टर कैटी एलर्ड की सलाह है कि अगर कमरे में ए.सी. चालू रखें तो कम से कम एक खिड़की जरूर खुली रखें ताकि साफ हवा भीतर आ सके। ए.सी. का फिल्टर नियमित साफ कीजिये और हाँ, ए.सी. से तीन फुट परे हटकर सोयें।

नये अनुसंधानों से तथ्य उभर कर सामने आया है कि बिजली के तारों और विद्युत उपकरणों के नजदीक रहने से सेहत चौपट हो सकती है। न्यूयार्क की वैज्ञानिक पत्रिका 'माइक्रोवेव न्यूज' में अमेरिकी रेडिएशन संबंधी सलाहकार समिति द नेशनल काउंसिल ऑफ रेडिएशन प्रोटेक्शन द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि बिजली के तारों और विद्युत उपकरणों से उत्पन्न विद्युत चुम्बकीय विकिरण के समीप रहने वालों को कैंसर जैसी जानलेवा बीमारी घेर सकती है। अमेरिकी एन्वायरनमेंटल प्रोटेक्शन एजेंसी ने भी इसे प्रमाणित किया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक रेबा एम. गुडमैन और न्यूयार्क के सिटी विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक एन. हैंडरसन का मत है कि घरों में टी.वी., प्रेस,

हीटर, रेडियो, मिक्सी, ओवन और वाशिंग मशीन सहित मामूली विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र भी हमारी शारीरिक जीन कोशिकाओं द्वारा विकसित प्रोटीनों को कुप्रभावित करता है। इससे औरतों को स्तन कैंसर होता है। यही नहीं, इससे कोरानरी धमनी रोग और एलर्जी रोग भी हो सकता है। रक्त और मस्तिष्क कैंसर हो सकता है। इसी प्रकार कम्प्यूटर, टेलीविजन, सी डी प्लेयर, हाई फाई सिस्टम, रेडियो और माइक्रो ओवन से उत्पन्न विद्युत चुम्बकीय विकिरणों से भी कैंसर तक का भय है।

अंतरराष्ट्रीय कैंसर जर्नल में लिखा है कि वीडियो डिस्प्ले टर्मिनलों के आगे काम करने वाली महिलाओं को दिमागी कैंसर होने की संभावना पाँच गुना तक बढ़ जाती है। गर्भवती महिलाओं का स्वतः गर्भपात तक हो सकता हे। आँखों की बीमारी भी हो सकती है। गौरतलब है कि टेलीविजन देखते समय कमरे में बिलकुल अंधेरा नहीं होना चाहिये। पर्याप्त रोशनी से आँखों में अत्यधिक जोर नहीं पड़ता। नेत्र–विशेषज्ञों का मत है कि यों तो ज्यादा टी0वी0 देखने से बच्चों की नजर कमजोर नहीं होती, लेकिन पहले से कमजोर नजर के लिये चश्मे का नंबर बढ़ जाता है। हिदायत दी जाती है कि 5 फुट की दूरी पर बैठकर बच्चों को टी0वी0 देखना चाहिये। इनके अतिरिक्त ई.एल.एफ. रेडिएशन का प्रकोप टोस्टर, वैक्यूम क्लीनर और कपड़े धोने की मशीनों से भी बना रहता है। आज ऐसे उपकरणों का करीब करीब हर घर में बढ़ चढ़कर इस्तेमाल हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में इनसे उत्पन्न बीमारियों से कैसे बचा जाये ? एक ही तरीका है। यथासंभव विभिन्न उपकरणों के इस्तेमाल को कम किया जाये और **सादगी भरी जिंदगी जीने की कोशिश करें।** फोटोकापी का धंधा फल–फूल रहा है। घरों में फोटोकापी की मशीनें लगा कर काम चल रहा है। कामकाज आसान जरूर हुआ है लेकिन सेहत को दाँव पर लगाकर। शोध की रिपोर्ट बताती है कि फोटोकापी मशीनें ओजोन गैस छोड़ती हैं। ओजोन गैस सारी दुनिया के लिये चिंताजनक है। ओजोन के निकटतम दुष्प्रभाव से झटपट सिरदर्द होने लगता है। और तो और, मोटर ग्राइंडर, इलेक्ट्रानिक रेजर, हेयर ड्रायर वगैरह चालू करते ही इलेक्ट्रो मैग्नेटिक रेडिएशन का उत्पादन शुरू कर देते हैं। प्रयोग के दौरान, हमारे शरीर को बार–बार बिजली क झटके लगते हैं। झटकों और इलेक्ट्रो मैग्नेटिक घेरे की नजदीकी के कारण आँखों में मोतियाबिंद तक उतरने की नौबत आ सकती है।

पिछले कुछ वर्षों से सेल्यूलर फोन या मोबाइल फोन ने भारतीय महानगरीय जीवन शैली में एक नई घुसपैठ की है। अब घर के भीतर और बाहर सड़क चलते दूर संचार बेहद सरल हो गया है। साथ ही पहले से चरमराती हमारी सेहत को एक और जोरदार झटका लगा है। मोबाइल फोन बेशक एक क्रांति है, जो हमें कैंसर और दमे जैसी बीमारियाँ दे रही है। इससे मस्तिष्क के हमेशा के लिये सुन्न हो जाने का खतरा भी बढ़ जाता है। ब्रिटेन, अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों ने मोबाइल फोन के खिलाफ जोरदार चेतावनी दी है। शोधकर्ताओं के अनुसार मोबाइल फोन के लगातार प्रयोग से कैंसर और अस्थमा रोग होता है। इस तथ्य के पीछे वैज्ञानिक आधार यह है कि मोबाइल या सेल्यूलर फोन में एक छोटा सा रेडियो ट्रांसमिटर लगा होता है, जिससे निकलती माइक्रो तरंगों से मस्तिष्क को खतरा है। वाशिंगटन विश्वविद्यालय के स्नायु रोग विशेषज्ञों द्वारा चूहों पर किये गये प्रयोग से प्रमाणित हुआ है कि माइक्रो तरंगों से मस्तिष्क में डी.एन.ए. को हानि पहुँचती है और अन्य तंतु प्रभावित होते हैं। फलतः अकेले ब्रिटेन में 50 लाख भयभीत उपभोक्ताओं ने अपने–अपने मोबाइल कंपनी को लौटा दिये हैं। अमेरिका में तो घबराये लोगों ने फोन कंपनियों पर दावे ठोक दिये हैं। घर के भीतर के समस्त प्रकार के प्रदूषणों से सचेत रहने से ही मनुष्य स्वस्थ रह सकेगा।

🕮 बी-**4/56** बी/**1,** हनुमान घाट
वाराणसी- **201 301**
-साभार

पेट्रोलियम की खोज

✍डॉ० अतुल आदित्य पाण्डेय

किसी भी देश के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसके पास ऊर्जा के पर्याप्त भण्डार संचित हों। भारतवर्ष जैसे घनी आबादी वाले राष्ट्र के लिये तो प्राकृतिक रूप से उपलब्ध ऊर्जा के स्रोतों का हिसाब-किताब रखना और भी जरूरी हैं। प्राकृतिक रूप से उपलब्ध ऊर्जा के स्रोतों में पेट्रोलियम का विशेष महत्व है। इसकी खोज एक रोमांचकारी प्रक्रिया है। यह हर जगह पृथ्वी की सतह पर परिलक्षित नहीं होता और अधःस्थल के लक्षणों की जानकारी बहुत आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाती है। इसकी खोज में एक कठिनाई और भी है कि हर पेट्रोलियम क्षेत्र एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होता है अतः किसी एक अवधारणा पर इसकी खोज नहीं की जा सकती।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका के पेनसिल्वेनिया क्षेत्र से कर्नल ड्रेक ने पेट्रोलियम के सन्दर्भ में जानकारी दी थी। भारतवर्ष में सर्वप्रथम असम के दलदल से भरे घने जंगलों और नदी-घाटियों से पेट्रोलियम की जानकारी प्राप्त हुई थी। यह माना जाता है कि सन् 1865 में मेडलीकाट नामक भूवैज्ञानिक ने कोयला खोजने के क्रम में असम के माकुम क्षेत्र से सतह पर तेल रिसने की जानकारी दी। उन्हीं के विचारों के पश्चात् वहाँ पेट्रोलियम के लिये ड्रिलिंग शुरू की गई और 26 मार्च सन् 1867 को माकुम के इर्द-गिर्द लगभग 118 फिट की गहराई पर पेट्रोलियम अवस्थित पाया गया। आज तक असम का वह क्षेत्र पेट्रोलियम के उत्पादन में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

पेट्रोलियम की खोज में सर्वेक्षण का खास महत्व है। सर्वेक्षण से हमें भौगोलिक क्षेत्र विशेष की विस्तृत जानकारी मिल जाती है। पेट्रोलियम की खोज में विशेषतया तीन विधियों को प्रयोग में लाया जाता है। ये हैं-

1. भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण
2. भूभौतिकीय सर्वेक्षण, तथा
3. भूरासायनिक सर्वेक्षण

इन सर्वेक्षणों से यह जानकारी मिलती है कि सर्वेक्षण किये जा रहे क्षेत्रों की भौगोलिक बनावट कैसी है, तथा उन इलाकों में चट्टानों के प्रकार कैसे हैं और उनकी संरचना कैसी है। इन आँकड़ों से हम यह जान सकते हैं कि वह क्षेत्र विशेष पेट्रोलियम के इकट्ठा होने के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं। अगर इन सर्वेक्षणों से हमें कोई सकारात्मक परिणाम मिलता है तो उस क्षेत्र में पेट्रोलियम की खोज के लिये विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये जाते हैं। सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त आँकड़ों का सत्यापन प्रवेधन या ड्रिलिंग से ही संभव है। प्रवेधन के पूर्व अगर कूप-संलेख (Well-logging) कर लिया जाये तो वह और भी अच्छा होता है।

1. भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ऐसे क्षेत्रों में उपयोगी है जहाँ दृश्यांश सतह से ऊपर अवस्थित होते हैं। क्षेत्र-विशेष के दृश्यांशों की ऊँचाई, नमन, नतिलम्ब इत्यादि के प्रयोग से मानचित्र तैयार किया जाता है। एक प्रशिक्षित भूवैज्ञानिक इस कार्य को कुशलता से निभाते हुये कुछ हद तक तो यह बताने में सक्षम रहता ही है कि इस इलाके में पेट्रोलियम मिलने के आसार कैसे हैं।

आजकल तो पेट्रोलियम की खोज के दौरान सुदूर संवेदन विधि (Remote sensing) की मदद ली जाने लगी है। इस विधि से वायव फोटोग्राफ उपलब्ध होते हैं जिससे अधःस्थल संरचना के बारे में जानकारी आसानी से मिल जाती है। विकसित देशों में यह तकनीक बहुत वर्षों से इस्तेमाल में लायी जा रही है।

2. भूभौतिकीय सर्वेक्षण पदार्थों के भौतिक गुणों पर आधारित है, जैसे- चुंबकीय सर्वेक्षण से हम पृथ्वी की चुंबकीय विसंगतियों को माप सकते हैं।

पेट्रोलियम की खोज के दौरान इस विधि से हम भूमिगत संरचनाओं के सह–संबंधों को भी बना पाते हैं। इन सभी कार्यों को मैग्नेटोमीटर की मदद से किया जाता है। गुरुत्वमिति सर्वेक्षण न्यूटन के सिद्धांत पर आधारित है। इस विधि से तेल एवं प्राकृतिक गैस की जानकारी हमें अप्रत्यक्ष रूप से ही मिल जाती है। भूकंपमिति पेट्रोलियम की खोज की सबसे शक्तिशाली विधि है और इसीलिये यह तकनीक पेट्रोलियम की खोज में सबसे अधिक इस्तेमाल में लायी जा रही है। यह तकनीक अधःस्थल में कृत्रिम तरंगों के विस्थापन पर आधारित है। इस तकनीक में पूर्वसर्वेक्षित क्षेत्रों में सुराख किये जाते हैं और फिर डाइनामाइट विस्फोट से जनित कम्पन्न को तरंगों के माध्यम से माप लिया जाता है। इन तरंगों को विभिन्न प्रकार के स्तर अलग–अलग ढंग से परावर्तित करते हैं। परावर्तित तरंगें जब सतह पर पहुँचती हैं तो उन्हें भूकंपमापी से माप लिया जाता है और फिर कम्प्यूटर की मदद से आँकड़ों को इकट्ठा कर उनके विश्लेषण से हम यह बताने में सक्षम हो पाते हैं कि उस क्षेत्र की आंतरिक संरचना कैसी है और वह तेल एवं प्राकृतिक गैस के लिये वांछित है अथवा नहीं। राष्ट्रीय परिपेक्ष्य में 'बम्बई हाई' के स्रोत का पता करते वक्त इसी विधि को इस्तेमाल में लाया गया था। खाड़ी प्रदेशों में जहाँ पेट्रोलियम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है इस विधि का काफी इस्तेमाल किया जा रहा है।

अपने देश में समुद्री इलाके के लिये भूकंपमिति से सुसज्जित जहाज 'अन्वेषक' है जो अपने कार्यों को काफी भली–भाँति निभा रहा है। इस विधि से पेट्रोलियम की खोज में कुछ विकास भी हुआ है जिसे हम ब्राइट–स्पॉट और हॉट स्पॉट तकनीक कहते हैं। छिछली परतों में संग्रहित पेट्रोलियम के भण्डारों को खोजने में ये दोनों विधियाँ काफी सक्षम हैं। उत्तरी सागर में हिमनद के नीचे दबे इलाकों में भी इस विधि का जोरदार प्रयोग किया जा रहा है।

3. भूरासायनिक विधि पदार्थों के रासायनिक गुणों पर आधारित है। पेट्रोलियम एक कम घनत्व वाला पदार्थ है और इसी कारण इकट्ठा होने के पश्चात् यह धीरे–धीरे सतह की ओर स्थानान्तरित होता है। अतः ऐसे क्षेत्रों में जहाँ पेट्रोलियम पदार्थ कुछ ऊपर की परतों में इकट्ठे हों वहाँ अन्य विधियों के साथ–साथ भूरासायनिक विधि से अगर सर्वेक्षण कर लिया जाय तो मामला और भी स्पष्ट हो जाता है।

भूरासायनिक सर्वेक्षण के कई प्रकार हैं। जैसे :

(क) सूक्ष्म गैस सर्वेक्षण
(ख) सूक्ष्म क्रोड सर्वेक्षण
(ग) सूक्ष्मजीववैज्ञानिक सर्वेक्षण
(घ) जल रासायनिक सर्वेक्षण, तथा
(ग) स्निफर सर्वेक्षण

स्निफर सर्वेक्षण मुख्यतया अपतटीय क्षेत्रों में किया जाता है। जब कभी हाइड्रोकार्बन महासागर तली से प्लूम के रूप में सतह पर आता है तो महासागर की धाराओं के कारण यह समुद्री पानी में घुलमिलकर एक जगह से दूसरी जगह विस्थापित होता रहता है। स्निफर सर्वेक्षण की मदद से हम यह बताने में सक्षम होते हैं कि प्लूम का वास्तविक स्रोत कहाँ अवस्थित है।

भूरासायनिक विधि अगर स्वतंत्र रूप से नहीं तो सर्वेक्षण की अन्य विधियों के साथ मिलकर पेट्रोलियम की खोज में असाधारण रूप से हमारी मदद करती है।

अपनी आवश्यकतानुसार एक भूवैज्ञानिक, सर्वेक्षणों के प्रकार को तय करता है और फिर इकट्ठा किये गये आँकड़ों से मानचित्र पर एक अनुप्रस्थ काट तैयार करता है। अन्य कई आकृतियों और रेखाचित्रों को तैयार कर लेने के बाद ही एक कुशल भूवैज्ञानिक ड्रिलिंग के लिये स्थान तय कर पाता है।

पेट्रोलियम की खोज हो जाने पर भी यह आवश्यक है कि हम ध्यान रखें कि हमारा प्रयास आर्थिक दृष्टिकोण से कितना वास्तविक होगा। इस क्रम में भूमि अधिग्रहण, परतों की मोटाई, गहराई तथा तैलाशय की दूसरी विशेषताएँ जैसे भूवैज्ञानिक काल की जानकारी रखना भी महत्वपूर्ण हो जाता है। भारतवर्ष में पेट्रोलियम की खोज और अन्वेषण की दिशा में पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा श्री केशव देव मालवीय का अभूतपूर्व योगदान है। इन लोगों की दूरदृष्टि का ही परिणाम है कि पेट्रोलियम उद्योग इतना विकसित हो पाया है।

तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग का गठन सन्

1956 में किया गया। भारतीय तेल निगम तथा ऑयल इंडिया सन् 1959 में स्थापित किये गये।

आज पेट्रोलियम की खोज में राष्ट्रीय स्तर पर कई विश्वविद्यालय और अनुसंधान केन्द्र लगे हुये हैं जिनमें पेट्रोलियम अन्वेषण संस्थान, प्रभेदन तकनीक संस्थान, अभियंत्रण एवं महासागर तकनीक संस्थान, उच्च तकनीक संस्थान एवं तैलाशय अध्ययन संस्थान प्रमुख हैं।

हमारे लिये गौरव की बात है कि आजादी के वक्त जब घरेलू खपत के लिये 90 प्रतिशत पेट्रोलियम आयात करना पड़ता था आज उसे घटाकर हम 60 प्रतिशत कर चुके हैं। पिछले वर्ष राष्ट्रीय स्तर पर 32 करोड़ टन पेट्रोलियम का उत्पादन हुआ। अपने देश में जो क्षेत्र पेट्रोलियम उत्पादन में अग्रणी हैं, वे हैं बम्बई, अतपटीय क्षेत्र, गुजरात, असम, त्रिपुरा, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु।

पेट्रोलियम के उत्पादन और घरेलू खपत के संदर्भ में किये गये एक अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि जिस रफ्तार से हम पेट्रोलियम का इस्तेमाल कर रहे हैं उससे प्राप्त संसाधनों के आधार पर हम मात्र 20 वर्षों तक ही खपत कर सकने की स्थिति में हैं। ऐसी स्थिति में हमें अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों पर निर्भर होना पड़ेगा जिससे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अतः पेट्रोलियम की खोज की दिशा में और अधिक प्रयास की आवश्यकता है।

भूविज्ञान विभाग
पटना विश्वविद्यालय

एन आर डी सी की बौद्धिक संपदा अधिकारों पर प्रशिक्षण हेतु बनी 'सी डी' का विमोचन

11 मई, 2001 को मनाये गये तृतीय राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी दिवस के अवसर पर नई दिल्ली मे आयोजित एक समारोह में माननीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी व महासागर विकास और मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ0 मुरली मनोहर जोशी द्वारा "बौद्धिक संपदा अधिकारों (इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स– आई पी आर) पर मल्टीमीडिया इंटरएक्टिव ट्रेनिंग पैकेज" का विमोचन किया गया।

इस मल्टीमीडिया ट्रेनिंग पैकेज का विकास संयुक्त रूप से नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन (एन आर डी सी) नई दिल्ली और एस्थिटिक टेक्नोलॉजी, कोलकाता द्वारा वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान विभाग, विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय, भारत सरकार के सहयोग से प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता के उद्देश्यपरक कार्यक्रम (प्रोग्राम्स एम्ड एट टेक्नोलॉजिकल सेल्फ रिलाएस– पैटसर) के अंतर्गत किया गया है।

इस अवसर पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी राज्यमंत्री माननीय श्री बच्ची सिंह रावत, प्रोफेसर वी.एस. राममूर्ति सचिव, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, डॉ0 आर.ए. माशेलकर, सचिव, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान विभाग व महानिदेशक वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, एवं डॉ0 मंजु शर्मा, सचिव, जैव प्रौद्योगिकी विभाग भी उपस्थित थे।

इस मल्टीमीडिया ट्रेनिंग पैकेज में बौद्धिक संपदा अधिकारों पर विभिन्न प्रकार की जानकारी उपलब्ध है। इसमें बौद्धिक संपदा अधिकारों से संबंधित 10,000 से भी अधिक पृष्ठों की जानकारी मौजूद है। वर्षों के ज्ञान और अनुसंधान से परिपूर्ण यह पैकेज सिर्फ 20,000 रुपये में उपलब्ध है।

एक्वाकल्चर द्वारा कृषि विविधीकरण

✍ डॉ० सुरेश चन्द्रा

भारत में मत्स्य पालन प्राचीनतम व्यवसायों में से एक रहा है जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में (321–300 ई0 पू0) भी किया है। पिछले पांच दशकों के दौरान अन्य क्षेत्रों की तरह मत्स्य पालन में भी उल्लेखनीय विकास हुआ है। जहाँ पहले यह पारम्परिक रूप से केवल तालाबों–पोखरों में मत्स्य बीज का संचय तक सीमित था वहीं वर्तमान में यह एक अत्यन्त लाभपरक, वैज्ञानिक आधार पर स्थापित हुआ है। बढ़ती जनसंख्या, प्रोटीन खाद्यों की ओर जनता का बढ़ता रुझान, मछली से प्राप्त प्रोटीन की उच्च गुणवत्ता एवं सुपाच्यता, तथा समुद्री स्रोतों से पकड़ी जाने वाली मछलियों की मात्रा में स्थिरता आदि कारणों से मीठे पानी में मत्स्य पालन न केवल आजीविका का उत्तम साधन बना है वरन् जलीय संपदा, विशेषकर ताल तलैया, पोखर, जलाशयों के जल में उपलब्ध पोषक तत्वों के दोहन का एक उत्कृष्ट माध्यम सिद्ध हुआ है।

विकासशील देशों में जन्तुओं से प्राप्त की जाने वाली प्रोटीनों में लगभग एक अरब लोगों द्वारा मछली ही प्रोटीन के प्राथमिक स्रोत के रूप में ग्रहण की जाती है। विश्व के कुछ देशों में तो जन्तु प्रोटीन के कुल भाग का 70 प्रतिशत तक मछलियों द्वारा पूरा किया जाता है। भारतीय प्रबन्धन संस्थान अहमदाबाद के एक अध्ययन के अनुसार भारत की लगभग 56 प्रतिशत जनसंख्या मछली खाने वाली है और प्रति व्यक्ति औसत खपत 9.5 किग्रा0 है।

हमारे देश में बरसात के महीनों पानी बहकर नदी नालों में पहुँच जाता है। इन महीनों में तालाब, पोखरों, झीलों, जलाशयों में संग्रहीत पानी साल के शेष महीनों में न केवल खेती एवं घरेलू कार्यों हेतु उपयोगी है अपितु इन जल क्षेत्रों का उपयोग टिकाऊ एवं सामाजिक तौर पर ग्रामीणों को स्वीकार्य मत्स्य पालन अपना कर भी किया जा सकता है। स्वदेशी एवं विदेशी मछलियों की तेजी से बढ़ने वाली प्रजातियों का जिन्हें सामान्यतः कार्प कहा जाता है, संचय इन जलीय क्षेत्रों में किया जाता है। ये प्रजातियां एक दूसरे के लिये हानिकार भी नहीं होती हैं। साथ ही साथ इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय क्षेत्रों में उपलब्ध संसाधनों से हो जाती है। अनेक जटिल पालन तकनीकों के सरलीकरण से अब मत्स्य बीज उत्पादन तथा इनकी उपलब्धता भी आसान हो गयी है। उन्नत बीज संचय, उचित खाद–पोषण, सम्पूरक आहार से तालाबों में नियमित आपूर्ति एवं देखभाल से मत्स्य उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि की जा सकती है।

स्थान विशेष के अनुसार जलीय क्षेत्रों में अनेक विविधताएँ देखने को मिलती हैं। इनमें किस तरह का मत्स्य पालन किया जाये यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि पैदावार कम लागत में हो, साथ ही साथ टिकाऊपन रहे जिससे मत्स्य पालक को वर्षानुवर्ष समुचित लाभ मिलता रहे तथा ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषकर गांवों के मध्य स्थित तालाबों का परिवेश पर्यावरण अनुकूल बना रहे। यद्यपि बदलते तौर तरीकों की वजह से इन जलीय क्षेत्रों का महत्व घटा है लेकिन अब जब गर्मियों के महीनों में अनेक जगहों पर पानी का अभाव हो जाता है इनके महत्व को सभी लोग चाहे वह ग्रामीण जन हों या नीतिनिर्धारक भली प्रकार से मानने लगे हैं। गाँवों अथवा अपने निजी परिक्षेत्रों में उपलब्ध जलक्षेत्रों की अवस्था, स्थानीय संसाधनों की उपलब्धता, मत्स्य कृषक की आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक दिक्कतों को ध्यान में रखते हुये उचित पालन प्रणाली अपनायी जा सकती है।

मोटे तौर पर संसाधनों के अनुरूप दो तरह की पालन प्रणालियाँ आमतौर पर पालकों द्वारा अपनायी जाती हैं।

1. टिकाऊ अर्धसघन मत्स्य पालन प्रणाली

इस तरह की पालन प्रणाली ग्रामीण अंचलों में

स्थित छोटे बड़े जलक्षेत्रों में सफलतापूर्वक अपनायी जा सकती है। इसके अन्तर्गत संचय किये जाने वाले मत्स्य बीज की मात्रा, खाद एवं प्रयोग की जाने वाली पूरक आहार की मात्रा अपेक्षाकृत कम रखी जाती है। मूल रूप से इस बात पर जोर दिया जाता है कि इन जलक्षेत्रों में उपलब्ध तत्वों को जो अनेक रूपों में बहकर तालाबों में प्रवेश करते हैं, इस तरह से सुव्यवस्थित ढंग से प्रबन्धन किया जाये कि संचित पालतू मछलियों की सीधे खाद्य अथवा अपरोक्ष रूप से प्राकृतिक आहार यानी जन्तु एवं वनस्पति प्लवकों, डायएटैम्स एवं सूक्ष्मजीवों आदि के रूप में प्राप्त हो जाये। प्रबन्धन कार्यों का अर्थ है कि आवश्यकता से अधिक पोषक तत्वों की उपलब्धता भी उत्पादन को प्रभावित करती है अतः यदि इनका प्रवेश ऐसी स्थिति में रोकना सम्भव हो तो यही उपयोगी है अन्यथा तालाब के जल में बाहर का साफ पानी मिलाया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत यदि इन आवश्यक पोषक तत्वों का अभाव हो तो खाद एवं खाद्य पदार्थों के उपयोग से उसकी पूर्ति की जा सकती है। प्रायः गाँवों के पोखरों में घरेलू अपशिष्ट पदार्थ प्रवाहित कर दिये जाते हैं। मवेशी भी इनमें तैरते रहते हैं जिससे गोबर की खाद भी मिलती रहती है। वर्षा काल में घरों, गोशालाओं आदि का पानी बहते हुये तालाब में प्रविष्ट करता है इस बेकार समझे जाने वाले बहते जल में पोषक तत्वों का भंडार रहता है जो तालाब पहुँचकर इसकी उत्पादकता को बढ़ा देता है।

खेतों के बीच में स्थित तालाबों में आस पास के पोषक तत्वों से युक्त पानी जमा होता रहता है। इनका भी अर्धसघन मत्स्य पालन अपनाकर उचित दोहन किया जा सकता है। इन तालाबों में कभी भी मत्स्य पालकों के बीच कुछ समस्यायें भी उपस्थित हो जाती हैं जिनकी खास वजह खेतिहर किसानों द्वारा खेतों में कीटनाशक दवाइयों का छिड़काव है। यदि इन खेतों का जल, जिसमें कीटनाशक दवाइयों के अवशेष होने की सम्भावना ज्यादा रहती है, तालाबों में आ जाये तो मछलियों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अकार्बनिक खादों, यूरिया आदि के छिड़काव के तुरन्त बाद यदि ज्यादा वर्षा हो जाये अथवा खेतों की सिंचाई का पानी तालाब में मिल जाये तो भी पोषक तत्वों की प्रचुरता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप वनस्पति प्लवकों की बाढ़ सी आ जाती है, जल का रंग हरा हो जाता है। इस तरह के तालाबों में रात्रि के समय मछलियों के उपयोग में आने वाली घुलित आक्सीजन की मात्रा में कमी हो जाती है। इससे पूरे तालाब के पारिस्थितिकी तंत्र पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जिससे संचित मछलियाँ प्रभावित होती हैं।

इस तरह सम्भावित समस्याओं के सही प्रबन्धन से टिकाऊ अर्धसघन मत्स्य पालन पद्धति से जल–प्रदूषण की सम्भावना नहीं के बराबर रहती है। इसके साथ साथ उपलब्ध पोषक तत्वों पर मछलियाँ खाद्य के लिये निर्भर रहती हैं और उनका भक्षण परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में करती रहती हैं। कमी की अवस्था में बाहर से इन पदार्थों की आपूर्ति की जाती है। इस पालन प्रणाली द्वारा 3000–5000 किग्रा0/हे0 मछली एक वर्ष के पालन के बाद प्राप्त हो जाती है। मत्स्य पालक प्रबन्धन कार्यों के अनुसार 60–80 हजार रुपये का शुद्ध लाभ कमा सकते हैं। संचित मछलियों की प्रजाति के अनुसार बढ़वार 500 ग्राम से 1.2 किग्रा0 तक हो जाती हे। इनकी बिक्री के लिये स्थानीय मछलियों की मण्डी के आस पास रहने वाले मछुवारा समुदाय के लोग अपना जाल ले जाकर तालाब पर ही मछलियों को भार के अनुसार खरीद लेते हैं। इससे मत्स्य पालक को भी विशेष भागदौड़ नहीं करनी पड़ती है।

2. सघन मत्स्य पालन प्रणाली

सघन पालन पद्धति उच्च्य प्रबन्धन कार्यों के साथ अधिकाधिक निवेश के प्रयोग पर आधारित है। तालाबों की तैयारी के साथ इस पालन पद्धति की शुरुआत होती है। तालाब में चूने का छिड़काव कर मेड़–बन्दी की जाती है। पानी भरने के बाद खाद मिलाई जाती है। उसके 3–4 दिन बाद मत्स्य बीज संचय कर दिया जाता है। जहाँ अर्द्धसघन मत्स्य पालन प्रणाली के अन्तर्गत मत्स्य बीज संचय की दर 7000–8000 फ्राई/हे0 रखी जाती है वहीं इस पद्धति में दो से ढाई गुना ज्यादा की दर से संचय किया जाता है। आकार में बड़ी अंगुलिकायें

8–10 सेमी की, ज्यादा उत्पादन प्राप्त करने में सहायक होती हैं। आजकल आन्ध्रप्रदेश के मत्स्य कृषक एक साल पुराना बीज का जिन्हें वर्ष भर तालाबों में बहुत अधिक संख्या में पाया जाता है और कुल 4–10 ग्राम तक बढ़ती है, विस्तृत रूप से संचय कर रहे हैं। इन्हे स्टन्टेड ग्रोथ वाली मत्स्य अंगुलिकायें कहा जाता है, इससे अच्छे प्रबन्धन द्वारा उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि प्राप्त की गई है। इसी का परिणाम है कि आजकल उत्तर भारत में भी अनेक शहरों में आन्ध्र की मछलियाँ व्यापक रूप से बेची जाती हैं। सघन पद्धति को अपनाने वाले मत्स्य पालक प्रायः मत्स्य बीज का संचय तो कर लेते हैं लेकिन बाद में किये जाने वाले प्रबन्धन कार्यों पर ध्यान नहीं देते। ऐसे तालाब की मछलियों की बढ़वार सन्तुलित खाद्य की आपूर्ति, तालाब के पानी की गुणवत्ता में सुधार एवं कृत्रिम वायुकरण यन्त्रों द्वारा आवश्यक घुलित आक्सीजन की मात्रा की व्यवस्था आदि पर पूर्णतः निर्भर रहती है। चूँकि इन पालन तालाबों में मत्स्य बीज की संचय दर अधिक रखी जाती है साथ ही इनके बढ़वार के लिये आवश्यक खाद एवं पूरक आहारों का अधिक उपयोग किया जाता है। अतः कुछ मात्रा इन पदार्थों के अवशेष के रूप में रह जाती है एवं इनमें मछलियों द्वारा अपवर्ज्य पदार्थ भी मिलते रहते हैं जो जलीय परिवेश को गन्दा करते हैं। अनेक तरह की हानिकारक गैसें भी पैदा होती हैं। यह समस्या ज्यों–ज्यों मछलियाँ बढ़ती हैं, ज्यादा प्रभावी रूप में सामने आती है क्योंकि तालाब के कुद बायोमास में वृद्धि हो जाती है। अतः सुव्यवस्थित प्रबन्धन कार्यों द्वारा इन पर नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है जिससे बढ़वार एवं तालाब की उत्पादकता प्रभावित न हो, प्रति माह तालाब की तलहटी को खरोंचना, आवश्यकता पड़ने पर चूने का उपयोग, तालाब में साफ पानी मिलाते रहना आदि कार्य अपनाने से होने वाले जलीय प्रदूषण को कम करने में मदद मिलती है। सघन मत्स्य पालन पद्धति में जहाँ मछली अधिकाधिक बढ़ती है, वहीं मछलियों में रोगों के प्रकोप की सम्भावना भी ज्यादा रहती है। अतः प्रभावी रोकथाम के उपाय अपनाना भी आवश्यक होता है।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के भुवनेश्वर स्थित केन्द्रीय मीठाजल जीवपालन अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों ने भारत सरकार के जैव प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा पोषित 'सघन मत्स्य पालन' परियोजना के अन्तर्गत इस पद्धति को विकसित कर इसके अनुप्रयोग से भी ज्यादा मत्स्य उत्पादन प्राप्त किया है। सकल खर्च पर लगभग 34 प्रतिशत शुद्ध लाभ प्राप्त हो जाता है।

यह प्रणाली बड़े परिक्षेत्रों में औद्योगिक रूप में अपनाने के लिये उपयुक्त है। इसमें पूँजी अधिक खर्च होती है। अतः मत्स्य पालक को साधनसम्पन्न होना चाहिये। बहुत अधिक निवेश प्रयोग किया जाता है जिससे वर्ष उपरान्त इनकी सफाई भी आवश्यक होती है। सफाई के समय तालाबों के पोषक तत्वों से युक्त जल का उपयोग खेती वर्ग सिंचाई में किया जाता है। तलहटी में जमा कीचड़ भी एक खाद का काम करता है जिसका उपयोग कृषि, बागवानी आदि में किया जा सकता है। हाल के वर्षों में अनेक राज्य के मत्स्य किसान इस तरह के संसाधनों का सदुपयोग कर कृषि उत्पादकता में वृद्धि कर लाभान्वित हो रहे हैं।

📖 सीफा परिचालन शोध इकाई
इलाहाबाद

सम्मान

विज्ञान परिषद् प्रयाग के आजीवन सभ्य तथा वर्ष 2000 के आत्माराम पुरस्कार से सम्मानित वरिष्ठ विज्ञान लेखक डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा को भारत सरकार के पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो, नई दिल्ली द्वारा पुलिस से संबंधित विषयों पर हिन्दी में उत्कृष्ट लेखन हेतु उनकी पुस्तक 'नारी और न्याय' के लिये 'पंडित गोविन्द वल्लभ पंत पुरस्कार' प्रदान किया गया। इस पुरस्कार के अंतर्गत प्रशस्ति पत्र तथा 15000/- की धनराशि दी जाती है।

विज्ञान परिवार की ओर से अनेक बधाइयाँ!

– सम्पादक

कृषि और जैव प्रौद्योगिकी

✍ डॉ० गोपाल पाण्डेय एवं हेमलता पन्त

वैज्ञानिक क्रांतियों के इस दौर में शायद ही कोई क्षेत्र चमत्कार से बच पाया हो। दुनिया की सारी विशिष्ट प्रतिभाएँ इस प्रयास में जुटी हुई हैं कि जो कुछ भी है उसे और बेहतर कैसे बनाया जाय। इस संबंध में कृषि और उससे संबंधित क्षेत्रों में जो नये आविष्कार हो रहे हैं उसके परिणाम आने शुरू हो गये हैं। हालाँकि अभी भी प्रायोगिक स्तर पर हैं लेकिन शत–प्रतिशत परिणाम प्राप्त करने और प्रयोगों के संतोषप्रद होने पर ही उन्हें बड़े पैमाने पर लागू करना निरापद होगा। खाद्यान्न, बागवानी, मछली उत्पादन और पशुधन–विकास के मामले में नई खोजों ने जिस संभावना और अवसर के उपस्थित होने का संकेत दिया है उससे निश्चय ही मनुष्य राहत की साँस ले सकता है।

जैव प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से अब तक यह संभव है कि फसलों की किस्में और उत्पादन में गुणात्मक वृद्धि की जा सकती है। फसलों की समयावधि घटाकर एक ही भू–क्षेत्र में कई बार खाद्यान्न फसलों का उत्पादन किया जा सकता है। जीन अभियांत्रिकी तथा पौधों की नई विकसित प्रजनन प्रौद्योगिकी के जरिये फलों और सब्जियों के स्वाद नियंत्रित किये जा सकते हैं और उनमें ऐसे गुणों का समावेश कराया जा सकता है जिससे वे लम्बे समय तक सड़ने, गलने और खराब होने से बचे रह सकें।

प्राकृतिक तौर पर फूलों की दुनिया जितनी रंग–बिरंगी और सुन्दर है उसे और सुन्दर बनाने, फूलों में मनचाहा रंग भरने तथा इनकी क्षणभंगुरता को खत्म करने में कृषि प्रौद्योगिकी जिस तरह सफल हो रही है, वह श्लाघनीय है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकों द्वारा जीन अभियांत्रिकी की मदद से फूलों में ऐसे रंग भरने की कोशिश हो रही है जो उन्हें कुदरत ने नहीं दिये। उदाहरणार्थ– लाल गुलाब प्रकृति की देन है लेकिन काले, पीले, नीले, हरे, बैंगनी और सफेद गुलाब उपजाने की समूची प्राकृतिक प्रक्रिया का अध्ययन पूरा कर लिया गया है। इसी तरह किन्हीं दो फूलों के गुणों को मिलाकर कोई तीसराा और विशिष्ट फूल तैयार कर लेना, एक ही फूल में कई रंग ला देना जैव प्रौद्योगिकी का ही चमत्कार है। ऐसे फूलों की खेती शुरू हो गयी है जो अपने तनों से टूटने के बाद मुरझाते नहीं बल्कि अगले कई महीनों तक अपनी चमक और ताजगी बनाये रखते हैं। दिनोंदिन गुलाब, एस्टर, गुलदाउदी, कोसान्ड्रा की माँग बढ़ती जा रही है। दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, बंगलौर और चेन्नई जैसे शहरों में इनकी खपत इतनी बढ़ चुकी है कि जो फूल निर्यात में अस्वीकार कर दिये जाते हैं वे भी इन शहरों में अच्छे दामों में बेच दिये जाते हैं। इस तरह फूलों के व्यापार में क्रांतिकारी परिवर्तन आने की संभावना है।

ऊतक सम्वर्धन तकनीक द्वारा फूलों की प्रजातियों को सुधाराने में सफलता मिली है। इस तकनीक में किसी पौधे के किसी भी हिस्से का छोटा सा टुकड़ा लेकर उसे पूरी खुराक (हारमोन, खनिज लवण, ग्लूकोज आदि) देने पर उसकी कोशिकायें बढ़ने लगती हैं और पूरा पौधा तैयार हो जाता है। इससे लाखों की संख्या में उत्तम कोटि के पौधे (क्लोन) कम से कम समय में तैयार किये जा सकते हैं। हाल के कुछ वर्षों में भारतीय वैज्ञानिकों ने ऊतक सम्वर्धन द्वारा पौधों की विभिन्न प्रजातियाँ विकसित की हैं, जो आर्थिक दृष्टिकोण तथा उत्पादन दोनों ही दृष्टि से किसानों के लिये बहुत उपयोगी हैं। इस तकनीक के द्वारा नारियल, पपीता, नींबू, गन्ना, फूलों इत्यादि की विभिन्न प्रजातियाँ विकसित की जा चुकी हैं। ऊतक–सम्वर्धन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा विभिन्न प्रकार की जलवायु एवं प्रतिकूल कृषि दशाओं में उत्पादन प्राप्त करने वाली पादप प्रजातियों का विकास किया जा रहा है। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय रसायन

प्रयोगशाला, पूना, इण्डो अमेरिकन हाइब्रिड कम्पनी, हिन्दुस्तान लीवर, बंगलौर आदि संस्थाओं ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। केरल में एर्नाकुलम में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की नारियल अनुसंधानशाला के वैज्ञानिकों ने नारियल की ऊतक सम्वर्धन यूनिट चालू कराकर एक क्रांतिकारी पहल की है। गौहाटी विश्वविद्यालय, असम ने अनन्नास को परखनली में उगाने की विधि विकसित की है।

आर0 आर0 एल0, जम्मू द्वारा परम्परागत क्षेत्रों में जूविनाइल हार्मोन्स के प्रयोग से रेशम की उत्पादकता बढ़ाने के लिये एक कार्यक्रम शुरू किया गया है। इस हार्मोन का उपयोग करने से रेशम के उत्पादन में 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

ऊतक सम्वर्धन तकनीक के माध्यम से 14 राष्ट्रीय महत्व के वृक्षों के विकास की पद्धतियों का मानकीकरण किया गया है। इन वृक्षों का इसी मानकीकरण के आधार पर व्यापक स्तर पर उत्पादन किया जायेगा। आर्थिक महत्व की बागवानी और वृक्षों की फसलों पर अनुसंधान और विकास कार्य शुरू किये गये हैं। परखनली में पौध उगाने की ऊतक सम्वर्धन तकनीक को निजी उद्योग ने भी अपनाना शुरू कर दिया है। ऐसी पहली कम्पनी कोचीन, ए0बी0 थामस थी जिसने केले और इलायची के रोगमुक्त परखनली पौधें बनाकर उन्हें देश–विदेश में बेचना शुरू किया। फिर इंडो–अमेरिकन हाइब्रिड कम्पनी ने बड़े पैमाने पर वृद्धि कक्ष और ग्रीन हाउस बनाकर परखनली पौधें तैयार करने का कार्य शुरू किया। स्पिक एग्रो बायोटेक सेन्टर ने चेन्नई में एक करोड़ परखनली पौधें प्रतिवर्ष तैयार करने की सुविधा विकसित की है। यहाँ कॉफी, आलू, केला, सूरजमुखी, गुलाब, जरवेला और आर्किड तथा आम, कटहल, खजूर आदि की पौधें परखनली में तैयार की जा रही हैं।

कृषि के क्षेत्र में **जैव उर्वरकों** का प्रयोग महत्वपूर्ण है। जैव उर्वरक वास्तव में ऐसे सूक्ष्मजीव, बैक्टीरिया, शैवाल, फर्न आदि हैं जो खेत में विभिन्न पोषक तत्वों जैसे– नाइट्रोजन, फास्फोरस, सल्फर आदि प्राप्त करके फसलों को उपलब्ध कराते हैं। राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, एजोस्पाइरिलम आदि सूक्ष्मजीवाणु वायु में नाइट्रोजन लेकर उसे भूमि में स्थिर करते हैं। एजोला तथा नीलहरित शैवाल वायुमण्डल से नाइट्रोजन लेकर पोषक पदार्थों का निर्माण करते हैं। नीलहरित शैवाल का प्रयोग धान के खेत में किया जाता है। विभिन्न जीवाणु जैसे बैसीलस, स्यूडोमोनास, माइक्रोबैक्टीरिया, माइक्रोबियल फंजाई अनुपलब्ध फास्फोरस को घुलनशील एवं गतिशील करने में सहायक होता है। सल्फर जैवउर्वरक में थायोबैसिलस नामक जीवाणु रहता है जो कार्बनिक सल्फर को अकार्बनिक सल्फर में परिवर्तित कर पौधों को उपलब्ध कराता है। टाटा एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट के वैज्ञानिकों ने एक ऐसी जैविक खाद का विकास किया है जो कई तरह की सब्जियों, फूलों, चारों की फसलों तथा वृक्षों का उत्पादन बढ़ाने में सक्षम है। इसे माइकोराइजा कहते हैं। इनसे 30–50 प्रतिशत तक की वृद्धि हो सकती है।

जैव प्रौद्योगिकी से **जैव कीटनाशकों** का विकास एवं उत्पादन किया जा सकता है। वैकुलोवायरस श्रेणी (या माइक्रोवायल श्रेणी) हेलिओथिस आर्मिजेरा, स्पोटोटेरा लिटुरा के लिये एन0पी0वी0 वायरस का प्रयोग करते हैं तथा चिलोइन्फस कैटलस जी0वी0 का प्रयोग करते हैं। परजीवी क्रायोसोपा का विकास एडिफिस, सफेद मक्खियों एवं बालवर्म के नियन्त्रण हेतु ट्रिकोगामा का विकास लेपिडोटेशन परजीवियों के नियन्त्रण हेतु किया जाता है। फफूँदी ट्राइकोडर्मा विरेडेट, टी0 हाराजिआनम आदि का विकास फफूँदी तथा सूत्रकृमि संक्रमण के लिये किया जा रहा है।

अभी तक जैव नियंत्रण के लिये मुख्य रूप से ट्राइकोडर्मा तथा गिलोक्लैडियम जैसी फफूँदों पर निर्भर रहना पड़ता था। पिछले दिनों पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने स्यूडोमोनास फ्लोरिसेस नामक एक नये जीवाणु को खोज निकाला है जो इन दिनों जैव नियंत्रण से ज्यादा कारगर है। बीज शोधन के साथ इन जीवाणुओं को मिट्टी में पहुँचा दिया जाता है जो पौधों का बचाव करते हैं।

सन् 1995 में बायोवेद शोध एवं प्रसार केन्द्र, इलाहाबाद के वैज्ञानिकों ने एक ऐसे जैव कीटनाशक 'बोयोनीमा' का विकास किया है जो विभिन्न फसलों के लिये आर्थिक दृष्टि से उपयोगी तथा प्रदूषणरहित है। इसके प्रयोग से फसलों में उर्वराशक्ति बढ़ जाती है तथा

पैदावार में 20–25 प्रतिशत की वृद्धि होती है। यह हानिकारक कीट एवम् व्याधि तथा विशेष रूप से सूत्रकृमियों द्वारा होने वाले रोगों का नियन्त्रण करता है।

जैवकीटनाशकों के व्यापारीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय कोयम्बटूर एवं मदुरै कामराज विश्वविद्यालय मदुरै में दो जैव नियंत्रण प्रायोगिक संयत्र लगाये गये हैं जिनका उद्देश्य पर्याप्त मात्रा में जैवकीटनाशकों का विकास करना है जिससे अरहर, चना, उरद, मूँग, मूंगफली, सूरजमुखी, तम्बाकू, कपास, अरण्डी आदि की आवश्यकतायें पूरी की जा सकें।

भारतीय वैज्ञानिकों ने पराजीनी (ट्रांसजेनिक) कपास, तम्बाकू, अरहर तथा चने में प्रयोगशाला स्तर पर बैसीलस थूरिनजिएंसिस (बी0टी0) नामक बैक्टीरिया का जीन डालने में सफलता प्राप्त कर ली है। वे दालों में बी0टी0 नामक बैक्टीरिया जीन डालने में अभी हाल ही में सफल हुये हैं जो कीट नाशक प्रोटीन तैयार करता है। इसका अर्थ है कि इन फसलों में जहरीले रासायनिक कीटनाशक छिड़कने की जरूरत नहीं रह जायेगी और पौधे अपना कीटनाशक स्वयं बना लेंगे। विशेष बात यह है कि बी0टी0 का जो जीन इन दालों में डाला जाता है वह प्राकृतिक रूप से मिट्टी में डालने वाले बैक्टीरिया से नहीं लिया गया है बल्कि प्रयोगशाला में उसे कृत्रिम रूप से तैयार किया गया है। वैज्ञानिक इसे एक बड़ी उपलब्धि बता रहे हैं। भारत के इस अनुसंधान का आर्थिक तौर पर भी अत्यधिक महत्व है। विश्व में अभी तक कपास, मक्का, तम्बाकू, सोयाबीन, आलू और टमाटर की ट्रांसजेनिक किस्में विकसित हो चुकी हैं। भारत में अरहर तथा चने में इस सफलता का विशेष महत्व है क्योंकि अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों के होते हुये भी सफलता सबसे पहले भारतीय वनस्पतिक अनुसंधान संस्थान, लखनऊ को मिली।

स्काटलैण्ड स्थित रॉसलिन इंस्टीट्यूट के डॉ0 इयान बिल्मुट के नेतृत्व में वैज्ञानिकों ने सन् 1996 में प्रथम क्लोन 'डाली भेड़' तैयार की। इसके बाद अनेक पशुओं के क्लोन तैयार किये गये हैं। हाल ही में एक अमेरिकी कम्पनी जेन्जाइम ट्रांजेनिक ने बकरी के तीन क्लोन तैयार किये हैं। नेशनल डेयरी रिसर्च इंस्टीट्यूट करनाल, हरियाणा के वैज्ञानिकों ने वर्ष 1998 में भैंस का क्लोन सफलता से निर्मित किया। यह भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि है। ज्ञातव्य है कि विश्व में भारत की भैंसे सर्वश्रेष्ठ प्रजातियों की हैं और भारतीय वैज्ञानिकों ने पहली बार भैंस का क्लोन निर्मित किया।

कृषि में जैव प्रौद्योगिकी का भविष्य उज्ज्वल है। सरकार की उदारीकरण की नीतियों से कृषि से जुड़े ऐसे उद्योगों में अधिक पूँजी निवेश होगा जिससे निश्चित ही पर्याप्त रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे। कृषि जैव प्रौद्योगिकी से वैज्ञानिकों के लिये भी रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे।

📖 उपनिदेशक तथा कनिष्ठ वैज्ञानिक
बायोवेद शोध एवं प्रसार केन्द्र
103/104, नेहरू रोड, इलाहाबाद

जैव प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार और वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग नई दिल्ली के समर्थन से विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा तैयार किये जा रहे जैव प्रौद्योगिकी परिभाषा कोश की विशेषज्ञ समिति की प्रथम समीक्षा बैठक 28 जून 2001 को विज्ञान परिषद् में आयोजित की गई।

इसकी अध्यक्षता शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव ने की। परियोजना के समन्वयक डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने परिषद् द्वारा संकलित व तैयार की गई परिभाषाओं तथा शब्दों के बारे में बताया। उपस्थित विशेषज्ञों द्वारा जैव प्रौद्योगिकी के वे क्षेत्र चिन्हित किये गये जिनसे संबंधित परिभाषाएँ, कोश में शामिल की जानी हैं।

इस अवसर पर डॉ0 कृष्णा मिश्र, डॉ0 एस.पी. मिश्र, डॉ0 जी.एल. तिवारी, श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ0 गोपाल पाण्डेय, देवव्रत द्विवेदी तथा डॉ0 सुनील कुमार पाण्डेय उपस्थित थे।

सूचना क्रान्ति

✍ अमित बहल

युगान्तरकारी परिवर्तनों की जननी औद्योगिक क्रांति 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुई और वर्तमान में वह अपने तृतीय चरण को लगभग पूर्ण कर चुकी है। औद्योगिक क्रांति के संदर्भ में चल रहे परिवर्तनों के फलस्वरूप विराट विश्व 'वैश्विक गाँव' के रूप में बदल गया है तथा विश्व समुदाय अब 'सूर्य समुदाय' की ओर अग्रसर हो रहा है। सूर्य समुदाय से अभिप्राय–सौरमण्डल के ग्रहों तथा उपग्रहों पर आवासीय बस्तियों की स्थापना से है। पाश्चात्य देशों में तो चंद्रमा के धरातल पर भूमि की बिक्री, अंतरिक्षयानों में अंतरिक्ष की यात्रा हेतु टिकटों का आरक्षण कार्य भी प्रारंभ हो गया है। वास्तव में यह भूमण्डल पर जनसंख्या के बढते दबाव को अंतरिक्ष आवास में समाहित करने की, औद्योगिक क्रांति की चेष्टा है।

वर्तमान विश्व इस समय सूचना क्रांति के परिवर्तनों से गुजर रहा है। निश्चित रूप से सूचना आज के परिप्रेक्ष्य में शक्ति का प्रतीक बन गई है। ऐसा देखा गया है कि अनेक देशों की अर्थव्यवस्था में उन्नति न हो सकने का एक मुख्य कारण उसके पास उपयुक्त सूचना का अभाव होता है। सूचना की आवश्यकता तो मनुष्य को सदैव रहती है, चाहे उसका कार्य किसी भी क्षेत्र से संबंधित क्यों न हो। कुछ समय पूर्व तक उसे सूचना आदान–प्रदान के लिये अथक परिश्रम करना पड़ता था। आज मल्टीमीडिया, सी डी रॉम व इंटरनेट जैसे उच्च टेक्नोलाजी के साधन उपलब्ध होने के कारण उसके पास उचित और उपयुक्त सूचनायें यथासमय उपलब्ध हो जाती हैं। मल्टीमीडिया की सहायता से कम्प्यूटर मेमोरी में एनसाइक्लोपीडिया एवं अनेक विषयों के संदर्भ डेटा संग्रहित किये जा सकते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी का आविर्भाव औद्योगिक क्रांति के पश्चात् सर्वाधिक बड़ी क्रांति के रूप में जाना जाने लगा है। **सूचना प्रौद्योगिकी विज्ञान की वह शाखा है जो सूचनाओं के आदान-प्रदान को आसान बनाती है।** हाल ही में हुये आविष्कारों जैसे कम्प्यूटर, फाइबर, काम्पैक्ट डिस्क, उपग्रह, लेजर तथा इंटरनेट आदि ने सूचनाओं के आदान–प्रदान को अत्यधिक गति दी है, जिसे सूचना क्रांति के नाम से अभिहित किया जा सकता है। **सूचना क्रांति से तात्पर्य सूचनाओं, ध्वनि चित्रों, आँकड़ों एवं रेखाचित्रों इत्यादि का तीव्र गति से आदान-प्रदान है।** इस प्रकार के आदान–प्रदान में देशों की सीमाओं का कोई महत्व नहीं रहा है और वैश्विक ग्राम की संकल्पना अब मूर्त रूप ले चुकी है।

इंटरनेट विश्व की सर्वाधिक सक्षम सूचना–प्रणाली है। 135 देशों में इसके 30,000 से भी अधिक नेटवर्क हैं। 1990 तक 5,00,000 कम्प्यूटर इससे जुड़े थे। 1995 के मध्य तक यह संख्या बढ़कर 4.8 करोड, 1998 तक 50 करोड़ तथा वर्ष 2001 के अंत तक यह संख्या 200 करोड़ तक पहुँचने की सम्भावना है। कम्प्यूटर, ई–मेल एवं विश्वव्यापी वेब के संकलन से निर्मित इंटरनेट, भूमण्डल की अत्यधिक महत्वपूर्ण जानकारियों का झरोखा है। यह छोटे–छोटे नेटवर्कों एवं भूमण्डल में फैली अन्य सम्बन्धित सूचनाओं का संघटन है। भविष्य में सभी प्रकार की जानकारियों के आदान–प्रदान को कम्प्यूटर सँभालेगा। किसी भी विषय जैसे वाणिज्य, शिक्षा, मनोरंजन व विज्ञान आदि पर शीघ्रता और सरलता से जानकारियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। उपयोगकर्ता द्वारा अपने सामान एवं सेवाएँ क्रय–विक्रय, सौदों तथा सेवाओं के निर्धारण, व्यापार के विज्ञापन व निर्धारण, रुचियों को खोजने, सृजनात्मकता के प्रकटीकरण के कार्यों में इंटरनेट का उपयोग निरंतर बढ़ता जा रहा है।

इंटरनेट का उद्भव अर्पानेट की संकल्पना से हुआ। अर्पानेट अमेरिकी रक्षा वैज्ञानिकों तथा अनुसंधानकर्ताओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिये 1969 में विकसित किया गया। यह अमेरिका के संपर्क में सुरक्षा से सम्बन्धित खोजों में लगे कम्प्यूटर केंद्रों के बीच मध्यस्थता करता था। 1980 के अंत तक

अन्य शैक्षिक अन्वेषकों के लिये यह महत्वपूर्ण संपर्क बन गया। अंग्रेजी अध्यापकों से लेकर भौतिकी के विद्यार्थियों तक, सापेक्षिक संस्थाओं के बाहर यह विस्तार अमेरिका की सीमा के बाहर तक पहुँच गया। इंटरनेट के अंदर या इंटरनेट से जुड़े हुये आज हजारों छोटे नेटवर्क हैं जैसे– आर.टी.के. नेट तथा पीसनेट।

वस्तुतः सूचना क्रांति के इस युग में, कालक्रम में काल का व्यवधान तथा दूरी की परिभाषा अपनी अहमियत खोते चले गये हैं। ज्ञान का द्वार सबके लिये खुल गया है, सूचनाओं पर मुट्ठी भर लोगों का एकाधिकार जाता रहा। एक नये अंतरिक्ष की परिकल्पना उभरी, जिसे **साइबर स्पेस** कहा गया। साइबरस्पेस एक परिकल्पित आकाश है, जिसमें होते हैं कम्प्यूटर और केवल कम्प्यूटर, उसमें भरी हुई सूचनायें और उन सूचनाओं का परिवहनतंत्र। यह अदृश्य जगत है, जिसमें दुनिया भर के लाखों कम्प्यूटर अपने विचारों के आदान–प्रदान, संग्रहित सूचनाओं एवं आँकड़ों का शीघ्रातिशीघ्र संप्रेषित करने के लिये प्रयासरत होते हैं। साइबरस्पेस को इसमें यात्रा करने वाले यात्रीगण, प्रायः सूचना राजपथ (इनफार्मेशन हाइवे) के नाम से पुकारते हैं।

ई-मेल

ई–मेल इलेक्ट्रानिक्स डाक सेवा का संक्षिप्त रूप है। ई–मेल के तीन आवश्यक संघटन हैं– निजी कम्प्यूटर, टेलीफोन और एक माडेम संयोजक। ई–मेल के अंतर्गत कम्प्यूटर में एकत्र सूचनाएँ, आँकड़े, जानकारियाँ एव तस्वीरें आदि अपने गंतव्य इलेक्ट्रानिक्स मेल बॉक्स तक टेलीफोन लाइनों द्वारा भेजी जाती है। अन्य सूचनाओं की अपेक्षा ई–मेल की सेवा अधिक अच्छी हैं। उदाहरणतः ई–मेल कम्प्यूटर प्रोग्राम चमत्कारपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय में साबर मंत्र संपूर्ण अवरोधों का नाशक माना जाता है, उस दृष्टि से साइबर क्रांति संपूर्ण भौतिक अवरोधों का नाशक अतिक्रमण करके सूचना के सम्प्रेषण को क्षण के भीतर चरितार्थ कर देती है। ज्ञात इतिहास में सूचनाओं के सम्प्रेषण हेतु परम्परागत तरीकों का प्रयोग किया जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में आचार्य कौटिल्य ने साम्राज्य के प्रधानमंत्री के रूप में सूचनाओं व आदेशों के संकलन और सम्प्रेषण हेतु परम्परा आधारित व्यापक प्रबंध किया था। इसी प्रकार ईसा से 27 वर्ष पूर्व सीज़र महान ने परम्परा आधारित डाक व्यवस्था लागू की थी। वर्तमान डाक व्यवस्था का स्वरूप 1627 ई0 से है, जिसे फ्रांस ने प्रारंभ किया था। आगे चलकर पैनी टिकट के आधार पर डाक व्यवस्था को इंग्लैण्ड ने 1640 ई0 में विकसित किया था लेकिन अब वेब, ई–मेल, फैक्स तथा इंटरनेट जैसी अन्य विधियाँ भी विकसित की जा चुकी हैं। जड़ की सूक्ष्मता और उच्चतम चैतन्यता के आधार पर इंटरनेट कार्यरत है।

जहाँ तक भारत का सबंध है, उसने सूचना प्रौद्योगिकी में काफी प्रगति कर ली है तथा विकास की ओर अग्रसर है। यह कार्य राष्ट्रीय सूचना राजमार्ग द्वारा किया जा रहा है, जोकि 1987 से कार्यरत है। विदेश संचार निगम लिमिटेड की ई–मेल सेवा का नाम है–जेम्स 400, यह कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली, बंगलौर, पुणे, तिरुवनंतपुरम और भुवनेश्वर को अपनी सेवा देती है। कुछ निजी कम्पनियाँ भी इस क्षेत्र में अपनी सेवाएँ प्रदान कर रही हैं। डाटा लाईन एंड रिसर्च टेक्नोलाजी लि0, बिजनेस इण्डिया टेक्नोलाजी, डाटा प्रो इन्फार्मेशन टेक्नोलाजी लि0 आदि ऐसी कम्पनियाँ हैं। भारत में ई–मेल सेवा फरवरी, 1994 से शुरू की गई थी। डाक विभाग द्वारा हाइब्रिड मेल के तहत तत्काल कोई भी सूचना किसी के पास पहुँचाई जा सकती है। भारत INMARSET (International Marine Satellite) का सदस्य है, जो 75 देशों की एक सामूहिक उपग्रह प्रणाली है तथा जिसका प्रधान कार्यालय लंदन में है। इसके द्वारा समुद्री जहाजों, वायुयानों तथा जमीन पर चलने वाले वाहनों को सूचना भेजी जाती है। इसी के तहत पूना के पास आर्वी में विक्रम साराभाई लैण्ड अर्थ स्टेशन की स्थापना की गई है।

पेजर, सेलुलर फोन तथा टेलीफोन्स वायसमेल आदि क्षेत्रों में भारत काफी प्रगति कर चुका है। VSNL ने वीडियो कान्फ्रेंसिंग सेवा शुरू की है जिसका अभिप्राय है दूरस्थ व्यक्तियों द्वारा संपर्क करने के क्रम में दृश्य व श्रवण दोनों अनुभवों को प्राप्त करना। विकासशील देशों में भारत प्रथम राष्ट्र है जिसने फाइबर आप्टिक्स प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया है। इसके तहत सूचनाओं को प्रकाश ऊर्जा में भेजा जाता हे। सूचनायें डिजिटल रूप में भेजी जाती हैं। जलगर्भीय संचार प्रणाली के तहत भारत 3 महाद्वीपों और 13 राष्ट्रों से जुड़ गया है। सूचना प्रौद्योगिकी से भारतीय गाँवों को भी जोड़ा जा रहा है। संसद् द्वारा

सूचना प्रौद्योगिकी बिल, 2000 को पारित कर दिया गया, जिससे ई–मेल, इलेक्ट्रानिक्स दस्तावेजों तथा डिजिटल हस्ताक्षरों को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई। फलतः प्रतिभा के बल पर भारत सूचना क्रांति में विकसित देशों को मार्गदर्शन करने की स्थिति में आ गया है। भारत ने 2008 ई0 तक 50 अरब डालर के साफ्टवेयर निर्यात का लक्ष्य निर्धारित किया है। इससे भारतीय इंटरनेट क्रांति सशक्त होगी। कम्प्यूटर हार्डवेयर के निर्माण व निर्यात, इलेक्ट्रानिक्स वाणिज्य को बढ़ावा और भारतीय भाषाओं में कम्पयूटर सामग्री तैयार करने तथा प्रशिक्षण को बढ़ावा मिलेगा। सूचना क्रांति से ई–कामर्स विकसित हुआ है। वित्त, व्यापार, बीमा, उत्पादन, विवाह–तलाक, कानूनी सलाह, स्वास्थ्य संबंधी परामर्श वेबसाइट पर उपलब्ध हैं, मनचाही जानकारी व परामर्श प्राप्त हैं। आवेदन–पत्र का सम्प्रेषण इंटरनेट से संभव हो चुका है। साक्षात्कार व तुरंत नियुक्ति पत्र भी प्राप्त हो रहे हैं। इंटरनेट पर टेण्डर भी जारी होने लगे हैं।

श्रम की बचत

सही है कि इस सदी के आरंभ तक श्रम की बचत मनुष्य को अपने विकास में गति लाने और श्रमिकों को अथक श्रम और खतरनाक कार्यों से बचाने के लिये आवश्यक थी, पर आज स्थिति बदल गई है। कम्प्यूटर व इंटरनेट की सुविधायें जाने–अनजाने मानव श्रम को अनावश्यक करने की दिशा में या कम से कम उसपर निर्भरता को इस हद तक घटा देने का काम कर रही हैं कि मानव समाज का एक बड़ा हिस्सा बेकार हो जाये। जैसे कि हमारे देश में वितरण प्रणाली से बीच के लाखों लोगों को निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार के उदाहरण समाचार उद्योगों में भी देखे जा सकते हैं, जहाँ कि सूचना प्रौद्योगिकी के कारण अखबारों के पूरे–पूरे संस्करण बिना किसी सम्पादकीय विभाग के निकल रहे हैं, तथा छपाई की कम्प्यूटरीकृत मशीनों से अखबार की लाखों प्रतियाँ 8–10 तकनीशियनों द्वारा निकाली जा रही हैं। इसने समाचार–पत्र उद्योग में श्रमिक की सौदेबाजी की क्षमता को भारत में ही नहीं, इंग्लैण्ड जैसे विकसित देशों में भी घटाया है और उसके शोषण को तेज किया है। इस तरह से प्रौद्योगिकी ने निर्बल को और अधिक निर्बल तथा सशक्त को और अधिक सशक्त बना दिया है।

वस्तुतः सूचना प्रौद्योगिकी सेवा उद्योग है जिसका कार्य मौलिक उद्योगों अर्थात् कृषि और उद्योग की सहायता करना है। यदि हम मूलभूत उद्योगों का विकास नहीं करेंगे, तो इसके दो परिणाम निकलेंगे। प्रथम सूचना प्रौद्योगिकी उत्पादकता बढ़ाने की अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं कर पायेगी। द्वितीय यह कि उसका उपयोग वित्तीय पूंजी के त्वरित स्थानांतरण और हस्तांतरण में हो सकता है, जो औद्योगिक विकास में बाधक बन सकता है। दुर्भाग्यवश हमारे देश में इस समय ऐसा ही हो रहा हैं यह संतोष की बात है कि रेलवे, विमानन, बैंकिंग, डाक–तार आदि क्षेत्रों में सूचना प्रौद्योगिकी का उचित इस्तेमाल हो रहा है लेकिन चिंता इस बात की है कि इससे भी अधिक इसका इस्तेमाल शेयर बाजार में हो रहा है। चूँकि वित्तीय पूँजी भारी मात्रा में हमारे शेयर बाजार में आ रही है, इसलिये शेयरों के उतार–चढ़ाव का पल–प्रति पल ध्यान रखा जा रहा है। इसके अतिरिक्त सूचना प्रौद्योगिकी के कारण हम अपने प्रशासन को ज्यादा जनोन्मुख बना पाये हैं।

वास्तव में सूचना ओर संचार प्रवाह का मुख्य कार्य मानवीय विचार को नियंन्त्रित करना अर्थातृ अपने पक्ष में करना है। यह काम जिस सरलता व सुविधा से आज टेलीविजन कर सकता है वैसा मानव इतिहास में पहले कभी नहीं हो पाया है। इसलिये यह अचानक नहीं है कि ऐसा लग रहा है मानो सारा देश मात्र मनोरंजन के अलावा और कुछ नहीं चाहता है। एक के बाद एक चैनल आ रहे हैं जो मूलतः एक ही संदेश दे रहे हैं, "जितना हो सके खाओ और भोगो।" असल में उपग्रह और केबल ने टेलीविजन माध्यम को एक ऐसे प्रभावशाली हथियार में बदल दिया है, जोकि मानवीय सोच तथा समझ का शिकार करता है। खतरा इस बात का है कि सूचना प्रौद्योगिकी हमारे देश में कहीं मनोरंजन का माध्यम बनकर न रह जाये। यदि हमारे उत्पादक क्षेत्रों का दायरा तेजी से नहीं बढ़ता, यदि हमारा प्रशासन जनोन्मुख नहीं बनता तो सूचना प्रौद्योगिकी की नई–नई उपलब्धियों का इस्तेमाल मात्र मनोरंजन के लिये होगा। हमें ऐसी स्थिति से बचना होगा। अन्यथा यह प्रौद्योगिकी हमें आशातीत कल्याणकारी स्थायी लाभ प्रदान नहीं कर पायेगी।

📖 **272ए,** न्यू लायलपुर कालोनी,
सोम बाजार, चन्द्र नगर, दिल्ली- **110 051**

चिन्तनपरक लेख

विज्ञान से विवेक की ओर

✍ जॉन सी पोलान्यि

लिनस पॉलिंग वह अमेरिकी थे, जो स्पष्ट रूप से विज्ञान और विवेक की अवधाराणाओं को साथ लाये। विज्ञान से उन्हें प्रेम था। विवेक के बारे में कहने के लिये उनके पास ज्यादा कुछ नहीं था, क्योंकि उसके बारे में बात करना दार्शनिक रूप से बात करना होता। दर्शन में उनकी रुचि बहुत कम थी। विवेक ने नहीं, बल्कि कार्य में विवेक ने पॉलिंग को लुभाया। उनकी दुनिया वह थी, जिसमें क्रियाओं से प्रतिक्रिया निकलती थी। यह एक ऐसे पुख्ता विचार की किस्म थी, जो पश्चिमी अमेरिका से जुड़ी थी और जिससे लिनस पॉलिंग प्रभावित हुये थे। यह विचार अमेरिकी परंपरा की ताकत और कमजोरी, दोनों है। यही विचार चीजों को पूरा करता है और वे चीजें ज्यादातर सही होती हैं। जबकि एक यूरोपियन, जो एथेंस के बेहद करीब रहता है, सामान्य रूप से यह मानता है कि हम जो करते हैं, हम मानें या न मानें, उसके मूल में दर्शन होता है।

मेरी स्वयं की जड़ें यूरोप में हैं, मैं शब्दों के अर्थों पर विचार करने के लिये बाध्य हूँ। पहला शब्द है : विज्ञान, जो ज्ञान से ही आता है। हम इसका इस्तेमाल बाहर की दुनिया का अवलोकन कर ज्ञान को निर्दिष्ट करने के लिये करते हैं। दूसरा शब्द है : विवेक, जिसके साथ मैंने विज्ञान को जोड़ा है। विवेक का मूल भी वही है, जो विज्ञान का मूल है। लेकिन वह ज्ञान है, जिसे हम अपने अंदर रखते हैं। जानने की वह किस्म, जिसे हम विज्ञान कहते हैं, अनिवार्य रूप से उस किस्म से जुड़ी है, जिसे हम विवेक कहते हैं। इसका कारण यह है कि बाहरी दुनिया के बारे में हमारा अवलोकन केवल एक जगह स्थानांतरित हो सकता है, वह जगह हमारे दिमाग में हैं, जो विवेक को आश्रय देते हैं। यह सच है कि वैज्ञानिक के रूप में हम कोशिश करते हैं कि, विषयनिष्ठता के हित में, अस्तित्व के विभिन्न पक्षों को पृथक करें, देखने और जानने के बीच फर्क करें। हम नहीं चाहते कि हम आस्ट्रेलिया के उन शुरुआती चित्रकारों की तरह, जिनको इंगलैण्ड में प्रशिक्षण मिला था, चित्रपट पर यूकेलिप्टस के वृक्षों से भरे प्राकृतिक दृश्य में हिमरोई के वृक्षों का चित्रांकन करें। हम यह जानते हैं कि बिना अंतर्विस्तार के हम बाहरी दुनिया की यात्रा नहीं कर सकते। ऐसे में अपने विज्ञान को अपने विवेक से जोड़ने के अलावा हमारे पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

सचमुच, विज्ञान अपने आप में चित्रकारी की तरह ही एक सांस्कृतिक गतिविधि है। एक चित्रकार प्रकृति को चित्रित करता है। वैज्ञानिक भी यही काम करता है। ऐसा करने में, वैज्ञानिक और चित्रकार, दोनों ही जिस दुनिया को देखते हैं, उसका बखान करते हैं। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वैज्ञानिक सच्चाई को संकेतों और संख्याओं के द्वारा चित्रित करते हैं। वैज्ञानिकों ने हाल के दिनों में प्रकृति को इस तरह से चित्रित किया है कि उन्होंने वस्तु, ऊर्जा, अंतरिक्ष, मृत्यु और ब्रह्मांड के बारे में पूर्वस्वीकृत अनेक विचारों को बदल दिया है। हम जिस संसार में रहते हैं उसे उन्होंने विज्ञान के द्वारा पुनः आकार दिया है। उन्होंने मानव जीवन को विस्तार और संपन्नता प्रदान की है। ठीक इसी दौरान, उन्होंने मृत्यु के तंत्र की भी साज–सँभाल की है। इतिहास में ऐसा नवजागरण पहले कभी नहीं हुआ है, जिसने मूल रूप से और बहुत तेजी से संसार को बदला हो।

खुशी की बात है कि इन बदलावों की प्रकृति, विगत शताब्दी के भविष्यवक्ताओं (एल्डस हक्सले, जॉर्ज आरवेल) के आकलनों के विपरीत रही है। व्यक्ति तकनीक का बंदी नहीं हो रहा है, बल्कि वे तानाशाह हैं, जो बंदी हो रहे हैं। लोग स्वतंत्र हो रहे हैं, क्योंकि उनको विभाजित करने वाली सीमायें एक–एक कर टूट रही हैं। मैं यह नहीं कहता कि आज न्याय और शांति हावी है, बल्कि यह कहता हूँ कि इन दोनों की जरूरत इतनी ज्यादा कभी नहीं रही है। चूँकि विज्ञान में विश्व को बदलने की

शक्ति है, इसलिये कई लोग इसमें जादू भी देखते हैं। वे इसे वैज्ञानिक प्रमाण कहते हैं और इसे अकाट्य समझते हैं। लेकिन खुशी की बात है कि मानव के लिये कोई भी चीज अकाट्य नहीं होती। संदेह के लिये हमेशा जगह होती है। किसी सत्य को स्थापित करने के लिये एकमतता की जरूरत होती हे। हम अपने अनुभवों का ही नहीं, बल्कि दूसरे के अनुभवों का भी सम्मान करते हैं और इसी आधार पर एकमतता की प्राप्ति को संभव बनाया जाता है। हमारे बीच जो साझा मूल्य होते हैं,उन्हीं के आधार पर हम एक समझौते तक पहुँचते हैं। पहले हम कहते हैं: यह। फिर एक लंबी बहस के बाद कहते हैं : यह ऐसा ही है। विज्ञान से विवेक की ओर विश्वास के साथ बढ़ने से पहले यह जरूरी है कि हम वैज्ञानिक समाज को करीब से देखें। एक विशिष्ट बात है कि यह समाज अंतर्राष्ट्रीय है। लेकिन वह नीतिशास्त्र ही है, जो इसे समाज के रूप में कार्य करने देता है। इस समाज का साझा आदर्श होता है– सच्चाई को हमेशा व्यक्तिगत लाभ से आगे रखना। वह वैज्ञानिक जो विश्वास नहीं करता कि व्यक्तिगत लाभ नहीं, विषयनिष्ठता ही प्राथमिकता होगी उसे विज्ञान से नहीं जुड़ना चाहिये। यदि कोई वैज्ञानिक, अनैतिक विचारों को क्रियान्वित करता है (उदाहरण के लिये, आँकड़ों के साथ जालसाजी करता है), तो वह वैज्ञानिक समाज से हमेशा के लिये निकाल दिया जायेगा। यही बात ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी लागू होती है।

इस बात पर जोर दिया जाना चाहिये कि सच्चाई के प्रति प्रतिबद्धता के साथ ही मानवाधिकारों के प्रति भी प्रतिबद्धता होनी चाहिये। सत्य पर किसी एक वर्ग, धर्म या राष्ट्रीयता का एकाधिकार नहीं है। सत्य सभी के लिये खुला हुआ है और सत्य कहीं से भी आये, वह हमसे सम्मान चाहता है। इसके अतिरिक्त, सत्य के प्रति समर्पण एक अनंत यात्रा के प्रति प्रतिबद्धता है। इस यात्रा में हर कदम पर मतभेद पैदा करने वाले लोग ही आगे के रास्ते की ओर इंगित करेंगे। मैं जिस चीज का वर्णन कर रहा हूँ, वह वास्तव में एक लोकतांत्रिक समाज की कार्यप्रणाली है। मानवाधिकारों के प्रति स्वीकृति का भाव एक लोकतांत्रिक समाज के हृदय में होता है। इस समाज में मानवाधिकारों की रक्षा के लिये जिम्मेदारी के भाव का प्रवाह होना चाहिये। जिस तरह विगत दशकों में समाज में व्यक्तिगत जिम्मेदारी का एहसास पुष्पित हुआ है, ठीक उसी तरह वैज्ञानिकों में भी यह एहसास पनपा है। किसी एक आदमी के आह्वान पर सफेद कोट पहनकर और संतों की तरह समर्पण का जीवन जीने को अब नीतिपरक नहीं समझा जाता। वैज्ञानिक भी नागरिक होते हैं। बेहतर तरीके से कहें, तो विश्व नागरिक होते हैं। हालाँकि वे अभी भी विश्व नागरिक के रूप में कभी–कभार ही व्यवहार करते हैं। लिनस पॉलिंग परमाणु पूर्व युग के वैज्ञानिक थे, वह परमाणु शक्ति और परमाणु हथियारों के आविष्कार से पहले के वैज्ञानिक थे। उस दौर में यह विचार हावी था कि वैज्ञानिकों को सामाजिक विषयों पर होने वाली बहसों में शामिल नहीं होना चाहिये। यह सोचा जाता था कि अगर वे ऐसा करते हैं, तो वे वैज्ञानिक तर्क की शुद्ध धारा को नैतिक मूल्यांकनों से, जो राजनीति को अनुप्राणित करते हैं, दूषित करेंगे। लेकिन मैं इस बात पर जोर दे रहा हूँ कि नैतिक मूल्यांकन विज्ञान के ही अंग हैं। लिनस पॉलिंग ने इस बात को स्वीकार किया होगा, इस पर मुझे संदेह है। लेकिन उन्होंने इस बात का अनुभव शायद अच्छी तरह से किया होगा कि एक शांतिकामी के रूप में उनके मूल्यों ने उन्हे एक स्वप्नद्रष्टा, सिद्धांती और निर्भीक वैज्ञानिक के रूप में प्रतिबिंबित किया। वह निस्संदेह साहसी थे। परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगवाने के लिये चलाये गये अपने अभियान के कारण उन्होंने अपने पेशे, शोध अनुदानों, नौकरी और सम्मान को दाँव पर लगा दिया था। उन्होंने दिखाया था कि विज्ञान के क्षेत्र का एक सच्चा स्वप्नद्रष्टा व्यापक समाज के लिये स्वयं को समर्पित कर सकता है।

वह क्या है, जिसे नागरिकों के रूप में वैज्ञानिक समाज के सामने पेश करते हैं ? वे पढ़े–लिखे हैं। वे विश्वास के बंधनों और विषयनिष्ठता के प्रति प्रतिबद्धता के साथ एक अंतर्राष्ट्रीय समाज से जुड़े हुये हैं। सत्य की ओर जाने वाला उनका रास्ता निश्चित नहीं है। वे सभी बुद्धिमान नहीं हैं, जैसे अन्य सभी नागरिक भी बुद्धिमान नहीं होते।

वैज्ञानिक जिस समाज से जुड़े हैं, उसकी उल्लेखनीय प्रकृति पर मैंने जोर नहीं दिया है। यह अपने

शेष पृष्ठ 23 पर

रहस्यमय पिंड कृष्ण विवर : खुलते रहस्य

✍ डॉ० प्रदीप कुमार मुखर्जी

किसी भी तारे के ऊर्जा के स्रोत या नाभिकीय ईंधन से एक प्रचंड दाब उत्पन्न होता है जो गुरुत्व बल के कारण उत्पन्न तारे के संकुचन पर रोक लगाने का कार्य करता है। इस तरह तारा एक संतुलन की अवस्था में टिका रहता है। लेकिन जब किसी तारे की ऊर्जा का स्रोत धीरे–धीरे खत्म होने लगता है तब गुरुत्वीय बल के हावी हो जाने के कारण उस तारे के केन्द्रीय भाग या क्रोड के संकुचित हो जाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और तारा तब अपनी मरणावस्था का सफर शुरू कर देता है। सिकुड़ते–सिकुड़ते तारा अंततः एक सफेद बौना तारा, न्यूट्रॉन तारा या कृष्ण विवर (ब्लैक होल) किसी में भी परिवर्तित हो सकता है।

कैसे बनते हैं कृष्ण विवर ?

दरअसल, किसी भी तारे की अंतिम नियति उसके आरंभिक द्रव्यमान पर ही आश्रित होती है। जिस तारे का आरंभिक द्रव्यमान 1.4 सूर्यों से कम होता है वह अंततः एक सफेद बौने तारे में बदल जाता है। भारतीय मूल के वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर ने ही सबसे पहले गणना करके यह दिखाया था कि सफेद बौना तारा बनने के लिये तारे का आरंभिक द्रव्यमान 1.4 सूर्यों से कम होना चाहिये। 1.4 सूर्यों के बराबर के द्रव्यमान को 'चन्द्रशेखर सीमा' के नाम से जाना जाता है।

यदि किसी तारे का आरंभिक द्रव्यमान 2–3 सूर्यों के बराबर है तो उसकी अंतिम परिणति या मृत्यु एक न्यूट्रॉन तारे के रूप में होगी। लेकिन तीन सूर्यों से अधिक द्रव्यमान वाला तारा अधिक सघन पिंड के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे पिंडों को ही खगोलविद 'कृष्ण विवर' (ब्लैक होल) के नाम से पुकारते हैं। अत्यधिक सघनता वाले ऐसे पिंडों के एक चम्मच भर पदार्थ का भार ही हजार टनों के बराबर होता है।

नामकरण

दरअसल, ऐसे अत्यधिक सघन पिंडों को **ब्लैक होल** नाम प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी के नोबेल पुरस्कारविजेता भौतिकीविद् जॉन ह्वीलर ने सन् 1969 में दिया था, हालाँकि पूर्व के सोवियत संघ में इसे 'फ्रोजन स्टार' या जमे हुये तारे की संज्ञा दी गई थी। लेकिन ब्लैक होल के अस्तित्व की संभावना के बारे में सबसे पहले कैम्ब्रिज के प्रोफेसर जॉन मिशेल ने ही सन् 1783 में 'फिलासोफिकल ट्रांजैक्शन ऑफ द रायल सोसाइटी ऑफ लंदन' में एक शोधपत्र प्रकाशित करके बताया था। मिशेल ने बताया कि अंतरिक्ष में कुछ ऐसे तारे भी हो सकते हैं जिनकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति बहुत अधिक होती है जिसके चलते प्रकाश की किरणें भी उनके आकर्षण से बाहर नहीं निकल पातीं।

अंतरिक्ष में आभासी युगल कणों की सृष्टि, कृष्ण विवर द्वारा आकर्षित किया जाता कण तथा अंतरिक्ष में पलायन करता हुआ प्रतिकण।
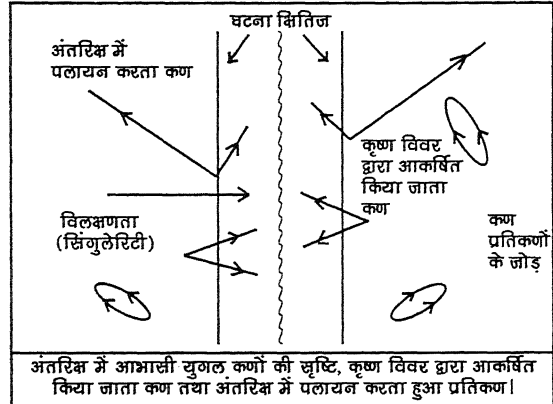
कृष्ण विवर : विलक्षण गुणधर्म वाले पिंड

कृष्ण विवर बड़े ही विलक्षण गुणधर्म वाले पिंड होते हैं। ऐसे पिंडों में इतनी अधिक गुरुत्वाकर्षण शक्ति होती है कि प्रकाश की किरणों को भी वे बाहर नहीं आने देते। चूँकि विवरों से किरणें भी बाहर नहीं निकल पातीं अतः वे हमारे लिये 'अदृश्य' बने रहते हैं।

कृष्ण विवर के निकट से गुजरने वाली प्रकाश की किरणें उसके प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल के कारण मुड़ कर उसी के भीतर लुप्त हो जाती हैं। वैज्ञानिकों ने गणना करके बताया है कि यदि हमारे सूर्य को संपीडित कर केवल तीन किलोमीटर त्रिज्या वाले एक पिंड के रूप में संकुचित कर दिया जाये तो वह एक 'ब्लैक होल' में बदल जायेगा। इसी तरह अगर पृथ्वी भी सिकुड़ते–सिकुड़ते अंततः एक सेंटीमीटर आकार वाले एक पिंड के रूप में संकुचित हो जाये तो वह भी एक 'ब्लैक होल' में बदल सकती है।

दरअसल, सिद्धांत रूप में किसी भी पिंड को ब्लैक होल में बदलने के लिये उसे संकुचित करते हुये एक ऐसे पिंड के रूप में लाना होगा जिसका आकार मूल पिंड के द्रव्यमान द्वारा निर्धारित होता है यानी मूल पिंड का द्रव्यमान जितना कम होगा उतना ही अधिक उसे संकुचित करने की आवश्यकता होगी। ब्लैक होल के रूप में बदले पिंड की त्रिज्या को 'स्वार्ज्सचाइल्ड त्रिज्या' के नाम से जाना जाता है। वैज्ञानिक कार्ल स्वार्ज्सचाइल्ड ने ही सबसे पहले इस त्रिज्या का व्यंजक ज्ञात किया था। पिंड के द्रव्यमान को गुरुत्व नियतांक से गुणा करके प्राप्त परिणाम को 2 से गुणा करके प्रकाश के वेग के वर्ग से भाग देने पर ही इस त्रिज्या का व्यंजक प्राप्त होता है।

कृष्ण विवर का घटना-क्षितिज (इवेंट होराइजन)

इस तरह स्वार्ज्सचाइल्ड त्रिज्या द्वारा निर्धारित होने वाली हर कृष्ण विवर की अपनी एक परिसीमा होती है, जिसे उसका घटना क्षितिज कहते हैं। किसी भी कृष्ण विवर की त्रिज्या उसकी संहति की समानुपाती होती है और चूँकि किसी गोले का पृष्ठ क्षेत्रफल उसकी त्रिज्या के वर्ग के समानुपाती होता है अतः कृष्ण विवर का क्षेत्रफल उसकी संहति के वर्ग के समानुपाती होगा।

कृष्ण विवर से विकिरण का उत्सर्जन

चिरसम्मत (क्लासिकल) भौतिकी के नियमों के अनुसार कोई भी कृष्ण विवर पदार्थ और ऊर्जा का केवल भक्षण ही कर सकता है, उत्सर्जन नहीं। अतः चिरसम्म्त भौतिकी के अनुसार किसी भी कृष्ण विवर की संहति बढ़ ही सकती है, घट नहीं सकती। यही बात उसके पृष्ठ क्षेत्रफल पर भी लागू होती है।

प्रसिद्ध भौतिकीविद् स्टीफेन हाकिंग ने इसी बात को एक सुंदर नियम के रूप में व्यक्त किया है, जिसे 'कृष्ण विवर ऊष्मागतिकी' का दूसरा नियम कहते हैं। इस नियम के अनुसार 'किसी भी प्राकृतिक प्रक्रिया में किसी कृष्ण विवर के घटना क्षितिज का क्षेत्रफल या तो स्थिर रहता है या फिर बढ़ता है'।

लेकिन बाद में जब हाकिंग ने क्वांटमयांत्रिकी के नियमों को ब्लैक होल पर लगाया तो उन्हें इस नियम में परिवर्तन करना पड़ा। हाकिंग ने दर्शाया कि कृष्ण विवर से विकिरण का उत्सर्जन संभव है जिसके चलते उसका पृष्ठ क्षेत्रफल घट सकता है।

बाल नहीं होते कृष्ण विवरों के

जेकब बैंकेस्टाइन ने सन् 1972 में कृष्ण विवर सम्बन्धी एक बड़ा ही क्रांतिकारी विचार सामने रखा। बैंकेस्टाइन ने कहा कि कृष्ण विवर का पृष्ठ क्षेत्रफल

सिग्नस एक्स-1 स्रोत में एक दूसरे का चक्कर काटते दृश्य तारा तथा कृष्ण विवर। उत्सर्जित होने वाली एक्स-किरणें भी दिखाई गई हैं।
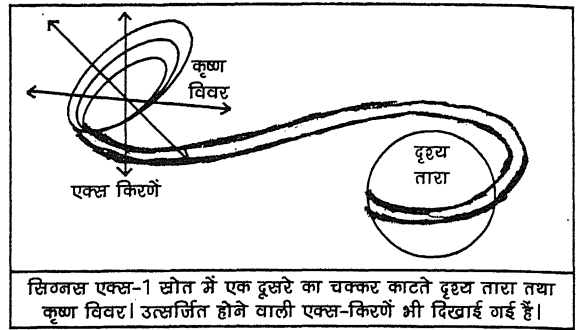
उसकी एंट्रापी का परिचायक है। किसी भी निकाय की एंट्रापी उसकी बढ़ती अव्यवस्था का सूचक मानी जाती है। बाद में स्टीफेन हाकिंग ने ब्रैंडन कार्टर तथा जेम्स बार्डीन के साथ मिलकर ऊष्मागतिकी के चार नियमों के तर्ज पर जो क्रमशः शून्य, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय नियम कहलाते हैं, कृष्ण विवर ऊष्मागतिकी के भी चार नियमों का विवेचन किया।

स्टीफेन हाकिंग ने ब्रैंडन कार्टर, वर्नर इजरायल तथा डेविड राबिंसन के साथ मिलकर एक अन्य प्रमेय का भी प्रतिपादन किया जिसके अंतर्गत यह कहा गया कि "ब्लैक होल के बाल नहीं होते हैं।" इन वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि किसी भी घूर्णनशील कृष्ण विवर का आकार एवं स्वरूप केवल उसकी संहति तथा उसके कोणीय वेग पर ही आश्रित होते हैं। दरअसल, किसी भी कृष्ण विवर की संहति और उसके कोणीय वेग के बारे में हम केवल जानकारी हासिल कर सकते हैं। उसके अंदर मौजूद पदार्थ की अवस्था आदि के बारे में कोई भी जानकारी हमें प्राप्त नहीं हो सकती।

कृष्ण विवर संबंधित जानकारी या सूचना को ही उसके 'बालों' की संज्ञा दी जाती है तथा इस जानकारी या 'बालों' के अभाव के कारण ही यह कहा जाता है कि कृष्ण विवरों के बाल नहीं होते हैं। इस तरह कृष्ण विवर के बालों का अभाव या उसका गंजापन उसकी कम सूचना वाली अवस्था का द्योतक होता है। यह कम सूचना वाली अवस्था ही कृष्ण विवर की बढ़ती एंट्रापी का पर्याय है।

पूर्णतया काले नहीं हैं ब्लैक होल

वैज्ञानिकों ने इसके बाद कृष्ण विवर के साथ तापमान की अवधारणा को भी संबद्ध करने का प्रयास किया। यह पाया गया कि संकुचन को प्राप्त किसी कृष्ण विवर के अंतिम क्षितिज पर गुरुत्वाकर्षण का मान हर दिशा में समान होता है। यह देखकर वैज्ञानिक बैंकेस्टाइन ने कहा कि कृष्ण विवर के पृष्ठ के गुरुत्वाकर्षण को ही

उसके तापमान का सूचक मान लेना चाहिये।

लेकिन कृष्ण विवर के तापमान को संबद्ध करने पर एक समस्या उठ खड़ी हुई। परम्परागत या चिरसम्मत भौतिकी के अनुसार कोई भी ऐसा पिंड, जिसका तापमान शून्याधिक हो, विकिरण का उत्सर्जन करेगा। लेकिन उस समय की प्रचलित धारणा के अनुसार कृष्ण विवर से विकिरण तो क्या कुछ भी बाहर नहीं आ सकता था।

यह देखकर रोजर पेनरोज ने प्रस्तावित किया कि घूर्णनशील कृष्ण विवरों से ऊर्जा का विकिरण संभव है। लेकिन स्टीफेन हाकिंग ने क्वांटमभौतिकी के नियमों को कृष्ण विवर पर प्रयुक्त करके यह दिखाया कि कृष्ण विवरों से सचमुच ऊर्जा का विकिरण हो सकता है। इसके लिये उनका घूर्णनशील होना आवश्यक नहीं।

स्टीफेन हाकिंग के अनुसार निर्वात (वैक्यूम) में भी आभासी युगल कणों का निरंतर सृजन एवं संहार चलता रहता है। कृष्ण विवर के घटना क्षितिज के समीप के निर्वात में जहाँ उसकी परिसीमा खत्म होती है, जब ऐसे युगल कणों की सृष्टि होती है तो इनमें से एक कण तो कृष्ण विवर द्वारा आकर्षित कर लिया जाता है जबकि उसका साथी प्रतिकण कृष्ण विवर के आकर्षण बल से छूट कर वाह्य अंतरिक्ष में पलायन कर जाता है। तब वाह्य प्रेक्षक को ऐसा लगता है कि कृष्ण विवर ही वस्तुतः विकिरण का उत्सर्जन कर रहा है। कृष्ण विवर से उत्सर्जित होने वाले इस विकिरण को 'हाकिंग विकरण' की संज्ञा दी जाती है। अतः हाकिंग के अनुसार कृष्ण विवर पूरी तरह से कृष्ण या काले नहीं होते हैं क्योंकि उनसे भी कुछ विकिरण बाहर निकल सकता है।

कैसे पता लग जाता है कृष्ण विवरों का ?

प्रश्न उठता है कि अगर कृष्ण विवरों का कोई अस्तित्व नहीं है तो उनके बारे में आखिर पता कैसे लगाया जाये ? दरअसल, आकाश में कुछ ऐसे जुड़वाँ तारों के बारे में पता चला है जो एक दूसरे की परिक्रमा करते हैं। अब अगर इनमें से एक दृश्य तारा है जबकि एक कृष्ण विवर तो यह कृष्ण विवर दृश्य तारे के पदार्थ तेजी से अपनी तरफ आकर्षित करेगा। इस तरह इस तारक पदार्थ के तेजी से कृष्ण विवर में गिरते चले जाने के कारण एक घूमती चकरी (एक्रिशन डिस्क) की सृष्टि होती है। इस समस्त प्रक्रिया में तारक पदार्थ इस बुरी तरह से तप्त हो जाता है कि वह एक्स–किरणों का उत्सर्जन करने लगता है। इस तरह इन एक्स–किरणों का उपग्रहों आदि के जरिये संसूचन करके कृष्ण विवरों के अस्तित्व के बारे में हम पता लगा सकते हैं।

खगोलविदों ने हंस (सिग्नस) तारा–मंडल में ऐसे ही एक एक्स–किरण उत्सर्जक स्रोत सिग्नस एक्स–1 के बारे में पता लगाया है। वैज्ञानिकों का मानना है कि यह स्रोत एक कृष्ण विवर को अपने भीतर संजोये हुये है।

वैज्ञानिकों का यह भी अनुमान है कि 'क्वासर' नामक अनोखे खगोलीय पिंडों तथा मंदाकिनियों के केंन्द्र भाग में भी विराट कृष्ण विवर मौजूद हो सकते हैं। हाल ही में खगोलविदों ने एक विशिष्ट एन.जी.सी. 4151 नामक मंदाकिनी (गैलेक्सी) के बारे में पता लगाया है। ऐसा समझा जाता है कि इस मंदाकिनी के केन्द्र में 8 से लेकर 10 सूर्यों जितना कृष्ण विवर मौजूद हो सकता है।

कृष्ण विवरों से विकिरण का उत्सर्जन हो सकता है या नहीं, इस बारे में अभी तक कोई भी वैज्ञानिक साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। लेकिन बहुत छोटे और तप्त कृष्ण विवरों से ही ऐसे विकिरण, जिसे हाकिंग विकिरण कहते हैं, निकलने की संभावना खगोलविद करते हैं। लेकिन ऐसे कृष्ण विवरों की संख्या बहुत कम है। फिर भी किसी दिन यदि ऐसा कृष्ण विवर खोज लिया गया तो कृष्ण विवर भौतिकी के क्षेत्र में विलक्षण कार्य करने वाले स्टीफेन हाकिंग को नोबेल पुरस्कार से तब अवश्य सम्मानित किया जायेगा।

43, देशबंधु सोसाइटी
15, पटपड़गंज, दिल्ली- 110 092

पृष्ठ 20 का शेष

नेताओं, कानूनों, फेलोशिप और इतिहास के साथ एक असली समाज है। बिना औपचारिक सरकार के, बिना किसी उत्तराधिकार के, बिना हिंसा, पुलिस और कैदखानों के यह समाज शताब्दियों से कायम रहा। यह समाज मतभेदों को आमंत्रित करने के लिये पर्याप्त रूप से सहनशील है। यह कोई देवदूतों का समाज नहीं है। इनके लिये भी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा एक महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति है। लेकिन बहुत हद तक यह शक्ति साझा लक्ष्य के लिये तिरोहित हो जाती है। यह लक्ष्य अनैतिक या हिंसक नहीं है, यह मानवीय लक्ष्य साझीदारी का है। अगर वैज्ञानिक समाज, उदाहरणों के द्वारा, समझदारी को मनुष्यों की साझा नियति बना सका, तो यह मनुष्य जाति को एक महान भेंट होगी।

(लेखक नोबेल पुरस्कार प्राप्त अमेरिकी रसायनशास्त्री हैं) - साभार

एण्टीबायोटिकों का दुरुपयोग एवं प्रभाविता

✍ राकेश पाठक

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने एण्टीबायोटिक्स की प्रभाविता पर चिन्ता जताई है। संगठन के संक्रामक रोग निदेशक डेविड हेमैन कहते हैं "मौजूदा दवाओं से दुनिया की लगभग तमाम संक्रामक बीमारियों के जीवाणुओं में धीरे–धीरे प्रतिरोधी क्षमता विकसित हो रही है। हमारी कोशिश है कि इन दवाओं के पूरी तरह से बेअसर होने से पहले इन बीमारियों पर काबू पा लिया जाय।"

संक्रामक रोगों से लड़ने के लिये वर्तमान में 150 से ज्यादा दवाएँ मौजूद हैं। इनको खोज निकालने में किसी कम्पनी या संस्था का बहुत अधिक समय और धन लगता है। कोई नयी दवा ईजाद करने में लगभग 22 साल का समय और 50 करोड़ डॉलर तक की रकम खर्च करनी पड़ती है।

निःसन्देह इन नयी दवाओं के आविष्कार की वजह से ही सारी दुनिया में मनुष्य की औसत आयु में वृद्धि हुई है। लेकिन दुरुपयोग के कारण ये दवाएँ अपना असर खोती जा रही हैं। रूस, चीन और कई यूरोपीय देशों में 10 फीसदी से ज्यादा मामलों में आधुनिकतम एण्टीबायोटिक दवाएँ भी काम नहीं करती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार न्यूमोनिया, दस्त, एड्स और हेपेटाइटिस–सी जैसी कई जानलेवा बीमारियों के इलाज के लिये आमतौर पर इस्तेमाल होने वाली एण्टीबायोटिक दवाओं के साथ भी ऐसा ही हो रहा है।

यदि मरीज जीवाणुओं को समूल नष्ट करने के लिये एण्टीबायोटिकों का पूरा कोर्स नहीं लेता है तो उन जीवाणुओं में एण्टीबायोटिकों के विरूद्ध प्रतिरोधी क्षमता ज्यादा तीव्रता से विकसित होती है। अगर मनुष्य को किसी एण्टीबायोटिक की आवश्यकता नहीं है और वह उसका उपयोग करता है तब उसके शरीर में उपस्थित बैक्टीरिया उसके विरुद्ध प्रतिरोधी क्षमता विकसित कर लेते हैं और यह क्षमता धीरे–धीरे बढ़ती जाती है।

पूरी खुराक न लेने की स्थिति में शरीर में मौजूद कमजोर जीवाणु तो मर जाते हैं, लेकिन ताकतवर जीवाणु न सिर्फ बच जाते हैं बल्कि वे अपने एण्टीबायोटिक प्रतिरोधी जीन आने वाली सन्तति को प्रदान कर देते हैं जिससे प्रतिरोधी क्षमता वाले जीवाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है और उपर्युक्त दवा मरीज के शरीर पर अपना असर दिखाना बन्द कर देती है। मरीज को उससे भी ताकतवर दवा की शरण में जाना पड़ता है। नयी और ज्यादा असरदार दवाएँ मँहगी होने के कारण आम लोगों की पहुँच से बाहर हैं। इस प्रकार स्थिति बहुत शोचनीय और विकट बन जाती है।

एक बार विकसित हो जाने के बाद ये प्रतिरोधी जीवाणु बड़ी तेजी से दूर–दूर फैल जाते हैं। आज दुनिया के बीच की दूरी कम होती जा रही है और इनके साथ ये जीवाणु भी विभिन्न देशों में फैलते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ– अमेरिका में दर्ज प्रतिरोधी टाइफाइड के ज्यादातर मामले 6 विकासशील देशों से वहाँ पँहुचे।

एण्टीबायोटिकों की प्रभाविता को बनाये रखने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिये–

- एण्टीबायोटिकों का उपयोग चिकित्सक की सलाह से ही करना चाहिये।
- जरा सी बचत के लिये उनकी खुराक के साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहिये।
- मनमाने ढंग से इनका उपयोग खतरनाक ही साबित होता है, भले ही मरीज अपनी बीमारी से ठीक हो जाये।

डॉ0 हेमैन कहते हैं "हमें एण्टीमाइक्रोबियल्स का उपयोग विस्तृत रूप से करने की आवश्यकता है किन्तु बहुत अधिक बुद्धिमानी से।"

अब तक हम बहुत सी अमूल्य एण्टीबायोटिक दवाएँ खो चुके हैं। अब ज़रूरत है इनको बचाने की।

📖 ई-416, हुडको कालोनी
कमला नेहरू नगर, जोधपुर

मेंढक की टर्र टर्र

✍ विश्वमोहन तिवारी

मैं ऋग्वेद के सातवें मण्डल का 103वां सूक्त– मण्डूक सूक्त पढ़ रहा था। "ग्रीष्म ऋतु में पसीने में त्रस्त हुये, जिस तरह वर्षा ऋतु आने पर सोमरस का पान करने वाले ऋत्विज ब्राहमण ब्रह्म यज्ञ करते हैं, उसी तरह मेंढक भी छिपे नहीं रहते।"

'अतिरात्र यज्ञ तथा सोम यज्ञ में जिस प्रकार वेदी के चारों ओर ब्राह्मण ऋत्विक मंत्रों का गान करते हैं, उसी प्रकार हे मेंढकों, उस दिन जिस दिन वर्षा होती है, तुम जल से भरे सरोवर के चारों ओर गान करते हो।'

बहुत आश्चर्य हुआ कि मंत्रों के गान की तुलना मेंढकों के टर्राने से की जा रही है। **(दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई। वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई – *तुलसीदास*)** इसे सुनकर (यदि मेंढक समझ सकें) उन्हें बड़ी खुशी होगी। किन्तु ऋत्विज ब्राह्मणों को तो अपमान ही लगेगा। ऋत्विज ब्राह्मणों का अपमान तो ऋग्वेद नहीं कर सकता, तब इन सूक्तों का क्या अर्थ निकाला जाये ? इस मण्डूक सूक्त के ऋषि हमारे बहुत पूज्य वसिष्ठ ऋषि हैं और इस सूक्त का देवता मेंढक है। यह मुझे तनिक विचित्र लगा कि मेंढक जैसे कुरूप तथा क्षुद्र जंतु को ऋषियों ने देवता का स्थान दिया। और जब मैंने मण्डूक सूत्र का दसवाँ मंत्र पढ़ा तो लगा कि वे आर्य लोग उतने विकसित नहीं थे जितना उनके विषय में कभी कभी गाया जाता है। देखिये– गाय के समान, रम्भाने वाले मेंढक हमें धन प्रदान करें, बकरे के समान ध्वनि करने वाले मेंढक हमें धन प्रदान करें। चितकबरे मेंढक, हरे मेंढक हमें धन प्रदान करें। हजारों औषधियाँ जब उत्पन्न होती हैं, उस वर्षा ऋतु के आने पर यह मण्डूक देवता हमें सैकड़ों गायें दें और हमारी आयु बढ़ावें। लगा कि जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा था कि वैदिककालीन लोग चरवाहा युग में जी रहे थे, यद्यपि वे बहुत जीवंत थे, किन्तु प्राकृतिक शक्तियों से डरकर उन्हें शक्तिशाली देवता मान रहे थे।

इस सबका गहरा रहस्य तो उस समय खुला जब न्यूजर्सी शहर में पोटोमैक नदी के तट पर स्टीवैन्स इन्सिटट्यूट ऑव टेक्नोलाजी के हरे भरे बाग में हम लोग बैठे थे– प्रोफेसर सुरेश्वर शर्मा, श्रीमती शर्मा, मृदुल, कीर्ति और मैं। दूसरे तट पर न्यूयार्क की गगनचुंबी इमारतों की जगमग करती बत्तियाँ वहाँ दीपावली का दृश्य प्रस्तुत कर रही थीं। मुझे लग रहा था कि भारत में हमारी शिक्षण संस्थायें क्यों नहीं अपने वातावरण को इतना मनोहर बना सकतीं। पोटोमैक नदी कोई बहुत चौड़ी नहीं है, लगता था कि हम न्यूयार्क के कितने निकट हैं। पोटोमैक नदी में जहाजों का गमनागमन भी लुभावना लग रहा था। उस मनोहर वातावरण में बातों के रस में डूब जाना बहुत आसान था विशेषकर जब प्रो0 शर्मा एक रोचक अनुभव सुना रहे थे। बात 1966 के अंत की है। ग्वालियर के इन्दौर रतन होटल में दो वैज्ञानिक नियमित भोजन करते थे, जिनमें एक तो डा0 सुरेश्वर शर्मा थे तथा दूसरे एक मलयालम वैज्ञानिक थे। एक दिन होटल के मालिक ने नोटिस लगा दिया कि अगले दिन से भोजन में चावल नहीं मिलेगा। उस मलयाली वैज्ञानिक ने जब मालिक को गुस्सा दिखलाया तब मालिक ने हाथ जोड़कर कहा, "साब, दो महीने पहले चावल एक रु0 का दो किलो मिलता था, और बढ़ते–बढ़ते दो रु0 का एक किलो हो गया है। मैं कब तक घाटा सहूँगा, मुझे तो चावल के लिये अतिरिक्त दाम लेने होंगे।"

इस तरह चावल के भाव आसमान चढ़ने के कारण जो हो हल्ला हुआ तब केन्द्र सरकार की नींद खुली और उसने एक वैज्ञानिक मंडल केरल भेजा। उनका उद्देश्य था पता लगाना कि दसियों वर्षों बाद बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के केरल में चावल की फसल लगातार दो वर्षों से क्यों खराब हो रही है। डॉ0 सुरेश्वर भी उस मंडल में थे।

मेंढक अमेरिकी तथा फ्रांसीसियों का प्रिय व्यंजन है, जिसकी उन्हें भारी मात्रा में आयात करने की आवश्यकता है। उनकी लगातार कोशिश रहती है, कि जिस भी देश से हो सके उसका आयात करें। भारतीय संस्कृति में हम धरती को माता मानते हैं और सब जीवों में उसी परमात्मा का वास पाते हैं। अतएव भारत में अनेक प्रदेशों में अनेक वर्षों से अमेरिकी मेंढकों का

निर्यात करवाने में असफल हो रहे हैं।

अमरीकियों ने सोचा कि यद्यपि केरल में कम्यूनिस्ट सरकार है और सिद्धांततः वे एक दूसरे के दुश्मन हैं, बहुत सम्भव है कि केरल में उन्हे मेंढक खरीदने में सफलता मिल जाये। और नम्बूदरीपाद की सरकार के साथ उन्हें सफलता तुरंत मिली जब अमरीकियों तथा उनके एजेन्टों ने बताया कि केरल मेंढकों का 20 लाख डालर का निर्यात कर सकता है। केरल सरकार ने अभूतपूर्व विदेशी मुद्रा के अर्जन के खूब गीत गाये। परिणामस्वरूप आंध्र तथा महाराष्ट्र सरकार ने भी मेंढकों का निर्यात शुरू कर दिया। अगले वर्ष की धान की खेती बहुत खराब हुई। अमेरीकियों और उनके एजेन्टों ने ही केरल सरकार को बतलाया कि कीडों के बहुत बढ़ने से धान की खेती खराब हुई है। किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं, वे केरल सरकार को कम दामों में कीटनाशक रसायन दे देंगे, साथ ही उनके छिड़काव के यंत्र तथा पूरा प्रशिक्षण भी। उन्होंने धीमे से उर्वरकों की आवश्यकता को भी जताया, किन्तु जोर नहीं दिया। केरल सरकार ने जो फसल खराब होने से डर गई थी, यह प्रस्ताव मान लिया तथा लाखों डालरों में 'सेविन' नामक कीटनाशक तथा यंत्रों का आयात किया और छिड़काव करवाया तथा मेंढकों का निर्यात जारी रखा। इस वर्ष भी चावल की फसल फिर खराब हुई। अमरीकियों ने फिर केरल सरकार को समझाने की कोशिश की कि घबराने की कोई बात नहीं है, यदि उर्वरकों की आवश्यकता केरल सरकार ने समझी होती तो यह समस्या नहीं होती। खैर हुआ यह था कि कीटनाशक विष ने तो कीड़े मारे किन्तु पानी और मिट्टी थोड़ी विषैली सी हो गई थी। अब वे जल तथा मिट्टी शोधक रसायन तथा विशेष उर्वरक देंगे जो बिगड़े संतुलन को ठीक कर देंगे। फिर लाखों डालरों के कीटनाशक तथा उर्वरक आयात किये गये।

फिर क्या होना था सारे भारत में चावल के दाम बढ़ गये– मध्यप्रदेश जिसके पास छत्तीसगढ़ का धान का बड़ा स्रोत है, वहाँ भी, और इसलिये गेहूँ खाने वाले क्षेत्र ग्वालियर तक में भी चावल एक रु0 का दो किलो के स्थान पर दिन दूना होकर रात चौगुना हो गया– दो रु0 का एक किलो। फिर केन्द्र सरकार की आँख खुली जिसके वैज्ञानिक दल ने यह सब रहस्य खोला। मेंढकों के निर्यात से कीटों पर नियंत्रण न रहा। कीटों ने फसलों को नुकसान किया। कीटनाशकों ने जल तथा मिट्टी का नाश किया। जल तथा मिट्टी शोधक रसायन तथा उर्वरक ने स्थिति को कामचलाऊ तो बना दिया किन्तु वह पुराना प्राकृतिक स्वास्थ्य संतुलन वापस न ला सके। वैज्ञानिक दल ने केरल सरकार की तीव्र आलोचना की क्योंकि उन्होंने भारतीय कृषि वैज्ञानिकों की सलाह के बिना यह सब किया था। इस वैज्ञानिक दल ने तुरंत ही मेंढकों के निर्यात को बंद करने की अपरिहार्य आवश्यकता बतलाई जिसे पूर्ण रूप से अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है। मेंढक केवल कीड़े–मकोड़े ही नहीं खाते, वे स्वयं कीड़े–मकोड़े खाने वाले साँपों, पक्षियों तथा अन्य जलचरों का भोजन बनकर उन्हें जीवनदान देते हैं। इस तरह जो कीड़े–मकोड़े वे स्वयं नहीं खा सकते, उन्हें भोज्य बनाने वाले अन्य जंतुओं को जीवनदान देते हैं। उदाहरणार्थ साँप तथा उल्लू किसान के सबसे बड़े शत्रु चूहों पर नियंत्रण रखते हैं। पक्षी और मधुमक्खी यह दोनों कीड़ों–मकोड़ों पर नियंत्रण के साथ साथ पुष्पों का अंतर्परागण कर फसलों को भी समृद्ध करते हैं। कीटनाशक रसायन कीड़ों के साथ साथ पक्षियों तथा मधुमक्खियों को भी हानि पहुँचाते हैं। मिट्टी तथा पानी के विषैले होने के कारण, खेतों के साथ साथ चरागाहों की फसल भी, घास भी खराब होती है। खेतों में उर्वरक इत्यादि डालकर थोड़ा सुधार किया जाता है किन्तु चरागाहों का सुधार कौन करेगा ? इसलिये जानवरों को घास भी कम मिलेगी, फसल के मँहगे होने से भूसा भी मँहगा होगा। अर्थात् गाय इत्यादि का पालन भी मँहगा होगा। कीड़े–मकोड़े भी तो गायों को पनपने नहीं देते तथा हमें भी बीमार करते हैं।

अन्य प्रदेशों में, खुशी की बात है, कि मेंढक वेद गान–पर्जन्य गान–पूरी शक्ति से गा रहे हैं। वे गायों के समान रम्भाते हैं बकरों के समान ध्वनि करते हैं। उनके द्वारा की जाती वर्षा देव की स्तुति के बल पर कीटों पर नियंत्रण रहता है, जल शुद्ध रहता है, मिट्टी शुद्ध रहती है, धान की फसल नाचती गाती है, गायें विपुल मात्रा में दूध देती हैं, बछड़े जनती हैं और सर्वोत्तम उर्वरक गोबर देती हैं। और अंततः प्रकृति सरंक्षण के साथ साथ विदेशी मुद्रा की बचत ही होती है।

पूर्व एयर वाइस मार्शल
ई-143, सेक्टर 21, नौएडा- 201 301

नया स्तम्भ

हिन्दी में विज्ञान लेखन के 57 वर्ष

प्रो० राम चरण मेहरोत्रा

स्वतन्त्रता की 54वीं वर्षगाँठ पर हम नया स्तम्भ शुरू कर रहे हैं जिसमें पुराने विज्ञान लेखकों के अनुभवों को स्थान दिया जायेगा। सर्वप्रथम हम 'विज्ञान' के पूर्व सम्पादक, विश्वविश्रुत रसायनवेत्ता डॉ0 रामचरण मेहरोत्रा के संस्मरण छाप रहे हैं। - *सम्पादक*

यद्यपि संयोगवश स्कूल में ही मेरी प्रथम भाषा उर्दू थी, परन्तु हिन्दी और देवनागरी लिपि के अनुराग के फलस्वरूप साधारण हिन्दी का ज्ञान स्वत: ही आ गया। सन् 1943 में अपने पूज्य गुरू डॉ0 सत्यप्रकाश जी की सलाह पर दौराला (मेरठ) चला गया जहाँ कुछ मासों में भौतिक रसायन पर एक पुस्तक प्रकाशित की। सौभाग्यवश 1944 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति हो गयी। न मालूम क्यों सबने सन् 1947 में 'विज्ञान' का सम्पादन का भार मेरे कन्धों पर डाल दिया। लगभग 4 वर्षों की सामग्री बिना नामों से या अन्य सहयोगियों से प्राप्त कर प्रतिमास बिना विलम्ब के विज्ञान का सम्पादन सन् 1950 तक करता रहा, परन्तु सितम्बर 1950 में लन्दन चला गया। 1947–50 के दिन बहुत कठिनाई के थे। 'विज्ञान' प्रकाशन के लिये शायद केवल 600 रुपया का अनुदान उपलब्ध था। इसलिये सस्ते से सस्ते प्रेस में छपाना पड़ता था। विश्वविद्यालय से अपने घर अहियापुर जाते हुये रास्ते में प्रेस से प्रूफ ले लेता था और दूसरे दिन घर से विश्वविद्यालय आते हुये प्रेस में जमा कर देता था। कोटा परमिट का युग था, हम लोगों के मित्र हीरालाल दुबे जी का अफसरों से कुद व्यक्तिगत परिचय था– याद पड़ता है कि साइकिल पर दुबे जी को कैरियर पर बिठाकर परमिट दफ़्तर पहुँच कर बड़ी देर देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

सन् 1952 के अन्त में लन्दन से इलाहाबाद लौटा। सौभाग्य से माधोकुन्ज में एक मकान एलॉट हो गया था। लन्दन में अन्तिम 7–8 मास में सम्पन्न अनुसंधान फलों को खोज लेखों में प्रकाशित करवाने में बहुत व्यस्त था। मई 1953 को लगभग 2 बजे इलाहाबाद की चिलचिलाती धूप में अपने मकान के ड्राइंग रूम से ही देखा कि अचकन पहने पसीने में लथपथ परम पूज्य श्री पुरुषोत्तम दास जी टण्डन साइकिल रिक्शा से उतर रहे हैं। दौड़ा गया, सादर अन्दर लाया। टण्डन जी का अनुरोध था कि रसायन विज्ञान की 'भौतिक शास्त्र' की स्नातक स्तर की पुस्तक लिख दूँ जो वे अपने उत्तर प्रदेश साहित्य सम्मेलन में उपलब्ध 10000 रुपये के अनुदान से फौरन छपवा देना चाहते हैं, और उसे मैं 1–2 मास में लिख दूँ। बहुत आनाकानी की परन्तु टण्डन जी के विशेष हठ के सामने नतमस्तक होना पड़ा। सोचा अच्छा अवसर मिला है– टण्डन जी से अपनी हिन्दी भाषा की शुद्धता को थोड़ा परिष्कृत कर लूँ। प्राय: पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठ लेकर संशोधन के लिये उनके घर चला जाता था। संशोधन का कार्य तो कुछ मिनट हो पाता था, परन्तु टण्डन जी से हिन्दी–संग्राम के बहुत वृत्तान्त सुनने को मिले। श्रद्धा से बराबर नतमस्तक लौटता था। टण्डन जी पुस्तक में अंग्रेजी का एक शब्द भी सहन करने को तैयार नहीं थे। तत्वों तथा यौगिकों के नाम बदलने को तो मैं सहमत नहीं हुआ, परन्तु तत्वों तथा यौगिकों के सूत्रों को उन्होंने बदलवा ही दिया, जैसे हाइड्रोजन का H के स्थान पर 'ह' ऑक्सीजन के लिये 'ऑ'– आदि रासायनिक समीकरण भी इन्हीं हिन्दी के चिन्हों से लिखे गये। लगभग 400 पृष्ठ की पुस्तक फरवरी 1954 तक छप भी गई, परन्तु हिन्दी चिन्हों के कारण उसकी उपयोगिता सीमित हो गई। अपनी लेखन पद्धति की सुगम्यता जाँचने के लिये कुछ अध्याय बी0एस0सी0 के विद्यार्थियों को भी दिये। उनकी प्रशंसा से हृदय गद्‌गद् हुआ और उससे भी अधिक प्रसन्नता हुई जब कक्षा में 80 प्रतिशत विद्यार्थियों ने हिन्दी में शिक्षण के लिये अपनी रुचि दिखाई।

उपर्युक्त संदर्भ में एक दुखदायी अनुभूति को व्यक्त कर देना चाहता हूँ। सन् 1958 में गोरखपुर विश्वविद्यालय रसायन विज्ञान का प्राचार्य, संकाय का डीन तथा विश्वविद्यालय प्रशासन का प्रमुख सदस्य था, उस समय बी0एस0सी0 विद्यार्थियों की रुचि जानने का प्रयास किया तो अधिकांश मेरे संकेतों के परिप्रेक्ष्य में भी अंग्रेजी में ही पठन–पाठन के लिये व्यग्र थे। यह था पिछड़े प्रदेशों में अंग्रेजी और अंग्रेजियत का मोह जो पिछले 4 दशकों में हमारे पिछड़ेपन की भावना को और भी प्रदर्शित कर रहा है।........

4/682, जवाहर नगर, जयपुर-**302 004**

डॉ0 केदारेश्वर बनर्जी वायुमण्डलीय एवं महासागर अध्ययन केन्द्र

डॉ० के.एन. उत्तम

पर्यावरण, मौसम एवं जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों की जानकारी के लिये महासागरों का अध्ययन आवश्यक है। महासागरों का अध्ययन वर्तमान में न केवल जलमार्ग एवं शैक्षिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है बल्कि महासागरों के उत्पाद जलवायु एवं मौसम के परिवर्तन के कारक होते हैं। इनमें पाये जाने वाले जीव–जन्तु, सीप, घोंघे, शंख, मछलियाँ इत्यादि मनुष्य के जीवननिर्वाह के लिये आवश्यक हैं। दूसरी ओर मनुष्य की बढ़ती गतिविधियों के कारण महासागरों में बढ़ रहे प्रदूषणों का अध्ययन आवश्यक है। पृथ्वी पर अचानक हो रहे जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन जैसे तापमान वृद्धि, असामयिक वर्षा, प्राकृतिक आपदाएँ, (भूस्खलन, बाढ़, सूखा, महामारी आदि), ओजोन छिद्र का बढ़ना इत्यादि महासागरों की तटीय जलवायु के परिवर्तन के कारण होते हैं। मानव समाज को अप्रत्याशित खतरों से बचाने के लिये महासागरों के जलवायु सम्बन्धी आँकड़ों, चुम्बकीय एवं वैद्युत क्षेत्र तथा रासायनिक गुणों के अध्ययन की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

प्राचीन काल में आज की तरह अत्यन्त विकसित वैज्ञानिक साधन नहीं थे, परन्तु पाल की नावों के सहारे आदि काल से मनुष्य ने जो आँकड़े एकत्रित किये हैं उनकी नवीनतम वैज्ञानिक विधियों द्वारा जाँचने की आवश्यकता है। समुद्री इतिहास में कोलम्बस, वास्को डिगामा जैसे समुद्री नाविकों का उल्लेख मिलता है। वर्तमान में उपग्रहीय प्रेक्षणों, सूदूरसंवेदन तकनीक, ओसनोग्राफी, इकोसाउन्डिंग, लेसर टेक्नोलाजी, फाइबर आप्टिकल संचरण व माडलिंग विधियों से महासागरों का अध्ययन किया जा सकता है। जरूरत है इस दिशा में वैज्ञानिक प्रतिभा एवं जनचेतना विकसित करने की।

भारत सरकार ने महासागरों के अध्ययन की महत्ता को स्वीकार करते हुये सन् 1981 में एक नये विभाग महासागर विकास विभाग का गठन किया जो कि 1983 में एक अलग मंत्रालय के रूप में विकसित हुआ। यह विभाग महासागरों की शोध सम्बन्धी गतिविधियों को बढ़ावा देता है। अब तक भारतवर्ष के 20 से अधिक विश्वविद्यालयों के सहयोग से महासागर विकास विभाग अपने कार्यक्रम संचालित कर रहा है तथा आशा से अधिक अच्छे परिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं। राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार के समय पहली बार इस मंत्रालय का कार्यभार प्रधानमंत्री के अतिरिक्त अन्य काबीना मंत्री को दिया गया है। वर्तमान सरकार में यह मंत्रालय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के सेवानिवृत्त प्रोफेसर डॉ0 मुरली मनोहर जोशी को सौंपा गया है जिन्होंने महासागर विकास से जुड़ी गतिविधियों को विशेष प्रोत्साहन दिया है। हाल ही में सम्पन्न कुम्भ मेला में इस विभाग द्वारा महासागरों से सम्बन्धित एक प्रदर्शनी लगाई गई जिसको लोगों ने देखा, सराहा, तथा दर्शकों की जिज्ञासाओं को सम्बन्धित वैज्ञानिकों ने शान्त किया। इस दिशा में और भी कार्य तेजी से हो रहे हैं।

देश में आवश्यक प्रतिभा विकसित करने के लिये इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंतरशास्त्रीय संस्थान के अधीन वायुमण्डलीय एवं महासागर अध्ययन केन्द्र की स्थापना का निर्णय लिया गया है, जिसका उद्‌घाटन 10 सितम्बर 2000 को भारत सरकार के मानव संसाधन विकास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा महासागर विकास मंत्री डॉ0 मुरली मनोहर जोशी जी ने किया। इस केन्द्र का नाम सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ0 के0 बनर्जी के सम्मान में **डॉ0 के0 बनर्जी वायुमण्डलीय एवं महासागर अध्ययन केन्द्र** रखा गया है। डॉ0 बनर्जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। इस नवस्थापित अध्ययन केन्द्र का संयोजक प्रो0 श्याम लाल

श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष भौतिकी को बनाया गया है। उन्होंने सन् साठ के दशक में माइक्रोवेव के सुविख्यात वैज्ञानिक प्रो0 कृष्णा जी के निर्देशन में शोध कार्य शुरू किया गया था। आज भी वे इस नये विषय में रुचि रखते हैं। इसके अलावा प्रारम्भ में भौतिकी विभाग के अध्यापकगण परस्पर मिलकर महासागरों के विकास सम्बन्धी आँकड़ों का अध्ययन कर इस अध्ययन केन्द्र को आधुनिक भौतिकी के क्षेत्र में ले जाने हेतु तत्पर दिख रहे हैं।

डॉ0 के0 बनर्जी वायुमण्डलीय एवं महासागर अध्ययन केन्द्र देश के उच्च अध्ययन केन्द्रों में से एक है जो कि महासागर विकास मंत्रालय से मान्यताप्राप्त है। इस केन्द्र को अपनी गतिविधियाँ चलाये रखने के लिये आर्थिक व शैक्षिक सहयोग नेशलन सेन्टल फार अंटार्कटिक एण्ड ओसन रिसर्च, गोवा तथा भारत सरकार के महासागर विभाग द्वारा दिया जायेगा। महासागर विकास विभाग द्वारा इस केन्द्र को 2.56 करोड़ रुपये का अनुदान अध्ययन हेतु प्रस्तावित किया गया है। इस केन्द्र में सामुदायिक उपक्रमों व प्रक्रमों से जुड़े शोध कार्य करने के साथ–साथ पृथ्वी, समुद्र, वातावरण व अंतरिक्ष की भौतिक प्रक्रियाओं तथा सामुद्रिक व वायुमण्डलीय भौतिकी का अध्ययन किया जायेगा। इस अध्ययन के लिये सेटेलाइट तकनीक व गणितीय प्रतिरूपण (मैथेमैटिकल माडलिंग) का उपयोग किया जायेगा।

केन्द्रीय मंत्री डॉ0 मुरली मनोहर जोशी जी ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा "समुद्र के रहस्यों को जानना और इस पर गहन अध्ययन करना अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता है। समुद्र और वायुमण्डल का अध्ययन न केवल शैक्षिक दृष्टि से बल्कि देश की सुरक्षा और समृद्धि के साथ–साथ मानव जीवन को सुखी बनाने के लिये भी जरूरी है। हमें इस बात के लिये सतर्क रहना होगा कि हमारी सामुद्रिक सम्पदा कितनी है। समुद्र का जैवतन्त्र, आवश्यक धातु और हाइड्रोकार्बन की उपस्थिति व उनके उपयोग के सम्बन्ध में अध्ययन जरूरी है।"

समुद्र, पृथ्वी व वायुमण्डल का अत्यन्त गहरा व पारस्परिक सम्बन्ध है। पृथ्वी का 70 प्रतिशत भाग पानी यानी समुद्र है तो मानव शरीर में भी 70 प्रतिशत जल है। यह कारण समुद्र अध्ययन के लिये जरूरी है। इसी तरह प्राणवायु आक्सीजन की आवश्यकता देखते हुये वायुमण्डल का अध्ययन भी जरूरी है। समस्याओं को रेखांकित करते हुये डॉ0 जोशी ने कहा कि "हमें देखना होगा कि किन कारणों से उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव की बर्फीली चोटियाँ पिघल रही हैं। ओजोन परत में अंटार्कटिक क्षेत्र के ऊपर छेद क्यों हो रहा है ?"

इस अध्ययन केन्द्र को भौतिकी विभाग के साथ–साथ विश्वविद्यालय के गणित विभाग, इलेक्ट्रॉनिक्स एवं टेलीकम्यूनिकेशन विभाग, पृथ्वी एवं नक्षत्र विज्ञान विभाग के अतिरिक्त स्थानीय हरिश्चन्द्र रिसर्च इंस्टीट्यूट आफ मैथेमैटिक्स एण्ड मैथेमैटिकल फिजिक्स, भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान व प्रो0 के.एस. कृष्णन भूचुम्बकत्व अनुसंधान प्रयोगशाला का सहयोग मिलेगा। यह अध्ययन केन्द्र देश के कई अन्य राष्ट्रीय स्तर के संस्थानों के साथ समन्वय स्थापित करके कार्य करेगा। इस संस्थानों में, स्पेस ऐप्लीकेशन सेन्टर अहमदाबाद, इन्डियन इंस्टीट्यूट आफ ट्रापिकल मेटिओरिओलाजी पुणे, नेशनल इंस्टीट्यूट आफ ओसनोग्राफी, गोवा, नेशनल सेन्टर फार मीडियम रेंज वेदर फोरकास्टिंग, बंग्लौर, इण्डियन मेटिओरियोलाजिकल डिपार्टमेंट, दिल्ली, इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर, स्पेस फिजिक्स लैबोरेट्री, त्रिवेन्द्रम, फिजिक्स रिसर्च लैबोरेट्री, अहमदाबाद तथा नेशनल फिजिकल लैबोरेट्री, दिल्ली शामिल हैं।

भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान और भूचुम्बकीय अनुसंधान प्रयोगशाला के बाद डॉ0 के0 बनर्जी वायुमण्डलीय एवं महासागर अध्ययन केन्द्र की स्थापना इलाहाबाद में होना वैज्ञानिक अध्ययन क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा रही है। इन केन्द्रों के खुलने के कारण विश्वविद्यालय के अध्यापकों, शोधकर्ताओं एवं छात्रों को अध्ययन के लिये विशेष सुविधायें उपलब्ध हो जायेंगी। कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में ऐसे केन्द्र की स्थापना होना एक आवश्यक व ऐतिहासिक कदम है।

भौतिकी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

बादल से बिजली

✍ राजीव कुमार 'राज'

प्रो0 लाल प्रतिदिन की भाँति आज भी अखबार से अपनी सुबह की शुरुआत करते हैं। अखबार में आये दिना यह मुखपृष्ठ पर यह खबर उन दिनों छप रही थी, कि कुछ समय के अन्दर ही बिजली का घोर संकट उत्पन्न हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ विशेष स्थानों को छोड़कर शेष स्थान अंधकार में डूबे रहेंगे।

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित विज्ञान पत्रकारिता/लेखन प्रशिक्षण के एक प्रशिक्षार्थी द्वारा लिखित प्रथम विज्ञान कथा
–सम्पादक

प्रो0 लाल इलैक्ट्रिकल साइंस के बहुत बड़े जानकार थे साथ ही साथ वे देश के आधुनिकतम 'वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र' के प्रमुख वैज्ञानिकों में से थे। प्रो0 लाल ने तरह–तरह के विद्युत–संचालित उपकरण बनाये थे। जिनसे आम जीवन तथा रक्षा प्रौद्योगिकी को बहुत लाभ मिल रहा था। इसके बावजूद प्रो0 लाल बहुत चिंतित रहते थे आने वाले बिजली संकट से, क्योंकि तरह–तरह के उपकरण जो रोजमर्रा के प्रमुख अंग बन चुके थे, बिजली के अभाव में ठप हो जायेंगे।

प्रो0 लाल विद्युत विज्ञानी के साथ–साथ प्रकृति विज्ञानी भी थे। उन्हें प्रकृति को नजदीक से महसूस करना बहुत अच्छा लगता था। उस शौक में उनके बराबर के भागीदार थे, बचपन के मित्र डॉ0 कौशल। और एक दिन अचानक डॉ0 कौशल, प्रो0 लाल से मिलने के लिये पहुँच गये। उस समय प्रो0 लाल आराम कुर्सी पर बैठे हुये कुछ सोच रहे थे।

डॉ0 कौशल के आने से प्रो0 लाल का ध्यान टूटा, और उन्होंने खुश होते हुये उनके आने का कारण पूछा। डॉ0 कौशल ने बताया– "मैंने कुछ दिनों के लिये छुट्टी ले रखी है, और मैं चाहता हूँ कि हम दोनों पर्वतों की सैर के लिये चलें। वहाँ पर मैंने पर्वतारोहण का विशेष कार्यक्रम भी रखा है।"

प्रो0 लाल भी अपनी दिमागी उलझनों के कारण स्थान परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने डॉ0 कौशल के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

प्रो0 लाल और डॉ0 कौशल पूरी तैयारी के साथ अपने अभियान पर निकल पड़े। हिमालय की एक चोटी के पास उन्होंने अपना कैंप लगाया और आगे के कार्यक्रम के विषय में बातें करने लगे। उनके कार्यक्रम के मुताबिक सबसे पहले उन्हें सामने वाली चोटी पर चढ़ना और वहाँ से आसपास के प्राकृतिक दृश्यों को कैमरे में कैद करना था। फिर बाद में उस पार की घाटी में प्रवेश करना था।

थोड़ी दूर चलते ही अचानक प्रो0 लाल की टाँग में हल्की सी मोच आ गई। उन्होंने डॉ0 कौशल से कहा–"तुम इस पहाड़ी पर कीलें गाड़ते हुये और डोरी बाँधते हुये आगे बढ़ो। थोड़ा आराम मिलते ही मैं तुम्हारे पीछे आता हूँ।"

डॉ0 कौशल फुर्ती से अपने काम में लग गये। लेकिन प्रो0 लाल की मोच का दर्द कम होने के बजाय बढ़ता ही जा रहा था और उधर डॉ0 कौशल पर्वत की उस गगनचुम्बी चोटी पर पहुँच चुके थे। उन्होंने अपनी खुशी का इज़हार करने के लिये प्रो0 लालय से अपने मोबाइल फोन पर सम्पर्क किया ही था, कि अचानक आसमान में बादलों के मध्य से बिजली चमकी, बादल गरजे और साथ में एक भयानक चीख सुनाई दी।

प्रो0 लाल चीख सुनते ही अपने दर्द को भूल से गये। वे डॉ0 कौशल की ओर दौड़े। रास्ते में अपने बचपन के मित्र डॉ0 कौशल की झुलसी हुई क्षत–विक्षत लाश को देखते ही पहले तो वे शॉक की स्थिति में आ गये, पर जल्दी से समझ गये कि यह कहर बरपा किया था आकाशीय बिजली ने। फिर तो प्रो0 लाल की आँखों से

आँसू बह चले।

प्रो0 लाल मित्र को खोकर अनमने से रहने लगे थे। पता नही किन विचारों में खोये हुये रहते थे। तभी अचानक एक दिन उनके दिमाग में एक विचार कौंधा। उन्होंने एक आश्चर्यजनक प्रयोग करने ठान ली। प्रयोग से सम्बन्धित समय और जगह का चुनाव भी कर लिया तथा पूरे साजो–सामान के साथ उन्हीं पहाड़ों की यात्रा के लिये रवाना हो गये। अंततः वे वहीं जाकर रुके जहाँ उनके मित्र ने अपनी जान गंवायी थी।

प्रो0 लाल का प्रयोग खतरनाक भी था। उनके प्रयोग का मुख्य उद्देश्य आकाशीय बिजली पर वैज्ञानिक तरीके से काबू पाना और साथ ही उसे जनसाधारण के लिये उपयोगी विद्युत में परिवर्तित करना भी था। प्रो0 लाल ने इसके लिये एक बैटरीनुमा भूमिगत चैम्बर बनवाया जिसका संबंध एक कंट्रोल बोर्ड से था, जिसमें विद्युत सूचक यंत्र भी लगा था। कंट्रोल बोर्ड का संबंध पर्वत की ऊँची चोटी से भी था। चोटी पर धातु की एक नुकीली छड़ भी लगी हुई थी।

अब प्रो0 लाल को सिर्फ इस प्रयोग के परिणाम का इंतेजार था। तभी अचानक आकाश में बादलों के बीच से बिजली चमकी जो सीधे उस चोटी के सम्पर्क में आयी। प्रो0 लाल उस समय खुशी से झूम उठे, जब उनके विद्युत सूचक यंत्र ने चैम्बर में विद्युत प्रविष्ट होने की पुष्टि कर दी।

प्रो0 लाल की बैटरी करोड़ों मेगावाट विद्युत संग्रहीत करने की क्षमता रखती थी। प्रो0 लाल ने जब बैटरी को अंधेरे में डूबे उस इलाके से जोड़ दिया तब सारा इलाका प्रकाश से जगमगा उठा।

प्रो0 लाल के इस प्रयोग ने परिणामस्वरूप राष्ट्र को निरन्तर बिजली मिलते रहने से उसको, प्रगतिपथ पर बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता था। प्रो0 लाल ने विद्युतगृह का नाम अपने स्वर्गीय मित्र की याद में 'कौशल विद्युत गृह' रखा। यह उनकी अपने मित्र को दी गई सबसे बड़ी श्रद्धांजलि थी।

अगले दिन अखबारों के मुखपृष्ठ पर प्रो0 लाल द्वारा 'कौशल विद्युत गृह' राष्ट्र को सौंपने का समाचार सुर्खियों में प्रकाशित हुआ था। प्रो0 लाल की आँखें खुशी से नम थीं। पूरे देश के लोगों ने प्रो0 लाल को बधाइयाँ भेजकर उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया और साथ ही अपनी खुशी का इज़हार भी। इस प्रकार आज अपने देश भारत में बिजली की कोई कमी, कोई संकट न होने का वास्तविक कारण है 50 वर्ष पूर्व का प्रो0 लाल का वैज्ञानिक प्रयोग। आज तो भारत में रात में भी दिन जैसा उजाला दिखता है। इसके मूल में है प्रो0 लाल का प्रयोग। और यही कारण है कि उनके निधन के पैंतालीस वर्ष बाद अब भी कृतज्ञ राष्ट्र 14 जनवरी को उनकी पुण्यतिथि हर वर्ष मनाता आ रहा है।

391/A/5 पीली कोठी, नई बस्ती
कीडगंज, इलाहाबाद- 211 003

सम्मान

विज्ञान परिषद् प्रयाग के आजीवन सभ्य डॉ० राजकुमार बंसल (जोधपुर) को हिन्दी में विज्ञान लेखन के लिये केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का वर्ष 2000 का डॉ० आत्माराम पुरस्कार राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन के कर कमलों से 15 जून 2001 को प्रदान किया गया।

विज्ञान परिवार की हार्दिक बधाइयाँ!

- सम्पादक

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : सामान्य वैकृतिक विज्ञान
लेखिका तथा प्रकाशक : डॉ0 मंजुश्री कुमार
अनुग्रह नारायण मगध चिकित्सा महाविद्यालय, गया (बिहार)
पृष्ठ संख्या : 148, **मूल्य :** रु0 200,
प्रथम संस्करण : 2000

वैज्ञानिकी के क्षेत्र में यूं तो हिन्दी में लिखी हुई पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं, परन्तु इनमें पाठ्यक्रम की पुस्तकें कम ही होती हैं। इस सन्दर्भ में डॉ0 मंजुश्री कुमार की लिखी हुई पुस्तक "सामान्य वैकृतिक विज्ञान" वैकृतिक विज्ञान में ही नहीं वरन् पूरे चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में गिनी–चुनी वैज्ञानिक पुस्तकों में से एक है। इस सफल प्रयास के लिये डॉ0 कुमार की जितनी सराहना की जाये कम है। यह पुस्तक विज्ञान के स्नातक छात्रों के लिये उपयोगी हो सकती है, ख़ास कर उन छात्रों के लिये जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी माध्यम के विद्यालयों में हुई हो। इस पुस्तक में विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया है जिसके लिये लेखिका को काफी परिश्रम करना पड़ा होगा, परन्तु इतने कठिन परिश्रम के बाद भी यही बिन्दु इस पुस्तक की कमजोरी भी बन गया है। यह पुस्तक पढ़ने में अनुभवी चिकित्सा शिक्षकों को काफी कठिन प्रतीत होती है। छात्रों को भी यही कठिनाई होगी। अगर पुस्तक में गूढ़ हिन्दी के स्थान पर रोजमर्रा के काम आने वाली हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया जाता तो अच्छा होता क्योंकि दुर्भाग्यवश भारत में अभी भी चिकित्सा विज्ञान में पठन–पाठन का माध्यम अंग्रेजी ही है। अच्छा होता कि तकनीकी शब्दों को अंग्रेजी में ही लिखा जाता या देवनागरी लिपि में अंग्रेजी का शब्द लिखकर कोष्ठक में उसका हिन्दी अनुवाद लिख दिया जाता। धीरे–धीरे जब शिक्षक एवं विद्यार्थी हिन्दी शब्दावली के शब्दों में अभ्यस्त हो जाते फिर इन शब्दों को पढ़ने एवं समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। कहीं–कहीं यह प्रतीत होता है कि इस पुस्तक को लिखने में काफी कठिनाई के साथ–साथ काफी समय भी लगा और इस कारण से बहुत सी नई जानकारी पुस्तक में समायोजित नहीं हो पाई है।

पुस्तक के दूसरे पाठ (कोशिका एवं कोशिका विनाश) में एपोटोसिस (Apoptosis) का वर्णन नहीं है, यद्यपि आजकल कैन्सर के निदान एवं उपचार में इसकी महत्ता बढ़ती जा रही है। एजिंग (Aging) का भी इस पुस्तक में कोई वर्णन नहीं किया गया है। शोथ (Inflammation) का भी विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है। प्रोस्टाग्लैन्डिन (Prostaglandin), ल्यूकोट्राइन (Leukotrine), एवं इन्टरल्यूकिन (Interleukin) का विवरण नहीं है, जबकि आज किसी विद्यार्थी के लिये इनके बिना शोथ के बारे में जानना मुश्किल है। ऐसे ही उदाहरण अन्य पाठों में भी मिलते हैं।

पृष्ठ 51 में एमलाइडता (Amyloidosis) के बारे में लिखा है कि यह शरीर के ऊतकों एवं अंगों में पाई जाने वाली कोशिकाओं में मिलता है जबकि यह कोशिकाओं में नहीं वरन् कोशिकाओं के बीच में होता है। यह बात इस पृष्ठ के पहले वाक्य में सही लिखी है। एमलाइडता का वर्गीकरण बहुत जरूरी है और यह काफी बदल भी गया है। अब इसे फिब्रिल प्रोटीन के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। पृष्ठ 54 एवं 55 में भी कहा गया है कि एमलाइडता यकृत के कुप्फर कोशिकाओं में पाया जाता है जबकि यह इनके बाहर होता है।

इस पुस्तक में हर पाठ के अन्त में जो शब्दावली दी गई है वह बहुत ही उपयोगी है परन्तु यह प्रतीत होता है कि जल्दबाजी में पाठों को चैप्टर ही लिख दिया गया है। दुःख की बात है कि इतने कड़े परिश्रम के बाद भी, इस पुस्तक का उपयोग होने की सम्भावना कम ही है। ऐसी पुस्तकों का महत्व उस दिन होगा जब चिकित्सा विज्ञान में पढ़ाई का माध्यम हिन्दी होगा।

इन कठिनाइयों के बावजूद लेखिका का कार्य प्रशंसनीय है और यह आशा की जाती है कि भविष्य में उनके द्वारा हिन्दी में लिखित और पुस्तकें भी प्रकाशित होंगी।

📖 डॉ० एस.पी. मिश्रा
रीडर गैस्ट्रोएन्टेरोलाजी विभाग
मो० ला० ने० मेडिकल कालेज, इलाहाबाद

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका का अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200

सितम्बर 2001

सी. एस. आई. आर. तथा डी. बी. टी. नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

- कोयला बनाम काला हीरा
- सर रोनाल्ड रॉस
- पेनिसिलीन की खोज
- एम कामर्स
- पर्यावरण पर जनसंख्या का दबाव

विलायक
कृत्रिम तेल
रसायन
कृत्रिम तेल
ताप जनित ऊर्जा
वाष्प जनित ऊर्जा
हाइड्रोजनीकरण
कृत्रिम प्राकृतिक गैस
बिजली उत्पादन
बिजली उत्पादन
रासायनिक खाद
इनेमल पिच
दहन
ईंधन गैस
ईंधन गैस
इलेक्ट्रोड कार्बन
गैसीकरण
धातुकर्मीय कोक
जल अभिक्रिया कारक
कोलतार
विशेष अभिक्रिया
कार्बनीकरण
सभी कोक
सक्रीय कार्बन
कोयला

GSLV

कोयले का उपयोगिता चक्र

सर रोनाल्ड रॉस

विज्ञान परिषद्
प्रयाग

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 6
सितम्बर 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक . 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति

डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक

नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

शादाब खालिद

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

सूचना तकनीक के क्षेत्र में ई-कामर्स के बाद एक और नई अवधारणा : एम-कामर्स

✍ प्रदीप कुमार मुकर्जी

सूचना क्रांति के इस युग में विश्व के कोने–कोने में सूचना प्रौद्योगिकी के महत्व एवं उसकी उपयोगिता को महसूस किया जा रहा है। जीवन के तकरीबन हर पहलू को ही सूचना प्रौद्योगिकी धीरे–धीरे प्रभावित करती जा रही है। इंटरनेट के आ जाने से सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मानो एक क्रांति ही आ गई है। इंटरनेट के जरिये विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक सूचनाओं का आदान–प्रदान निमिष मात्र में ही हो जाता है। अतः संचार के एक सहज, सुलभ और व्यापक साधन के रूप में इंटरनेट तेजी से अपनी पहचान बनाता जा रहा है।

इंटरनेट पर अब वाणिज्यिक लेन–देन भी सम्पन्न होने लगे हैं। इंटरनेट के जरिये किये जाने वाले व्यवसायिक लेन–देन या व्यापर को ही **ई–कामर्स** का नाम दिया जाता है। ई–कामर्स के द्वारा व्यवसाई से व्यवसाई तथा व्यवसाई से उपभोक्ता दोनों तरह के ही व्यापार होते हैं। लेकिन ई–कामर्स केवल खरीदने और बेचने तक ही सीमित नहीं है। इसका दायरा बहुत विस्तृत है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो न कुछ खरीदते और न कुछ बेचते हैं पर वे खरीदने–बेचने वालों के बीच एक बिचौलिये या मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं।

ई–कामर्स को चालू हुये अभी मुश्किल से पाँच–छह वर्ष ही हुये हैं लेकिन पिछले दो–तीन वर्षों में इसमें तेजी से वृद्धि हुई है। हार्डवेयर बनाने वाली प्रसिद्ध अंतर्राष्ट्रीय कम्पनी आई.बी.एम. को आशा है कि सन् 2004 तक उसकी 75 प्रतिशत के करीब बिक्री ई–कामर्स से ही होगी।

भारत में ई–कामर्स फिलहाल व्यवसाइयों और व्यवसाइयों के बीच ही ज्यादा प्रचलित है। इसका कारण हमारे देश में सीमित इंटरनेट उपभोक्ताओं का होना है। पर्सनल कम्प्यूटर भी मुश्किल से 0.4 प्रतिशत लोगों के पास ही हैं। हमारे यहाँ फिलहाल करीब 25 शहरों में ही ई–कामर्स की सुविधायें उपलब्ध हैं। लगभग 500 शहरों और सात लाख गाँवों वाले इस देश के लिये यह संख्या सचमुच बहुत कम है। पर उम्मीद है कि भविष्य में ई–कामर्स द्वारा व्यापार हमारे यहाँ भी लोकप्रिय होगा।

क्या है एम-कामर्स ?

ई–कामर्स में कम्प्यूटर के जरिये ही व्यक्ति इंटरनेट की सहायता से सौदा या खरीद–फरोख्त करता है। कम्प्यूटर के स्थान पर वाणिज्यिक लेन–देन के लिये अब मोबाइल फोन का इस्तेमाल शुरू हो चुका है। मोबाइल फोन के जरिये वाणिज्यिक लेन–देन से **एम-कामर्स** (एम का अर्थ है मोबाइल यानि चलते–फिरते कभी भी, कहीं भी मोबाइल द्वारा कारोबार संबंधी गतिविधियाँ सम्पन्न की जा सकती हैं) की अवधारणा उभर कर सामने आई है। दरअसल कम्प्यूटर के इस्तेमाल की अपनी सीमायें हैं। मूड होने या अन्य झंझटों से मुक्त होने पर ही व्यक्ति कम्प्यूटर के इस्तेमाल के बारे में सोचता है जबकि मोबाइल के साथ ऐसी कोई बंदिश नहीं है। हमेशा व्यक्ति के पास रहने के कारण कहीं भी तथा कभी भी इसका इस्तेमाल किया जा सकता है। एम–कामर्स में मुख्य भूमिका मोबाइल या अन्य हैंड उपकरण में स्थित माइक्रो ब्राउजर्स निभाता है।

मोबाइल फोनों को इंटरनेट से जोड़ने के लिये एक खास तकनीक का विकास किया गया है जिसका नाम **वैप** यानी वायरलेस एप्लीकेशन प्रोटोकाल (डब्ल्यू0ए0पी0) है। इस नई तकनीक में वायरलेस मार्कअप

लैंग्वेज (डब्ल्यू0एम0एल0) जो टेक्स्ट आधारित भाषा है, का प्रयोग किया जाता है। गौरतलब है कि इंटरनेट पर टी0सी0पी0/आई0वी0 प्रोटोकाल प्रयुक्त होता है तथा वेबपेज निर्माण हेतु हाइपर टेक्स्ट मार्क लैंग्वेज (एच0टी0एम0एल0) प्रयोग में लाई जाती है।

वैप तकनीक द्वारा सूचनाएँ एक खास फारमेट में बदले जाने के बाद ही मोबाइल उपभोक्ताओं तक पहुँचती हैं। इस तरह मोबाइल के स्क्रीन पर केवल उपभोक्ता के काम की लिखित सामग्री ही उपलब्ध हो पाती है। यानी इंटरनेट पर दिखलाई पड़ने वाले तमाम चित्र और ग्राफ आदि मोबाइल उपभोक्ता को उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

वर्तमान में एम–कामर्स का उपयोग अधिकतर विकसित राष्ट्रों द्वारा ही किया जा रहा है लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में भी इस तरह की सुविधा उपलब्ध कराने की तैयारियाँ चल रही हैं। भारत में नोकिया, मोटोरोला आदि कम्पनियाँ ऐसे स्मार्ट मोबाइल फोन बाजार में ला रही हैं जो स्क्रीन पर टेक्स्ट आधारित संदेशों को उपलब्ध कराने के अलावा वेब सर्फिंग भी करने में सक्षम होंगे। अन्य कम्पनियाँ जैसे कि एस्सार आदि भी इस दौड़ में शामिल हैं।

दरअसल एम–कामर्स की आम लोगों के लिये उपयोगिता इसके अधिक सुविधाजनक होने के कारण ही महसूस की जा रही है। इंटरनेट के इस्तेमाल के लिये तो पर्सनल कम्प्यूटर एवं इंटरनेट कनेक्शन का होना आवश्यक हैं लेकिन एम–कामर्स की सुविधा के लिये इंटरनेट से जुड़े वायरलेस मोबाइल फोन का होना ही एकमात्र आवश्यकता है।

वर्तमान में 25 करोड़ से अधिक लोग विश्व भर में एम–कामर्स की सुविधा का लाभ उठा रहे हैं तथा आने वाले समय में इसके प्रयोगकर्ताओं की संख्या और भी बढ़ने की संभावना है। एम–कामर्स के क्षेत्र में आगे बढ़ने की होड़ ने जापान, ताइवान, कोरिया आदि देशों में तो प्रतिस्पर्धा का रूप ही धारण कर लिया है।

हालाँकि एम–कामर्स को सही मायनों में ई–कामर्स का विकल्प नहीं कहा जा सकता है लेकिन फिर भी आने वाले समय में एम–कामर्स को ई–कामर्स से भी अधिक लोकप्रिय होने की संभावना दिखाई देती है। एम–कामर्स की सुविधा प्राप्त होते ही आपका मोबाइल फोन महज एक फोन की बजाय आपके एक कारोबारी दोस्त में बदल जायेगा। अपने मोबाइल फोन के जरिये आप अपनी कारोबारी गतिविधियों को कहीं भी कभी भी निपटा सकेंगे। आने वाले समय में होटल, शो रूम आदि आपके मोबाइल से जुड़ जायेंगे तो आप घूमते–फिरते ही एम–कामर्स से लाभ उठा सकेंगे।

अपने मोबाइल पर अपने कारोबार के सिलसिले में आप वाणिज्यिक तथा शेयर समाचार आदि भी प्राप्त कर सकेंगे। हाल ही में एस्सार ने सी0एन0एन0 के साथ एक समझौता किया है जिसके अनुसार सी0एन0एन0 ऑनलाइन के समाचार सेलुलर फोन पर उपलब्ध होंगे।

एम–कामर्स की सुविधा उपलब्ध होने पर अपने मोबाइल से आप शेयर कारोबार तथा घरेलू खरीद–फरोख्त आदि तो कर ही सकेंगे टेलीफोन, बिजली, पानी यहाँ तक कि अपने बच्चे के स्कूल की फीस भी जमा कराने का काम कर सकेंगे। इसके अलावा वित्तीय सेवा यानी मोबाइल बैंकिंग तथा सूचना सेवा यानी शेयर समाचार, खेल, ट्रैफिक तथा मौसम संबंधी समाचारों के लिये भी आप अपने मोबाइल फोन द्वारा एम–कामर्स का आनन्द उठा सकेंगे।

सचमुच मोबाइल फोन के जरिये इंटरनेट सर्फिंग तथा एम–कामर्स की सुविधा सूचना तकनीक के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ले आयेगी।

43, देशबंधु सोसाइटी
पटपड़गंज
दिल्ली–110 092

पेनिसिलीन की खोज : फ्लेमिंग से फ्लोरी तक

डॉ० देवेन्द्र कुमार राय

आर्थर कोएस्लर ने अपनी पुस्तक 'स्लीपवॉकर' में वैज्ञानिक प्रगति के विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है कि, "वैज्ञानिक प्रगति को एक ऐसा उत्कर्ष माना जाता है जिसने स्पष्टतः एक ऊर्ध्वगामी सरल रेखा का अनुसरण किया है, पर वास्तविकता यह है कि इसे टेढ़े-मेढ़े मार्ग से गुजरना पड़ा है, और कभी कभी तो यह मार्ग राजनैतिक विचारों के विकास के मार्ग की अपेक्षा कुछ अधिक ही भ्रांतिपूर्ण रहा है। विशेष रूप से, यदि हम कॉस्मिक सिद्धांतों के विकास के इतिहास को सामूहिक मनोवेगों एवं नियंत्रित मानसिक रोगों के प्रभाव का इतिहास कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। अधिकांश महत्वपूर्ण व्यक्तिगत आविष्कारों में से कुछ का उद्‌भव जिस तरह से हुआ था, वह मुझे किसी 'इलेक्ट्रानिक मस्तिष्क' की देन न होकर किसी 'नींद में चलने वाले व्यक्ति' की उपलब्धि जैसे जान पड़ते हैं।"

बहुधा ऐसा देखा गया है कि किसी महत्वपूर्ण प्रेक्षण का सर्वप्रथम साक्षात्कर्ता उसके महत्व से अनभिज्ञ बना रह जाता है जबकि, उस विषय में रुचि न रखने वाला कोई अन्य प्रेक्षक उसके महत्व को उद्‌घाटित कर देता है। विज्ञान की महत्वपूर्ण अवधारणाओं के विकास पर वैज्ञानिकों के अपने विश्वासों एवं तत्कालीन वैज्ञानिक विचारधारा का भी गंभीर प्रभाव पड़ता है। पेनिसिलीन की खोज के संदर्भ में इन तथ्यों की रोचक झलक देखी जा सकती है।

आज का प्रबुद्ध मानव समाज ऐन्टीबायोटिक दवाओं के महत्व से भलीभाँति परिचित है। इन दवाओं के विकास से जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होने वाले अनेक भयानक रोगों पर न केवल सार्थक नियंत्रण करने में सफलता मिली है, वरन् कुछ का तो अस्तित्व ही समाप्तप्राय कर दिया गया है। पेनिसिलीन इस प्रकार की दवाओं के प्रथम संस्करण के रूप में प्राप्त हुआ था और अपने मूल या परिमार्जित रूप में अब भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण औषधि के रूप में प्रचलित है। चूँकि इसका विकास उस समय हुआ था जब द्वितीय विश्व युद्ध अपनी भीषणता की चरम स्थिति में था अतः इसे एक प्रकार से दैवी उपहार समझा गया। ब्रिटेन उस समय अत्यंत संकट की स्थिति में था, उसके अनेक सैनिक इस दवा के उपयोग से स्वास्थ्यलाभ करके पुनः लड़ने की स्थिति प्राप्त कर सके। इस कारण भी पेनिसिलीन की खोज तथा इसके उत्पादन की सफलता के इतिहास को मानव प्रगति के इतिहास की एक महत्वपूर्ण कड़ी माना जाता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक जीवाणुओं की खोज हो चुकी थी। वैज्ञानिकों को यह ज्ञात हो चुका था कि ये जीवाणु अत्यंत सूक्ष्मजीव होते हैं जिन्हें केवल सूक्ष्मदर्शी की सहायता से ही देखा जा सकता है। ये प्राणी वायुमंडल में तैरते रहते हैं। उसी दौरान जान टिन्डल नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुये जो अनेक प्राकृतिक घटनाओं, विशेषतः प्रकाश के प्रभाव से संबंधित घटनाओं के अध्ययन एंव विश्लेषण के लिये विख्यात थे। सन् 1875 में उन्होंने यह जानने के लिये कुछ प्रयोग किये कि वायु में जीवाणु सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहते हैं या नहीं। इसके लिये उन्होंने बैक्टीरिया की संख्या वृद्धि के लिये काम में लाये जाने वाले उपयुक्त रासायनिक घोल को अनेक पेट्री तश्तरियों में भर कर अपनी प्रयोगशाला में कई स्थानों पर रख दिया। उन्होंने 24 घंटों के बाद तश्तरियों के घोलों का परीक्षण किया।

उन्होंने पाया कि जीवाणुओं का विकास केवल कुछ ही तश्तरियों में हुआ था। इतना ही नहीं, उन्होंने कुछ तश्तरियों में एक प्रकार की भुकड़ी या काई (mold)जमी हुई देखी जो बड़ी ही सुन्दर दिखाई दे रही थी। और सबसे मजे की बात यह थी कि जिन तश्तरियों में पेनिसिलीन नाम की यह काई जमी थी और उसकी पर्त मोटी थी, उसमें जीवाणु या तो मर गये थे या मृतप्राय होकर तश्तरी की पेंदी में तलछँट की भाँति जम गये थे। इस प्रकार जान टिन्डल ने प्रत्यक्ष देखा कि इस पेनिसिलीन

की उपस्थिति में जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इस उपयोगी तथ्य की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। उन्होंने इस दिशा में कोई निरीक्षण–परीक्षण भी नहीं किया। इस भूल के लिये हम टिन्डल को दोष भी नहीं दे सकते क्योंकि जीवाणु मानव स्वास्थ्य के लिये कितने घातक होते हैं इस तथ्य की जानकारी वैज्ञानिकों को टिन्डल के प्रयोग के सात वर्षों के बाद हुई जिसकी खोज राबर्ट कॉख ने की।

टिन्डल के प्रयोग के लगभग 20 साल बाद सन् 1896 में फ्रांसीसी वैज्ञानिक ए.ई. डूचेश्न ने भी पेनिसीलियम ग्लाउकम के प्रभाव का प्रदर्शन किया और लियोन की सैनिक चिकित्सा अकादमी के समक्ष प्रस्तुत निबन्ध में लिखा कि यदि किसी पशु को घातक जीवाणुओं के साथ ही इस पेनिसिलीन की भी सुई लगा दी जाये तो उस पशु पर जीवाणुओं का हानिकारक प्रभाव कम हो जाता है। डूचेश्न की इस खोज पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

लगभग 30 साल बाद सन् 1925 में लीज विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक डी.ए. ग्रेशिया ने दिखाया कि पेनिसीलियम काई से निकले पदार्थ में, एन्थ्रेक्स (एक प्रकार का दूषित फोड़ा) से संबद्ध जीवाणुओं को घुला देने की क्षमता है। हालाँकि उस समय तक इन जीवाणुओं के कारण होने वाली हानि से चिकित्सक समाज पूर्णतया परिचित था, फिर भी ग्रेशिया की खोज पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग : फ्लेमिंग ने 1906 में चिकित्सा की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और तदन्तर अनेक वर्षों से लन्दन के सेन्ट मेरी चिकित्सालय के टीकाकरण विभाग में कार्यरत रहे। बाद में उन्हें वहाँ सहायक निदेशक का पद दिया गया। उस समय निदेशक पद पर सर आमरॉथ राइट कार्य कर रहे थे। उनका विश्वास था कि जीवाणुरोधी दवायें मृगमरीचिका मात्र हैं। उनके इस विश्वास का भी पेनिसिलीन के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा। फ्लेमिंग अच्छे डाक्टर थे और उपदंश रोग की चिकित्सा में उनको महारत प्राप्त थी। चूँकि यह रोग कलाकारों में कुछ अधिक ही व्याप्त था अतः फ्लेमिंग के पास अनेक कलाकृतियाँ थीं जो उनके रोगियों ने उन्हें दी थीं।

सन् 1928 में फ्लेमिंग 'स्टेफिलोकॉकस' नाम के बैक्टीरिया की वृद्धि पर अध्ययन कर रहे थे। इसके लिये वे पेट्री तश्तरियों में उपयुक्त घोल रखकर इन जीवाणुओं को उसमें डाल देते थे और तश्तरी को 38°C पर रखकर समय के साथ इनकी संख्या की गणना करते थे। सितम्बर महीने में वे दो माह की छुट्टी पर जाने वाले थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि जीवाणु संक्रमित तश्तरियों को प्रयोगशाला के सामान्य ताप पर छोड़ दिया जाय तो भी दो माह के पर्याप्त अंतराल के बाद लौटने तक इनकी पर्याप्त वृद्धिं हो ही जायेगी। जीवाणुओं की वृद्धि तापमान के साथ बढ़ती जाती है(सामान्य तापमान 20°C से कम ही होता है)। जब वे तश्तरियों के घोलों को जीवाणुओं से संक्रमित कर रहे थे, उस समय उनकी प्रयोगशाला के दरवाजे खुले हुये थे। निचली मंजिल पर स्थित प्रयोगशाला में एक अन्य वैज्ञानिक पेनिसीलियम नोटेटम पर शोध कार्य कर रहा था। उसके बीजाणु हवा के साथ उड़कर फ्लेमिंग की प्रयोगशाला में भी भर गये थे। इस प्रकार फ्लेमिंग की तश्तरियों में लगभग एक ही साथ बैक्टीरिया और पेनिसिलीन के बीजाणु, दोनों ही पहुँच गये। वे तश्तरियाँ रखकर छुट्टी पर चले गये।

छुट्टियों से लौटने पर फ्लेमिंग ने देखा कि सभी तश्तरियों में जीवाणु विकसित हुये हैं और लगभग पूरे घोल को आच्छादित किये हुये हैं परन्तु जिन स्थानों पर पेनिसिलीन की काई जमी है उसके चारों ओर का कुछ क्षेत्र जीवाणुओं से विहीन है। टिंडल ने भी यही घटना लगभग 50 वर्ष पूर्व देखी थी परन्तु टिंडल ने उस पर ध्यान नहीं दिया किन्तु फ्लेमिंग ने उसके गहन अध्ययन का निश्चय किया। उन्होंने देखा कि जिस घोल पर काई तैर रही है उस घोल में ही वह तत्व है जिसमें बैक्टीरियारोधक क्षमता है। फ्लेमिंग ने इसे ही **पेनिसिलीन** नाम दिया। यह पानी में घुलनशील था और इतना महीन था कि बैक्टीरिया छानने वाले कागज में होकर आसानी से निकल जाता था। काई के नीचे वाले घोल में पेनिसिलीन की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती जाती है और आठ दिन बाद महत्तम हो जाती है।

फ्लेमिंग ने फिर यह जाँच की कि क्या पेनिसिलीन केवल स्टेफिलोकोकस बैक्टीरिया पर ही प्रभावी है या अन्य जीवाणुओं पर भी। उन्होंने पता लगाया कि यह स्टेफिलोकोकस, न्यूमोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, गोनोकोकस तथा मेनिन्जोकोकस पर प्रभावी है परन्तु तपेदिक, इन्फ्लुएन्जा और टायफाइड के जीवाणुओं पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। फ्लेमिंग का यह शोध कार्य सन् 1929 में प्रकाशित हुआ।

फ्लेमिंग की सफलता के अनेक कारण है, जिसमें से एक को भाग्य का खेल भी कह सकते हैं क्योंकि यह संयोग की ही बात थी कि जब वे तश्तरियों को जीवाणुओं से संक्रमित कर रहे थे ठीक उसी समय पेनिसीलियम के बीजाणु भी आ पहुँचे थे। यदि ये बीजाणु संक्रमण करने के कुछ घंटे बाद पड़ते तो फ्लेमिंग को कोई प्रभाव देखने को नहीं मिलता क्योंकि वर्षों बाद यह ज्ञात हुआ कि पेनिसिलीन जीवाणुओं को मारता नहीं वरन् केवल उनकी वृद्धि को रोकता है। यह भी सौभाग्य की ही बात थी कि घोलों को 20°C ताप पर छोड़ दिया गया था, क्योंकि 38°C ताप पर तो बैक्टीरिया की वृद्धि बहुत अधिक हो जाती। यह भी सुयोग ही था कि लंदन में सामान्य ताप 20°C से काफी ऊपर था और उसी दिन से 20°C से नीचे आया था। सबसे अधिक आश्चर्यजनक तथ्य तो यह था कि फ्लेमिंग की तश्तरी में पेनिसीलियम का वही बीजाणु पड़ा था जिसमें ये गुण थे, सभी प्रकार के पेनिसीलियम में ये गुण नहीं होते।

फ्लेमिंग ने पेनिसिलीन की सुई खरगोशों और चूहों को लगाई और देखा कि उन पर इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। मनुष्यों की संक्रमित आँखों में इसे डालने पर संक्रमण समाप्त हो जाता है, परन्तु इस सफलता के बाद भी फ्लेमिंग ने पेनिसिलीन का उपयोग अपने उन रोगियों पर नहीं किया जो उपदंश रोग से पीड़ित थे। बाद में यह ज्ञात हुआ कि इस भयावह रोग का पेनिसिलीन एक अत्यंत प्रभावी इलाज है। आश्चर्य की बात तो यह है कि फ्लेमिंग ने पेनिसिलीन पर आगे काम करना बंद कर दिया।

फ्लेमिंग से फ्लोरी तक : सी.जी. पेन नामक एक युवा जीवाणुवैज्ञानिक ने जब फ्लेमिंग के 1929 के शोधपत्र को पढ़ा तो उसने फ्लेमिंग से थोड़ी सी पेनिसीलियम नोटेटम माँगकर उससे पेनिसिलीन बनाया और अनेक बच्चों एवं वयस्कों की संक्रमित आँखों के उपचार में इसका उपयोग किया। पेन इससे इतने उत्साहित हुये कि उन्होंने इन परिणामों को शेफील्ड विश्वविद्यालय के रोग विज्ञान के प्रोफेसर डॉ0 हॉवर्ड फ्लोरी के पास भेज दिया। परन्तु शायद फ्लोरी ने इस बात को महत्व नहीं दिया।

उन्हीं दिनों लंदन में स्वच्छता और उष्णकटिबंधीय चिकित्सा का स्कूल खोला गया। उसके नवनियुक्त अध्यक्ष हेराल्ड रैमस्ट्रिक ने भी पेनिसिलीन में रुचि ली। उन्होंने यह माना कि फ्लेमिंग वास्तव में बड़े भाग्यशाली थे कि उन्हें पेनिसीलियम नोटेटम की वह प्रजाति प्राप्त हुई जिसमें पेनिसिलीन उत्पन्न करने की क्षमता थी। सामान्यतया प्राप्त प्रजातियों में यह गुण नहीं होता है इसलिये यह भी सौभाग्य की बात थी कि फ्लेमिंग ने स्वयं पेनिसिलीन पर काम करना बन्द कर दिया था किन्तु उन्होंने इस प्रजाति को संरक्षित रखा।

एक अमेरिकी शोधछात्र आर.डी. रीड ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि पेनिसिलीन बैक्टीरिया को समाप्त नहीं करता वरन् उसके विकास एवं उसकी संख्या को सीमित कर देता है। उसने अपने पीएच.डी. शोध का विषय भी बनाना चाहा परन्तु उसके शोध निदेशक ने इस विषय को उपयुक्त नहीं समझा। रीड ने अपने शोध परिणामों को शोधपत्र के रूप में 1935 में प्रकाशित करा दिया।

सन् 1935 में एक ऐसी घटना घटी जिसने ऐन्टीबैक्टीरियल (ऐन्टिबायोटिक) दवाओं के विकास को नई गति प्रदान की। एक जर्मन कंपनी, जिसका नाम आई0जी0 फार्बेन इन्डस्ट्री था मुख्य रूप से नये रंजकों की खोज एवं निर्माण का काम कर रही थी। उसके एक कर्मचारी गेरहार्ट डोमेक ने एक अप्रत्याशित प्रयोग किया। वह कर्मचारी कंपनी के पैथोलोजी विभाग से सम्बद्ध था और उसने पहले एक रासायनिक यौगिक का रंजक के रूप में विकास किया, परन्तु वह इस कार्य के लिये उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ। इस रंजक का नाम था प्रोटोसिल। उसने इसके घोल का दवा के रूप में प्रयोग किया– उसने इस घोल की सुई उन मनुष्यों को लगाई जो स्ट्रेप्टोकोकस बैक्टीरिया से संक्रमित थे। इस दवा के प्रयोग से उन रोगियों का संक्रमण रोकने में आशातीत सफलता मिली। इन प्रयोगों के परिणाम भी एक शोध पत्रिका में सन् 1935 में प्रकाशित हुये। इससे अन्य लोगों को भी इस प्रकार की रासायनिक दवाओं का प्रयोग बैक्टीरिया संक्रमित रोगियों पर करने की प्रेरणा मिली। इसके तुरन्त बाद जार्ज ड्रायन ने पेनिसिलीन पर कुछ नये प्रयोग किये, परन्तु उसमें कोई अपेक्षित सफलता नहीं मिली। अतः उन्होंने ये प्रयोग बंद कर दिये। परन्तु उन्होंने पेनिसिलीनजनक काई को अपनी एक सहकर्मी कु0 कैम्पबेल रेन्टन को दे दिया। कुछ ही दिनों बाद ड्रायर की मृत्यु हो गई पर पेनिसीलियम काई कु0 रेन्टन के पास सुरक्षित रही।

चेन और फ्लोरी का प्रस्तावित विचार यह था कि एक प्रकार के जीवाणुओं का उपयोग, दूसरे प्रकार के जीवाणुओं द्वारा संक्रमित या उत्पादित रोगों के निदान एंव उपचार के लिये किया जा सकता है। उस काल के लिये यह एक क्रांतिकारी विचार था। उनमें से किसी को यह कल्पना नहीं थी कि फ्लेमिंग द्वारा वर्णित तथा ड्रायर एवं कु0 रेन्टन द्वारा संरक्षित पेनिसीलियम इतनी अधिक महत्वपूर्ण दवा सिद्ध होगी। सबसे पहले तो उनके एक सहयोगी मार्टिन जेनिंग्स ने रीड द्वारा 1935 ई0 में प्रकाशित परिणामों की पुष्टि की। नार्मन हीटले, जो सूक्ष्मतकनीकों के विशेषज्ञ थे, उन्होंने किसी सैम्पुल में पेनिसिलीन की मात्रा का मापन तथा पेनिसिलीन की सक्रियता का मानदण्ड निर्धारित किया। किसी रोगी को दवा के रूप में देने के पूर्व यह जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था।

चेन ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि पेनिसिलीन कोई एन्जाइम (जैसा कि उन दिनों लोग समझते थे) न होकर एक सामन्य बहुपरमाणुक अणु था। अतः इसका अस्थायित्व समझ से परे था, क्योंकि अणु सामान्यतः स्थायी होते हैं। चेन ने जल में पेनिसिलीन के घोल को जमाकर एक भूरा चूर्ण जैसा पदार्थ प्राप्त किया जिसका स्थायित्व अधिक था और जो उस समय उपलब्ध सल्फा दवाओं की अपेक्षा संक्रमण दूर करने में 20 गुना अधिक सक्षम था। चूहों को काफी बड़ी खुराक में इस पाउडर की सुई लगाने पर भी उन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। इससे चेन ने अपने परिणामों की जानकारी फ्लोरी को भी दी। फ्लोरी ने स्वतंत्र प्रयोगों द्वारा इस परिणाम की पुष्टि की, साथ ही साथ उन लोगों ने एक और भी महत्वपूर्ण परिणाम यह देखा कि जिन चूहों पर भूरे पाउडर की अधिक मात्रा दी गयी थी उनके मूत्र का रंग भूरा हो गया था। जाँच करने पर यह पाया गया कि इस मूत्र जल में पेनिसिलीन उपस्थित है और उसकी सक्रियता अक्षुण्ण बनी हुई है। इससे यह ज्ञात हुआ कि पेनिसिलीन शरीर के भीतर के सभी अंगों से होकर गुजरती है, अतएव यह शरीर के भीतर किसी भी अंग में हुये संक्रमण के उपचार में उपयोगी हो सकती है। इन परिणामों से चेन और फ्लोरी दोनों ही अत्यंत उत्साहित हुये।

इसके बाद फ्लोरी और उनके सहयोगियों ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयोग किया। इस प्रकार का प्रयोग फ्लेमिंग ने नहीं किया था। उन्होंने आठ चूहों को स्ट्रेप्टोकोकस बैक्टीरिया की भारी खुराकें दीं। इनमें से चार चूहों को इसके साथ ही साथ पेनिसिलीन की भी भिन्न भिन्न मात्रायें दीं। शेष चार चूहों को कोई दवा नहीं दी गई। जिन चूहों को पेनिसिलीन दी गई थी वे तो बच गये, बाकी चारों मर गये। उन लोगों ने इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये कि खुराक कितनी मात्रा में दी जाये कि कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो। अंततः सन् 1940 में ब्रिटिश शोध पत्रिका 'लैन्सेट 'में एक विस्तृत शोध पत्र प्रकाशित किया गया।

सन् 1940 का वर्ष द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के लिये सर्वाधिक खतरे का समय था। फ्रांस में भेजी गई ब्रिटिश फौज किसी प्रकार मुश्किल से वापस आ सकी थी, वह भी बिना अपने साजो सामान के। स्वयं ब्रिटेन पर आक्रमण का संकट मँडरा रहा था। सबसे अधिक चिंतनीय बात तो यह थी कि युद्ध में आहत अधिकांश सैनिक किसी न किसी संक्रमण से पीड़ित होकर कालकवलित होते जा रहे थे, अतः ब्रिटिश सरकार को यह चिन्ता सताने लगी कि आगे की लड़ाइयों के लिये सैन्य बल कैसे इकट्ठा किया जाये। अतः कोई भी दवा जो इस प्रकार के संक्रमण से सैनिकों की प्राण रक्षा कर सके, अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इस चिंता की गंभीरता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि शोधकर्ता फ्लोरी, चेन और जेनिंग्स आदि अपने कपड़ों की निचली पर्तों में पेनिसीलियम नोटेटम की काई का लेप लगाकर घूमते थे कि यदि किसी प्रकार प्रयोगशाला में संरक्षित काई भी नष्ट हो गई तो उसे पुनः उत्पादित किया जा सके।

उस समय यह आवश्यक समझा गया कि पेनिसिलीन का उपयोग मानव रोगियों पर भी किया जाये और यदि सफल रहा तो पेनिसिलीन के उत्पादन में वृद्धि के उपाय किये जायें। पहला प्रयोग एक कैन्सर पीड़ित मरणासन्न रोगी पर किया गया। इससे उस रोगी को कँपकँपाहट सहित ज्वर हो गया। अतः पेनिसिलीन को शुद्ध करने की विधि विकसित की गई। चेन और उनके सहयोगियों ने एक जटिल एवं श्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा एक पीले पाउडर के रूप में शुद्ध पेनिसिलीन प्राप्त किया। साथ ही उत्पादन में वृद्धि के लिये फ्लोरी ने अपनी प्रयोगशाला को रसायन उत्पादन की एक छोटी सी फैक्ट्री में बदल दिया। हीटले ने इस प्रक्रिया में दो महत्वपूर्ण कार्य किया। पहला तो यह कि उन्होंने पेट्री

तश्तरियों में रखे जाने वाले घोल में कुछ परिवर्तन किये ताकि काई का जमाव अच्छा हो। दूसरा यह कि काई को तोड़े बिना ही नीचे का पेनिसिलीन युक्त द्रव निकाल लिया जाये। द्रव–निष्कासन की इस प्रक्रिया को स्वचालित भी बनाया गया ताकि पेनिसिलीन की उत्पादकता बढ़ाई जा सके।

फ्लोरी ने अपने सहयोगियों के सुझाव पर एक ऐसे पुलिस कान्स्टेबुल को पेनिसिलीन की सुई लगाई जो सेप्टीसीमिया से पीड़ित एवं मरणासन्न स्थिति में था। दवा देने के बाद उसकी स्थिति में चमत्कारिक सुधार हुआ। परन्तु इसी बीच सारी पेनिसिलीन समाप्त हो गई और रोगी को बचाया नहीं जा सका। फ्लोरी ने कसम खाई कि जब तक दवा की पर्याप्त मात्रा न हो, इससे चिकित्सा आंरभ नहीं की जानी चाहिये। अतः अब उन्होंने इसका प्रयोग शिशु रोगियों पर करना आरंभ कर दिया। उन्हें कम खुराक देनी पड़ती थी। बच्चों पर किये गये प्रयोगों के परिणाम 1941 में प्रकाशित हुये। फ्लोरी ने अनेक ब्रिटिश दवा कंपनियों को इस दवा का उत्पादन करने के लिये कहा, परन्तु एक को छोड़ किसी भी अन्य कम्पनी ने यह काम स्वीकार नहीं किया। दवा की अधिक मात्रा उपलब्ध होने पर फ्लोरी ने 15 रोगियों पर उसका प्रयोग किया। इस प्रयोग के परिणामों को उस समय पेनिसिलीन की सफ़लता का पर्याय माना गया।

ब्रिटिश दवा कम्पनियों के नकारात्मक रुख को देखते हुये फ्लोरी ने इस दवा के उत्पादन के लिये अमेरिकी कंपनियों को प्रेरित किया। इसके लिये उन्हें कुछ अमेरिकी वैज्ञानिकों का सहयोग लेना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसमें उन्हें सफलता तो मिली पर कुछ विवादों का भी सामना करना पड़ा। चेन ने उनसे पहले ही कहा था कि हमें पेनिसिलीन के उत्पादन की प्रक्रिया को पेटेन्ट करा लेना चाहिये, पर फ्लोरी उससे सहमत नहीं हुये। बाद मे अनेक प्रक्रियाओं का पेटेन्ट अमेरिकी कंपनियों ने करा लिया। चेन को इससे बड़ी निराशा हुई और उन्होंने युद्ध के बाद आक्सफोर्ड छोड़ दिया।

दूसरा विवाद इस बात को लेकर खड़ा हुआ कि पेनिसिलीन की खोज किसने की ? इसका श्रेय किसे मिलना चाहिये ? 1942 के प्रारंभ में सर अल्फ्रेड राइट ने लन्दन के पत्र 'द टाइम्स' के सम्पादक को पत्र लिखा कि पेनिसिलीन की खोज का श्रेय फ्लेमिंग को है। पत्र के सम्पादक के अनुसार यह फ्लोरी को मिलना चाहिये। यह विवाद कुछ दिनों तक चलता रहा। फ्लेमिंग ने स्वयं आकर आक्सफोर्ड की प्रयोगशाला देखी और फ्लोरी से कुछ पेनिसिलीन लेकर अपने एक रोगी की चिकित्सा भी की। उसके बाद फ्लेमिंग ने भी फ्लोरी द्वारा पेनिसिलीन के उत्पादन की वृद्धि के लिये किये गये प्रयासों का समर्थन किया।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं द्वारा सन् 1940 ई0 में प्रकाशित शोधपत्र को पढ़कर अनेक शोधकर्ताओं ने भी पेनिसिलीन पर कार्य प्रारंभ किया था। डॉ0 राबर्ट कागहिल ने गहरे किण्वन की विधि का विकास किया जिसमें पेनिसिलीन बनाने वाली काई नीचे की ओर रहती है और रासायनिक घोल ऊपर रहता है। इस विधि से पेनिसिलीन के उत्पादन में वृद्धि हुई। एक अन्य अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ0 एन्ड्रयू मोयर ने काई उत्पन्न करने वाले घोल में मक्के के आसव तथा लैक्टोज मिलाकर उत्पादकता वृद्धि करने में सफलता पाई। मोयर और हीटले के बीच भी इस कार्य के श्रेय को लेकर कुछ विवाद चला। डॉ0 कागहिल की प्रयोगशाला के एक वैज्ञानिक डॉ0 के.बी. रेपर ने दिखाया कि पेनिसीलियम नोटेटम के स्थान पर एक प्रकार के खरबूज से प्राप्त पेनिसीलियम क्राइसोजेनम के उपयोग से पेनिसिलीन का उत्पादन अधिक होता है। कागहिल ने यह विचार भी व्यक्त किया कि यदि इस काई में विद्यमान जीवाणुओं के जीनों में परिवर्तन कराया जाये तो हो सकता है इसकी उत्पादकता में और भी वृद्धि हो। बाद में कोल्ड स्प्रिंग हार्बर स्थित प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने एक्स–किरणों के उपयोग से ऐसे जीवाणु बनाये जिनके द्वारा पेनिसिलीन के उत्पादन में 10 गुनी वृद्धि हुई।

किन्तु अब पेनिसिलीन प्रतिबन्धित है। क्यों ?

भौतिकी विभाग
विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी - 5

पर्यावरण पर जनसंख्या का दबाव

✍ त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

पर्यावरण से हमारा अभिप्राय हमारे चारों ओर फैली हुई उस वाह्य शक्ति से है जो हमारे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है तथा हमारे क्रियाकलापों व गतिविधियों द्वारा स्वयं प्रभावित भी होती है। यूँ तो किसी व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये बहुत सारे कारक होते हैं परन्तु आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि स्वच्छ पर्यावरण में रहने वाले व्यक्तियों के लिये अपना सर्वांगीण विकास कर पाना सरल है किन्तु यदि वातावरण उपयुक्त न हो तो मनुष्य अपने लिये सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना भी नहीं कर सकता।

हमारे चारों ओर की हवा, पेड़ पौधे, पशु पक्षी, मिट्टी, पानी और सूर्य से हम तक पहुँचने वाला प्रकाश ये सभी हमारे पर्यावरण के घटक हैं जो हमारी गतिविधियों और क्रियाकलापों से प्रभावित होते हैं। ऐसी स्थिति मे बढ़ती हुई जनसंख्या का पर्यावरण पर भीषण दबाव पड़ता है और पर्यावरण प्रदूषण के रूप में हमारे सामने आकर हम सभी के जीवन के लिये गंभीर रूप से खतरा बनता है।

हमारे देश की आबादी एक अरब का आँकड़ा पार कर चुकी है। वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि यदि जनसंख्या वृद्धि की दर यही रही तो आगामी कुछ वर्षों में जनसंख्या की दृष्टि से हम विश्व में सबसे आगे होंगे। आज जबकि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति पर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है, हमारे प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है। अधिक खनिज पदार्थ प्राप्त करने की होड़ में खदानों की अधिक खुदाई तथा निर्माणकार्यों के लिये भूमि की खुदाई बढ़ती जा रही है। इमारती लकड़ी, जलावन और चारे की आपूर्ति के लिये वनों की बड़े पैमाने पर कटाई हो रही है। इसकी वजह से पहाड़ों की मिट्टी का कटाव और बहाव बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप बंजर भूमि का क्षेत्रफल बढ़ता जा रहा है और कृषि योग्य उपजाऊ भूमि सिमटती जा रही है। कम जमीन से अधिक उपज लेने के लिये रासायनिक खादों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। हमारी इन गतिविधियों से हमारा पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। न तो हमें साँस लेने के लिये शुद्ध वायु मिल पा रही है न ही पीने के लिये शुद्ध जल।

बढ़ती हुई आबादी और उसकी आवश्यकताओं की आपूर्ति का आलम यह है कि लगभग सवा करोड़ की आबादी वाले दिल्ली शहर में इस समय लगभग 28 लाख से भी अधिक वाहन सड़कों पर दौड़ते हैं तथा पड़ोसी राज्यों से प्रतिदिन लगभग एक लाख से अधिक मोटर वाहन दिल्ली आते हैं। इन मोटर वाहनों से निकलने वाले धुयें में कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन, कार्बन के कण तथा लेड होता है। औद्योगिक इकाइयों तथा कोयले से चलने वाले पावर स्टेशनों से निकलने वाली गैसें वायुमंडल में पायी जाने वाली गैसों के अनुपात को असंतुलित कर देती हैं। साँस लेने के लिये हमें यही प्रदूषित वायु ही मिलती है और हम स्वच्छ वायु के लिये तरस जाते हैं। सल्फर डाइऑक्साइड तथा नाइट्रोजन के आक्साइडों का वायुमण्डल में आक्सीकरण होता है जो बाद में जल वाष्प के सम्पर्क में आकर अम्लीय वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आता है। अनेक मानवीय गतिविधियों की वजह से वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड तथा 'ग्रीन हाउस प्रभाव' वाली अन्य गैसों की मात्रा लगातार बढ़ रही है। वातावरण में कुछ अन्य गैसों जैसे क्लोरोफ्लोरोकार्बन और हैलोन की बढ़ी हुई मात्रा के कारण समतापीय मण्डल में ओजोन की जीवनरक्षक परत दिन–प्रतिदिन

झीनी होती जा रही है। इस वजह से पृथ्वी पर आने वाली पराबैंगनी किरणों का विकिरण भी बढ़ा है जिसके कारण नेत्र रोग, चर्म रोग तथा त्वचा के कैंसर का प्रकोप, मनुष्य पर अधिक होने लगा है। नवीतनम उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार सन् 1991–92 में देश के 36 प्रमुख शहरों में प्रदूषित वायु के सेवन के कारण 40,000 लोग मौत के शिकार हुये। सन् 1995 में यह संख्या 52,000 तक पहुँच गई। दिल्ली में 5 से 16 वर्ष के 10 से 12 प्रतिशत बच्चे ब्रांकियल अस्थमा की चपेट में हैं। सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप के बाद जबसे दिल्ली में बसों तथा स्कूटरों में सी.एन.जी. का उपयोग होने लगा है तबसे वायुमण्डल में प्रदूषक गैसों की मात्रा में कुछ कमी आई है परन्तु इसके दूरगामी परिणामों को सामने आने में अभी काफी समय लगेगा।

कुआँ, तालाब, झरना तथा नदियों से प्राप्त जल को मनुष्य पीने, कपड़ा और बर्तन धोने तथा कृषि उद्योग और अन्य औद्योगिक इकाइयों में काम में लाता है। बढ़ी हुई आबादी के साथ–साथ पानी की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है, विशेषकर पीने योग्य पानी की। परन्तु आज देश की अधिकांश नदियाँ नगरों, उपनगरों तथा महानगरों के जलमल तथा व्यवसायों से दूषित जल से मिलकर प्रदूषित हो चुकी हैं। आज भी देश के अधिकांश शहरों में गंदे पानी को शुद्ध करने की तथा उसके निकास की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। शुद्ध पेयजल के अभाव में अशुद्ध जल पीने से मनुष्य पीलिया, हैजा, पेचिश और पेट के कीड़ों से पीड़ित होते हैं। सफाई के अभाव में रुके हुये गंदे पानी में मच्छरों के पलने से मलेरिया का पुनः प्रकोप होने लगा है जिससे देश में प्रतिवर्ष लगभग 20 लाख लोग शिकार होते हैं।

बढ़ी हुई जनसंख्या के कारण आज काफी संख्या में लोग महानगरों में फैक्ट्रियों, रेल लाइनों, मुख्य मार्गों और हवाई अड्डों के पास तथा पुनर्वास कालोनियों, अविकसित तथा अमान्यताप्राप्त कालोनियों में रहने के लिये मजबूर हैं। एक कमरे में ढेरों लोग सोते हैं, मल त्याग की समुचित व्यवस्था न होने से वे खुले में मलमूत्र का त्याग करते हैं। इन गतिविधियों से पर्यावरण कितना प्रदूषित होता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

मनुष्य के समग्र विकास तथा स्वयं उसके अस्तित्व के लिये स्वच्छ तथा शुद्ध पर्यावरण का विशेष महत्व है। बढ़ती हुई जनसंख्या सबके लिये स्वच्छ पर्यावरण के अधिकार के मार्ग में एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का सामना करने तथा उस पर विजय प्राप्त करने के लिये जनसंख्या वृद्धि को शून्य स्तर पर लाना अत्यन्त आवश्यक है। यह व्यक्ति, समाज और सरकार के सामूहिक प्रयास से ही संभव होगा।

वैज्ञानिक
रक्षा शरीर एवं सम्बद्ध विज्ञान संस्थान
तिमारपुर, दिल्ली- **110 054**

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल को विद्या वाचस्पति सम्मान

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल को हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 2-3 जून 2001 को देहरादून में सम्पन्न अपने वार्षिक अधिवेशन में, उनकी हिन्दी सेवाओं के लिये विद्या वाचस्पति की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया है। डॉ० अग्रवाल ने यह सम्मान मुख्यमंत्री उत्तरांचल, श्री नित्यानंद स्वामी के हाथों से ग्रहण किया।

बधाइयाँ !

जी.एस.एल.वी : अन्तरिक्ष में बड़ी बाज़ी

✍ राकेश पाठक

जी.एस.एल.वी भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन द्वारा अभी तक शुरू किये गये मिशनों में अत्यन्त प्रौद्योगिकी चुनौती वाला मिशन रहा है और इसके सफल प्रक्षेपण ने हमारी अन्तरिक्ष उपलब्धियों में एक नया आयाम जोड़ा है। जी.एस.एल.वी. के एक बार नियमित रूप से अभिचालित होने के बाद हमें 36,000 किमी0 की ऊँचाई की कक्षा में इन्सैट श्रेणी के संचार उपग्रहों के प्रक्षेपण की क्षमता प्राप्त होगी तथा चन्द्रमा एवं अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में भारत की महत्वाकांक्षी योजनाओं को एक मजबूत आधार मिलेगा।

जी.एस.एल.वी. (जियो सिंक्रोनस सैटेलाइट लाँच वेहिकल) भारत का प्रथम उपग्रह प्रक्षेपण यान है जिसके तीसरे चरण में क्रायोजेनिक इंजन लगाया जाता है। यह यान भारतीय वैज्ञानिकों के पिछले 10 वर्षों के प्रयासों का परिणाम है।

इस यान ने त्रुटि रहित उल्टी गणना के बाद तथा उड़ान के 17 मिनट में उपग्रह को इसकी वांछित कक्षा में सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया। जीसैट–1 उपग्रह से प्राप्त प्रथम संकेतों से उपग्रह के सामान्य कार्य निष्पादन का पता चला है। इस उपग्रह को इसकी अन्तिम भू–स्थायी कक्षा में पहुँचा दिया गया है। यह उपग्रह अंकीय प्रसारण, इन्टरनेट सेवाओं और डिजिटल टी0वी0 सम्प्रेषण के क्षेत्र में परीक्षण आयोजित करने के लिये यन्त्रों को ले गया है।

हमारे देश के लिये 18 अप्रैल का दिन एक बेहद अहम घड़ी थी क्योंकि पहला मौका था जब भारत ने 49 मीटर ऊँचा और 401 टन वजन वाला एक ऐसा रॉकेट भेजा था जो अन्तरिक्ष में 36,000 किमी0 दूर 1.53 टन का उपग्रह स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त करता।

यह रॉकेट भारतीय अंतरिक्ष शोध संस्थान (इसरो) के पहले निर्मित अन्तरिक्ष यानों से अधिक आधुनिक था। शुरू में प्रक्षेपण यान इससे आधे वजन के ही उपग्रहों को अन्तरिक्ष में केवल 1,000 किमी0 की दूरी तक ले जाते थे लेकिन जी.एस.एल.वी. ने इसरो को विश्व के बड़े खिलाड़ियों के साथ खड़ा कर दिया है। इसके सफल प्रक्षेपण से भारत को अमेरिका, चीन, जापान, रूस एवं यूरोपीय अन्तरिक्ष एजेन्सी के क्लब में स्थान मिल गया है, जो भारी उपग्रहों का प्रक्षेपण करने में सक्षम है।

इसमें सन्देह नहीं कि जी.एस.एल.वी. की पहली उड़ान के असामयिक अन्त से भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम को झटका लगा था। यह विफलता कोई अनहोनी बात नहीं है। अगर हम अपने अन्तरिक्ष कार्यक्रमों पर नजर डालें तो हमारे देश को ऐसे कई अनुभव प्राप्त हैं। इस तरह की विफलताओं ने हमारे वैज्ञानिकों को निराश नहीं किया बल्कि उनके लिये चुनौती का कार्य किया है और कुछ समय के अन्तरालों पर ही वे अपनी विफलताओं को सफलताओं में बदल देते हैं।

वर्ष 1979 में एस.एल.वी. 3 की परीक्षण उड़ान कुछ तकनीकी कारणों से विफल हो गयी थी, लेकिन अगले साल ही इसकी तमाम खामियों को दूर करके 18 जुलाई 1980 को इसका दूसरा प्रक्षेपण सफल रहा और उसने रोहिणी को सफलतापूर्वक उसकी कक्षा में स्थापित किया।

अगर हम अपने अन्तरिक्ष कार्यक्रमों पर नजर डालें तो हमें ऐसे कई अनुभव प्राप्त हैं। लेकिन यह अनुभव हमारे वैज्ञानिकों के लिये एक चुनौती बना। वर्ष

1980 में एस.एल.वी. 3 की परीक्षण उड़ान के बाद मई 1981 तथा अप्रैल 1983 में इसकी दो और उड़ानें सफलतापूर्वक क्रियान्वित की जा चुकी हैं।

वैज्ञानिकों के द्वारा एस.एल.वी. 3 की परियोजना के बाद ए.एस.एल.वी. (ऑगमेन्टेड सैटेलाइट लांच वेहिकल) परियोजना हाथ में ली गयी लेकिन मार्च 1987 तथा जुलाई 1988 में इसकी दो परीक्षण उड़ानें विफल रहीं। गहन विश्लेषण के बाद परियोजना में अनेक संशोधन किये गये और अन्ततः 20 मई, 1992 को ए.एस.एल.वी. 3 की उड़ान सफलतापूर्वक क्रियान्वित की गई।

कुछ इसी प्रकार का अनुभव पी.एस.एल.वी. (पोलर सेटेलाइट लाँच वेहिकल) की प्रथम उड़ान के साथ रहा। साफ्टवेयर में तकनीकी खराबी के कारण इसकी प्रस्तावित उड़ान विफल रही किन्तु 15 अक्टूबर 1994 तथा 21 मार्च 1996 को इसकी उड़ानों को सफलता प्राप्त हुई।

श्रीहरिकोटा स्थित शार प्रक्षेपण स्थल से जी. एस.एल.वी. की प्रथम परीक्षण उड़ान की विफलता निःसन्देह दुखद थी परन्तु इसकी विफलता में सफलता की एक किरण वैज्ञानिकों को मिल चुकी थी। वैज्ञानिकों द्वारा मिशन को राकेट के उड़ने से पहले रोक देने से 125 करोड़ रुपये की लागत वाले यान का ज्यादातर भाग सुरक्षित रह गया था।

जी.एस.एल.वी. में चार प्रज्वलन क्रम थे। इन्हीं क्रमों से प्राप्त शक्ति द्वारा यह वाहन, उपग्रह को अन्तरिक्ष में ले जाने में सक्षम हुआ। इसके प्रथम चरण में एक विशाल ठोस ईंधन मोटर और चार द्रव ईंधन मोटरें थीं। इन मोटरों ने 160 सेकेण्ड तक प्रज्वलित होकर प्रक्षेपक को 2.63 किमी0 प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से 73 किमी0 ऊपर अन्तरिक्ष में ले जाने का कार्य किया। उसके बाद इस चरण का कार्य समाप्त हो गया।

इसके दूसरे चरण में द्रव ईंधन मोटर थी जो 5. 18 किमी/सेकेण्ड की गति से प्रक्षेपक को अन्तरिक्ष में 127 किमी ऊपर पहुँचाने का कार्य करके उससे अलग हो गयी। इसके तीसरे चरण में रूस निर्मित अतिशीतल ईंधन वाला क्रायोजेनिक इंजन स्थित था। इस इंजन ने प्रक्षेपक को 10.2 किमी/सेकेण्ड की गति से अन्तरिक्ष में 195 किमी0 ऊपर पहुँचाने का कार्य किया। तीसरे चरण की समाप्ति के बाद उपग्रह अन्तरिक्ष में पहुँच गया। इसकी मोटरें उसे भूस्थिर कक्षा की ओर ले जाकर स्थापित करने वाली हैं।

इस यान के प्रथम परीक्षण में गड़बड़ी :

चारों मोटरों को पहले प्रज्वलित किया गया। प्रज्वलन के 4 सेकेण्ड बाद उन्हें समान मात्रा में शक्ति उत्पन्न करना था लेकिन प्रज्वलन के बाद एस.3 नामक मोटर ने उम्मीद से 10 प्रतिशत कम शक्ति उत्पन्न जैसे ही यह पाया गया तत्काल चारों इंजनों की ईंधन सप्लाई रोक दी गयी और प्रक्षेपण को रद्द कर दिया गया।

वैज्ञानिकों के अनुसार शुरुआती संकेतों से पता चल गया था कि शक्ति उत्पन्न करने वाले चैम्बरों में आक्सीडाइजर के असमान बहाव से उनका कार्य बाधित हुआ है।

इसरो के अध्यक्ष के. कस्तूरीरंगन ने मिशन की विफलता पर कहा था, "समस्या ऐसी नहीं है जो दूर न की जा सके। आज की निराशा कल सफलता दिला सकती है" उनका कथन मात्र तीन सप्ताह में सच साबित होगा, कोई नहीं कह सकता था।

निःसंदेह जी.एस.एल.वी. के कामयाब प्रक्षेपण से भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम ने एक नयी और गौरवपूर्ण ऊँचाई को छू लिया है। इतना ही नहीं इस सफलता के बाद हम अब अन्तरिक्ष बाजार में भी प्रवेश कर चुके हैं और हमारा देश अब अन्य देशों को भी उपग्रह प्रक्षेपण की सुविधा सशुल्क उपलब्ध करा सकेगा।

ई-416, हुडको कालोनी
कमला नेहरू नगर, जोधपुर

बच्चों में मस्तिष्कछाद शोथ (मैनिनजाइटिस)

डॉ० के.पी. कुशवाहा तथा डॉ० योगेश अग्रवाल

मैनिनजाइटिस एक बहुत ही घातक संक्रामक बीमारी है, जिसकी मृत्युदर एवं जटिलतायें अधिक होती हैं। असंक्रामक मैनिनजाइटिस भी हो सकती है परन्तु यह बहुत कम होती है। जिन बच्चों में खून का कैंसर (Leukemia) होता है उनमें प्रायः असंक्रामक मैनिनजाइटिस पायी जाती है। मैनिनजाइटिस जीवाणु, विषाणु, कवक, माइक्रोप्लाज्मा एवं प्रोटोजोआ से हो सकती है जिनमें जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस, विषाणु जन्य मैनिनजाइटिस एवं तपेदिकजन्य मैनिनजाइटिस मुख्य हैं।

नवजात शिशुओं में जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस मुख्य रूप से होती हे जो रक्त संक्रमण (Cepticemia) के साथ होती है। 6 माह से कम उम्र के बच्चों में जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस एवं विषाणुजन्य मैनिनजाइटिस अधिक होती है जबकि 6 माह से अधिक के बच्चों में मैनिनजाइटिस के सभी प्रकार पाये जाते हैं जिनमें तपेदिकजन्य मैनिनजाइटिस सबसे प्रमुख है।

लक्षण :

जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस में बुखार प्रायः कम समय के लिये (3–10 दिन) होता है जबकि तपेदिकजन्य मैनिनजाइटिस में बुखार लम्बे समय (> 2 हफ्ते) तक रहता है।

नवजात शिशु में मैनिनजाइटिस के लक्षण शुरू में कोई खास नहीं होते। दूध न पीना, बुखार, शरीर का तापमान कम होना या अत्यधिक होना, साँस लेने में कठिनाई, पेट का फूल जाना, उल्टी, दस्त, झटके आना, अगली तालू का फूल जाना और बाद में शरीर का नीला पड़ना तथा बेहोश हो जाना मुख्य लक्षण हैं। नवजात शिशु की अनैच्छिक क्रियायें (Neonatal reflex) कम या अनुपस्थित हो सकती हैं एवं त्वचा का रंग भी बदल सकता है। इन बच्चों की रक्त जाँच में श्वेत रक्तकणिकाओं की संख्या कम या ज्यादा, रक्त कोशिकाओं का स्थिरीकरण (ई0एस0आर0) का बढ़ना, रक्तकणिकाओं, न्यूट्रोफिल्स का बैंड रूप में होना और सी रिएक्टिव प्रोटीन का बढ़ना– संक्रमण के द्योतक हैं।

जन्म के एक महीने के बाद बच्चों में उपर्युक्त लक्षण तो होते हैं, परन्तु बुखार के साथ साथ झटके, दूध न पीना, बेचैनी और रोने में विशेष तरह की आवाजें (दर्दनाक रुलाई) अधिक आती है। अगला तालू फूल जाता है और मध्य से थोड़ा हटकर सिर को ठोकने पर खाली बक्से को ठोकने जैसी आवाज आती है जिसे मैसीवेन साइन कहते हैं।

तंत्रिका तंत्र में कुछ कमियाँ जैसे– आँखों का भैंगापन, बहरापन, एक हाथ या पैर का लकवा, दोनों हाथ या पैर का लकवा, हाथ या पैर दोनों का लकवा भी पाया जा सकता है। गरदन, रीढ़ की हड्डी व पैरों को सीधा कर कूल्हे से मोड़ने पर कड़ापन, और गरदन मोड़ने पर पैरों का स्वतः मुड़ना जैसे लक्षण प्रायः कम देखने को मिलते हैं। शरीर एवं हाथ पैरों में अकड़न प्रायः इलाज के अभाव में ही देखने को मिलती है।

साँस लेने में कठिनाई हो सकती है, दिल की धड़कन कम हो सकती है और नाखून द्वारा त्वचा पर खुरचने पर लाल रंग की रेखा उभर आती है जो कि टेकी सेरिब्रल कहलाती है हालांकि ये सब मैनिनजाइटिस के विशेष लक्षण नहीं हैं। एक साल के बाद मैनिनजाइटिस में बुखार, उल्टी, खिलौनों से खेलने में अरुचि, चिड़चिड़ापन, धूप से चौंधियाना, सिर दर्द, बेहोशी, मुँह, आँख व गले का लकवा व हाथ–पैरों की कमजोरी, दिल की धड़कन कम होना, अनियमित साँस लेना जैसे प्रमुख लक्षण हैं। इन बच्चों में मैनिनजाइटिस के लक्षण जैसे गरदन व रीढ़ की अकड़न प्रायः मौजूद होते हैं। ड्यूरा छाद के भीतर द्रव का जमा हो जाना और मस्तिष्क के अन्दर के

वेन्ट्रिकलों में सूजन कभी–कभी मैनिनजाइटिस को जटिल कर देते हैं, जिनके कारण इलाज का असर अच्छा नहीं होता है। मैनिनजाइटिस से मन्दबुद्धि, बहरापन, गूँगापन, अंधापन, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, स्वाभाविक बीमारियाँ, लकवा, मस्तिष्क में अधिक द्रव का होना और सिर का बड़ा हो जाना एवं मोटापा हो सकते हैं।

रोग की पहचान :

मैनिनजाइटिस की पहचान के लिये विसंक्रमित तरीके से रीढ़ की हड्डी के अन्दर का द्रव सी एस एफ निकाल कर तुरन्त जाँच की जानी चाहिये। चूँकि मैनिनजाइटिस में सिर के अन्दर दबाव अधिक होता है अतः रीढ़ की हड्डी का पानी सी एस एफ निकालने से पहले आँखों की जाँच करते हैं जिससे नेत्र तंत्रिका के ऊपर सूजन (Pepilioderma) की संभावना को नकारा जा सके। सिर के दबाव को कम करने के लिये रीढ़ की हड्डी का पानी सी एस एफ निकालने पर पहले मैनिटाल धीरे–धीरे नसों मे आधे घंटे में देते हैं। इस सेरोब्रो स्पाइनल द्रव सी एस एफ को तुरन्त जाँच के लिये भेज देते हैं और यदि यह सी एस एफ धुँधला सफेद होता है तो तुरन्त एण्टीबायोटिक दवायें शुरू कर देते हैं। जीवाणु पर एण्टीबायोटिक दवा की प्रभाव सम्बन्धी रिपोर्ट मिलने के बाद दवा पर पुनः विचार करते हैं।

जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस में इस द्रव में शुगर की मात्रा काफी कम हो जाती है, प्रोटीन बढ़ जाती है, क्लोराइड कम हो जाता है तथा कोशिकायें बढ़ जाती हैं। सी एस एफ का कल्चर करने पर रोगकारक जीवाणु का पता लग जाता है। कभी–कभी जीवाणुओं के लिये ईलाइसा नामक परीक्षण की भी आवश्यकता पड़ती है।

विषाणुओं एवं तपेदिक के जीवाणुओं से होने वाली मैनिनजाइटिस में सी एस एफ साफ होता है। गलसुआ के अतिरिक्त अन्य विषाणुजन्य मैनिनजाइटिस में सी एस एफ शुगर का स्तर सामान्य होता है, प्रोटीन थोड़ा व बढ़ा हुआ होता है जबकि तपेदिक के जीवाणु से होने वाली मैनिनजाइटिस में शुगर कम व प्रोटीन अधिक होती है और प्रारम्भिक हफ्तों के बाद लिम्फोसाइट नामक कोशिकायें बहुत अधिक होती हैं। विषाणुजन्य मैनिनजाइटिस में भी कोशिकाओं की संख्या बढ़ी होती है जिसमें भी मुख्यतः लिम्फोसाइट ही होते हैं।

उपचार :

जीवाणुजनित मैनिनजाइटिस के उपचार में नसों में एण्टीबायोटिक दवायें (सिफोटैक्सिम, सिफलाक्सिन, क्लोरोमफेनिकाल, एम्पीसिलीन, क्लाक्सासिलीन, जैन्टामायसिन, एमिकासिन आदि) कम से कम 10 दिन अथवा बुखार ठीक होने के तीन दिन बाद तक दिये जाते हैं। हिमोफिलस इन्फ्लूएन्जी द्वारा उत्पन्न रोग में बहरेपन को रोकने के लिये प्रारम्भिक 3–4 दिन स्टेराइड्स देना लाभदायक है। तपेदिकजन्य मैनिनजाइटिस में क्षय रोग की चार दवायें (आइसोनेक्स, रिफेम्पिसिन, पाइरिजिनामाइड व इथैम्ब्यूटॉल) प्रथम 2 माह तक एवं दो दवायें (आइसोनेक्स व रिफेम्पिसिन) 7–10 माह तक दी जाती हैं। तपेदिकजन्य मैनिनजाइटिस में स्टेराइड्स देने से मृत्युदर तो कम हो जाती है लेकिन जटिलता बढ़ जाती हे। विषाणुजन्य मैनिनजाइटिस का उपचार लक्षणों के आधार पर होता है। सामान्य तौर पर सभी प्रकार की मैनिनजाइटिस में दर्द और बुखार के लिये पैरासीटामॉल, सिर के बढ़े दबाव के लिये मैनिटाल, उपयुक्त देखभाल और नसों द्वारा तरल व द्रव व लवण, उपयुक्त खानपान, झटके रोकने के लिये फेनिटायन या फिनोवारबीटोन या डायजीपाम, हाइड्रोसिफैलस के लिये डायमाक्स या आपरेशन (V.P. Shunt) किया जाता है।

यदि मरीज को समय रहते उचित उपचार मिले तो ठीक होने की सम्भावना अधिक होती है। निदान और उपचार में देरी से जटिलता एवं मृत्यु की संभावना बढ़ जाती है।

📖 एसोसियेट प्रोफेसर, बाल रोग तथा
एम.डी. (पीडिया०)
बी०आर०डी० मेडिकल कालेज
गोरखपुर

मलेरिया पर विजय पाने वाले विज्ञानी : सर रोनाल्ड रॉस

✍ डॉ० रजनी कान्त

वर्ष 1897 के अगस्त माह का 20वां दिन। भारत के दक्षिण में स्थित सिकन्दराबाद शहर। मानो उस दिन वहाँ एक छोटी सी प्रयोगशाला में एक नये इतिहास का सृजन हुआ, और इस इतिहास के रचनाकार थे भारतीय सेना के सर्जन मेजर सर रोनाल्ड रॉस। मानव त्रासदी के भयंकरतम रोगों में एक तथा विशाल आर्थिक क्षति एवं अनेकों मृत्युओं के लिये जिम्मेदार मलेरिया रोग, जिसका संचरण आज तक रहस्य बना हुआ था, उसका पटाक्षेप तब हुआ जब हुसैन खान नामक व्यक्ति का रक्तपान किये एनॉफिलीज मच्छर के विच्छेदन एवं सूक्ष्म निरीक्षण करते वक्त सर रोनाल्ड रॉस को मच्छर के आमाशय की बाहरी भित्ति पर कुछ अद्भुत रचनायें दिखाई दीं, जो मलेरिया परजीवी की अवस्थायें थीं और उस दिन मलेरिया के संचरण के बारे में रॉस की परिकल्पना साकार हुई तथा इसके वाहक के रूप में एनॉफिलीज मच्छरों की भूमिका का पता लगा। इस तरह इतिहास के कालखण्ड में एक युगांतरकारी खोज स्वर्णिम अक्षरों मे अंकित हो गई।

हालांकि वर्ष 1880 में फ्रांस के वैज्ञानिक चार्ल्स लुई एलफेन्सों लेवरॉन द्वारा मलेरिया परजीवी प्लाज़्मोडियम का पता लगाया जा चुका था किन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाया था कि यह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में कैसे पहुँच जाता है। लंदन में सर पेट्रिक मेन्सन फाइलेरिया रोग के संचरण में मच्छरों की भूमिका को पहले ही स्पष्ट कर चुके थे तथा मलेरिया संचरण में मच्छरों की भूमिका पर कार्य करने के लिये उन्होंने ही रोनाल्ड रॉस को प्रेरित किया।

भारत में कुमायूँ की पहाड़ियों में स्थित अल्मोड़ा में 13 मई 1857 को भारत में तैनात ब्रिटिश पैदल सेना के अधिकारी मेजर जनरल कैम्बेल क्ले ग्रान्ट रॉस के घर रोनाल्ड रॉस का जन्म हुआ। उनके दस बच्चों में वे सबसे बड़े थे। आठ वर्ष की आयु में उन्हें पढ़ने के लिये इंगलैण्ड भेज दिया गया। उन्होंने सेन्ट बार्थोलोम्यु में चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की और 1881 में भारत वापस लौटकर भारतीय चिकित्सा सेवा में सम्मिलित हो गये। उनकी नियुक्ति मद्रास में एक अस्पताल में हो गई। जूनियर मेडिकल आफिसर होने के नाते उनकी जिम्मेदारियाँ कम थीं। उन्होंने अपना काफी समय पढ़ने, लिखने, गणित तथा अपनी पसन्द के अन्य विषयों में लगाया। उन्होंने कवितायें, उपन्यास, कवियों/लेखकों का अध्ययन किया। बाद में उनको बंगलौर स्थित 10वीं मद्रास इन्फैन्ट्री पर अस्थाई चिकित्सकीय कार्य हेतु नियुक्त किया गया। 1888 में वह पहली बार छुट्टी लेकर इंग्लैण्ड गये जहाँ उन्होंने पब्लिक हेल्थ में नया डिप्लोमा प्राप्त किया। 1889 में वे रोज़ा बेसी के साथ विवाह बंधन में बँधकर एक वर्ष पश्चात् भारत वापस आ गये। बर्मा में प्रारम्भिक सेवाकार्य के पश्चात् 6 महीने बाद मद्रास वापस आ गये तथा उनकी नियुक्ति बंगलौर में स्टाफ सर्जन के रूप में हो गई। यहाँ उनका ध्यान मलेरिया की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि इस क्षेत्र में अधिकांश ज्वर के रोगी मलेरिया से ग्रस्त थे। भारतीय सेना में 3,00,000 पुरुषों में से एक तिहाई व्यक्ति मलेरिया के कारण प्रतिवर्ष अस्पताल में भर्ती होते थे। वास्तव में मच्छरों के नियंत्रण मे उनका पहला प्रयोग भी यहीं पर हुआ जब उन्होंने वहाँ मच्छरों के डिंभको वाले पानी के टब को उलट दिया था। लेवरॉन की खोज को ध्यान में रखकर उन्होंने रक्त का परीक्षण किया किन्तु सूक्ष्मदर्शी में परजीवी को नहीं देख पाये।

बंगलौर में 3 वर्ष तक रहने के पश्चात् तथा कुन्नूर में 3 महीने छुट्टियाँ व्यतीत करने के बाद उनकी नियुक्ति अस्थाई तौर पर बीसवीं मद्रास इन्फैन्ट्री तथा फिर स्थाई तौर पर 19वीं मद्रास इन्फैन्ट्री में मेडिकल

आफिसर के रूप में हो गई। लेवरॉन के मलेरिया परजीवी की खोज जारी रही। एक वर्ष पश्चात् उन्हें घर जाने की छुट्टी मिल गई तथा 1894 में वह वापस इंग्लैण्ड आ गये। यहाँ इनकी मुलाकात सर पेट्रिक मेन्सन से हुई। उन्होंने रॉस को प्लाज़्मोडियम परजीवी को स्टेन की हुई रक्त की फिल्म में दिखाया और उसके बाद रोगी से गये रक्त के नमूने में भी। मेन्सन पहले ही फाइलेरिया रोग में मच्छरों की भूमिका स्पष्ट कर चुके थे तथा रॉस के साथ संभावना व्यक्त की थी कि मलेरिया के वाहक भी मच्छर हो सकते हैं। इन दो महान व्यक्तियों का मिलन उष्णकटिबंधीय चिकित्सा की सबसे रोमांचक घटना थी।

रोनाल्ड रॉस मेन्सन द्वारा दी गई प्रेरणा के साथ मार्च 1895 में भारत वापस आ गये। उनको भारत में मलेरिया तथा मच्छरों पर कोई भी साहित्य उपलब्ध नहीं था। उन्हें मच्छरों की संरचना, शारीरिक क्रिया एवं वर्गिकी का कोई ज्ञान नहीं था तथा यह भी पता नहीं था कि कौन से मच्छर पर संभावना व्यक्त की जा सकती है। सिकन्दराबाद में ड्यूटी शुरू करने के पहले वे दो दिनों तक बम्बई के सिविल अस्पताल में मलेरिया के परजीवी की तलाश में लगे रहे। उन्होंने एक सूक्ष्मदर्शी का डिजाइन भी किया। वे प्रयोग करते रहते थे। उन्होंने ज्वर के रोगियों का परीक्षण किया किन्तु मलेरिया परजीवी नहीं देख पाये। उन्होंने जिस पानी में मच्छर मर गये थे अथवा जहाँ उनके डिंभक पनप रहे थे उसको लोगों को पिलाकर संक्रमित भी करना चाहा। संयोगवश उनके एक नौकर को पानी पीने के 11 दिन बाद बुखार हो गया किन्तु अपने प्रयासों के बावजूद रॉस उसके रक्त में परजीवी नहीं देख पाये।

सितम्बर 1895 में उनका स्थानान्तरण बंगलौर हो गया जहाँ उनकी ड्यूटी हैजा की महामारी पर नियंत्रण के लिये हुई। हैजा नियंत्रण में उन्हें 5 सप्ताह लग गये अतः उन्हें मलेरिया पर अपने कार्य को रोकना पड़ा, यद्यपि मलेरिया रोगियों की खोज के लिये उनकी तलाश जारी रही। बार–बार स्थानान्तरण एवं कार्य तथा जगह परिवर्तन के कारण दूसरा कोई व्यक्ति शायद होता तो यह कार्य छोड़ देता किन्तु उनका दृढ़ निश्चय, अटूट लगन, जिज्ञासा तथा कठोर श्रम का ही परिणाम था कि जब भी कार्य से समय मिलता वे अपना कार्य करते तथा मेन्सन को इसके विषय में सूचित करते रहते थे।

बंगलौर में उनकी ड्यूटी मार्च 1897 में समाप्त हो गई तथा बेगमपट, सिकन्दराबाद पर अपनी सामान्य ड्यूटी शुरू करने से पहले वे छुट्टी पर नीलगिरि की पहाड़ियों में ऊटकमण्ड चले गये जहाँ पहली बार उन्हें एनॉफिलीज मच्छर देखने को मिला। वास्तव में उनको कीट विज्ञान तक कोई पहुँच नहीं थी और न ही उनको यह ज्ञान था कि मच्छर कुल में क्युलेक्स, एडाइन तथा एनॉफिलाइन्स होते हैं। उनकी छुट्टी जून 1897 में समाप्त हो गई। वे सिकन्दराबाद रेजीमेन्ट पर वापस आ गये तथा अपना कार्य जारी रखा किन्तु उनको केवल क्युलेक्स मच्छर ही उपलब्ध थे जिनके नकारात्मक परिणाम ही मिले। उन्होंने तीन व्यक्तियों को मच्छर लाने के लिये रखा था तथा स्वयं सूक्ष्मदर्शी पर लगे रहते थे। वे स्वस्थ मच्छरों को मलेरियाग्रस्त रोगी से रक्तपान कराकर उनको कुछ दिनों के लिये छोड़ देते थे तथा यह देखते थे कि क्या परजीवी उनके अन्दर हैं। अगस्त के मध्य में उनका सहायक अलग तरह के अण्डे लेकर आया जो पहले से अलग थे। इनके डिंभकों से भूरे रंग के धब्बे वाले मच्छर विकसित हुये जिनको उन्होंने डेपलबिंग मॉस्कीटो (संभवतः एनॉफिलीज स्टीफेन्साई) कहा। रॉस ने उन्हें हुसैन खान नामक व्यक्ति का रक्तपान कराया जिसमें मलेरिया परजीवी के क्रीसेन्ट मौजूद थे। दुर्भाग्य से उनके सहायकों को इस तरह के और अण्डे

> यह सत्य है कि मलेरिया रोग की रोकथाम में पैसा खर्च होता है मगर यह बीमारी स्वयं खर्चीली और हानियों का मूल स्रोत है। इसलिये इसको रोकने में यदि उतना ही खर्च हो जितना कि यह नुकसान करता है-यद्यपि ऐसा होता नहीं है तो भी इसका नियंत्रण लाभप्रद है।
>
> **– रोनाल्ड रॉस**

नहीं मिल पाये। 17 अगस्त को विच्छेदन करने पर उन्हें कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिला। 20 अगस्त को जब उन्होंने मच्छरों का विच्छेदन किया तो उन्हें मच्छरों के आमाशय की कोशिकाओं से अलग तरह की कोशिकायें देखने को मिलीं जिनमें से प्रत्येक में रक्त में क्रीसेन्ट में मौजूद वर्णक कणों की तरह के काले दाने मौजूद थे। परन्तु ये मच्छरों के आमाशय की भित्ति तक कैसे पहुँच गये यह सोचकर उन्होंने चित्र बनाया तथ सोचा शायद यह परजीवी द्वारा पचाये गये हीमोग्लोबिन के अवशेष हों। अगर ये मलेरिया परजीवी की कोशिकायें हैं तो वे वृद्धि कर रही होंगी। उनके पास एक मच्छर बचा था, पांचवें (अगले) दिन उन्होंने इसका विच्छेदन किया तथा उन्हें वैसी ही कोशिकायें देखने को मिलीं जो आकार में बड़ी थीं। रॉस को पता लगा कि उनके अथक प्रयासों का परिणाम प्राप्त हो गया है तथा इस प्रकार एक अद्भुत रहस्य का पटाक्षेप हुआ।

उन्होंने अपने इस कार्य को 18 दिसम्बर 1897 को 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल' में प्रकाशित किया। अपनी इस खोज के दो दिन पश्चात् उन्होंने अपनी पत्नी को एक कविता लिख भेजी that he had found " thy cunning seeds, o million murdering Death."

उनकी इस महान खोज के एक महीने बाद ही 23 सितम्बर को उनको मिलेट्री ड्यूटी के लिये बम्बई ट्रांसफर कर दिया गया। उनकी इस महत्वपूर्ण उपलब्धि को नज़रअंदाज़ एवं उनके आग्रह के बावजूद उनको खेरवारा, राजपूताना भेज दिया गया जहाँ बहुत कम ही मलेरिया था। उन्होंने अधिक प्रयास किये तथा कई कीट जातियों का विच्छेदन किया। इसी दौरान जनवरी 1898 में उन्हें मलेरिया तथा कालाजार पर अध्ययन के लिये कलकत्ता भेज दिया गया। यहाँ पर भी मलेरिया के रोगी बहुत कम ही थे अतः 'पक्षियों के मलेरिया संक्रमण की तरफ कार्य करने लगे। अपने प्रारम्भिक अनुसंधान के दौरान रॉस ने देखा कि मच्छर हर दंश के साथ लार (सलाइवा) प्रवेश करा देते हैं।

पक्षियों के मलेरिया पर कार्य करते समय उन्होंने उनमें मलेरिया फैलाने वाले मलेरिया परजीवी प्रोटीओसोमा को मच्छरों की लार ग्रंथि में देखा तथा इस बात की पुष्टि की कि हर बार जब मच्छर पक्षियों को काटते हैं तो परजीवी मच्छर के आमाशय से लार ग्रंथि में आकर लार के साथ पक्षियों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार मलेरिया संचरण की पूरी प्रक्रिया स्पष्ट हुई।

28 जुलाई 1898 को मेन्सन ने रॉस के परिणामों को 'ब्रिटिश मेडिकल एसोसियेशन' की एडिनबरा में सम्पन्न बैठक में घोषित किया। इस प्रकार मलेरिया परजीवी के पूरे चक्र का पता लगा तथा इस बात की पुष्टि हुई कि मलेरिया एक संक्रामक रोग है जो मच्छरों द्वारा मानव में संचरित होता है।

> मलेरिया का इतिहास मानवता को यह पाठ पढ़ाता है कि हमें अपनी चिंतन पद्धति में अधिक वैज्ञानिक एवं अपने प्रशासन में और भी अधिक व्यावहारिक होना चाहिये।
>
> **– रोनाल्ड रॉस**

फरवरी 1899 में लिवरपूल स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन के आग्रह पर रॉस भारत छोड़कर वहाँ चले गये तथा लेक्चरर के पद पर (बाद में प्रोफेसर 1902–1912) नियुक्त हो गये। जुलाई 1899 में वे भारतीय चिकित्सा सेवा से सेवानिवृत्त हो गये। रानाल्ड रॉस न केवल एक अनुशासित सैनिक थे बल्कि उनके व्यक्तित्व के कई और भी पहलू थे। वे उपन्यासकार, नाटककार, कवि, संगीतज्ञ, खिलाड़ी और सबसे बढ़कर एक जिज्ञासु वैज्ञानिक थे। उनकी इस ऐतिहासिक उपलब्धि के लिये उन्हें वर्ष 1902 में मेडिसिन में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। नोबल पुरस्कार पाने वाले वे विश्व के पहले सैनिक अधिकारी थे।

रॉस ने मलेरिया पर तमाम लेख तथा पुस्तकें लिखीं जिसमें प्रिवेन्शन ऑफ मलेरिया (1910) शामिल है। गणित में अभिरुचि के कारण उन्होंने संचारी रोगों के गणितीय और जानपदिकरोग विज्ञानी मॉडल की नींव रखी। उन्होंने 'पीरियोडिकल साइन्स प्रोग्रेस' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया। 1914 से लेकर 1918 तक विश्व युद्ध के दौरान वे युद्ध कार्यालय में परामर्शक के रूप में

शेष पृष्ठ 28 पर

जीनियस कौन ?

✍ डॉ० शिवगोपाल मिश्र

हमारे देश में कुछ विचित्र मेधा वाले बालकों तथा व्यक्तियों का उल्लेख होता रहा है। कतिपय महापुरुषों के भी नाम लिये जाते रहे हैं– यथा गणितज्ञ रामानुजम्, महान दार्शनिक शंकर आदि। प्रायः प्रशंसात्मक स्वर में हम किसी भी लेखक, कवि, विज्ञानी तथा नेता को मेधावी या प्रतिभाशाली या जीनियस कह बैठते हैं। किन्तु यदि 'जीनियस' शब्द का सही–सही प्रयोग किया जाना है तो उसके विषय में स्वीकृत मानदण्डों का विवेचन आवश्यक है।

अंग्रेजी में जीनियस (Genius), प्रोडिज़ी (Prodigee) तथा टेलेन्टेड (Talented) ये तीन शब्द हैं जिनके अर्थों को स्पष्ट करने के लिये विजर्ड (Wizard), मैजीशियन (Magician) जैसे शब्दों का सहारा लिया जाता है। कोशों में इनके अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं।

1. जीनियस : (अ) प्रतिभावान व्यक्ति, प्रेत, जिन्न
   (आ) रचनात्मकता, कल्पना, प्रवणता, नैसर्गिक निपुणता।
   (इ) मेधा या प्रतिभा।
2. प्रोडिजी : विदग्ध या असामान्य प्रतिभा से युक्त व्यक्ति, अद्भुत प्राणी।
3. टैलेन्टेड : विशेष मानसिक योग्यता वाला, प्रतिभावान

इनमें से 'जीनियस' काफी व्यापक है– इसमें रचनात्मकता तथा प्रतिभा प्रदर्शन के लिये गुंजाइश है।

अमेरिका में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में 'जीनियस' शब्द को लेकर वैज्ञानिकों में काफी मतभेद था। 1953 में जब आइन्स्टीन की मृत्यु हुई तो हार्वे ने उनके मस्तिष्क को एक जार में इस उद्देश्य से सुरक्षित रखा कि उसके विश्लेषण से शायद 'जीनियस' के किसी विशेष गुण का पता चल सके। तब आम धारणा यही थी कि जिसका जितना ही बड़ा मस्तिष्क होगा वह उतना ही बुद्धिमान तथा मेधावी होगा। दुर्भाग्यवश आंइस्टीन के मस्तिष्क का भार 2.66 पौंड निकला जो मध्यम कोटि का था।

मस्तिष्क के आधार पर काले गोरे का भेद या जर्मन फ्रेंच श्रेष्ठता का निपटारा व्यर्थ का वितंडा था। लोग जानना चाहते थे कि आइंस्टीन के पूर्व नील्स बोह्र, डिरैक, फर्मी, फ्रायड, पिकासो, वूल्फ, डंकन के मस्तिष्कों की चीड़फाड़ क्यों नहीं की गई ? महान गतिणज्ञ कार्ल, फ्रेडरिक गॉस के मस्तिष्क से भी उनके पाण्डित्य का अनुमान क्यों नहीं लगाया गया ? अतः मस्तिष्क के आकार के आधार पर 'जीनियस' का निर्णय नहीं हो सकता। यदि आइंस्टीन 'जीनियस' थे, तो वही एक थे– वे बौद्धिक शक्ति की साकार मूर्ति थे।

आज से 250 वर्ष पूर्व विलियम डफ़ ने एक निबन्ध में होमर, क्विन्टीलियन तथा माइकल एंजेलो को जीनियस की संज्ञा प्रदान की। इसके पूर्व अंग्रेजी में यह शब्द प्रेत तथा जिन्न का सूचक था। डफ ने बलपूर्वक कहा कि जिसमें ईजाद करने की दैवी शक्ति हो, जिसमें सृजन की शक्ति हो, जिसमें अभूतपूर्व शक्ति का प्राकाट्य हो, उसे ही जीनियस कहा जाये।

1774 में अलेक्जैंडर गिरार्ड ने लिखा कि काव्य की व्यापकता की दृष्टि से मिल्टन, शेक्सपियर से श्रेष्ठ हैं। इसी तरह होमर तथा वर्जिल की तुलना की जाने लगी। न्यूटन और बेकन को भी एक ही काँटे पर तौलने के प्रयास हुये। गिरार्ड ने फिर भी यह संशय बनाये रखा कि किन्हीं दो व्यक्तियों में से सर्वाधिक जीनियस किसमें है ?

भला कोई यह कैसे कह सकता है कि केवल संयोगवश किसी जीनियस को कोई प्रेरणा मिली। इसके लिये प्रातः स्नान करते समय आर्किमिडीज को तथा सेब गिरता देखकर न्यूटन को जो प्रेरणा मिली उसका उल्लेख किया जाता है।

कुछ लोग सोच सकते हैं कि यदि एडिसन न

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1902 में प्रतिभा (Genius) पर एक बहुत लम्बा लेख लिखा जो उनकी पुस्तक 'विज्ञान वार्ता' (1930, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ) में पृष्ठ 9 से 27 पर्यन्त संग्रहीत है।

- सम्पादक

"भारत के रुद्र नामक प्राचीन पण्डित ने प्रतिभा का जो लक्षण बताया है वह यह है - प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभामता- जिस बुद्धि अथवा जिस शक्ति के द्वारा मनुष्य को नये नये विचार सूझते है उसका नाम प्रतिभा है।

हमारे देश में विद्वानों ने प्रतिभा शक्ति की प्राप्ति प्रायः कवियों के विषय में ही कही है परन्तु इस प्रकार का कथन युक्ति गर्भित प्रतीत नहीं होता। प्रतिभा एक शक्ति विशेष का नाम है। उसके पाने के अधिकारी केवल कवि नहीं हो सकते। दार्शनिक, अलंकारिक, चिकित्सक, गणितवेत्ता और ज्योतिर्विद इत्यादि सभी शास्त्रों और विषयों के जानने वाले उसे पा सकते हैं और उसके बल पर नये नये आविष्कारों और विचारों की उत्पत्ति करके अक्षय कीर्ति सम्पादन कर सकते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं कि केवल कवि ही प्रतिभावान होते हैं।

प्रतिभा मनुष्य के अधःपात का चिन्ह है.... योरप के विद्वानों ने अनेक कालपर्यन्त, अनेक खोज और परीक्षायें करके यह वात सिद्ध कर दी कि प्रतिभा का होना एक प्रकार का रोग है (मनोविकार) वह उस प्रकार के रोगों में है जिस प्रकार के उन्माद (विक्षिप्तता, पागलपन) और अपस्कार (मिर्गी) आदि रोग होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सारे प्रतिभाशाली पुरुष कुछ विशेष प्रकार के पागल होते हैं। प्रतिभाशाली होना मनुष्यत्व की नियत सीमा के नीचे आना है। प्रतिभा के स्फुरित होने पर वह आपे में नहीं रहता। आविर्भाव करना प्रतिभा का स्वभाव है। वह आविर्भाव रूप कार्य किये बिना रह ही नहीं सकती। इस प्रतिभा के विकास में जो आनन्द मिलता है वह वर्णनातीत है। जिस समय प्रतिभा का विकास होता है उस समय वे अपने अस्तित्व को भूल जाते हैं। उनकी दशा पिशाचग्रस्त मनुष्य की सी हो जाती है। प्रतिभावान भी एक प्रकार के विक्षिप्त ही हैं। योरप में इस प्रकार के कई प्रतिभाशाली हुये हैं जिन्होंने अनेक जघन्य कार्य किये हैं यहाँ तक कि अपनी धर्मपत्नियों को बुरी तरह मारा है, उन्हें छोड़ दिया और उनको जान से मार तक भी डाला है।

विक्षिप्त प्रायः घमण्डी होते हैं। प्रतिभावानों की भी यही दशा होती है। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ नहीं समझते।

जिस तरह गरमी के शुरू में विक्षिप्तों की विक्षिप्तता सहसा प्रबल हो उठती है वैसे ही प्रतिभा भी उस समय विशेष रूप से विकसित होती है अर्थात् बसन्त ऋतु में प्रतिभा को अधिक उत्तेजना मिलती है। अप्रैल और मई में सबसे अधिक आविष्कारों की सृष्टि हुई। बसन्त ही में उन्माद रोग भी लोगों को सबसे अधिक होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बहुत कम प्रतिभा देखी जाती है। प्रतिभाशाली पिता का पुत्र भी कभी कभी प्रतिभाशाली होता है। नगरों की अपेक्षा ग्रामों का जलवायु प्रतिभा को अधिक उत्तेजित करता है। अनेक प्रसिद्ध प्रतिभाशाली पुरुष ग्राम से ही उत्पन्न हुये।

साक्रेटीज तथा न्यूटन जैसे प्रतिष्ठित तत्वदर्शी और विज्ञानी पुरुषों के चरित्र में भी विद्वानों ने विक्षिप्तता का पता लगाया है। यूरोप के अनेक प्रतिभाशाली पुरुष थोड़े बहुत विक्षिप्त थे- सौदी, कूपर, कालिंस, हैमिल्टन आदि यूरोप के अनेक विद्वान मद्यप हो गये हैं यथा- हाफमैन, एडिसन, लैम्ब, टामसन आदि।

हुआ होता, यदि हाइजेनबर्ग या आइंस्टीन ने सापेक्षता का नियम न खोजा होता तो यह संसार कैसा होता ? नोबल पुरस्कार विजेता फाइनमैन नामक भौतिकीविद ने जिन्हें उनके समकालीन लोग हँसोड़ अधिक वैज्ञानिक कम मानते थे, स्पष्ट लिखा है कि आवश्यकतानुसार जीनियस होते रहते हैं और विज्ञान का सृजन होता रहता है। इसमें कौन किससे अधिक चुस्त (Smart) है, इस पर विचार करना व्यर्थ है। स्पष्ट है कि जीनियस शब्द का प्रयोग प्रयोक्ता के विवेक पर निर्भर करता है। किसी प्रतिभाशाली या मेधावी व्यक्ति में मेधा जन्मजात है या नहीं, यह भी विवादास्पद है। यदि समुचित परिवेश प्राप्त न हो तो प्रतिभा का स्फुटन असम्भव है।

जिस प्रश्न को अध्यापक बारम्बार लिख कर हल नहीं कर पाता यदि उसे कोई झट से हल कर डाले तो इसके लिये यही कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर जादूगरी होगी– भले ही दर्शकों को न दिख पाती हो कि उसने किस तरह ऐसा किया– यह रहस्य बना रहता है। यदि कुछ प्रसिद्ध भौतिकीविदों तथा गणितज्ञों की दृष्टि में जादूगर जीनियस होते हैं तो इसका कारण नितान्त मनोवैज्ञानिक है। उदाहरणार्थ फाइनमैन एक जादूगर जीनियस थे। 1960 में केलटेक में आयोजित एक सेमिनार में खगोलविद् विली फाउलर ने सुझाव रखा कि क्वासर विशालकाय तारे हैं। इस पर फाइनमैन ने उठकर झट से कहा, ऐसे पिंड गुरुत्व की दृष्टि से अस्थायी होंगे। फाउलर ने सोचा कि फाइनमैन ने अवश्य ही वाक्चातुरी दिखाई होगी। किन्तु बाद में पता चला कि फाइनमैन ने बहुत पहले इस विषय पर अपनी नोटबुक में अनेक गणनायें कर रखी थीं।

जिस व्यक्ति के पास अलिखित ज्ञान का रहस्यमय भंडार हो वही जादूगर (Wizard) है। न्यूटन को जादूगर इसलिये कहा गया कि उसने विश्व के रहस्य को शुद्ध विचार द्वारा सुलझाया। उसने ब्रह्माण्ड की पहेली बूझ ली थी। इसी कल्पनाशक्ति से उसने ईश्वर तथा भविष्य की घटनाओं को भी पढ़ा था।

1891 में सेसारे लोम्बोसो ने जीनियस के कई लक्षणों का उल्लेख किया जिसमें बायें हाथ से काम करने की क्षमता तथा रिकेट आदि रोगों से ग्रस्त होने की प्रवृत्तियाँ थीं। फ्रायड ने फक्कड़पन, मौलिकता, विशेष शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति, स्मृतिभ्रंश जैसे गुणों को भी जीनियस का लक्षण बताया। पागलपन को भी जीनियस का गुण माना गया। गणितज्ञ, शतरंज खिलाड़ी तथा कम्प्यूटर प्रोग्रामर उस कोटि के जीनियस हैं जो पागल तो नहीं होते किन्तु उनमें सामाजिक चतुराई का अभाव रहता है। कहते हैं कि व्हिटमैन तथा मेलविले जैसे लेखकों को अपने बटन बन्द करने का होश नहीं रहता था। हमारे पौराणिक साहित्य में जड़ भरत का उदाहरण मिलता है, जो नग्न दौड़ते फिरते थे। उन्हें परमहंस कहा गया है। आधुनिक काल में श्री रामकृष्ण परमहंस ऐसे ही सन्त हुये हैं।

यद्यपि आइंस्टीन एक जीनियस और महान वैज्ञानिक थे किन्तु उन्हें 'अतिमानव' नहीं माना जा सकता। बड़े–बड़े वैज्ञानिकों का नाम उद्धारकर्ता होने के साथ विनाशकर्ता के रूप में याद किया जाता है।

उन्नीसवीं सदी के आते ही अधिकांश अमेरिकी जीनियस वहाँ के पेटेन्ट आफिस में अपनी उपलब्धियों को दर्ज कराते देखे जाने लगे जबकि अभी तक जनता की अदालत में 'जीनियस' का निर्णय होता रहा है। ग्राहम बेल, एली व्हिटनी तथा सैमुएल मोर्स– ये तीनों जीनियस थे ही। थामस एल्सा एडीसन ने जीनियस की नई परिभाषा दी। वह स्वयं को जादूगर नहीं मानता था, यद्यपि उसे 'विजार्ड आफ मेनलो पार्क' कहा जाता था। उसने लिखा है कि विद्युत प्रकाश का अन्तिम सिद्धान्त प्रस्तुत करने से पूर्व उसने 3000 विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार किया था किन्तु प्रयोग करते हुये इनमें से 2998 सिद्धान्तों को अस्वीकार करना पड़ा था। उसने एक विशेष प्रकार की बैटरी के लिये 50 हजार प्रयोग किये थे। स्पष्ट है कि मशीनरी के आ जाने से 'जादू' का अन्त हो गया। एडीसन के एक जीवनी लेखक ने 1917 में लिखा 'एडिसन जादूगर नहीं थे। उनकी विधियाँ स्पष्ट, तर्कपूर्ण तथा मानक हैं।' धीरे–धीरे जीनियस की परिभाषा बदलती गई। भले ही एडिसन ने विश्व को बदल दिया हो किन्तु आइंस्टीन ने तो अपनी कल्पना के आधार पर विश्व की पुनः खोज की। न्यूटन के बाद यह एक अभूतपूर्व घटना थी।

जीनियस क्रांति उत्पन्न करते हैं। आइंस्टीन की सापेक्षता, हाइजेनबर्ग की अनिश्चतता तथा वेगनर की महाद्वीपीय स्थानान्तरण कल्पना क्रांतियाँ थीं। इसी तरह भले ही श्विंगर तथा फाइनमैन की क्वांटम वैद्युतगतिकी गणित की दृष्टि में एकजैसी रही हों किन्तु इनमें से एक परम्परावादी थी तो दूसरी क्रांतिकारी। फाइनमैन कहा करते, "परमाणु मेरे मस्तिष्क में नाचते हैं, नाच कर बाहर चले जाते हैं और नये–नये परमाणु आते रहते हैं– वैसा ही नृत्य करते हैं किन्तु वे यह स्मरण रखते हैं कि कल का नृत्य क्या था।"

निस्सन्देह जीनियस शब्द के शिथिल प्रयोग से इसका मूल्य घटा है। कोई भी वैज्ञानिक किसी पत्रिका में छपे अपने लेख से जीनियस बन सकता है। प्रशंसकों की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ स्टीफेन हाकिंग के

अधिकांश प्रशंसक उन्हें आइंस्टीन का उत्तराधिकारी मानते हैं। किन्तु उनके समकालीन वैज्ञानिक उन्हें समतुल्य जीनियस बताते हैं। वैज्ञानिक प्रायः इस शब्द के प्रयोग से बचना चाहते हैं। यह कहना बेहतर होगा कि आइंस्टीन जीनियस थे। किन्तु इसके बाद बोह्र, बोह्र के बाद शायद डिरैक, फर्मी, बेथे आदि। कुछ लोग बेथे को साधारण जीनियस कहते हैं। साधारण जीनियस वह है जो हमारी ही तरह का व्यक्ति होता है, बशर्ते कि हम और आप कई गुना और अच्छे होते। जीनियस में उत्कृष्टता की प्रधानता रहती है। इसमें कोटि का अन्तर हो सकता है।

जीनियस को एक प्रकार की 'वीर पूजा' भी कहा गया है। कुछ ने कहा कि जीनियस वह अग्नि है जो स्वतः प्रज्ज्वलित होती है। मौलिकता, कल्पना, परम्परा से मुक्त मन की स्वतः प्रेरणा ये कुछ गुण हैं जीनियस के। मौलिकता कई बार आत्मकेन्द्रित हो सकती है। फाइनमैन इसलिये जीनियस थे क्योंकि वे सामयिक वैज्ञानिक साहित्य को पढ़ते तक न थे, वह उन छात्रों को चिढ़ाते थे जो सामान्य विधि से किसी प्रश्न का हल ढूँढ़ते। जब फाइनमैन कार्य करते तो इस तरह करते कि सामान्य लोग कुछ भी समझ न पाते। इस मामले में वे आइंस्टीन के समान थे।

यदि जीनियस किसी विषय के बारे में पहले से ही अधिक जानता रहे तो वह उतना अच्छा नहीं करता जितना कि बिना जाने। फिर भी कल्पना को लीक पर अग्रसर होना चाहिये। इसे प्रकृति के ज्ञात नियमों के विरुद्ध नहीं जाना चाहिये। विज्ञान में इतने नियम हैं, इतने प्रयोगशाला परिणाम हैं, इतनी तकनीकें हैं कि किसी जीनियस से क्रांति लाने की आशा नहीं की जा सकती।

इसी भूतल पर शेक्सपियर, न्यूटन जैसे जीनियस हुये जिनके सामने आज के कवि एवं वैज्ञानिक बौने लगते हैं। किन्तु जिस पृथ्वी में 6 अरब लोग हों उसमें यह सोचना कि अब आइंस्टीन जैसे व्यक्ति नहीं होंगे, भ्रामक होगा। शायद पहले की अपेक्षा जीनियसों के आने की सम्भावना अधिक है। यह भी सोचना गलत होगा कि भौतिकी के क्षेत्र से वैज्ञानिक भागकर सूक्ष्म जैविकी या कम्प्यूटर विज्ञान में जा पहुँचे हैं तो उसमें आइंस्टीन या फाइनमैन नहीं होंगे।

निःसंदेह जीनियसों मे इतिहास बदलने की शक्ति होती है। 'जीनियस' में दर्जनों की शक्ति निहित रहती है। अकेला एक जीनियस इतनी सूचनायें एकत्र करके उन्हें एकीकृत कर सकता है जितना दर्जनों नहीं कर पाते।

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

मंगल पर उड़कर जायेगा रोबोट

ब्रिटेन के कम्प्यूटर विशेषज्ञों ने एक ऐसा रोबोट बना दिया है, जो मंगल ग्रह पर कई तरह की भूमिकायें अदा करेगा। इस यंत्र मानव को यूरोपियन स्पेस एजेंसी अपने मार्स लैण्डर मिशन के अंतर्गत सन् 2005 में मंगल ग्रह पर उतारेगी।

एल्टेयर–1, यही है इस रोबोट का नाम जो वैज्ञानिक प्रयोगों के उपकरण, सूक्ष्म रोबोट तथा दूसरी वैज्ञानिक सामग्री मंगल ग्रह पर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के लिये बनाया गया है। इसके साथ ही यह मंगल ग्रह की खोजबीन, उसके मानचित्र बनाने, हवाई फोटोग्राफ लेने और मौसम की टोह लेने वाले गुब्बारे का काम भी करेगा।

इस रोबोट को हीलियम गैस भरे दो मीटर के घेरे के गुब्बारे के नीचे बने खटोले में लटकाया गया है। असल में इस प्रोटोटाइप के बाद वैज्ञानिक एल्टेयर–2 बनाने की भी सोच रहे हैं। एल्टेयर–2 जेपेलिन किस्म का पाँच मीटर के दायरे वाला यान–रूपी यंत्र मानव होगा। इसमें तीन किलोग्राम वैज्ञानिक सामग्री भरी जा सकेगी। धरती पर ही इसमें अनेक प्रयोग किये जायेंगे। सन् 2005 तक के असली मिशन के लिये वैज्ञानिक एल्टेयर–3 बनायेंगे। एल्टेयर–3 ऐसा यंत्रमानव होगा जो मंगल ग्रह के प्रतिकूल वायुमंडल में भी 6,000 मीटर की ऊँचाई तक उड़ सकेगा।

– साभार

कोयला बनाम काला हीरा

✍ शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

कोयले को सर्वमान्य रूप में 'काले हीरे' की संज्ञा प्राप्त है लेकिन हीरा ही क्यों इस तुलना का आधार है ?

हीरा, कोयला दोनों ही हमें प्राकृतिक सम्पदा के रूप में पृथ्वी के अन्तर से प्राप्त होते हैं। रासायनिक दृष्टि से हीरा शत–प्रतिशत कार्बन होता है, जबकि कोयले की किस्मों में 55–95 प्रतिशत कार्बन होता है।

हीरे की दो किस्में होती हैं– रत्न और औद्योगिक। साधारणतः 'हीरा' शब्द का प्रयोग रत्न किस्म के लिये किया जाता है, जिसका उपयोग केवल आभूषणों में होता है और मूल्य भी हजारों/लाखों में। इसके विपरीत औद्योगिक हीरों का मूल्य बहुत कम होता है– लगभग 20 रुपये प्रति कैरट (1 कैरट = 0.2 ग्राम)। मनुष्य की जानकारी के अंतर्गत हीरा सबसे कठोर पदार्थ है और उसके इस गुण का उपयोग औद्योगिक क्षेत्र में कई प्रकार की कर्तन मशीनों में किया जाता है– चूर्ण व कण के रूप में, जिन्हें औद्योगिक हीरा कहा जाता है।

वास्तविकता यह है कि 7 टन हीरा प्राप्त करने के लिये लगभग 1.5 करोड़ टन हीरा धारक चट्टानों का खनन कर उनका संसाधन करना पड़ता है तब कहीं जा कर जो हीरे प्राप्त होते हैं। उनमें रत्न किस्मों का प्रतिशत बहुत कम होता है। भारत की प्रसिद्ध हीरा खान 'पन्ना' (मध्य प्रदेश) में 100 टन हीरा–धारी चट्टानों में 9 से 12 कैरेट हीरे प्राप्त होते हैं, जिनमें मात्र 20 प्रतिशत रत्न किस्म के हीरे पाये जाते हैं। इसी कारण आभूषण योग्य हीरों का इतना अधिक मूल्य होता है। फिर हीरा–धारक चट्टानें विश्व के कुछ विशिष्ट भागों में ही पायी जाती हैं।

रत्न किस्म के हीरों में असाधारण चमक होती है और इसी गुण के कारण मानव उसके प्रति आकृष्ट होता है। इसके आकर्षण ने कई बार विश्व में नये इतिहास रचे हैं– कोहिनूर (अर्थात् प्रकाश की पहाड़ी) की कहानी कौन नहीं जानता ? कविगण भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं और उन्होंने आकाश में चमकते सितारों को हीरे की उपमा प्रदान की।

लाइक ए डाइमन्ड इन द स्काई'

दूसरी ओर कोयला भण्डार विश्व के कई देशों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। कोयले का रंग काला होता है। काला रंग अंधकार का पर्याय है पर काला होते हुये भी यह प्रकाश फैलाता है, जिसके बिना आधुनिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

काला धन जहाँ देश की अर्थव्यवस्था के लिये एक अभिशाप है वहीं यह काला कोयला किसी भी देश की आर्थिक प्रगति को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिये एक महत्वपूर्ण ऊर्जा–स्रोत है।

कोयले का महत्व केवल इसलिये नहीं है कि वह जल कर ताप उत्पन्न करता है और इसके माध्यम से बिजली उत्पादित की जाती है। कोयला एक अद्भुत कार्बनिक पदार्थ है जिसकी उपयोगिता दहन के अलावा, उसे कार्बनीकरण, वाष्पीकरण और हाइड्रोजनीकरण और विशेष–अभिक्रिया जैसी विधियों द्वारा उपयोग में लाने पर हमें नाना प्रकार के उपोत्पाद प्राप्त होते हैं, जिन्हें जाने अनजाने हम अपने दैनिक जीवन में उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिये– कोलतार से लगभग दो लाख उत्पाद प्राप्त होते है, प्लास्टिक, नायलान, टेरिलीन, रंग, वार्निश, रंजक, दवाइयाँ, एन्टीसेप्टिक, कीटनाशक, सुगन्धियाँ, उर्वरक, बारूद, पेट्रोल, रसोई गैस, साबुन, उर्वरक, वनस्पति तेल, फोटोरसायन आदि।
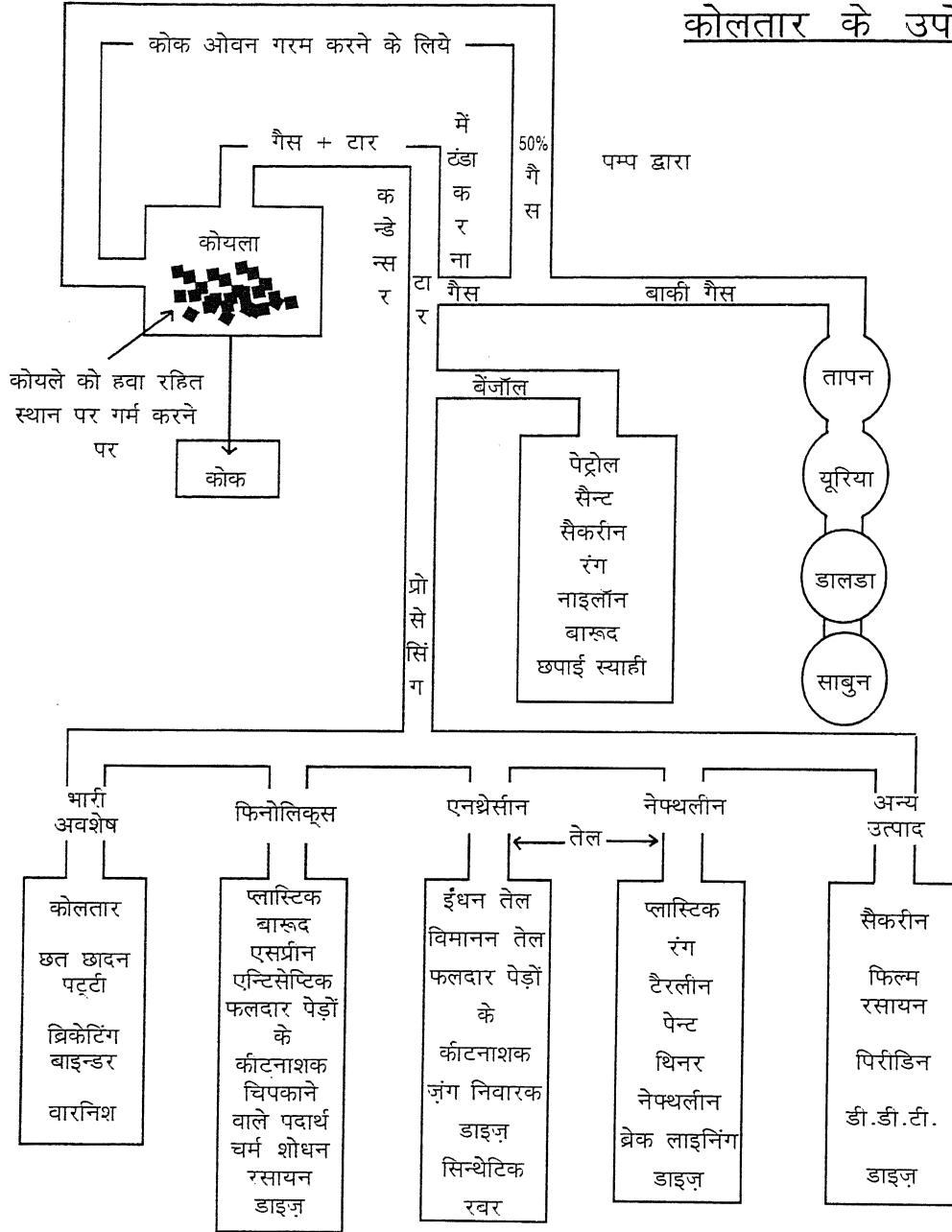
कोयले के इन उपोत्पादों का संचित मूल्य रत्न किस्मों के हीरे से कहीं अधिक होता है, जिसके कारण कोयले को 'काला हीरा' कहा जाता है।

छवि निकुंज, बाँस बंगलो कम्पाउण्ड
चौथी क्रासिंग, राँची रोड
पुरुलिया (पं० बंगाल)-पिन 723 101

वैज्ञानिक दृष्टि और उत्कृष्ट समाज

विश्व मोहन तिवारी

वर्तमान सदी ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के महत्व को स्वीकार और अंगीकार किया है। हमारे जीवन का हर पहलू आज इससे प्रमाणित होता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हम विज्ञान प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार से इस्तेमाल कर रहे होते हैं। आमतौर पर माना जाता है कि विश्व की जानकारी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काफी हद तक भौतिक समस्याओं पर काबू पाया जा सकता है। एयर वाइस मार्शल विश्व मोहन तिवारी ने साहित्यिक, आध्यात्मिक ओर वैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर गहरी सोच को अपनी विभिन्न उत्कृष्ट कृतियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन्हीं अभिव्यक्तियों को बातचीत के रूप में पिरोकर आम पाठकों के लिये यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि वे इन विषयों के महत्व, अंतर्सम्बन्ध और प्रभावशीलता को ग्रहण कर सकें। – सम्पादक

प्रश्न : वैज्ञानिक दृष्टि को विभिन्न बुद्धिजीवी अपने अंदाज में बयान करते हैं। आमतौर पर इसे जिज्ञासा, सूचना प्राप्त करना, विश्लेषण, प्रायोगिक प्रमाणीकरण और उससे प्राप्त निष्कर्ष को सिद्धान्तगत प्रस्तुत करना आदि के रूप में जाना जाता है। आप क्या कहते हैं ?

उत्तर : देखिये, जिज्ञासा से ही विज्ञान तथा ज्ञान का निर्माण हो सकता है। विकास के क्रम में जिज्ञासा जीवों में उत्तरोत्तर बढ़ती है और मानव में वह चरम रूप में परिलक्षित होती है। उसे स्वयं अपने घर, पड़ोस से लेकर अदृश्य अनंत ब्रह्माण्ड तक के विषय में जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा का एक उद्देश्य जानकारी प्राप्त करना होता है। मस्तिष्क सहज ही जानकारियों को एकत्रित करता है, उनका विश्लेषण करता है, उनमें सम्बन्धों की खोज करता है और उन जानकारियों में किसी विन्यास की खोज करता है। उनका संश्लेषण भी करता है– व्यष्टिपरक जानकारियों का सामान्यीकरण करता है सिद्धांतों का निर्माण करता है। मानव को यह विश्लेषण, संश्लेषण तथा खोजे हुये विन्यास की कच्ची सामग्री उनके ऐंद्रिय अनुभवों से ही मिलती है। यहाँ तक कि अनुभवों की प्रक्रिया साहित्य तथा विज्ञान में लगभग समान है। जब कोई मानव इन सारे अनुभवों तथा उनसे प्राप्त विन्यासों को अपने हृदय में अनुभूत करता है, उनमें हृदय के संवेगों से प्रभावित होता है और भाषा द्वारा उन अनुभवों को ऐसा रचता है कि वे विन्यास तथा अनुभव विशाल मानव समाज के हृदय को स्पर्श कर सकें, उसे बेहतर मानव बनने में मदद कर सकें तब वह साहित्य की रचना करता है। और जब मानव उन अनुभवों से प्राप्त विन्यासों को तर्क की कसौटी पर रखकर भौतिक जगत के लिये कोई ऐसा नियम या सिद्धांत प्रतिपादित करता है जो वैश्विक स्तर पर लागू होता है और उसका जब वह प्रयोगों द्वारा साक्षात् प्रमाण प्रस्तुत करता है तब वह विज्ञान की रचना करता है। साहित्य तथा दर्शन की आदर्श त्रिमूर्ति है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'। तथा विज्ञान की त्रिमूर्ति खण्डित है – सत्यं सुन्दरम्। साथ ही वैज्ञानिक दृष्टि के लिये आवश्यक है कि सत्य की खोज की जिज्ञासा निर्भीक होनी चाहिये। कोई भी वस्तु या क्रिया या घटना क्या है ? कैसी है ? कैसे कार्य करती है ? क्यों है ? क्या इसके कोई नियम हैं, आदि वैज्ञानिक जिज्ञासा के क्षेत्र के प्रश्न हैं। वैज्ञानिक जिज्ञासा का व्यावसायिकता या उपादेयता से सम्बन्ध आवश्यक नहीं है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि 'क्यों' प्रश्न के उत्तर में क्यों तथा उत्तर की एक श्रृंखला बन जाती है, जो किसी अंतिम क्यों पर रुक जाती है। जैसे दिन, रात्रि, ऋतुयें, वर्षों के नियमित चक्र को देखते हुये प्रश्न तो सहस्रों वर्षों से अनेक व्यक्तियों ने किये होंगे। उनमें से सबसे पहले स्तर पर अधिकांश ने इनके होने के कारण को ईश्वर या प्रकृति मानकर अपनी जिज्ञासा को शांत कर दिया। फिर दूसरे स्तर पर

कुछ ने कहा कि सूर्य आदि पृथ्वी की नियम से परिक्रमा करते है, वह नियम ईश्वर आधारित है। तीसरे स्तर पर, पाँचवीं शती में भारत के आर्यभट्ट ने तार्किक आधार पर कहा कि सूर्य तथा अन्य ग्रह एवं तारे पृथ्वी की परिक्रमा नहीं करते वरन् पृथ्वी अपनी धुरी पर एक दिन में चक्कर लगाती है, तथा एक वर्ष में वह सूर्य की परिक्रमा करती है। पाँचवें स्तर पर इसी खोज को कोपरनिकस ने चौदहवीं शती में प्रतिपादित किया। छठवें स्तर पर गैलीलियो तथा केपलर ने पृथ्वी तथा ग्रहों आदि की परिक्रमा के नियमों की खोज की। किन्तु न्यूटन के आने तक कोई भी इस चक्कर तथा परिक्रमा के नियमों को खोजने के बाद भी समझ नहीं सका था। सातवें स्तर पर न्यूटन ने न केवल यह बतलाया कि ग्रहों की गति के नियमों में उनकी गति ग्रहों के द्रव्यमान तथा आपसी दूरी पर विशेष नियम के अनुसार निर्भर करती है, वरन् उस समय के संदर्भ में, एक क्रांतिकारी सिद्धांत प्रस्तुत किया। जो नियम इस जमीन की वस्तुओं पर लागू होते हैं, वही नियम ब्रह्माण्ड के पदार्थों पर भी लागू होते हैं। और आठवें स्तर पर आइन्स्टाइन ने इन नियमों को पूर्ण परिशुद्धतापूर्वक समझाया। देखा जाये तो 'क्यों' वाली जिज्ञासा आठों स्तर पर मौजूद है, तथा नौवें स्तर की खोज की अपेक्षा भी है। जिज्ञासा की वैज्ञानिकता पहले स्तर पर न्यूनतम है और क्रमशः बढ़ती हुई आठवें स्तर पर लगभग पूर्णता की ओर पहुँचती है। किंतु उत्तरों के पूर्णता पर पहुँचने पर भी अंतिम क्यों का उत्तर नहीं मिलेगा। आइन्स्टाइन द्वारा समझाये गये उत्तर पर प्रश्न उठता है : किसी भी द्रव्य के सभी ओर जो दिक्काल हैं वह द्रव्य द्वारा क्यों विकृत होता है ? अब निर्भीकता की बात करें– आर्यभट ने पारम्परिक मान्यताओं के विरोध मे निर्भीक होकर अपने अवलोकित सत्य की घोषणा की थी। कोपरनिकस ने उस तथ्य की खोज बहुत पहले कर ली थी किन्तु चर्च के भय के कारण इस सत्य को अपनी मृत्यु से कोई दो वर्ष पूर्व ही घोषित किया था। गैलीलियो जैसी निर्भीकता जिज्ञासा वैज्ञानिक होने के लिये नितांत आवश्यक है। अधिकतर वैज्ञानिक जिज्ञासा तथा उसके समाधान की खोज मुख्यतया स्वान्तः सुखाय होती है। उपादेयता, सामाजिकता या व्यवसायिकता बाद में आती है। वैज्ञानिक दृष्टि शुद्ध जिज्ञासा, अर्थात् मात्र जिज्ञासा को शांत करने के उपक्रम से प्रारंभ होती है। जिज्ञासा वैज्ञानिक तभी कहलायेगी जब उस जिज्ञासा का समाधान तार्किक तथा प्रायोगिक प्रयोगों से प्रमाणित हो सके। और सबसे महत्वपूर्ण शर्त यह है कि इस तरह उस समाधान करने वाले सिद्धांतों के प्रमाणित होने के बाद भी वैज्ञानिक उस सिद्धांत के गलत हो सकने की सम्भावना के लिये बुद्धि को खुला रखें। क्योंकि वैज्ञानिक जानता है कि सत्य की खोज हमेशा 'tentative' क्रमशः या कामचलाऊ होती है। कोई भी नया तथ्य आकर उस सिद्धांत पर प्रश्नचिन्ह लगा सकता है, परीक्षण की चुनौती दे सकता है। दृष्टव्य है कि वैज्ञानिक जानकारी मात्र होने से किसी व्यक्ति की मनोवृत्ति वैज्ञानिक हो जाये, यह आवश्यक नहीं है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति लगातार वैज्ञानिक दृष्टि रखते हुये कार्य करते रहने से आती है।

प्रश्न : आपके विचार में वैज्ञानिक दृष्टि और वैज्ञानिक जानकारी के इस्तेमाल से समस्याओं से किस हद तक निपटा जा सकता है ?

उत्तर : पहली बात तो यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि की मूलभूत मान्यता है कि ब्रह्माण्ड की समस्त जानकारी को मस्तिष्क द्वारा विज्ञान में परिणित किया जा सकता है। अतीन्द्रिय जानकारी या ज्ञान वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता क्योंकि उसे आज उपलब्ध वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक जानकारी का स्रोत भी इंद्रिय–मस्तिष्क तक ही सीमित है। दूसरा, यह देखना पड़ेगा कि विज्ञान में कितनी नैतिकता है। विज्ञान में भौतिक सत्य की खोज पर निष्ठा अर्थात् भौतिक सत्य पर निष्ठा है। उसमें खुलापन है, उसका विरोध किया जा सकता है अर्थात् उसमें उदारता भी है, कट्टरपन भी कम है। वैज्ञानिक ज्ञान को यथासम्भव बाँटने की आवश्यकता है, प्रथा है। यह भावना शुद्ध विज्ञान तक ही सीमित है जैसे ही वह प्रयुक्त ज्ञान के क्षेत्र में आता है, वह पेटेन्ट अर्थात् व्यवसाय का माध्यम बन जाता है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में सहयोग तब ही तक है कि जब तक वह धन से दूर है, और तत्पश्चात सम्बन्ध व्यावसायिक हो जाता है। आज विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के शोध तथा अनुसन्धान इतने जटिल तथा खर्चीले हो गये हैं कि वे एक व्यक्ति के लिये लगभग असंभव हैं। अतएव सहयोग भी इस कार्य में आवश्यक है। किंतु इसके साथ ही

वैज्ञानिकों में प्रतिस्पर्धा भी बहुत तीव्र है जिसके फलस्वरूप सहयोग की भावना ही सीमित होती है। इस तरह यह वैज्ञानिक नैतिकता, चाहे सीमित हो, अनुकरणीय है, सराहनीय है, किन्तु अपूर्ण है। इनमें प्रकृति से भी संघर्ष है और वह प्रकृति, उनकी दृष्टि में, मानव के भोग की ही वस्तु है। यहाँ तक कि आज विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी भोगवाद को निर्बन्ध बढ़ावा दे रहे हैं। पिछले तीन सौ वर्षों में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने हमारी विश्व दृष्टि या कहें जीवन दृष्टि ही बदल दी है। इसके पहले प्रवंचक लोग भोली जनता का उन्हें भूत प्रेत और यहाँ तक कि धर्म तथा तंत्र के नाम पर मूर्ख बनाकर उनका शोषण किया करते थे। धर्म पर इसके पहले विपक्षी लोग ही प्रश्नचिन्ह लगाया करते थे, किन्तु विज्ञान ने धार्मिक अंधविश्वासों पर प्रश्न चिन्ह लगाये। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने मनुष्य को अनेक रोगों से बचाया है, जलवायु की कठोरता से बचाया है, कष्टदायक शारीरिक श्रमों से बचाया है, मनुष्य को समृद्ध बनाया है, मनुष्य को चाँद की सैर करा दी है, और विश्व को एक गाँव बना दिया है। किंतु इस विश्व में उन्नत देश अपने भोग के लिये अन्य का शोषण ही करते हैं– अर्थात् मानव इस इक्कीसवीं सदी में भी मानव का खुले आम भोग कर रहा है, प्रेम, त्याग के स्थान पर स्वार्थ से जुड़ गया है (पति पत्नी, माता पिता तथा संतान के बीच के प्रेम के सम्बन्ध ा भी स्वार्थ के आधार पर खड़े हैं)। यदि पति या पत्नी को अपने स्वार्थ पूरे करने में पति या पत्नी द्वारा कहीं बाध ा होती है तो वे एक दूसरे को ऐसे छोड़ देते हैं जैसे कोई बाजार में खरीद करते समय एक दुकान को छोड़कर दूसरी दुकान पर चला जाता है। पत्नी तथा माँ के गृहस्थ कार्य को मजदूरी के रूप में आँका जा रहा है। अर्थात् समाज में धन का स्थान बढ़ता जा रहा है तथा प्रेम का स्थान कम होता जा रहा है। मूल्यों का यह ह्रास इस समाज में तनाव, रोग तथा दुखों को बढ़ा रहा है। वैज्ञानिक दृष्टि और जानकारी के पास इन समस्याओं का समाधान नहीं है।

गौर से देखा जाये तो विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने जो उपरोक्त भौतिक सामर्थ्य तथा क्षमतायें दी हैं तो उन्होंने दुख भी बढ़ाया है, और प्रकृति, जंगल, पक्षी और मानव को आज विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विज्ञान की नैतिकता कमजोर है, अपूर्ण है। अब वे जब एक समस्या का समाधान करते हैं तो एक नई समस्या खड़ी कर देते हैं। ऐसा क्यों और कैसे हुआ ?

बात यह है कि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी एक सशक्त घोड़े के समान है किंतु जो उस पर सवार है उसके पास दृष्टि नहीं है– जीवन के यथोचित पर्याप्त मूल्य वाली दृष्टि नहीं है। अब घोड़ा भी उसे दौड़ा रहा है। उसे आवश्यकता है एक स्वस्थ एवं मानवीय दृष्टि की जो धर्मों के पास है। किंतु अधिकांश धर्मों का आधार विश्वास या निष्ठा ही होता है, जिस पर चलने में आम आदमी को कठिनाई नहीं थी किंतु विज्ञान की तर्क–संगति पर अंधी निष्ठा ने उस धर्म पर से लोगों के विश्वास को ढीला कर दिया है, हिला दिया है। इस कारण भी भोगवाद खूब बढ़ रहा है। अब धर्म जो कि घुड़सवार की दृष्टि दे सकते हैं वह विज्ञान को स्वीकार नहीं है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी हमें स्वनियंत्रित पूर्णतः आरामदेह मकान दे सकते हैं, स्वचालित सुरक्षा पूर्ण कारें दे सकते हैं, किंतु वास्तविक सुख नहीं दे सकते। लेकिन एक चीज जो विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण दे सकते हैं वह है वैचारिक खुलापन और तार्किक तथा विश्लेषणात्मक क्षमता। स्वाभाविक है, इन क्षमताओं से युक्त व्यक्ति, स्वार्थ, अंधश्रद्धा, संघर्ष, टकराव आदि का समाधान खोज सकता है, और अन्य को भी इससे बचा सकता है ऐसा तर्क अधिकांश वैज्ञानिक देते हैं। यह तर्क कमजोर है विज्ञान भौतिक ज्ञान की चरम संहिता है, अतएव भौतिक सुखों का तथा कष्टों का उसके पास पूरा समाधान है। क्योंकि विज्ञान के पास सम्यक निर्विवाद नैतिक दृष्टि का वैज्ञानिक आधार नहीं है इसलिये वह मानवता को केवल भौतिकता की ओर ही ले जा सकता है। उसे वह सम्यक दृष्टि चाहिये जो काफी सीमा तक धर्मों के पास है, और पर्याप्त मात्रा में उपनिषदों के पास है।

अवकाश प्राप्त एयर वाइस मार्शल
नोएडा, उत्तर प्रदेश
प्रस्तुति : डॉ० मनोज कुमार पटौरिया
प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी
रा०वि०प्रौ०सं०प०, नई दिल्ली

समीक्षक कैसे बनें ?

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

समीक्षक बनने के लिये कुछ गुणों का होना आवश्यक है। श्री प्रेमचन्द्र जी वर्षों के 'विज्ञान' के सम्पादक रह चुके हैं। उन्होंने समीक्षक के रूप में अनेक अनुभव प्राप्त किये हैं। वे अपने अनुभवों को समीक्षक बनने के लिये उत्सुक लेखकों से बाँट रहे हैं।

– सम्पादक

वैसे तो लेखन से संबंधित किसी भी विधा के लिये कठिन परिश्रम, लगन और आस्था का होना अत्यंत आवश्यक है, किन्तु किसी रचना अथवा पुस्तक या पत्रिका की समीक्षा के लिये कुछ अतिरिक्त गुणों की आवश्यकता होती है। समीक्षा का क्षेत्र ख़तरों से भरा होता है। इसमें आपको रचनाकार की सोच को समझना होता है। यहाँ एक सहज–सा प्रश्न उठता है कि वे लोग कौन से हैं जो किसी समीक्षा से प्रभावित होंगे ? सबसे पहले तो समीक्षक अपने प्रति ईमानदार अथवा उत्तरदायी होता है। दूसरा उस व्यक्ति विशेष के प्रति जिसकी पुस्तक की समीक्षा कर रहा होता है। तीसरा सम्पादक के प्रति और चौथा पाठकों के प्रति।

मेरी दृष्टि में समीक्षा का कार्य चुनौतीपूर्ण है। हर पुस्तक अथवा लेखक की कृति के माध्यम से नई-नई भाषा, शैली और विषयवस्तु से पाला पड़ता है। यहाँ आपको न केवल भाषा दोष, मुद्रण की त्रुटियों को बताना होता है वरन् लेखक के मन-मस्तिष्क में झाँक कर उसके विचारों को समझना भी पड़ता है। आपके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि आप यह पता लगा लें कि रचानाकार का उद्देश्य क्या है ? उसकी रचना जिस आयु अथवा वर्ग विशेष को ध्यान में रखकर लिखी गई है, वह अपने मूल उद्देश्यों में किस सीमा तक खरी उतरती है। ये सभी बातें ध्यान में रखनी होती हैं। साथ ही साथ यह सावधानी भी रखनी पड़ती है कि आपकी समीक्षा से लेखक को किसी भी तरह की चोट न पहुँचे। यह सदैव ध्यान रहे कि समीक्षक का उद्देश्य किसी लेखक को हतोत्साहित करना नहीं होता है।

यहाँ समीक्षा के सम्बन्ध में कुछेक संकेत दिये जा रहे है, सम्भवतः नये समीक्षक इसका लाभ उठा सकेंगे।

1. कभी किसी ऐसी पुस्तक की समीक्षा न करें जिसमें आपकी रुचि न हो अथवा जिस विषय को आप स्वयं न समझते हों। पुस्तक को आदि से लेकर अंत तक पढ़े बिना समीक्षा न लिखें। यदि एक बार पढ़ने से स्पष्ट नहीं होता है तो एक से अधिक बार पढ़े और जब आप आश्वस्त हो जायें तभी समीक्षा के लिये कलम उठायें।

2. साहित्य के क्षेत्र में चल रही दलगत राजनीति से बचते हुये ही समीक्षा लिखें। आपकी समीक्षा से आपको न तो पाठकों का साधुवाद मिलेगा और न ही आपकी समीक्षा वास्तव में किसी पाठक के ज्ञान में वृद्धि कर सकेगी, जो उसकी चिंतनक्षमता में अभिवृद्धि कर सके। अतएव जब आपको पुस्तक पढ़ने के बाद लगे कि पुस्तक में ऐसा कुछ है जो वास्तव में जानने योग्य है, तभी समीक्षा करें।

3. समीक्षा लिखने के पूर्व उसी पुस्तक पर लिखी गई किसी अन्य समीक्षा को पढ़ने के लोभ से बचें, अन्यथा आपके विचारों के प्रभावित होने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। अपने विचारों में किसी अन्य के विचारों को मिश्रित न होने दें। स्वयं के विचारों की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखें।

4. आमतौर से पुस्तक के आवरण पर प्रकाशक की ओर से पुस्तक और लेखक की प्रशस्ति में कुछ पंक्तियाँ अथवा कुछेक विशेषज्ञों के विचार मुद्रित रहते हैं, उन्हें न पढ़ें। प्रारंभ में मैंने भी ऐसी ग़लतियाँ की हैं।

इसलिये आपको सावधान कर देना चाहता हूँ। इससे ऐसा हो सकता है कि कोई अत्यावश्यक तथ्य जिसे आपकी समीक्षा में आना चाहिये, आप शामिल न कर सकें। समीक्षक को आलस्य नहीं करना चाहिये। इसलिये उसी पुस्तक की समीक्षा लिखें जिसे आपने स्वयं कम से कम एक बार तो अवश्य ही पढ़ा हो।

5. तब तक किसी पुस्तक की समीक्षा लिखने का प्रयास न करें जब तक आपने पुस्तक की विषयवस्तु को भली भांति समझ न लिया हो। यदि आपने स्वयं उसे नहीं समझा है तो आप पाठक से समझने की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? आप पुस्तक को दोबारा-तिबारा पढ़ें। यदि फिर भी न समझ सकें तो भूल जायें कि आपको उस पुस्तक विशेष की समीक्षा लिखनी है। अच्छा होगा कि ऐसी पुस्तक की समीक्षा स्वयं न करके पुस्तक को किसी विषय विशेषज्ञ को समीक्षार्थ सौंप दें।

6. पुस्तक में अनावश्यक अपने विचारों को प्रविष्ट न होने दें। ध्यान रहे कि समीक्षा आपको लेखक के विचारों की करनी है न कि अपने विचारों की। पुस्तक विशेष की समीक्षा को अपने विचारों के प्रसारण का माध्यम न बनायें।

7. समीक्षा करते समय कभी यह न भूलें कि आपको पुस्तक के संबंध में पाठक के समक्ष अपनी संस्तुति रखनी है। आपकी संस्तुति न्याय-संगत और तर्कसंगत होनी चाहिये। पाठक को आपको यह बताना रहेगा कि वे क्या पढें और क्या न पढ़ें।

8. नये लेखकों की कतई उपेक्षा न करें। उनकी कृतियों के संबंध में जो कुछ कहना चाहते हों, उसमें नरमी बरतें। आपके प्रोत्साहन से आगे चलकर कौन सा लेखक ऊँचाई के किस शिखर पर पहुँचेगा प्रारंभ में तो कोई भी नहीं आँक सकता है। यदि किसी लेखक की कोई नई पुस्तक समीक्षार्थ आपके पास आई हो तो उसका मूल्यांकन उसके पहले वाली पुस्तक के आधार पर न करें। हो सकता है कि पहले की अपेक्षा उसकी भाषा-शैली और विषयवस्तु के प्रस्तुतिकरण की क्षमता में अभिवृद्धि हो। अतएव पूरी पुस्तक को भली भाँति पढ़कर ही पुस्तक का मूल्यांकन करें।

9. किसी विचारशील लेखक की कृति की समीक्षा करते समय अच्छा होगा यदि आप छोटी-छोटी त्रुटियों को नज़रअंदाज़ कर जायें। एक प्राचीन कहावत के अनुसार कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं होता है। किसी भी समीक्षक के लिये यह आसान होता है कि वह अच्छी से अच्छी कृति में त्रुटियाँ ढूँढ निकाले और लेखक के विचारों को तोड़-मरोड़ कर इस प्रकार प्रस्तुत करे कि पुस्तक की गुणवत्ता में कमी दिखाई पड़े। इसलिये चिंतनपरक कृति की समीक्षा भी पुस्तक के अनुरूप होनी चाहिये।

10. आमतौर से समीक्षा आपको लेखक के मस्तिष्क में झाँकने का अवसर प्रदान करती है। इससे आपकी स्वयं की मानसिक क्षमता मे निश्चित रूप से बढ़ोत्तरी होती है। कभी-कभी तो ऐसे भी अवसर आते हैं जब समीक्षक जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है उससे वह स्वयं भी आश्चर्यचकित रह जाता है और ऊहापोह की स्थिति में होने के कारण अपने विचारों को लिपिबद्ध करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु अपने निष्कर्ष को न लिखना भूल होगी। यदि आपको लगे कि आप जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह सच जान पडता है तो उसे निर्भय होकर लिखें और पाठकों तक अवश्य सम्प्रेषित करें।

11. कभी भी किसी लेखक का मज़ाक न उड़ायें, चाहे उसकी रचना का स्तर कितना भी निम्न क्यों न हो। समीक्षक को कभी भी यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिये कि वह लेखक से श्रेष्ठ है, चाहे लेखक कितना भी नया क्यों न हो। हो सकता है आपकी तुलना में लेखक नौसिखिया ही हो, फिर भी समीक्षा में आपकी विद्वता का दर्प नहीं झलकना चाहिये। आप लेखक के प्रतिस्पर्धी नहीं हैं। यदि त्रुटियाँ हैं तो निस्संदेह उन्हें उजागर करें, किन्तु समीक्षा में कभी भी ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिये कि लेखक को कैसा लिखना चाहिये था अथवा कैसा लिखता तो उसकी रचना सुन्दर हो सकती थी।

12. समीक्षक को कभी भी अपने किसी मित्र अथवा अंतरंग व्यक्ति या ऐसा व्यक्ति जिसे आप नापसंद उसकी कृति से बचना चाहिये।

मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि मैंने स्वयं दूसरों की कृतियों की समीक्षा उपरोक्त संकेतों का ध्यान नहीं रखा है। इन्हें मैंनें लम्बे अनुभव के बाद जाना है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि जो भूलें मुझसे हुई हैं, उन्हें आप न करें। दो बातों का ध्यान अवश्य रखें। एक तो यह आपकी समीक्षा पर किसी लेखक का लेखन व्यवसाय निर्भर करता है और दूसरा यह कि आपकी समीक्षा पढ़ने के बाद पाठक का उस पुस्तक विशेष का पढ़ना या न पढ़ना निर्भर करता है। अतएव मैं चाहता हूं कि आप मेरी त्रुटियों को न दोहरायें, वरन् यशस्वी समीक्षक बनें।

पूर्व सम्पादक 'विज्ञान'
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानंद मार्ग
इलाहाबाद-**211 002**

डॉ० ओझा एवं डॉ० श्रीवास्तव सम्मानित

तारापुर परमाणु बिजीघर में आयोजित राष्ट्रीय वैज्ञानिक कार्यशाला में विज्ञान लोकप्रियकरण एवं हिन्दी में विपुल विज्ञान साहित्य सुलभ कराने में महत्वपूर्ण योगदान हेतु भू जल विभाग जोधपुर के वैज्ञानिक एवं विज्ञान लेखक डॉ0 डी.डी. ओझा को 'विज्ञान भूषण' एवं भारत सरकार के तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव को 'विज्ञान वाचस्पति' सम्मान से अलंकृत किया। उक्त दोनों वैज्ञानिकों को तारापुर परमाणु बिजलीघर के निदेशक श्री सर्वेशचन्द्र कटियार ने रजत पदक, प्रशस्ति पत्र, श्रीफल, अंगवस्त्रम् एवं स्मृति चिन्ह देकर सम्मानित किया। बधाइयाँ !

पृष्ठ 16 का शेष

नियुक्त हुये। नोबल पुरस्कार के अतिरिक्त उन्हें अनेक सम्मानों एवं मानद डिग्रियों से भी अलंकृत किया गया। जब 1926 में उनके सम्मान में पुटनी हीथ में ट्रापिकल रोगों के लिये रॉस इंस्टीट्यूट एवं हॉस्पिटल की स्थापना हुई तो वे इसके प्रथम डाइरेक्टर–इन–चीफ बने। दिसम्बर 1933 में यह 'लंडन स्कूल ऑफ हाइजीन एण्ड ट्रॉपिकल मेडिसिन' के साथ जुड़ गया। उनके सम्मान में वहाँ एक कांस्य प्लेट लगी हुई है। 16 सितम्बर, 1932 को पुटनी स्थित रॉस संस्थान में उनकी मृत्यु हो गई।

मलेरिया संचरण में सर रोनाल्ड रॉस के बहुमूल्य योगदान के 100 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में भारतीय परजीवी विज्ञानी संस्था द्वारा अगस्त 1997 में हैदराबाद में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें अनेकों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इस अवसर पर रोनाल्ड रॉस पर एक डाक टिकट का भी विमोचन हुआ तथा उनके नाम पर एक मार्ग का नाम भी रखा गया। इस अवसर पर 'इंडियन जर्नल ऑफ मलेरियोलॉजी' तथा 'इंडियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च' का विशेष अंक निकाला गया तथा कई अन्य पत्र/पत्रिकाओं में भी उन पर विशेष लेख लिखे गये।

भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्
नई दिल्ली-**110 029**

हमारे नये विज्ञान पार्षद

1. इंजी0 के.एम.एल. माथुर, जोधपुर
2. प्रो0 डॉ0 मुरारी लाल माथुर, जोधपुर
3. इंजी0 श्री विष्णु नाथ माथुर, जोधपुर

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : नारी विज्ञान
लेखक : डॉ0 यतीश अग्रवाल व डॉ0 रेखा अग्रवाल
प्रकाशक : सारांश प्रकाशन, प्रा0 लि0
142–ई. पाकेट– 4, मयूर विहार, दिल्ली–110 091
प्रथम संस्करण : वर्ष 1998, **पृष्ठ :** 211, **मूल्य :** 150.00 रू0

आलोच्य पुस्तक 'नारी विज्ञान' नारी के विशिष्ट जीवन पर एक सकारात्मक रचना है जो हर शिक्षित किशोरी, नारी तथा पुरुष को अवश्य पढ़नी चाहिये। पुस्तिका कुल आठ खण्डों में विभाजित है। नारी देह की रचना के आरम्भ प्रथम खण्ड में किशोरावस्था से लेकर जीवन के सांध्यकाल तक तमाम स्वाभाविक चक्रों का सरल व विस्तृत वर्णन है। खण्ड 2 व 3 में प्रजनन अंगों के विविध विकारों के बारे में समुचित जानकारी दी गई है। प्रजनन अंगों से जुड़ी अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है साथ ही चिकित्सकीय परामर्श कब अनिवार्य रूप से लेना चाहिये इसका भी मार्गदर्शन किया गया है।

चौथा खण्ड मातृत्व की चाह का उल्लेख करता है तथा उससे सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का निवारण करता है। आधुनिक तकनीकों का सरल विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा मातृत्व की इच्छा रखने वाली महिलाओं के लिये आशा की किरण है। इस क्षेत्र में प्रगति द्रुत गति से हो रही है स्यात् इस कारण से कुछ आधुनिकतम तकनीकें उल्लिखित नहीं हैं। आशा है इसकी आपूर्ति नवीन संस्करण में हो जायेगी।

खंड पाँच पूर्ण रूप से गर्भनिरोध पर है। आम प्रचलित सभी उपायों का वर्णन है– कुछ नये उपाय भी आये हैं जिनका वर्णन नहीं है परन्तु जिनकी जानकारी आज की शिक्षित जागरूक नारी व दम्पत्ति को अवश्य होनी चाहिये।

खण्ड छः में जननांगों का प्रमुख रोग कैंसर वर्णित है। सरल भाषा में इन बीमारियों की जानकारी, जाँच व निदान की जानकारी देने का यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

जाँच व परीक्षणों की जानकारी सातवें खण्ड में दी गई है। परीक्षणों को भली प्रकार समझाकर आम लोगों के मन की कई बेबुनियादी आशंकाओं का समाधान किया गया है।

अन्तिम खण्ड में हर नारी की चाहत सौन्दर्य बनाये रखने के प्रयास पर कुछ उचित सलाह देकर स्त्रियों की इस विशेष इच्छा का ध्यान भलीभाँति रखा गया है तथा स्वच्छ रहने के कई सरल उपचार भी बताये हैं।

लेखकों का यह प्रयास सार्थक व प्रशंसनीय है। कुछ खण्डों में यदि थोड़ी जानकारी और दी जाये तो इस पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जायेगा। लेखकों को अच्छी एवं सरल पुस्तक लिखने के लिये अनेक बधाइयाँ।

डॉ० श्रीमती श्रद्धा द्विवेदी
प्रोफेसर, एस. पी. एम. विभाग
मोती लाल नेहरू मेडिकल कालेज
इलाहाबाद– 1

नवीन विज्ञान पत्रिका : विज्ञान आपके लिये

वर्ष : 1, अंक : 1 अप्रैल-जून 2001 **पृष्ठ संख्या :** 32
मूल्य : 10.00 **सम्पादक : राजेश कुमार, ज्ञान ज्योति शिक्षा संस्थान, सी–32, शास्त्री नगर, मथुरा–4**

बच्चों के लिये विज्ञान पत्रिका का अभाव खटकता रहा है। डॉ0 ओम प्रकाश शर्मा की सूझ बूझ है कि उन्होंने सम्पादन के अनुभव से वर्ष 2001 में बच्चों के लिये एक नवीन त्रैमासिक पत्रिका 'विज्ञान आपके लिये' का प्रकाशन शुरू किया है। इसमें बच्चों को ध्यान में रखते हुये सामग्री का संकलन हुआ है। आवरण पृष्ठ अत्यन्त आकर्षक है। पत्रिका की छपाई भी सुन्दर है। इसमें जीनोम, सूर्य, हमारा पर्यावरण जैसे विचारोत्तेजक निबन्ध हैं तो दियासलाई की कहानी, भूकम्प का वैज्ञानिक पहलू तथा डॉ0 चन्द्रशेखर वेंकटरमन की जीवनी भी दी गई है। सामान्य ज्ञान , विज्ञान प्रश्नोत्तरी स्तम्भ भी हैं।

पहला अंक होने से अधिकांश लेखक गाजियाबाद के हैं। आगे के अंकों में अन्य बाहरी लेखकों की रचनायें स्थान पा सकेंगी ऐसी आशा है। इस अंक में छापे की जो अशुद्धियाँ हैं अगले अंकों में उनकी संख्या घटेगी ऐसी आशा है।

कुल मिलाकर बच्चों के लिये एक अच्छी विज्ञान पत्रिका है। सम्पादक, परामर्शदाता सभी बधाई के पात्र हैं।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
विज्ञान परिषद् प्रयाग

परिषद् का पृष्ठ

✍ प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

1. विज्ञान परिषद् में सम्मान समारोह सम्पन्न

गत 28 जुलाई को 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' द्वारा आयोजित एक समारोह में देश के 5 अति विशिष्ट वैज्ञानिकों एवं हिन्दी विज्ञान सेवियों को परिषद् द्वारा दिये जाने वाले सर्वोच्च सम्मान 'मानद फेलोशिप' देकर उनकी दीर्घकालीन सेवाओं को सराहा गया। इनके अतिरिक्त, परिषद् द्वारा 1958 से प्रकाशित 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' (त्रैमासिक) द्वारा प्रदत्त डॉ0 रत्नकुमारी स्मृति पदक 6 सर्वश्रेष्ठ शोधपत्रों पर (1991 से 2000 तक) और 'विज्ञान' पत्रिका द्वारा प्रदत्त डॉ0 गोरख प्रसाद विज्ञान लेखन पुरस्कार भी 5 पुरस्कृत लेखों पर दिया गया।

समारोह का शुभारम्भ डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल' द्वारा सरस्वती वंदना एवं सभाध्यक्ष डॉ0 एस. के. जोशी, पूर्व सभापति विज्ञान परिषद्, पूर्व महानिदेशक, सी.एस.आई.आर., नई दिल्ली एवं वर्तमान सभापति, नेशनल एकेडमी ऑव साइंसेज इण्डिया द्वारा माँ सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण और दीप प्रज्वलन से हुआ।

सभाध्यक्ष डॉ0 जोशी और प्रो0 चन्द्रिका प्रसाद का माल्यार्पण डॉ0 सुनील कुमार पाण्डेय एवं श्री देवव्रत द्विवेदी ने किया। इसके बाद परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र जी ने मंचासीन एवं समारोह में उपस्थित गणमान्य व्यक्तियों का औपचारिक रूप से स्वागत किया। उन्होंने परिषद् द्वारा प्रदत्त पुरस्कारों के विषय में बताते हुये परिषद् की गतिविधियों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला।

'मानद फेलोशिप' प्राप्त करने वाले तीनों अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों प्रो0 एम.जी.के. मेनन, न्यूरो सर्जन डॉ0 पी.एन. टण्डन एवं मलेरिया विशेषज्ञ डॉ0 वी.पी. शर्मा को सभाध्यक्ष डॉ0 जोशी ने माल्यार्पण, तिलक, नारियल एंव शाल से सम्मानित करते हुय मानद फेलोशिप का प्रशस्ति पत्र प्रदान किया।

केन्द्रीय मानव संसाधन एवं विकास मंत्री, प्रो0 मुरली मनोहर जोशी एवं प्रसिद्ध रसायन विज्ञानी प्रो0 रामचनण मेहरोत्रा को भी मानद फेलोशिप दिये जाने की घोषणा की गयी थी किन्तु ये दोनों ही महानुभाव किसी कारणवश समारोह में न आ सके।

इसी समाारोह में हिन्दी विज्ञान लेखन की श्रीवृद्धि के लिये प्रोत्साहन स्वरूप कुछ और भी पुरस्कार वितरित किये गये। विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ छः शोध पत्रों पर डॉ0 रत्नकुमारी स्मृति पदक दिये जाने थे –

1. डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव, दिल्ली (1991)
2. डॉ0 जगदीश प्रसाद, मेरठ (1996)
3. डॉ0 चतुर्भुज साहू, हजारीबाग (1997)
4. डॉ सतीश कुमार शर्मा, जयपुर (1998)
5. डॉ0 एच.एस.पी. श्रीवास्तव, रतलाभ (1999)
6. डॉ0 दिनेश मणि, इलाहाबाद (2000)

इनमें से केवल डॉ0 दिनेश मणि को ही यह पदक दिया जा सका क्योंकि इनके अतिरिक्त कोई अन्य उपस्थित नहीं हो सका।

विज्ञान पत्रिका में वर्ष 2000 में प्रकाशित श्रेष्ठ आलेखों पर पाँच लेखकों को डॉ0 गोरख प्रसाद विज्ञान लेखन पुरस्कार देने की घोषणा की गई–

1. श्री शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय (पुरुलिया)
2. श्री निमिष कपूर (लखनऊ)
3. सुश्री अनुराधा श्रीवास्तव (लखनऊ)
4. श्री सूर्यभान सिंह 'सूर्य' (दिल्ली)
5. डॉ0 के.एन. उत्तम (इलाहाबाद)

इस पुरस्कार के लिये भौतिकी विभाग के

प्राध्यापक डॉ0 के.एन. उत्तम ही उपस्थित हो सके।

हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान के लोकप्रियकरण में योगदान के लिये श्री विजय चितौरी को 'विज्ञान प्रदीप' पुरस्कार प्रदान किया गया।

'मानद फेलोशिप' से सम्मानित प्रो0 एम.जी.के. मेनन ने इस अवसर पर बोलते हुये कहा कि विज्ञान केवल अनुसंधान ही नहीं बल्कि सभी लोगों के मन और दिल में समाने बसाने वाली चीज है। उन्होंने बल देकर कहा कि हमारे देश में अनेक भाषायें बोली जाती हैं इसलिये विज्ञान का जनमानस में प्रचार–प्रसार सभी भाषाओं में होना चाहिये। ऐसा करके ही हम विज्ञान को रुचिकर बना सकते हैं और जन–जन तक पहुँचा सकते हैं। हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान का प्रचार–प्रसार करने के लिये और हिन्दी में विज्ञान पत्रिका निकालने के लिये उन्होंने विज्ञान परिषद को धन्यवाद दिया। आगे बोलते हुये उन्होंने कहा कि जब तक हर आदमी पर विज्ञान का प्रभाव नहीं दिखाई देता तब तक वैज्ञानिक अनुसंधानों की उपयोगिता साबित नहीं होती। उन्होंने सूचना प्रौद्योगिकी को भविष्य का सर्वाधिक ऐसा महत्वपूर्ण साधन बताया जिससे अधिक से अधिक लोगों को रोजगार के अवसर मिलेंगे। सूचना प्रौद्योगिकी मात्र सूचनाओं के आदान–प्रदान का माध्यम ही नहीं वरन् देश की आर्थिक दशा सुधारने का सशक्त माध्यम है।

डॉ0 पी.एन. टण्डन ने कहा कि विज्ञान को समाज से जोड़े जाने की आवश्यकता है। शोध पत्रिकाओं में जो कुछ प्रकाशित किया जा रहा है उसका लाभ समाज को अवश्य मिलना चाहिये। उन्होंने विज्ञान परिषद् की प्रशंसा करते हुये जोर देकर कहा कि विज्ञान परिषद् को इस दिशा में और अधिक प्रयास करने चाहिये।

डॉ0 वी.पी. शर्मा ने प्रो0 टण्डन की बात का समर्थन करते हुये कहा कि विज्ञान को गाँव–गाँव तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिये। उन्होंने संक्षेप में बताया कि मलेरिया उन्मूलन की दिशा में स्वयं उन्होंने जो भी कार्य किये हैं उसमें इस बात का प्रयास किया है उनके कार्य का लाभ सभी को मिले। उन्होंने परिषद् द्वारा किये जा रहे कार्य की सराहना की।

डॉ0 एस.के. जोशी ने अपने अध्यक्षपदीय उद्बोधन में सम्मानित और पुरस्कृत व्यक्तियों को बधाई देते हुये कहा कि पुरस्कार मिलने के बाद उसकी गरिमा को सुरक्षित रखना होगा। उन्होंने परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान' पत्रिका में वैज्ञानिकों द्वारा लेख लिखे जाने के लिये लेखकों के प्रति आभार प्रकट किया और रचनाकारों से आग्रह किया कि विज्ञान पत्रिका के प्रति जो उनका स्नेह है उसे बनाये रखें। उन्होंने आगे बोलते हुये कहा कि विज्ञान पत्रिका में रोजमर्रा की जिन्दगी से संबंधित और अधिक लेखों की आवश्यकता है। आम आदमी के स्वास्थ्य और चिकित्सा से संबंधित जानकारियाँ होनी चाहिये। लेख सरल हिन्दी में होने चाहिये ताकि लोग आसानी से समझ सकें। उन्होंने जहाँ एक ओर विज्ञान परिषद् के कार्यों की प्रशंसा की वहीं बल देकर कहा कि समय की माँग के अनुसार अब परिषद् को और अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

समारोह में नेशनल एकेडमी के अनेक पदाधिकारी, विज्ञान परिषद् के अंतरंगी, सी.एम.पी. डिग्री कालेज के अध्यापक तथा अन्य आमन्त्रित व्यक्ति थे। संचालन प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया। उन्होंने सभी वक्ताओं और श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त करते हुये परिषद् की ओर से यह आश्वासन दिया कि गण्मान्य वक्ताओं ने जो भी दिशा निर्देश दिये हैं, परिषद् उस ओर बढ़ने का अवश्य प्रयास करेगा।

अंत में प्रो0 चन्द्रिका प्रसाद ने औपचारिक रूप से, सम्मानिक व्यक्तियों, सभा में पधारे विशिष्ट वैज्ञानिकों, टेलीविजन, रेडियो और समाचार पत्रों के प्रतिनिधियों तथा परिषद् के पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व सम्पादक, 'विज्ञान' मासिक

2. परिषद् की वाराणसी शाखा में प्रो0 नन्दलाल सिंह स्मृति व्याख्यान 2001 सम्पन्न

विज्ञान परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष 1 अगस्त को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं हिन्दी में विज्ञान लेखन के पुरोधा स्व0 प्रो0

नन्दलाल सिंह की स्मृति में एक व्याख्यान आयोजित किया जाता है। इस वर्ष यह व्याख्यान विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के भू-भौतिकी विभाग में सम्पन्न हुआ। व्याख्यान के लिये भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से संबद्ध वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव को आमंत्रित किया गया था जिन्होंने 'भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तन और कामायनी' विषय पर रोचक व्यांख्यान दिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता भौतिकी विभाग के अध्यक्ष प्रो0 महाराज नारायण मेहरोत्रा ने की। आरंभ में शाखा परिषद् के संयोजक डॉ0 श्रवण कुमार तिवारी ने मुख्य व्याख्याता तथा विज्ञान परिषद् प्रयाग से आये परिषद् के प्रधानमंत्री, अन्य सदस्यों तथा विज्ञान संकाय के विभिन्न विभागों के उपस्थित अध्यापकों, छात्रों एवं छात्राओं का स्वागत करते हुये परिषद् की गतिविधियों एवं प्रो0 नन्दलाल सिंह का संक्षिप्त परिचय दिया। तदन्तर प्रो0 मेहरोत्रा ने व्याख्याता का परिचय दिया। व्याख्याता डॉ0 श्रीवास्तव. जी ने भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तनों एवं विभिन्न हिमानी युगों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया ओर विशिष्ट परिवर्तनों के परिदृश्यों का स्वरूप प्रकट करेने के लिये प्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री जयशंकर प्रसाद जी की 'कामायनी' से उपयुक्त पद सुनाकर व्याख्यान को रोचक बनाने का प्रयास किया।

व्याख्यान के बाद विज्ञान परिषद् प्रयाग की ओर से डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव को डॉ0 रत्नकुमारी स्मृति पदक से सम्मानित किया गया।

विज्ञान संकाय प्रमुख प्रो0 एस.एन. लाल ने संकाय की ओर से प्रो0 नन्दलाल सिंह के प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त किया तथा इस आयोजन के लिये प्रो0 शिवगोपाल मिश्र तथा विज्ञान परिषद् के प्रति आभार प्रकंट किया।

अन्त में वाराणसी शाखा के अध्यक्ष प्रो0 ब्रज रतन दास गुप्त ने व्याख्याता, अध्यक्ष, परिषद् के प्रधानमंत्री, अन्य सदस्यों एवं समस्त उपस्थित अध्यापकों एवं छात्रों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित किया।

डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
सचिव, विज्ञान परिषद् वाराणसी शाखा

परिषद् की वड़ोदरा शाखा से

विश्व पर्यावरण दिवस पर समारोह आयोजित

विज्ञान परिषद की वडोदरा शाखा ने गत 4 एवं 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस समारोह का सफलतापूर्वक आयोजन किया। 4 जून सोमवार को सायंकाल इण्डियन एसोसियेशन फॉर एअर पोल्यूशन कन्ट्रोल, केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड एवं विज्ञान संकाय, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में एक परिचर्चा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता पूर्व उपकुलपति प्रो0 एस.डी. सबनीस ने की।

पर्यावरण दिवस के दिन 5 जून को स्कूल के विद्यार्थियों हेतु चित्रकला-पोस्टर प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। विज्ञान संकाय में प्रदूषण एवं पर्यावरण पर On the spot competition में 43 विद्यालयों के अनेक छात्रों ने भाग लिया। इस प्रतियोगिता हेतु शहर की प्रमुख संस्था लायन्स क्लब ऑफ बरोडा (प्रमुख) द्वारा पुरस्कार प्रदान किये गये। संस्था के अध्यक्ष डॉ0 बिडे ने छात्रों को प्रमाण पत्र एवं पेन उपहार में प्रदान किये।

डॉ० अरुण आर्य
सचिव
विज्ञान परिषद् वड़ोदरा शाखा

डॉ० रमेश दत्त शर्मा को साहित्यकार सम्मान

हिन्दी अकादमी दिल्ली ने विज्ञान साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान के लिये विज्ञान परिषद् दिल्ली शाखा के अध्यक्ष डॉ0 रमेश दत्त शर्मा को साहित्यकार सम्मान प्रदान किया है। बधाइयाँ !

पोटाश एवं फास्फेट इंस्टीट्यूट ऑफ कनाडा, इण्डिया प्रोग्राम

सेक्टर 19, डुण्डाहेडा, गुड़गाँव (हरियाणा)

के निदेशक

डॉ० के०एन० तिवारी

द्वारा अनूदित, रचित एवं सम्पादित, पहली बार हिन्दी में उपलब्ध कराई गई उपयोगी पुस्तकें तथा गाइड

-: अनूदित :-

1. अन्तर्राष्ट्रीय मृदा उर्वरता मैनुअल
2. पोषक तत्वों की टीम के साथ मनोरंजन
3. अपने विश्व में नाइट्रोजन ज्ञान
4. अपने विश्व में फास्फोरस ज्ञान
5. अपने विश्व में पोटैशियम ज्ञान
6. हमारा पर्यावरण : कुछ तथ्य

-: मौलिक :-

1. फर्टिलाइजर गाइड
2. सब्जी वाली फसलों में संतुलित उर्वरक प्रयोग
3. प्रमुख फसलों में पोटैशियम कमी की पहचान और उसका सुधार
4. भारतीय कृषि में पोटाश

उपर्युक्त पुस्तकें रंगीन चित्रों से युक्त हैं और छात्रों, अध्यापकों तथा कृषि प्रसार कर्मियों के लिये अति उपयोगी हैं

ये पुस्तकालयों के लिये अपरिहार्य हैं
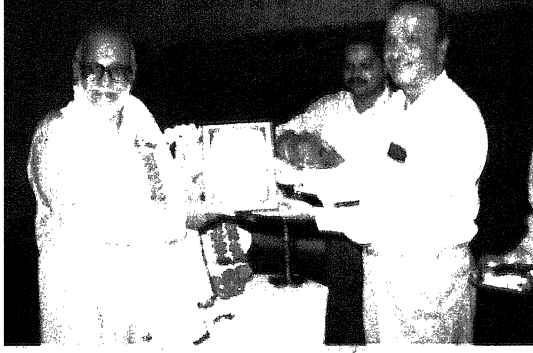
डॉ० एस. के. जोशी द्वारा
विज्ञान परिषद् प्रयाग की मानद फेलोशिप प्राप्त करते
प्रो० एम. जी. के. मेनन

डॉ० एस. के. जोशी द्वारा
विज्ञान परिषद् प्रयाग की मानद फेलोशिप प्राप्त करते
डॉ० पी. एन. टंडन
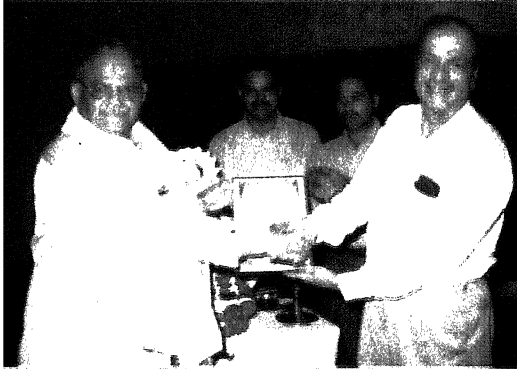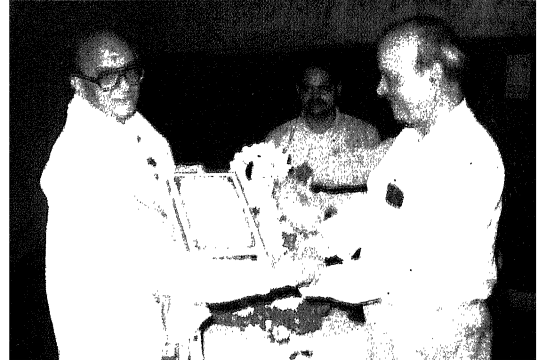
डॉ० एस. के. जोशी द्वारा
विज्ञान परिषद् प्रयाग की मानद फेलोशिप प्राप्त करते
डॉ० वी. पी. शर्मा

विज्ञान परिषद् के वार्षिक समारोह में सम्मानित हिन्दी सेवी (बाएँ से)
डॉ० चंद्रिका प्रसाद, डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० एस. के. जोशी
डॉ० एम. जी. के. मेनन, डॉ० पी. एन. टंडन, डॉ० वी. पी. शर्मा
डॉ० दिनेश मणि, डॉ० के. एन. उत्तम तथा श्री विजय चितौरी

ISSN : 0373-1200

अक्टूबर 2001

सी. एस. आई. आर. तथा डी. बी. टी. नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०
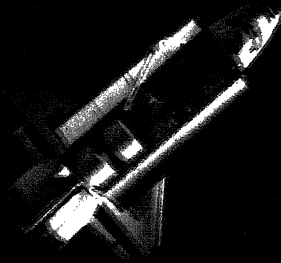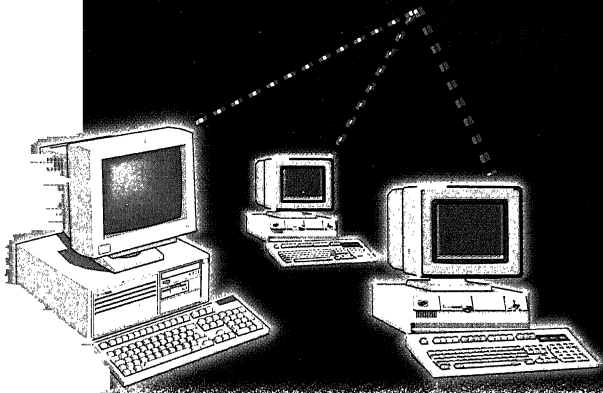
- बढ़ रहा है 'ई' दायरा
- बच्चों में मोटापे का बढ़ता प्रकोप
- भारत के नाभिकीय ऊर्जा स्रोत
- भारत का चन्द्रमा कार्यक्रम
- साबुन

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 7
अक्टूबर 2001

मूल्य
आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति
डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक
डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक
नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग
शादाब खालिद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

ऊर्जा

भारत के नाभिकीय ऊर्जा स्रोत-क्षमता, विकास व भविष्य

शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

भारत में बिजली की माँग 9 से 10 प्रतिशत वार्षिक मिश्रित दर से लगातार बढ़ रही है। वर्तमान संकेतों के अनुसार भारत को अगले 20 वर्षों में 200,000 मेगावाट अतिरिक्त बिजली उत्पादन क्षमता स्थापित करनी होगी। वर्तमान में ऊर्जा माँग के दो तिहाई भाग की पूर्ति कोयला, लिग्नाइट, तेल व प्राकृतिक गैस, हाइडल व नाभिकीय स्रोतों से होती है (तालिका–1) और बाकी एक–तिहाई भाग की पूर्ति जलावन लकड़ी, कृषि अवशेष व पशु विष्ठा द्वारा की जाती है।

तालिका–1 व्यवहार्यताओं अनुसार स्थापित बिजली उत्पादन (मेगावाट)

प्रकार	थर्मल*	हाइडल	नाभिकीय
1970–71	7906	6383	420
1980–81	17563	11791	860
1990–91	45768	18753	1565
1993–94	54369	20379	2005
1998–99	67560	22443	2225
1999–00	70499	23527	1840

*कोयला+लिगनाइट+डीजल+गैस+वायु (सभी मिलाकर)

भारत के पास कोयले के समुचित भण्डार हैं (500 मिलियन टन प्रति वर्ष – 100 वर्षों तक) जिनके माध्यम से बिजली उत्पादन माँग के एक बड़े भाग की पूर्ति कई दशकों तक की जा सकती है। पर अधिक से अधिक कोयला उत्पादन बढ़ाने पर भी भारत को अपनी बिजली आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य विकल्पों का सहारा लेना पड़ेगा।

तेल व प्राकृतिक गैस के भारतीय भण्डार अगले 24–25 वर्षों में समाप्त हो जाने की संभावना है और विश्व क तेल भण्डार अगले 43 वर्षों में समाप्त हो जायेंगे। उस पर वास्तविकता यह है कि भारत एक तेल आयात करने वाला देश है। भारत में इसकी दो तिहाई माँग की पूर्ति आयात द्वारा की जाती है।

भारतीय हाइडल क्षमता का 75 प्रतिशत भाग, भूकम्पीय दृष्टि से संवेदनशील हिमालय क्षेत्र में अवस्थित है। फिर हाइडल परियोजनाओं के निर्माण में विस्थापितों को नये स्थान पर बसाने व पानी के बँटवारे को लेकर देश के भीतर और पड़ोसी देशों के साथ विवादों का सिलसिला आरंभ होता है, जिसके समाधान में दशक बीत जाते हैं। भारतीय हाइडल क्षमता का पूर्ण दोहन, बिजली माँग के एक छोटे भाग की ही पूर्ति कर सकेगा।

भारत के पास नाभिकीय बिजली उत्पादन के लिये पर्याप्त यूरेनियम और मोनाजाइट (थोरियम प्राप्ति का स्रोत) भण्डार है। भारत का नाभिकीय कार्यक्रम भी परिपक्वता प्राप्त कर चुका है। अब समझ आने लगा है कि अंततः भारत को नाभिकीय बिजली पर ही भरोसा करना होगा, क्योंकि उसकी क्षमता सचिन तेन्दुलकर के समान स्पष्ट दिखाई देने लगी है। आईये देखते हैं कि नाभिकीय बिजली उत्पादन की भारतीय क्षमता क्या है व विकास कहाँ तक हुआ है और क्या कमी दिखाई देती है।

परमाणु ऊर्जा

एक परमाणु के अंतर से निर्मुक्त ऊर्जा को परमाणु ऊर्जा कहा जाता है। साधारणतः यह ऊर्जा परमाणु के मध्य में केंद्रित होती है, जिसे नाभिक कहते हैं। इसलिये परमाणु ऊर्जा को 'नाभिकीय ऊर्जा के नाम से भी जाना जाता है।

परमाणु ऊर्जा के उत्पादन के लिये 'यूरेनियम

और थोरियम' दो मूल स्रोत हैं। पर कोयला/लिग्नाइट व तेल/प्राकृतिक गैस के समान, ये पृथ्वी के अंतर के स्वतंत्र रूप में नहीं पाये जाते हैं, बल्कि अन्य खनिजों के अयस्कों व मिश्रणों को परिष्कृत कर इन्हें प्राप्त किया जाता है। यूरेनियम मुख्यतः अयस्कों से प्राप्त किया जाता है और थोरियम प्राप्त करने के लिये मोनाजाइट परिष्करण किया जाता है।

हमारी पृथ्वी के सौर मण्डल में पाये जाने वाले 'यूरेनस' ग्रह के नाम पर यूरेनियम नामकरण हुआ है और इसकी खोज का श्रेय एच.एम.क्लाप्रोथ को जाता है, जिन्होंने सर्वप्रथम वर्ष 1789 में पिचब्लैन्ड (यूरेनियम का खनिज) की पहचान स्थापित की। प्रयोगशाला में इसका प्रथम निष्कर्षण (एक्सट्रैक्शन) वर्ष 1842 में इ.पेलिगोट ने किया था।

काफी समय पहले तक समझा जाता था कि यूरेनियम एक दुर्लभ तत्व है, लेकिन अब ज्ञात हो चुका है कि पृथ्वी में मिलने वाली कई अन्य प्रसिद्ध धातुओं से यह ज्यादा मात्रा में विद्यमान है। उदाहरण के लिये पृथ्वी में यूरेनियम का अंश–

(अ). 2.7 पी.पी.एम. है (लगभग 100 करोड़ मिलियन टन से कुछ ज्यादा),

(ब) सोने से 700 गुना ज्यादा

(स) चाँदी से 25 गुना ज्यादा

(द) टिन, आर्सनिक, टंगस्टन और मोलिब्डेनम से कुछ अधिक है।

थोरियम की खोज बरजेलियस ने 1828 में की थी और उसका नामकरण 'थोर' नाम के केन्डिनेवियन भगवान– थन्डर (गर्जन) को सम्मानित करने के लिये किया। पृथ्वी की ऊपरी सतह में इसकी मात्रा 0.0012 प्रतिशत है, अर्थात् यूरेनियम से तीन गुना अधिक।

पृथ्वी की ऊपरी सतह पर इतनी भारी मात्रा में यूरेनियम व थोरियम की उपस्थिति का मुख्य कारण है– पृथ्वी के उद्भव की प्रक्रिया। ऐसा समझा जाता है कि लगभग 10,000 मिलियन वर्ष पूर्व सब कुछ आरंभ हुआ। उस समय सृष्टि, संघनित आदि अणु के रूप में, मात्र एक बिन्दु थी, जिसके विस्फोटन से आकाशगंगाओं और संघनित पदार्थों का उद्भव हुआ।

हमारे सूर्य के चारों ओर फैले धूल व गैस के बादलों के टकराव व सम्मिलन द्वारा पृथ्वी का प्रारंभिक तरल स्वरूप, लगभग 460 करोड़ वर्ष पूर्व उभरने लगा। फिर समय के अंतराल में प्रारंभिक पृथ्वी ने विभिन्न चरणों से गुजरते हुये सघन रूप धारण करना आरंभ किया, जिसमें नाभिकीय ऊर्जा ने प्रमुख भूमिका निभाई।

गुरुत्व प्रभाव के अंतर्गत, युग्मित रूप में नाभिकीय ऊर्जा के कारण लौह तत्व गलकर पृथ्वी के अंतर में डूब कर जमा होने लगे और तरलशील सिलिकेट्स व आक्साइड्स ने तरल रूप में स्थानांतरित होकर पृथ्वी के बाहरी आवरण का स्थान लेना आरंभ किया। धीरे–धीरे इस बाहरी आवरण ने ठोस भूपटल का रूप ले लिया। ज्वालामुखियों के फटने पर निकली गैसों से वायुमण्डल का निर्माण हुआ और वाष्प के बादल सघन होकर पृथ्वी में वृष्टि करने लगे– इस प्रकार समुद्रों का निर्माण आरंभ हुआ।

वर्तमान में दिखाई देने वाले हमारे महाद्वीपों व समुद्रों का क्षेत्रीय फैलाव स्थायी नहीं है। पृथ्वी प्रारंभिक काल से ही अपना स्वरूप निरंतर बदलती रही है और उसका यह क्रम आज भी जारी है। प्राकृतिक ऊर्जा के सभी स्रोत इस परिवर्तनशील प्रक्रिया को सहारा देते हैं, जिसमें नाभिकीय ऊर्जा भी एक महत्वपूर्ण कारक है।

पृथ्वी के इस लम्बे इतिहास में मानव ने अपना पहला कदम लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व ही रखा है। लेकिन मानव एक बुद्धिमान प्राणी है और अपने प्रयोगों द्वारा इस अनदेखे इतिहास का निर्माण करने में सफलता अर्जित की है। इस कठिन व दुष्कर कार्य संपादन के लिये मानव ने अपने समकालीन ज्ञान के आधार पर कई भिन्न–भिन्न स्रोतों को आधार बनाया है जिसमें नाभिकीय खनिजों के गुणों की जानकारी ने प्रमुख भूमिका निभाई है। उदाहरण के लिये–

(अ) वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया जा चुका है कि एक ग्राम यूरेनियम 4500 मिलियन वर्षों में आधा ग्राम हो जाता है। इसे यूरेनियम की अर्ध–आयु कहते हैं। अब चूँकि यूरेनियम सर्वव्यापी है, इसलिये एक

चट्टान में निहित उसकी क्षय–दर ज्ञात करने पर समय का अनुमान लगाया जाता है कि उस स्तर के क्षय में कितना समय लगा होगा। अर्थात् उस चट्टान की उम्र क्या है।

(ब) यूरेनियम का क्षय क्रमिक रूप में होता है– पहले थोरियम, फिर रेडियम और अंत में सीसा (लेड)। 4500 मिलियन वर्षों में एक ग्राम यूरेनियम आधा होने पर 0.433 ग्राम लेड का निर्माण होता है। इस आधार पर एक चट्टान के भीतर लेड की मात्रा ज्ञात कर, उस चट्टान की उम्र का निर्धारण करते हैं।

पृथ्वी की सतह पर इतनी भारी मात्रा में यूरेनियम, थोरियम आदि के विद्यमान होने के कारण नाभिकीय विकिरण, प्राकृतिक रूप से सर्वव्यापी है। इस तथ्य को सभी को समझना है।

भारत में 'परमाणु ऊर्जा आयोग' का गठन 10 अगस्त 1948 के दिन भारत सरकार द्वारा किया गया था और 'भाभा एटामिक रिसर्च सेन्टर' की स्थापना 1954 में की गई। परमाणु ऊर्जा दोहन के सभी कार्य 'एटामिक एनर्जी डिपार्टमेन्ट' द्वारा सम्पादित किये जाते हैं और इस विभाग का संचालन कार्यभार भारत के प्रधानमंत्री द्वारा किये जाने की परंपरा बन चुकी है, विशेषकर इसलिये कि वह एक अत्यन्त संवेदनशील क्षेत्र है।

इस एटामिक एनर्जी डिपार्टमेन्ट के अंतरगत निम्नलिखित इकाइयाँ कार्य करती हैं–

- एटामिक मिनरल डिविजन (ए.एम.डी.) जिसका मुख्यालय हैदराबाद में है। यह विभाग भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण का कार्य करता है।
- यूरेनियम रिसर्च इन्स्टीट्यूट। अनुसंधान व विकास कार्य।
- यूरेनियम कारपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड, जिसका मुख्यालय जड़गुड़ा (बिहार) में है। यह यूरेनियम का खनन कार्य करता है।
- इन्डियन रेयर अर्थ्स लिमिटेड (आई.आर.आई.), जिसका मुख्यालय मुम्बई में है। यह संस्थान मोनोजाइट खनन कार्य के अलावा उनका परिष्करण कर विभिन्न उपोत्पादन प्राप्त कर उनका विक्रय करता है।
- न्यूक्लिअर पावर कारपोरेशन, मुख्यालय मुम्बई। बिजली उत्पादन कार्य
- भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र।

यूरेनियम– भारत में इसकी उपलब्धता का सर्वप्रथम विवरण एमिल स्टोहर नाम के वैज्ञानिक ने वर्ष 1860 में जर्मनी में प्रकाशित लेखों में किया था, जिसमें उसने बिहार प्रान्त के सिंघभूम जिले की 'लापसो पहाड़ियों' में कापर यूरेनाइट पाये जाने की सूचना दी थी।

वर्ष 1993 तक भारत में यूरेनियम के खनन योग्य भण्डार, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान व मेघालय में मिलने की जानकारी थी, जिनकी कुल भण्डार क्षमता 66360 मीट्रिक टन आँकी गई थी।

पर वर्ष 1998 के आरंभ में ए.एम.डी. ने कर्नाटक प्रदेश के गुलबर्गा जिले में अवस्थित भीमा–घाटी के 'गोगी' क्षेत्र में यूरेनियम के नये व अत्यधिक समृद्ध भण्डार पाये जाने की घोषणा की है। इस नये भण्डार में, वेधन द्वारा प्राप्त नमूनों की जाँच के पश्चात् 0.1 प्रतिशत यूरेनियम आक्साइड होने के प्रमाण मिले हैं। कनाडा के विश्व के सबसे समृद्ध यूरेनियम भण्डार पाये जाते हैं और गोगी के ये नये भण्डार समृद्धि के अनुसार दूसरे स्थान पर आते हैं।

गोगी क्षेत्र में यूरेनियम भण्डार, विशिष्ट शिरा निक्षेप (टिपिकल वेन डिपाजिट) के रूप में चूना पत्थरों के अंतर से संकोणाश्मित क्षेत्र (ब्रेशियेटेड जोन) में मिलते हैं। यद्यपि इससे कुछ अधिक समृद्ध भण्डार आस्ट्रेलिया में भी पाये जाते हैं पर गोगी के निक्षेपों की मोटाई अधिक है और इतनी मोटाई लिये निक्षेप कहीं और नहीं पाये गये हैं। इसके पूर्व ए.एम.डी. ने आंध्र प्रदेश के नालगोन्डा जिले में काफी मात्रा में यूरेनियम भण्डार पाये हैं। नालगोन्डा में यूरेनियम विषमविन्यासंयुक्त निक्षेपों के रूप में मिलता है। इन नई खोजों के आधार पर ए. एम.डी. के भूवैज्ञानिकों का मानना है कि इस प्रकार के यूरेनियम निक्षेप के आंध्र प्रदेश की परवाल घाटी, कर्नाटक व महाराष्ट्र की कलाड्गी घाटी, उड़ीसा का छत्तीसगढ़ घाटी व मध्य प्रदेश की अंबुझार घाटी क्षेत्रों में भी पाये जाने की प्रबल संभावना है। इसके साथ–साथ समकालीन

विशाल विंध्याचल घाटी में भी यूरेनियम निक्षेपों की खोज की जा सकती है।

ए.एम.डी. के सूत्रों के अनुसार नालगोन्डा, येल्लापुर, त्रिचियाल क्षेत्र में स्थापित किये गये यूरेनियम भण्डार बिहार के सिंहभूम क्षेत्र से कहीं ज्यादा है, जहाँ भारत में यूरेनियम उत्पादन करने वाली तीन खदानें (जदुगुडा, भाटिन और नरबा पहाड़) कार्यरत हैं।

गोगी क्षेत्र में गवेषण कार्य जारी है और यदि नये वेधन स्थलों से प्राप्त नमूनें में पहले के समान नतीजे सामने आते हैं, तो यह भारत का सबसे समृद्ध यूरेनियम निक्षेप होगा।

भारत में उल्लिखित नये यूरेनियम निक्षेपों का मिलना ऊर्जा स्रोत वर्धन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि न्यूक्लिअर बिजली उत्पादन का मुख्य ईंधन प्राकृतिक यूरेनियम है।

मोनाइजाइट – भारत में मोनाजाइट भण्डारों का श्रेय हर शोमबर्ग नाम के जर्मन केमिस्ट को जाता है जिसने वर्ष 1909 में भारत से आयातित नारियल जटाओं के थैलों में चिपटे, चमकीले पीले–भूरे रंग के बालू कणों को देख कर, उन्हें मोनाजाइट के रूप में पहचाना।

मोनाजाइट के साथ थोरियम के अलावा कई रेअर्स अर्थ्स समूह' पाये जाते है, जिन अवयवों का अनेक व्यापारिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपयोग किया जाता है।

इस खोज के पश्चत् 1911 से स्वतंत्रता मिलने के समय तक मोनाजाइट बालू का भारत से लगातार निर्यात होता रहा। वर्ष 1949 में भारत सरकार ने 'एटामिक एनर्जी कमीशन' का गठन कर इस निर्यात को बन्द कर दिया ताकि इन्हें परिष्कृत कर मूल्य वृद्धि का सम्पूर्ण लाभ उठाया जा सके।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने 'आर.आर.ई.' का गठन 18 अगस्त 1950 में कर उसे मोनाजाइट खनन व परिष्करण द्वारा अन्य उपोत्पादन करने का भार सौंपा। आई.आर.ई. के अलावा, केरल सरकार का एक सार्वजनिक प्रतिष्ठान 'केरल मिनरल एण्ड मेटल्स लिमिटेड' भी खनन और अन्य खनिज उपोत्पादन का कार्य करता है।

थोरियम प्राप्त करने का मुख्य स्रोत मोनाजाइट है। भारत की समुद्रतटीय रेखा की लम्बाई पश्चिम में पाकिस्तान व पूर्व में बंगलादेश तक लगभग 5500 किलोमीटर है और इसके भीतर जहाँ कहीं भी बालू तट पाये जाते हैं उसमें मोनाजाइट के भण्डार हैं, जिनमें थोरियम आक्साइड (ThO_2) की की मात्रा 8 से 10 प्रतिशत पायी जाती है जो विश्व में पाये जाने वाले अन्य भण्डारों से अधिक है। इन बालू तटों के अलावा कुछ छोटे प्लेसर भण्डार बिहार, पश्चिम बंगाल व तमिलनाडु के अन्तरस्थलीय भागों में भी मिलते हैं।

विश्व में सबसे अधिक मोनाजाइट भण्डार भारत में पाये जाते हैं। वर्ष 1993 की गणना के अनुसार इसके 5.05 मिलियन टन से कुछ ज्यादा भण्डार भारत में हैं और इनसे 0.45 मिलियन टन थोरियम आक्साइड प्राप्त किया जा सकता है।

मोनाजाइट प्राप्त करने के लिये केरल और उड़ीसा के बालू तटों का खनन कार्य आई.आर.ई. द्वारा किया जाता है। केरल प्रान्त में के.एम.एम.एल. भी इसमें कार्यरत है। मोनाजाइट वास्तव में रेअर अर्थ्स व थोरियम का फास्फेट होता है जिस पर रासायनिक उपचार और प्रक्रिया कर आई.आर.ई. कई औद्योगिक रसायानों (रेअर अर्थ्स– क्लोराइड/फ्लोराइड/आक्साइड, सीरियम आक्साइड पालिशिंग पाउडर, डिडीनियम कार्बोनेट, ट्राइसोडियम फास्फेट, थोरियम आक्साइड आदि) का उत्पादन करता है, जिसके लिये इस संस्थान ने तमिलनाडु, केरल व उड़ीसा में संयंत्र स्थापित किये है। इन सूक्ष्म मात्रिकों के उत्पादन का अधिकतर भाग अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान जैसे विकसित देशों को निर्यात किया जाता है जिसके माध्यम से आई.आर.ई. को भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा (वर्ष 1988 में 50 करोड़ रुपये) प्राप्त होती है। लेकिन ट्राइसोडियम फास्फेट का सारा उत्पादन (लगभग 5000 टन प्रति वर्ष) देश में ही बेचा जाता है जो डिटर्जेन्ट के उत्पादन और इन्डस्ट्रियल बायलरों के डि–ग्रीसिंग और डि–स्केलिंग के लिये काम में लिया जाता है।

.... शेष पृष्ठ 7 पर

पर्यावरण और स्वास्थ्य

डॉ0 जे.एस. यादव

पर्यावरण वह भौतिक व जैविक वास है जो हमें घेरे हुये है, वह जिसे हम देख, सुन, छू, सूँघ और चख सकते हैं। अतः पर्यावरण का हमारे जीवन से अटूट संबंध है। पर्यावरण के विभिन्न घटकों, यथा धरती, जल, वायु, आकाश, पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं आदि द्वारा ही जीवन का स्तर तय होता है। किसी भी घटक में विकार आ जाये तो मनुष्य का जीवन प्रभावित होना आवश्यक है।

यदि हम देश में स्वास्थ्य सेवाओं पर एक दृष्टि डालें तो पायेंगे कि इन सेवाओं की दशा कुछ अच्छी नहीं है। हमारी स्वास्थ्य सेवायें खस्ता हाल हैं। देश की अधिकतर जनसंख्या की पहुँच से बाहर हैं। महानगरों को छोड़ कर अन्य स्थानों पर जहाँ अस्पताल हैं भी वहाँ भी सुविधायें नदारद हैं। ऐसी स्थिति में 'परहेज इलाज से बेहतर है' पर ही निर्भर होना पड़ता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के महानिदेशक हाफडन महलर ने ठीक ही कहा था कि स्वास्थ्य के सूचक के रूप में जनसंख्या के अनुपात में पानी के नलों का जितना महत्व है, उतना डाक्टरों और अस्पतालों का नहीं है।

प्रश्न दृष्टिकोण का है। वर्तमान स्वास्थ्य योजना में ज्यादा जोर रोगों के इलाज पर है, रोगों को पैदा होने से रोकने पर नहीं। यदि थोड़ा गौर से देखें तो पर्यावरण के विभिन्न घटकों में उत्पन्न विकार अनेक रोगों की उत्पत्ति के लिये जिम्मेवार हैं और पर्यावरण की रक्षा करके ऐसे रोगों को पैदा होने से रोका जा सकता है। वहीं पर्यावरण के प्रदूषण को रोक कर बहुत से रोगों को फैलने से रोका जा सकता है। उदाहरण के लिये यदि मलेरिया व डेंगू जैसे रोगों की रोकथाम करनी है तो उन स्थानों की सुध लेनी होगी जहाँ मच्छरों का प्रजनन होता है। अतिसार को रोकने के लिये स्वच्छ पेयजल का प्रबंध करना ही पड़ेगा।

मोटे तोर पर पर्यावरण दो प्रकार से मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। एक तो सीधे तौर पर वायु और जल में प्रदूषक फैलाकर—उद्योगजनित प्रदूषक और वाहनजनित प्रदूषक। नगरों में, विशेष तौर पर बीमारियाँ वायु और जल की गुणात्मकता में हो रहे ह्रास से जुड़ी हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य उसके काम धंधे के स्थान के पर्यावरण की गुणात्मकता से भी संबंधित है। पिछले कुछ वर्षों में यह स्पष्ट हुआ है कि कुछ व्यवसायों, यथा पत्थर खदानों, कपड़ा मिलों आदि में मजदूर व्यवसायजनित रोगों से अधिक पीड़ित होते हैं। यद्यपि कानून के मुताबिक ऐसे व्यवसायों के मालिकों को अपने मजदूरों को इस प्रकार के उपकरण मुहैया कराने चाहिये जिनसे वे खतरों से कम से कम सामने हों किंतु वस्तुतः कानून का पालन होता नहीं और विवश मजदूर व्यवसायजनित रोगों की पीड़ा भुगतते रहते हैं, वह भी बिना किसी मुआवजे के।

नगरों की चमक दमक और गाँवों में बेरोजगारी लगातार शहरी जनसंख्या में बढ़ोत्तरी के कारण बनते हैं। बढ़ती भीड़ और गंदी बस्तियाँ अक्सर तपेदिक व अन्य छूत की बीमारियों के फैलाव में सहायक होती हैं। ऐसी स्थिति में पर्यावरण में सुधार स्वास्थ्य सेवाओं का मुख्य मुद्दा होना चाहिये।

वायु, जल व भूमि के भौतिक, रासायनिक व जैविक गुणों में ऐसे अवांछित परिवर्तन जो स्वास्थ्य, उत्तरजीविता अथवा मनुष्यों तथा अन्य जीवों की क्रियाओं को हानि पहुँचाते हैं प्रदूषण कहलाते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में औद्योगिकरण, नगरीकरण व तथाकथित जीवनस्तर में उन्नति प्रगति की दौड़ की रफ्तार में अत्याधिक तेजी आयी है। इससे विभिन्न प्रकार के प्रदूषण में भी बढ़ोत्तरी हुई है। बढ़ते हुये प्रदूषण के

मानव स्वास्थ्य पर हो रहे दुष्प्रभाव घातक सिद्ध हो रहे हैं। इनमें सर्वाधिक खतरनाक हैं वे रसायन, जो वायु, जल, मृदा आदि पर्यावरण के सभी घटकों का प्रदूषित करते हैं। जिस गति से रसायनों का निर्माण हो रहा है, उस गति से उनके गुण दोषों की जाँच पड़ताल नहीं हो पा रही है। पिछले 50 सालों में लगभग 50 लाख रसायन बनाये गये हैं जिनमें से 60–70 हजार रसायन तो ऐसे हैं जिनका दैनिक उपयोग की हजारों वस्तुओं में प्रयोग होता है। किन्तु इनके गुण दोषों की पूरी जानकारी तो दूर, अभी तक उनकी मोटी जानकारी भी उपलब्ध नहीं है। अमेरिका में किये गये एक अध्ययन से पता चला है कि दैनिक उपयोग में आने वाले 80 प्रतिशत रसायनों की घातकता के विषय में वैज्ञानिक स्वयं भी अनभिज्ञ हैं।

मनुष्य भोजन के बिना तो महीनों जीवित रह सकता है, जल के बिना भी कई दिन रहा जा सकता है किन्तु वायु उपलब्ध न हो तो श्वास बंद होते तनिक भी देर नहीं लगती। विश्व बैंक ने हाल ही में पर्यावरण के ह्रास पर अध्ययन कराया है। केटर ब्रैन्डन और क्रिस्टन होमान द्वारा किये गये अध्ययन का विश्लेषण विज्ञान व पर्यावरण केन्द्र के अध्यक्ष प्रख्यात वैज्ञानिक अनिल अग्रवाल ने किया है। उक्त अध्ययन से चौंका देने वाले तथ्य सामने आये हैं, जैसे केवल वायु–प्रदूषण के कारण भारत के छः प्रमुख नगरों में प्रतिवर्ष 40 हजार से अधिक व्यक्ति अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इससे भी अधिक चौंका देने वाली बात यह है कि वायु व जल प्रदूषण के कारण प्रभावित स्वास्थ्य व्यय 24500 करोड़ रुपये प्रति वर्ष आँका गया है जबकि सभी प्रकार के प्रदूषणों के कारण होने वाला स्वास्थ्य व्यय 340000 करोड़ रुपये है जो देश की जी.डी.पी. का 4–5 प्रतिशत बैठता है। दूसरे शब्दों में, देश की पूरे वर्ष की आर्थिक वृद्धि का सफाया।

उक्त रपट में बताया गया है कि अहमदाबाद, मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली, कानपुर और नागपुर में पर्यावरण में धूल के कणों की मात्रा विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों से तीन गुणा पायी गई। वायु में धूल कणों की मात्रा का सीधा सम्बंध अकाल मृत्यु से है। चूँकि इनके कारण श्वसन–तंत्र के और हृदय रोग होते हैं और फेफड़ों की बीमारियाँ उत्पन्न होती है, जिनसे आलस्य व प्रमाद उत्पन्न होता है और गौर से देखा जाये तो वायु प्रदूषण से होने वाले स्वास्थ्य व्यय के आँकड़ों में स्पष्ट कमी नजर आती है, क्योंकि भारत के विभिन्न नगरों की वायु की गुणवत्ता का आकलन नियमित रूप से हो नहीं पा रहा। अतः उससे होने वाला घाटा भी कहीं अधिक होने की संभावना है। वर्तमान आँकड़े हिम–शैल का शिखर मात्र दर्शाते हैं। अमेरिका तक में धूल कणों के प्रदूषण से साठ हजार मौतें होती हैं।

वायु प्रदूषको से होने वाली साधारण बीमारियाँ हैं सिरदर्द, (कारण नाइट्रोजन डाइआक्साइड, एल्डीहाइड व बेंजीन), आँखों में जलन (कारण अमोनिया, एल्डीहाइड व नाइट्रोजन डाइआक्साइड), खुरखुरी खाँसी (कारण सल्फर डाइआक्साइड व धूलकण), दम घुटना और छाती में दर्द (कारण नाइट्रोजन डाइआक्साइड), खुरखुराहट, एन्जायनल दर्द, व्यायाम उपरान्त ई.सी.जी. में परिवर्तन व ऐरिथमिया रोग (कारण कार्बन मोनोक्साइड) और जी मितलाना आदि (कारण सल्फर डाइआक्साइड व नाइट्रोजन डाइआक्साइड)।

एक अनुमान के अनुसार विभिन्न स्रोतों से प्रतिदिन लगभग 2000 घन मीट्रिक टन प्रदूषक दिल्ली के वायुमण्डल में घुल मिल जाते हैं जबकि मुम्बई में इनकी मात्रा 3971 घन मीट्रिक टन है। इनमें से 52 प्रतिशत तो केवल वाहनों का धुआँ होता है, 5–10 प्रतिशत घरेलू धुआँ और शेष उद्योगों से उत्पन्न प्रदूषण होता है। कल्पना कीजिये दिल्ली में हर व्यक्ति ऐसी प्रदूषित 23 किग्रा0 वायु साँस के द्वारा फेफड़ों में भरता है।

नेशनल एनवायरनमेण्टल इंजिनियरिंग एण्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट के वैज्ञानिकों के अनुसार भारत में उपलब्ध कुल पानी का लगभग 70 प्रतिशत दूषित है। योजना आयोग भी मानता है कि उत्तर की डल झील से लेकर दक्षिण की पेरियार और चलियार नदी तक, पूर्व में दामोदर और हुगली से लेकर पश्चिम की ठाणा उपनदी तक पानी के प्रदूषण की स्थिति एकसमान भयानक है। गंगा जैसी हमारी सदानीरा नदियाँ भी आज खूब प्रदूषित हो रही हैं। अर्थात् जल प्रदूषण के मामले में देश कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक सा हो चला है।

आश्चर्यजनक तो यह तथ्य है कि उद्योगों के

गंदे पानी से होने वाले जल प्रदूषण से लगभग चार गुना जल प्रदूषण हमारी बस्तियों और नगरों से निकलने वाले जल स्रोतों में गिरा दिया जाता है। इस भारी प्रदूषण का परिणाम राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिये एक गंभीर खतरा है। एक मोटे अनुमान के अनुसार भारत में होने वाली दो तिहाई बीमारियाँ जैसे टायफाइड, पीलिया, हैजा, अतिसार और पेचिश आदि प्रदूषित पानी से होती हैं। यह भी अनुमान लगाया गया है कि प्रतिवर्ष पानी के कारण होने वाली बीमारियों के कारण 7 करोड़ 30 लाख कार्य दिवस नष्ट होते हैं। प्रदूषित जल से होने वाली बीमारियों के इलाज का खर्च और उनसे होने वाली हानि का अंदाजा लगभग 1500 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष आँका गया है।

ताजा अध्ययनों से पता चला है कि भूमिगत जल के प्रदूषण की समस्या भी दिनों दिन बढ़ रही है। गांधी शांति प्रतिष्ठान के जोधपुर केन्द्र की एक रिपोर्ट के अनुसार जोधपुर, पाली और बालोतरा के लघु उद्योग क्षेत्र के लगभग 1500 छपाई केन्द्र प्रतिदिन 1.5 करोड़ लीटर गंदा पानी खुली नालियों, नदियों के पाटों और तालाबों में उड़ेलते हैं। मिट्टी के रेतीला होने के कारण पानी के साथ जहरीले रसायन कण छन कर उन कुओं, तालाबों और जलाशयों में जा मिलते हैं जिन से कम से कम दस लाख लोगों के लिये जल आपूर्ति होती है। जोधपुर विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र विभाग में उन अवशेषों में कई ऐसे तत्व पाये गये हैं जो कैंसर फैलाते हैं।

सातवें दशक की हरित क्रांति के लाभ तो अब तक लगभग तिरोहित हो गये हैं, बच गई है जहरीली मृदा। रासायनिक कीट–नाशकों व रासायनिक खादों का प्रयोग इतना बढ़ा कि लगभग प्रत्येक खाद्य पदार्थ में उनके अंश पाये जाने लगे हैं। अन्न, फल, सब्जियाँ, दूध, मांस, मछली सभी में– जहाँ से ये जहरीले पदार्थ शरीर में पहुँच जाते हैं और स्वास्थ्य पर बुरा असर डालते हैं, असाध्य रोग पैदा करते हैं और अकाल मृत्यु का कारण बनते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में व्यवसायजनित खतरों की ओर भी ध्यान दिया गया है। जहाँ खजिन–धूल फेफड़ों की बीमारियों को जन्म देती है, सिलिका और एस्बेस्टास ने तो बीमारियों को अपने नाम तक दे दिये हैं– सिलिकोसिस व एस्बेस्टोसिस। इतना ही नहीं, धंधे के खतरे शरीर की जानलेवा बीमारियों के साथ-साथ आनुवांशिक रोगों तक का कारण बनते हैं और न केवल वर्तमान को भयावह बनाते हैं अपितु भविष्य पर भी प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं। फलतः मनुष्य यदि आज स्वास्थ्य के साथ साथ एक सुखद भविष्य चाहता है तो उसे बिना समय खोये पर्यावरण की सुरक्षा और उसमें सुधार के लिये प्रभावी कदम उठाने पड़ेंगे।

अधिष्ठाता, विज्ञान संकाय
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र–136 119

पृष्ट 4 का शेष ....

मोनाजाइट के उल्लिखित सभी उपोत्पादों का निर्माण आई.आर.ई. के कोचीन स्थित प्लान्ट में किया जाता है। जिसकी क्षमता प्रतिवर्ष 4200 टन मोनाजाइट की प्रक्रिया करने की है। इसी प्लान्ट से हीलियम गैस का उत्पादन किया जाता है जो कि एक दुर्लभ गैस है और नाभिकीय कार्यक्रम के लिये प्रयोग की जाती है।

आई.आर.ई. और के.एम.एम.एल. बालू तट भण्डारों के कई अन्य आधारभूत खनिजों का उत्पादन करते हैं। जैसे इल्मेनाइट, स्टाइल, जिरकान, सिलिमेनाइट, गारनेट व मोनाजाइट। मोनाजाइट को छोड़ कर अन्य सब खनिजों के उत्पादन को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बेच दिया जाता है जहाँ इनकी माँग दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। मोनाजाइट उत्पादन को विशेष प्रक्रिया के लिये मनवलाकुरिची प्लान्ट (कन्याकुमारी से 25 किलोमीटर दूर) में भेजा जाता है।

क्रमशः

छवि निकुंज
बाँस बंग्लो कम्पाउण्ड, राँची रोड
पुरुलिया (पं0 बंगाल)

चन्द्र विजय की भारतीय योजना

✍ राकेश पाठक

आधे दशक पहले भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि विज्ञान को गरीबी और भुखमरी मिटाने का हथियार बनना चाहिये, लेकिन वर्तमान में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तेज गति समाज की प्राथमिकताओं को बदल रही है। जर्मनी और दक्षिण कोरिया के उपग्रहों के सफल प्रक्षेपण के बाद भारत संसाधनों की वैश्वीकृत खोज के लिये चन्द्रमा पर जाने का कार्यक्रम बना रहा है।

नवम्बर 1963 में त्रिवेन्द्रम के निकट मछुआरों के एक गाँव थुम्बा में साउंडिंग राकेट प्रक्षेपण सुविधा केन्द्र की स्थापना के साथ भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम शुरू हुआ। थुम्बा इक्वेटोरियल राकेट लांचिंग स्टेशन ने जिसे 1968 में संयुक्त राष्ट्र संघ को समर्पित कर दिया गया, भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन के विकास के लिये केन्द्र के रूप में कार्य किया।

चन्द्रमा पृथ्वी का एकमात्र उपग्रह है। चन्द्रमा पर पहुँचना और प्रयोगशाला स्थापित करके वहाँ से पृथ्वी का अध्ययन करना सभी देश अपनी प्राथमिकता समझने लगे हैं। यह एक विशिष्ट तरह का उपग्रह है क्योंकि पूरे सौरमंडल में यही एक उपग्रह है जो सामान्य उपग्रहों से बहुत बड़ा है। प्रायः सभी उपग्रह अपने मूल ग्रह के आकार का आठवाँ भाग हैं, जबकि चन्द्रमा पृथ्वी का चौथाई भाग है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर 27 दिन 7 घंटे 43 मिनट तथा 11.47 सेकंड में एक चक्कर लगाता है फलतः हमें चन्द्रमा का एक पक्ष ही दिखाई देता है।

नंगी आँखों से हम चन्द्रमा का जो भाग देखते हैं उसमें चमकीली और गहरी पट्टियाँ दिखाई देती हैं। चमकने वाला भाग पहाड़ों और ऊँचे पठारों का है जो सूर्य का प्रकाश पाते हैं। चन्द्रमा के धरातल पर ऊँची-ऊँची चोटियों वाले पहाड़ हैं जिनमें से अधिकांश 6000 मीटर तक ऊँचे हैं। चन्द्रमा के दक्षिणी ध्रुव के पास लिवनित पहाड़ चोटी हमारे देश की एवरेस्ट से भी ऊँची है।

चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति गैसों को बनाये रखने में असमर्थ होने के कारण चन्द्रमा पर वायुमण्डल का अस्तित्व नहीं है। इसके कारण वहाँ बड़ी विचित्र घटनायें होती हैं।

वहाँ कोई संध्या नहीं होती, दिन एकाएक निकलता है क्योंकि वहाँ ऐसा कोई वायुमण्डल नहीं है जो सूर्योदय से पूर्व प्रकाशित हो। वायुमण्डल के अभाव में चन्द्र धरातल पर ध्वनि भी नहीं है।

चन्द्रमा पर तापमान बहुत अधिक होता है। दिन का तापमान 100^0 से0 तक बढ़ जाता है और रात में यह घटकर 180^0 से0 ऋणात्मक हो जाता है। चन्द्र धरातल पर हीलियम–3 की प्रचुरता है। हीलियम–3 को सबसे सस्ता ईंधन माना जाता है तथा इसकी मात्रा पृथ्वी पर बहुत कम उपलब्ध है।

चन्द्र धरातल पर जल के बर्फ की प्राप्ति एवं हीलियम–3 की उपलब्धता ने कई राष्ट्रों को चन्द्रमा के कार्यक्रम को सोचने के लिये विवश कर दिया है। अमेरिका के साथ यूरोपीय अन्तरिक्ष संगठन भी चन्द्रमा पर अन्तरिक्ष स्टेशन स्थापित करने के लिये द्रुतगति से प्रयासरत है।

जुलाई 1969 में अपोलो–।। को चन्द्रमा की धरती पर उतारकर मानव की अन्तरिक्ष यात्रा में नया अध्याय खोल दिया। इस यात्रा ने मानव को चन्द्रमा की

धरती पर उतरने की संभावनायें दीं, जिसे पौराणिक कथाओं ने असम्भव माना था। अमेरिका ने इस आरम्भिक सफलता को अपोलो–12, 14, 15, 16 और 17 के माध्यम से जारी रखा।

रूस ने लूना–16 और लूना–17 को बिना मानव भेजा। लूना–16 चाँद की मिट्टी के नमूने एकत्र करके 12 दिन बाद पृथ्वी पर लौट आया जबकि लूना–17 अपने साथ चाँद बग्घी 'लूनोखेड–1' को ले गया जिसे कि चन्द्रमा की धरती पर चलाया गया। यह आठ पहियों वाली गाड़ी थी जिसमें चन्द्रमा की सतह के अध्ययन के उपकरण लगे थे। इस गाड़ी ने अपने परिणामों को रेडियो तरंगों के द्वारा पृथ्वी पर भेजा।

अपोलो के अन्तरिक्ष यात्रियों के द्वारा लाये गये चट्टानों और मिट्टी के नमूनों ने स्पष्ट कर दिया है कि चन्द्रमा भी पृथ्वी के समान लगभग 460 करोड़ वर्ष पूर्व बना था।

चन्द्रमा की सतह पर पानी की खोज से चन्द्रमा के प्रति पुनः रुचि जगी है। फिर हमारा देश इसमें पीछे क्यों रहे! भारत सन् 2005 तक चन्द्रमा पर चालकरहित स्पेसक्राफ्ट भेजने वाला है। इसके फलस्वरूप रूस, अमेरिका और जापान के बाद भारत चन्द्रमा पर अन्तरिक्ष यान भेजने वाला चौथा देश हो जायेगा।

भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन ने चन्द्रमा के बारे में प्राथमिक अध्ययन को पूरा कर लिया है और आगामी पाँच वर्षों में यह संगठन एक कुशल और प्रौद्योगिक क्षमता वाला परीक्षण यान चन्द्रमा पर भेजने में सफल हो जायेगा। भारत का चन्द्रमा पर जाने का कार्यक्रम हमारे अन्तरिक्ष के परीक्षण को एक नयी दिशा प्रदान करेगा और भारतवर्ष परमाणु शक्ति की ही तरह बहुत जल्दी एक महान अन्तरिक्ष शक्ति के रूप में उभरेगा।

चन्द्रमा पर परीक्षण यान भेजना किसी देश की वैज्ञानिक परिपूर्णता और गुणवत्ता का प्रतीक है। चन्द्र मिशन अन्तरिक्ष के गहन परीक्षण के लिये भारत का पहला धावा होगा।

इसरो अध्यक्ष डॉ0 के0 कस्तूरीरंगन के अनुसार अगले छः महीनों में चन्द्रमा कार्यक्रम पर वैज्ञानिकों द्वारा एक मिशन की घोषणा की जायेगी जिसमें कार्यक्रम की उपयोगिता, भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा इकट्ठा किये गये ज्ञान का वर्णन, मिशन की लागत शामिल होगा। यह चन्द्रमा परियोजना का आधार होगा। परियोजना के तैयार होने के बाद इसे केन्द्र सरकार को अनुमोदन के लिये भेजा जायेगा।

इसरो ने तीन दशकों के जीवनकाल में किसी परियोजना को अपनी अभिलाषा या उत्कट इच्छा समझकर कार्य नहीं किया। लेकिन चन्द्रमा परियोजना इस संगठन का सबसे बड़ा एम्बीशन है। अब तब एक दर्जन से अधिक संचार, मौसम संबंधी भविष्यवाणियों और प्राकृतिक संसाधनों के मानचित्रण हेतु उपग्रहों का सफल प्रक्षेपण कर चुका इसरो अपनी चन्द्र परियोजना को सफल बनाने के लिये तत्पर है।

संगठन सबसे पहले परिमित आकार का प्रक्षेपण करने की योजना बना रहा है। भारत शुरू में किसी मानव को चन्द्रमा पर नहीं उतारेगा। वह सर्वप्रथम चन्द्रमा की आरबिट का कैमरों और अन्य मापक यन्त्रों द्वारा अध्ययन करेगा और प्रयोगों की एक श्रृंखला स्थापित करेगा।

डॉ0 के0 कस्तूरीरंगन के अनुसार चन्द्रमा पर आज भी ऐसे अनछुये प्रश्न और विविधतायें मौजूद हैं जिन्हें अभी तक खोजा नहीं जा सका है। यह अलग बात है कि जिसकी हम शुरुआत करने जा रहे हैं उस क्षेत्र में पिछले 30 सालों के दौरान दूसरों ने काफी कुछ कर लिया है लेकिन हमें हमारे देश के महान वैज्ञानिकों पर विश्वास है कि वे चन्द्र विजय अवश्य हासिल करेंगे।

ई–416, हुडको कालोनी
कमला नेहरू नगर, जोधपुर

उपभोक्ता मार्गदर्शन : साबुन

रामचन्द्र मिश्र

जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि, प्रदूषणजनित मैल के प्रकोप, सफाई-धुलाई में बढ़ती हुई विविधताओं एवं सौंदर्य हेतु नवजाग्रत प्रतिस्पर्धा के कारण विविध एवं विशिष्ट प्रकार के साबुन, प्रक्षालकों (डिटर्जेन्ट), केशमार्जकों एवं श्रृंगार से संबंधित उत्पादों की माँग में अप्रत्याशित विस्तार हो रहा है। भारतीय संस्कृति में नित्यप्रति एक या दो बार पूर्ण स्नान की परंपरा और शुचिता की आवश्यकता की दृष्टि से स्वच्छता संबंधी इन उत्पादों का महत्व द्विगुणित हो जाता है। खेद है कि उपभोक्ताओं में इन उत्पादों के बारे में सही वैज्ञानिक जानकारी का भारी अभाव है। इनके निर्माता अपने उत्पादों के संबंध में तथ्यविहीन अतिरंजित दावे जनसंचार माध्यमों से सशक्त रूप में करते हुये उपभोक्ताओं को भरमाते और लूटते खसोटते हैं। उपभोक्ता उपयुक्त उत्पाद का चुनाव करने में अपने को अयोग्य पाते हैं। संत तुकाराम ने कहा था कि तन और मन की स्वच्छता हेतु क्रमशः साबुन तथा सत्य का निरंतर प्रयोग वांछनीय है। इस श्रृंखला के लेखों के माध्यम से यहां साबुन के सच यानी स्वच्छता उत्पादों के संबंध में वैज्ञानिक जानकारी देकर उपभोक्ता मार्गदर्शन का प्रयास किया गया है ताकि पाठकों को तन की मैल और मन का भ्रम दोनों को साफ करने के लिये सही उत्पाद का चुनाव करने में मदद मिले।

प्राचीन काल में प्राकृतिक प्रक्षालकों, पुतनी मिट्टी, रीठा, शिकाकाई श्रेणी के पदार्थ आदि के प्रयोग द्वारा ही स्वच्छता संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी और वनस्पतीय तेलों एवं केशमार्जक (शैम्पू) सदृश वनस्पतीय पदार्थों के प्रयोग से महिलायें इतने घने, लंबे और काले केश रख पाती थीं कि महाकवि भी उनमें सहज ही उलझ जाते थे। अब सतत् सहज सौंदर्य के बजाय पल भर दिखने वाला कृत्रिम सौंदर्य ही विश्वसुंदरी का ताजपोश पहनने के लिये पर्याप्त है। चिकना–चुपड़ा बनने के बजाय वैसा दिखना ही इठलाने के लिये काफी है। अतः आज अविश्वसनीय गुणवत्ता के अनगिनत साबुनों, प्रक्षालकों, केशमार्जकों आदि की बाजार में भारी भरमार है जिनके सक्रिय यौगिक बहुधा कृत्रिम रासायनिक स्रोतों से प्राप्त किये जाते हैं। एक साबुन रसायनज्ञ का यह कथन विचारणीय है कि 'साबुन, सभी साबुन हैं, फर्क है तो रंग, गंध और आवरण का।'

नये साबुन, नया अर्थ

पारंपरिक रूप में साबुन तभी तक साबुन है जब तक कि उसका प्रमुख सक्रिय प्रक्षालक पदार्थ सोडियम कार्बाक्सिलेट होता है जो वनस्पतीय तेलों से प्राप्त वसा–अम्लों का लवण है और पानी में घुलनशील है। किंतु आज पारंपरिक साबुन में कृत्रिम प्रक्षालकों की घुसपैठ और अकार्बनिक भराव (फिलर) जैसे पदार्थों की अधिकता होने के कारण साबुन की सुरक्षित गुणवत्ता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। भारतीय मानक ब्यूरो द्वारा निर्धारित नये अर्थ के अनुसार यह विशेषतः निर्मित धुलाई का ऐसा उत्पाद है जिसमें न्यूनतम आठ कार्बन परमाणुओं से युक्त वसा अम्लों के मिश्रणों के लवण प्रमुख सक्रिय पदार्थ रूप में उपस्थित होते हैं, यद्यपि व्यवहार में वसा अम्लों के कुछ अंशों के स्थान पर रेजिन अम्लों का प्रयोग

किया जा सकता है।

साबुन की मूल क्रिया मैल निकालना है जो मृदु तथा मध्यम मृदु जल (क्रमशः 0–50 तथा 50–100 मिलीग्राम कैल्सियम कार्बोनेट प्रति लीटर जल) जैसे, वर्षा जल से तृप्त झील का जल और कुछ हद तक नदी का जल तथा पूर्णोपचारित शहरी पेय जल में सर्वाधिक प्रभावी होती हैं और कुयें के कठोर जल (100–300 मिलीग्राम कैल्सियम कार्बोनेट प्रति लीटर जल) में अघुलनशील साबुनी लासा के थक्कों के निर्माण के कारण बहुधा अप्रभावी होती है। तथाकथित द्रव साबुन प्रायः साबुन न होकर गैर–पारंपरिक द्रव प्रक्षालक होता है। इसी प्रकार वसा अम्ल पर आधारित साबुन तथा कृत्रिम प्रक्षालक सक्रिय पदार्थ के मेल से प्राप्त साबुन भी वास्तविक साबुन नहीं है बल्कि इन्हें संयुक्त साबुन कह सकते हैं। इसीलिये सक्रिय पदार्थ सोडियम कार्बाक्सिलेट की उपस्थिति के आधार पर साबुनों को कुल वसा पदार्थो (टीएफएम) के प्रतिशत के रूप में श्रेणीबद्ध किया गया है।

स्नान के साबुनों की सर्वोत्तम प्रसाधन श्रेणी पूर्णतः वनस्पतीय वसा से निर्मित होती है और श्रृंगार के पदार्थों की श्रेणी में आती है जिसमें कम से कम साठ फीसदी या उससे ज्यादा टीएफएम होना अनिवार्य है तथा यह मान लेबल पर अंकित करना होता है। स्नान के साबुन की दूसरी श्रेणी की बट्टी वनस्पतीय वसा एवं कृत्रिम रासायनिक सक्रिय पदार्थों के मेल से निर्मित पर औषधि एवं प्रसाधन नियमों के अंतर्गत न आने वाला धुलाई उत्पाद है जिसमें न्यूनतम टीएफएम चालीस फीसदी तक निर्धारित है।

विविध प्रकार

स्नान के साबुनों की प्रमुख चार श्रेणियाँ हैं– 1. स्नान का सामान्य साबुन, 2. शिशुओं के स्नान का साबुन, 3. पारदर्शक स्नान का साबुन तथा 4. जीवाणु अवरोधी या औषधीय स्नान का साबुन। भारतीय मानक ब्यूरो द्वारा निर्धारित यही श्रेणियां इस समय लागू हैं और निर्माताओं द्वारा विज्ञापित उत्तमता सूचक विविध नाम या तो निरर्थक हैं या अज्ञात गुणवत्ता के सूचक हैं। इनमें से कुछ मोहक किंतु भ्रामक नाम हैं : ब्यूटी सोप, हेल्थ सोप, कॉम्प्लेक्शन सोप, डीओडरेन्ट सोप, फ्रेशनेस सोप, हर्बल सोप आदि और अब गंगा जल से बना पवित्र होली सोप। उत्तमता के झूठे दावे की खातिर अंग्रेजी में ही नाम रख दिये जाते हैं।

हाँ, भारत जैसे धर्मनिष्ठ और पशुप्रेमी देश में पशुओं की चर्बी से बने साबुन स्वीकार नहीं हैं यद्यपि विदेशों से आ रहे इस श्रेणी के साबुन संभवतः अज्ञानतावश प्रयोग में आ रहे हैं। वनस्पति आधारित वसा की कमी के कारण अत्यल्प टीएफएम वाले साबुन जिनमें प्रक्षालक की मात्रा ज्यादा होती है, बाजार में बढ़ती मात्रा में आने लगे है। इन्हें साबुन रहित साबुन जैसी तार्किक संज्ञा दी गई है और भारतीय मानक के अनुसार इन्हें 'बेदिंग बार' की श्रेणी में रखा गया है। इसका मात्र एक अपवाद है द्रव साबुन जिसमें न्यूनतम 15 फीसदी तक ही टीएफएम होना स्वीकार्य है। सामान्य उपभोक्ता इन अंतरों से वाकिफ नहीं है और किसी भी साबुन जैसे पदार्थ को ही साबुन मानता है। भारत में उपभोक्ताओं का रुझान नारियल के तेल से बने स्नान के साबुन की ओर सर्वाधिक है जिसमें भरपूर झाग होता है और त्वचा पर मृदु प्रभाव देने वाला समझा जाता है। संभवतः बहुत कम उपभोक्ताओं को ही इस तथ्य की जानकारी होगी कि सामान्य धारणा के विपरीत नारियल के तेल से बने साबुन के निरंतर प्रयोग से त्वचा खुरदरी बन सकती है। इसीलिये इस तेल की कम या नियंत्रित मात्रा का ही साबुन बनाने में प्रयोग किया जा रहा है।

त्वचा खुरदरी होने का एक अन्य कारण और भी है। स्नान के साबुन में 24 से 60 फीसदी अकार्बनिक पदार्थ खड़िया व पुतनी मिट्टी और टैल्कम पाउडर भी डाले जाते हैं जो साबुन को दृढ़ करते हैं किंतु मुनाफे की खातिर बहुधा इनकी अधिकाधिक मात्रा का प्रयोग होने लगा है। उपयोग के पश्चात् जब साबुन की मात्रा एक चौथाई के लगभग रह जाती है तो इसकी प्रक्षालक क्षमता घट जाने के अलावा यह त्वचा को खुरदरी कर

सकते हैं। बाजार में ऐसी किस्म के कई साबुन हैं जिन्हें बर्तन घिसने के साबुन की जगह त्वचा घिसने के साबुन कहना तार्किक होगा। टायलेट साबुन में ऐसे अकार्बनिक भरावे या फिलर की अधिकतक मात्रा 6 फीसदी निर्धारित की गई है किंतु 'बेदिंग बार' श्रेणी के साबुनों के लिये सीमा निर्धारण नहीं हुआ है। साथ ही इन साबुनों में टीएफएम की मात्रा, टायलेट साबुन में न्यूनतम 60 फीसदी के मुकाबले, मात्र 40 फीसदी स्वीकार की गई है। इनमें रासायनिक प्रक्षालकों की उपस्थिति 10 से 15 फीसदी तक पाई गई है जो सर्वथा हानिकारक है।

गुणवत्ता सूचक टी एफ एम

ज्ञातव्य है कि साबुन यौगिक का निर्माण सोडियम हाइड्राक्साइड तथा वनस्पति तेलों के वसा अम्लों की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप होता है जिसके फलस्वरूप अंतिम उत्पाद में लगभग 80 फीसदी तक टीएफएम, 10 फीसदी जल तथा शेष अकार्बनिक पदार्थ आदि हो सकते हैं। सामान्यतः साबुन की मात्रा टीएफएम की 1.1 गुनी होती है। टीएफएम या कुल वसा पदार्थ साबुन को प्रक्षालक क्षमता प्रदान करते हैं। इसीलिये भारतीय मानक के अनुसार टीएफएम के आधार पर साबुन की तीन कोटियाँ बताई गई हैं जिसका परिमाण 60 से 76 फीसदी तक होता है। इसके कम टीएफएम होने पर 'बेदिंग बार' की कोटि आती है जिसे खनिज साबुन माना जा सकता है। वस्तुतः इसे चतुर्थ कोटि का साबुन कह सकते हैं। यही कारण है कि साबुन के यह दो नाम उपभोक्ताओं को भ्रम में डालते हैं।

समीचीन यह होगा कि शरीर की सफाई के साबुन मात्र एक श्रेणी यानी स्नान के साबुन के रूप में निर्मित हों जो गुणवत्ता के अनुसार ए, बी, सी कोटि के हो सकते हैं। अधिक अकार्बनिक मिलाव से युक्त साबुन हानिकारक होने के साथ ही कम विकसित देश के उत्पाद को दर्शाते हैं। अतः इनकी अधिकतम सीमा निर्धारित करना आवश्यक है। वस्तुतः भारत में आईएसआई चिन्हित मानक साबुन की अनुपलब्धि विचारणीय है, यद्यपि साबुन जैसे पदार्थ के लिये गुणवत्ता चिन्ह अनिवार्य होना चाहिये था।

भारत में आज साबुन रसायनज्ञों का सरोकार यह है कि साबुन की पूर्व परिभाषा ही कायम रहे और उसी के अनुसार साबुन की श्रेणियाँ निर्मित हों। वसा अम्लों (तेलों से प्राप्त कार्बाक्सिलिक एसिड) के जल में घुलनशील सोडियम लवणों के अर्थ में ही साबुन की गुणवत्ता कायम रखी जा सकती है। अकार्बनिक पदार्थों, प्रक्षालकों तथा पालीग्लाइकाल्स द्वारा तैयार साबुन वस्तुतः साबुन नहीं है और कई रूपों में हानिकारक है।

विशिष्ट साबुन

तथाकथित विशिष्ट साबुनों की ओर उपभोक्ताओं का रुझान हाल के वर्षों में बहुत बढ़ा है। शिशुओं के साबुन के अलावा औषधीय साबुन, जड़ी बूटी आधारित साबुन (हर्बल), पारदर्शक साबुन, कीटनाशी साबुन (जर्मीसाइडल) आदि नाम से साबुनों के कई उत्पाद बाजार में आये हैं। वस्तुतः सभी अच्छे साबुनों में सूक्ष्म जीवाणुओं को हटाने की क्षमता होती है और उपयुक्त प्रयोग द्वारा मैल और दुर्गन्ध के साथ हानिकारक जीवाणु भी धुल जाते हैं। साबुन द्वारा त्वचा के रोगों को उपचार करने के दावे वस्तुतः निराधार हैं। मनुष्य की त्वचा ऐसा अंग है जिसके अंदर साबुन के तत्व प्रवेश नहीं कर पाते बल्कि सतह पर क्रिया होती है। यदि साबुन में किसी जीवाणुनाशक का प्रयोग हुआ है तो इसकी सूचना यौगिक के नाम तथा मात्रा के साथ साबुन के ऊपर मुद्रित होनी चाहिये और साथ ही त्वचा पर विषाक्त प्रभाव न होने की सूचना भी जुड़ी होनी चाहिये। ऐसी सूचनाओं के अभाव में उपरोक्त दावे निराधार होते हैं और सामान्य उपभोक्ताओं को गुमराह करते हैं। इस प्रकार साबुनों द्वारा निर्माता सामान्य उपभोक्ताओं को लूटने खसोटने में सफल होते हैं।

हाँ, कुछ प्राकृतिक उत्पादों जैसे रीठा, शिकाकाई आदि में मृदु प्रक्षालक क्षमता अवश्य होती है क्योंकि इनमें सैपोनिन नामक झाग पैदा करने वाला पदार्थ होता है। तथाकथित हर्बल साबुनों में कौन सा पदार्थ कितनी मात्रा में मौजूद है यह सूचना साबुन पर नहीं दी जाती जिसके

कारण हर्बल साबुन संबंधी दावे संदेह से परे नहीं माने जा सकते।

शिशुओं के लिये विशिष्ट साबुन की आवश्यकता का प्रश्न विचारणीय है। शिशुओं की त्वचा अत्यंत पतली और कमजोर होती है जिससे संक्षारक प्रभाव और जीवाणुओं का हमला आसानी से हो सकता है। इसलिये यह बेहतर होगा कि शिशुओं के साबुन रंगहीन किये गये साफ वनस्पति तेलों से निर्मित हों और उत्पाद में अतिरिक्त वसा या तेल मौजूद हो। साथ ही ऐसे साबुन में कोई रंग या सुगन्धित इत्र पदार्थ न डाले जायें ताकि त्वचा पर प्रतिकूल क्रिया की संभावना न रहे। साथ ही इन साबुनों में निकल, अन्य धातुयें तथा रोजिन की अनुपस्थिति सुनिश्चित होनी चाहिये। बाजार में मिलने वाले अधिकांश साबुनों में जो शिशुओं के लिये बेचे जाते हैं, उपरोक्त गुणों का अभाव पाया जाता है। इस संबंध में आवश्यक है कि शिशुओं के साबुन पर गुणवत्ता का प्रमाण चिन्ह अनिवार्य रूप से अंकित करने का एक नियम लागू किया जाये। मोटे तौर पर जिस साबुन में इत्र हो, रंग हो, अतिरिक्त वसा न हो और यह शिशु की आँख में संक्षारक प्रभाव डालता हो, वह उपयुक्त साबुन नहीं हो सकता।

उपभोक्ता मार्गदर्शन

1. उपयुक्त साबुन का चुनाव सर्वेक्षण परीक्षण के नतीजों के आधार पर ही किया जा सकता है जिसकी व्यवस्था मानक संस्थाओं एवं उपभोक्ता संरक्षण संगठनों द्वारा की जानी चाहिये। मात्र रंग, सुगंध और झाग पर न जायें बल्कि टीएफएम के आधार पर साबुन चुनें जो प्रक्षालन की क्षमता पैदा करता है। परीक्षण के एक नमूने के अनुसार विविध साबुनों में टीएफएम की मात्रा इस प्रकार है : मैसूर संदल–78, कैमी नैच्यूरल–76, दूध गंगा–76, स्वास्तिक शिकाकाई–72, निरमा ब्यूटी–70, पामओलिव नैच्यूरल–70, लाइफब्वाय गोल्ड–68, संतूर–53, लक्स ब्यूटी बार–50 ओर हमाम–48 फीसदी।

2. साबुन का चुनाव, क्षेत्र विशेष में उपलब्ध जल की कठोरता पर भी निर्भर करता है। शुद्ध साबुन मृदु जल के साथ ही पूर्ण प्रभावी होता है। कठोर जल के साथ ऐसे साबुन अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभावी होंगे जिनमें निर्धारित सीमा के अंदर प्रक्षालक यौगिकों का समावेश हो। एक लीटर पानी में कैल्सियम कार्बोनेट की मात्रा यदि 100 मिलीग्राम से कम हो तो वह मृदु जल होगा और उसके साथ 60 फीसदी टीएफएम का साबुन पर्याप्त होगा।

3. पारदर्शक साबुनों में यदि रोजिन तथा पॉलग्लाइकाल्स या ग्लिसरीन की मात्रा 7 फीसदी से ज्यादा हो तो त्वचा पर दूरगामी कुप्रभाव की संभावना हो सकती है और इन साबुनों से परहेज ही बेहतर चुनाव होगा।

4.स्नान के समय औसतन 8 फीसदी साबुन का जमाव त्वचा पर होता है, जब कि मैल की सफाई हेतु 4–5 फीसदी की सांद्रता ही पर्याप्त होती है। अतः साबुन को अत्यधिक समय तक त्वचा पर घिसना अनावश्यक है। हाँ, एक चौथाई साबुन बचने पर पहले की अपेक्षा ज्यादा समय तक घिसने पर ही आवश्यक प्रक्षालक क्रिया होगी।

5. प्रक्षालक युक्त साबुनों के इस्तेमाल के समय कई बार पानी से धोकर त्वचा को साफ करें ताकि प्रक्षालक पदार्थ पूर्णतः धुल जाये, यानी स्नान के लिये ज्यादा पानी की व्यवस्था करें और त्वचा पर दूरगामी कुप्रभावों से सजग रहें।

6. तथाकथित औषधीय साबुनों में उपस्थित औषधीय पदार्थों की उपस्थिति और उनके फायदे या नुकसान को जाने बगैर इन्हें इस्तेमाल में न लायें या इन पर अतिरिक्त पैसा खर्च न करें। निर्माताओं से सही जानकारी की माँग करें।

क्रमश :

अध्यक्ष
परीक्षण उपभोक्ता मार्गदर्शन संघ
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुम्बई

बच्चों मे मोटापे का बढ़ता प्रकोप

डॉ0 जे.एल. अग्रवाल

हृष्टपुष्ट, हँसते, खेलते बच्चे सभी को प्यारे होते हैं। शुरू में ज्यादातर माता पिता की इच्छा होती है कि उनका लाड़ला गोल मटोल हो, पर यदि बच्चे मोटे हो जाते हैं तो भी समस्या उत्पन्न करते हैं। प्रायः पाया गया है कि बचपन का मोटापा जीवनपर्यन्त बना रहता है। कुछ बड़े होने पर अत्यधिक मोटे बच्चे हास्य का पात्र बनते हैं, हीन भावना से ग्रस्त रहते हैं और अनेक बाल–सुलभ क्रीड़ाओं में भाग नहीं ले पाते हैं। बेहतर खान–पान, छोटे परिवार के कारण बढ़ते बच्चों के प्रति लगाव, बदलती आदतों के कारण बच्चों में मोटापे की समस्या तेजी से बढ़ रही है। अमेरिका जैसे विकसित देशों में तो करीब आधे बच्चे मोटापाग्रस्त हैं जिसमें से लगभग आधे युवा होने पर भी मोटे रह जाते हैं, और अनेक गंभीर रोगों को न्यौता दे बैठते हैं।

बच्चों में मोटापे के मुख्य कारण :

कुछ बच्चों में मोटापा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों थायरायड, पिट्यूटरी ग्रन्थि के हार्मोन के कम स्राव, एड्रीनल ग्रन्थि से कार्टीसोन हार्मोन के अधिक स्राव होने के परिणामस्वरूप हो सकता है।

नवीनतम शोधों से ज्ञात हुआ है कि बच्चों में मोटापे का मुख्य कारण उनके गुणसूत्रों में बदलाव होता है। यदि मोटापे वाले गुणसूत्र बच्चे में मौजूद हैं तो वे बच्चे आसानी से मोटे हो जाते हैं।

यदि बच्चों को माँ, दादी, नानी ज्यादा जोर देकर खाना खिलाती हैं तो धीरे धीरे उनमें ज्यादा भोजन करने की आदत बन जाती है और वे मोटे हो जाते हैं।

अनेक बच्चे घर में खाली रहने, निराश रहने, असुरक्षा, डर, घबराहट और अकेले रहने के कारण अधिक भोजन करते हैं और मोटे हो जाते हैं।

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि बच्चों में मोटापे का सीधा सम्बन्ध टी.वी. देखने की अवधि से है। जो बच्चे जितना ज्यादा समय टी.वी. देखने में व्यतीत करते हैं उनके मोटे होने की संभावना उतनी ही ज्यादा हो जाती है।

मोटापे का कारण वसा ऊतकों की वसा कोशिकाओं में वसा का जमा होना है। वसा कोशिकायें गर्भकाल और शिंशु काल में ही बनती हैं, उसके बाद नयी वसा कोशिकाओं का निर्माण नहीं होता है। यदि शरीर में वसा कोशिकाओं की संख्या ज्यादा है तो मोटे होने की संभावना ज्यादा रहती है। यदि गर्भावस्था में माँ ज्यादा वसायुक्त भोजन करती है या शिशु काल में बच्चों को ज्यादा मक्खन, तेल, घी खिलाया जाता है तो उनमें वसा कोशिकायें ज्यादा संख्या में बनती हैं और उनके मोटे होने की संभावना भी ज्यादा रहती है।

बच्चों में मोटापे की समस्या का समाधान :

यदि बच्चा मोटा है तो गुणसूत्रों के व्यवहार के लिये अभी ज्यादा कुछ करना संभव नहीं है। पर यदि इन बच्चों के भोजन या उनकी आदतों व्यवहार पर ध्यान दिया जाये तो काफी हद तक इनको समस्या से निजात मिल सकती है। उनका भार कम हो सकता है या भार को अत्यधिक बढ़ने से रोका जा सकता है।

बच्चों में टी.वी देखने का शौक बढ़ता जा रहा है। बच्चे टी.वी. देखने के चक्कर में खेल से जी चुराने लगे हैं। कुछ बच्चे तो दिन भर टी.वी. देखते रहते हैं। बच्चों को रोजाना दो घंटे से ज्यादा टी.वी. देखने न दें।

बच्चों में मोटापे का सम्बंध उनके खेलने के समय से होता है। ज्यादा देर खेलने वाले बच्चे हृष्टपुष्ट दुबले होते है। बच्चों को समय से खेलने के लिये उत्साहित करें।

बच्चों, विशेषकर मोटापे की ओर अग्रसर बच्चों को डांस, बैले, एरोबिक्स, तैराकी, साइकिल चलाने का प्रशिक्षण दिलवायें।

यदि बच्चे जल्दी जल्दी भोजन करते हैं तो वे जरूरत से ज्यादा भोजन कर लेते हैं। बच्चों में धीरे धीरे खाने की आदत डालें। बच्चे जितना ज्यादा समय भोजन करने में लगायेंगे उतनी ही कम कैलोरी भोजन से प्राप्त करेंगे।

.........शेष पृष्ठ 26 पर

जी.एन. रामचन्द्रन : भारत के पथप्रदर्शक जैव-भौतिकीविद्

✍ डॉ0 सुबोध महन्ती

गोपाल समुद्रम नारायण रामचन्द्रन (जिन्हें लोग जी एन आर के नाम से जानते थे) उन कुछ गिने चुने वैज्ञानिकों में हैं जिन्होंने अपने अनुसंधान से भारत को गौरवान्वित किया है। उनकी गणना स्वतंत्र भारत के अत्यधिक लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकों में की जाती है। उन्होंने आण्विक जैव–भौतिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं, विशेष रूप से प्रोटीन की संरचना के अध्ययन में। कोलाजेन की ट्रिपल हेलिकल संरचना की खोज पेप्टाइड की संरचना को समझने की दिशा में आधारभूत प्रगति थी। पाठ्यपुस्तकों में 'रामचन्द्रन प्लाट' प्रोटीन की संरचना के विवरण का मानक सिद्ध हो चुका है। जब रामचन्द्रन भारत में जैव भौतिकी में अनुसंधान कर रहे थे उस समय विकसित देशों में यह विषय आकार ग्रहण कर रहा था और निःसंदेह वे इस क्षेत्र में अग्रणी थे। उन्होंने पहले मद्रास विश्वविद्यालय में और फिर भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूर में आण्विक भौतिकी के दो केन्द्र प्रारम्भ किये। युवाओं को बड़ी संख्या में उन्होंने विज्ञान के अध्ययन के लिये प्रेरित किया, जिन्होंने बाद में जैव भौतिकी के विभिन्न पहलुओं पर महत्वपूर्ण योगदान किये। रामचन्द्रन को दर्शनशास्त्र और भारतीय तथा पश्चिमी शास्त्रीय संगीत में गहरी रुचि थी। उन्होंने प्राचीन जैन दर्शन के स्याद्वाद (संभावना का सिद्धान्त) के दार्शनिक विचारों की गणितीय व्याख्या प्रस्तुत की। एक कुशल वैज्ञानिक होने के अतिरिक्त वे बहुत ही अच्छे वक्ता थे। अत्यधिक जटिल अवधारणाओं को वे सरल शब्दों के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत करते थे, जिन्हें हाई स्कूल के विद्यार्थी भी आसानी से समझ लेते थे। वर्तमान मे हमें भारत में ऐसे वैज्ञानिक मुश्किल से मिलते हैं। उन्होंने विज्ञान, धर्म, दर्शन और उपनिषदों पर कवितायें लिखीं। परोपकारी संस्थाओं को उन्होंने अनुकरणीय दान दिये।

रामचन्द्रन का जन्म 8 अक्टूबर 1922 को कोचीन के निकट एरनाकुलम नामक स्थान में हुआ था। उनके जन्म के समय कोचीन पर एक महाराजा का शासन था। रामचन्द्रन जी.आर. नारायणन और लक्ष्मी अम्माल के सबसे बड़े पुत्र थे। उनके पिता गणित के एक सुविख्यात आचार्य थे। अपने पिता से प्रभावित होने के कारण उन्हें बचपन से ही गणित में गहरी रुचि विकसित हो गई। इण्टरमीडियेट की परीक्षा के बाद, जिसमें उन्हें पूरे मद्रास राज्य में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ, रामचन्द्रन ने सेण्ट जोसेफ कालेज, त्रिची में 1939 में बी.एस-सी. (आनर्स) भौतिकी विषय में प्रवेश लिया। बी.एस-सी. परीक्षा में समस्त भौतिकी आनर्स विद्यार्थियों में पूरे मद्रास प्रेसीडेन्सी में उन्हें प्रथम स्थान मिला।

रामचन्द्रन के पिता नारायण अय्यर चाहते थे कि उनका यह पुत्र भारतीय लोक सेवा परीक्षा में बैठे किन्तु वे अपने पुत्र को इसके लिये समझा सकने में विफल रहे। तब उन्होंने रामचन्द्रन को भारतीय रेलवे इंजीनियरिंग सेवा परीक्षा देने के लिये दिल्ली भेजा। इसे भी रामचन्द्रन ने पसंद नहीं किया और उन्होंने जानबूझकर प्रवेश परीक्षा में निम्न स्तर का प्रदर्शन किया ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि उनका चयन न हो। इस असफलता के बाद रामचन्द्रन ने बंगलूर के भारतीय विज्ञान संस्थान के विद्युत इंजीनियरिंग विभाग में एम.एस-सी. उपाधि के लिये प्रवेश लिया। शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनकी रुचि भौतिकी में है अतएव उन्होंने भौतिकी विभाग

में स्थानान्तरण का निर्णय लिया। इस बात की संभावना है कि उन्होंने यह निर्णय इसलिये लिया क्योंकि बहुश्रुत प्रो0 सी.वी.रामन संस्थान के निदेशक होने के साथ ही भौतिकी विज्ञान विभाग के अध्यक्ष भी थे। रामचन्द्रन, सर सी.वी. रामन से अत्यधिक प्रभावित थे और आगे चलकर रामन के विद्यार्थियों में अत्यंत सुविख्यात हुये। दो अन्य वैज्ञानिक, जिन्होंने रामचन्द्रन को प्रभावित किया, वे थे विलियम लारेंस ब्रैग और लाइनस पॉलिंग।

रामचन्द्रन ने मद्रास विश्वविद्यालय से 1944 में एम.एस-सी. डिग्री प्राप्त की। उन दिनों भारतीय विज्ञान संस्थान डिग्री प्रदान करने वाला संस्थान नहीं था। वहाँ के विद्यार्थियों को डिग्री प्राप्त करने के लिये अपना शोध प्रबन्ध भारत के किसी विश्वविद्यालय को प्रस्तुत करना पड़ता था। रामचन्द्रन के द्वारा किये गये शोध में सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक ऐसे अध्ययनों के परिणाम शामिल थे, जो प्रकाशीय विषम माध्यमों से होकर प्रकाश के संचरण पर किये गये थे। उनके शोध प्रबन्ध के वाह्य परीक्षक प्रोफेसर के.एस. कृष्णन थे जो उस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के आचार्य थे। एम.एस-सी. डिग्री प्राप्त करने के बाद रामचन्द्रन ने डॉक्टरेट की डिग्री के लिये प्रो0 रामन के निर्देशन में अनुसंधान कार्य जारी रखा। डॉक्टर की डिग्री के लिये शोध कार्य में हीरा, फ्यूज्ड स्फटिक, फ्लुओस्पार और ज़िंक सम्मिश्रण जैसे विभिन्न प्रकार के ठोस पदार्थों के प्रकाश सुनम्यता और ऊष्मा प्रकाशीय स्वभाव भी सम्मिलित थे। उनके शोध प्रकाशनों में उनके द्वारा डॉक्टर की उपाधि के लिये किये गये कार्य के परिणामों में एक्स-किरण विवर्तन के प्रारम्भिक उपयोगों से लेकर मणिभों के निष्पादन संबंधी रूपान्तरण अध्ययन शामिल थे।

रामचन्द्रन ने डॉक्टर ऑव साइंस (डी.एस-सी.) उपाधि 1947 में प्राप्त की और इंगलैण्ड में कैम्ब्रिज की कैवेण्डिश प्रयोगशाला में शोध कार्य के लिये जाने का निर्णय लिया, जहाँ सर विलियम ब्रैग निदेशक थे। रामचन्द्रन इंगलैण्ड में उच्च अध्ययन के लिये 1851 इक्जीबिशन के रायल कमिशनर्स द्वारा प्रदत्त छात्रवृत्ति की उपाधि प्राप्त करने में सफल हुये। क्योंकि अपने शोध के दौरान एक्स-किरण विवर्तन का अध्ययन भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूर में किया था, वे आसानी से क्रिस्टैलोग्राफर्स के कैवेंडिश ग्रुप के अंग बन गये। फिर भी उन्हें सीधे तौर पर लारेन्स ब्रैग के निर्देशन में कार्य करने का अवसर नहीं मिला। उन्हें डॉ0 डब्ल्यू. ए. वूस्टर के साथ कार्य करने के लिये नियुक्ति मिली।

बीसवीं शती के एक अत्यंत प्रतिष्ठित मौलिक सैद्धान्तिक भौतिकीविद पाल एड्रिन मारिस डेरिक के द्वारा दिये गये क्वांटम मेकेनिक्स विषय पर शोध करने का अवसर भी रामचन्द्रन को मिला। कैम्ब्रिज में उनकी मुलाकात लाइनस पॉलिंग से हुई, जो वहाँ व्याख्यान देने आये थे। कैम्ब्रिज में रामचन्द्रन ने तीन परियोजनाओं–इंस्ट्रूमेंटेशन, इलेक्ट्रॉनिक्स और एक्स-किरण विवर्तन के अध्ययन हेतु गणितीय सिद्धांत के विकास तथा मणिभों के इलास्टिक स्थिरांकों का निर्धारण करने में इसके उपयोग पर कार्य किये।

कैम्ब्रिज में डाक्टर की उपाधि के अपने शोध कार्य के बाद रामचन्द्रन जून 1949 में भारत लौट आये। उनकी नियुक्ति भारतीय विज्ञान संस्थान के भौतिक विज्ञान विभाग में उपाचार्य के पद पर हो गई। उन्हें एक्स-किरण विवर्तन प्रयोगशाला का प्रभारी भी नियुक्त किया गया। पहले भी इसी विभाग में उन्होंने प्रो0 सी.वी. रामन के निर्देशन में अपनी डी.एस-सी. की उपाधि के लिये कार्य किया था। किन्तु इस बार रामन वहाँ नहीं थे। रामन ने भारतीय विज्ञान संस्थान छोड़ दिया था और अपना स्वयं का संस्थान, रामन रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना कर ली थी। रामचन्द्रन ने कुछ अत्यंत मेधावी युवजनों को अपने अनुसंधान दल की ओर आकर्षित कर लिया और रामचन्द्रन द्वारा स्थापित एक्स-रे विवर्तन प्रयोगशाला कुछ वर्षों में ही भौतिक विषय के सर्वोत्कृष्ट शोध संस्थानों में स्थान ग्रहण कर चुकी थी।

लगभग दो वर्षों तक भारतीय विज्ञान संस्थान में कार्य करने के बाद वह मद्रास विश्वविद्यालय चले गये। उस समय डॉ0 ए.एल. मुदालियार मद्रास विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वह डॉ मुदालियार ही थे जिन्होंने सी.वी.रामन की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर मद्रास विश्वविद्यालय में प्रयोगात्मक भौतिकी के एक स्नातकोत्तर

विभाग की स्थापना की योजना बनाई। उन्होंने प्रो0 रामन से इस नये स्थापित विभाग का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का निवेदन किया। रामन ने अध्यक्ष पद स्वीकार कर सकने की अपनी असमर्थता जताते हुये रामचन्द्रन के नाम की संस्तुति की। इस प्रकार अक्टूबर 1952 में रामचन्द्रन मद्रास विश्वविद्यालय के भौतिकी विज्ञान विभाग से प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में संयुक्त हुये। इस समय रामचन्द्रन की आयु मात्र 30 वर्ष थी। प्रारंभ में विभाग समुद्र के किनारे मद्रास विश्वविद्यालय के मुख्य भवन में एक कमरे में स्थित था। रामचन्द्रन की प्रयोगशाला गुइण्डी में अलगप्पा चेट्टियार कालेज ऑव इंजीनियरिंग टेक्नोलॉजी कॉम्प्लेक्स में स्थित थी। रामचन्द्रन के शोध कार्य के परिणामस्वरूप मद्रास विश्वविद्यालय को अभूतपूर्व स्तर की मान्यता मिली। उन्होंने सन् 1963 और 1968 में सफलतापूर्वक दो अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किये और आण्विक जीव विज्ञान तथा जैव भौतिकी के कुछ अत्यंत प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को बुलाने में कामयाब रहे।

कुलपति मुदालियार के अवकाश ग्रहण करने के बाद रामचन्द्रन के लिये अपना शोधकार्य जारी रख पाना अत्यंत दुष्कर हो गया। रामचन्द्रन अंततः 1970 में त्यागपत्र देकर मद्रास विश्वविद्यालय से भारतीय विज्ञान संस्थान वापस आ गये। उस समय प्रो0 सतीश धवन नामक एक सुप्रसिद्ध अंतरिक्ष विज्ञानी इस संस्थान के निदेशक थे। रामचन्द्रन को आण्विक जैव भौतिकी के एक नये विभाग का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया था जिसका औपचारिक रूप से शुभारंभ 1971 में हुआ। शीघ्र ही यह विभाग संरचनात्मक जीव विज्ञान के एक प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हो गया।

रामचन्द्रन ने भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में कार्य किया। उनकी 250 से अधिक रचनायें और कई समीक्षायें जानी मानी अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। अनुसंधान के क्षेत्र में उनका पहला योगदान कोलाजेन की ट्रिपल हेलिकल संरचना की खोज थी। रामचन्द्रन का ध्यान कोलाजेन की ओर तब आकर्षित हुआ जब जे.डी. बर्नाल ने 1952 में अपनी मद्रास यात्रा के दौरान यह टिप्पणी की कि कोलाजेन के सभी संरचना संबंधी प्रस्ताव असंतोषजनक हैं। कोलाजेन की ट्रिपल हेलिकल संरचना (गोपीनाथ कार्थ के साथ संयुक्त रूप से खोजी गई) पहली बार 1954 में नेचर में प्रकाशित हुई थी। पॉलीपेप्टाइड की संरचना को समझाने के लिये उनकी क्वायल्ड-क्वायल संरचना का विचार आधारभूत प्रगति सिद्ध हुआ। क्वायल्ड-क्वायल संरचना का मतलब है तीन खाली पेप्टाइड लड़ियों में से प्रत्येक एक हेलिक्स के रूप में व्यवस्थित होती हैं और फिर तीन लड़ियाँ एक दूसरा हेलिक्स बनाती हैं। तथापि, उनकी संरचना की आलोचना फ्रांसिस क्रिक ने की जिन्होंने जेम्स डी. वाटसन के साथ डी एन ए की डबल हेलिक्स संरचना की खोज की। क्रिक और अलेक्जेन्डर रिच ने नेचर के नवम्बर 1955 अंक में लिखाः 'बिलकुल हाल में रामचन्द्रन और कार्थ ने कोलाजेन के क्वायल्ड-क्वायल संरचना के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हमारा विश्वास है कि यह विचार मूल रूप से सही है, किन्तु उन्होंने जिस वास्तविक संरचना का सुझाव दिया है, वह गलत है।'

कोलाजेन की प्रस्तावित संरचना में लघु अंतर परमाण्विक सम्पर्क की आलोचना से रामचन्द्रन ने एक आम विधि निकाली जिससे पालीपेप्टाइड संरचना और प्रोटीन के लिये विन्यास–रासायनिक मानकों को अंकित किया जा सके। पालीपेप्टाइड श्रृंखलाओं की बनावट के विश्लेषण की नींव रामचन्द्रन और उनके सहयोगियों वी. शशिशेखरन और सी. रामकृष्णन ने रखी। उन्होंने एक द्विआयामी मानचित्र प्रस्तुत किया जिसे जैव–रासायनिक साहित्य में रामचन्द्रन फाइ–साइ रेखा-आरेख (Ramchandran phi-psi diagram) अथवा केवल रामचन्द्रन प्लाट (Ramchandran Plot) के नाम से जाना जाता है। रामचन्द्रन प्लाट पालीपेप्टाइडों के सभी विन्यास रासायनिक संभव संरचनाओं को चित्रित करने के लिये युक्तिमूलक आधार प्रदान करता है।

रामचन्द्र फूरियर रूपांतरणों (Fourier Transforms) से मंत्रमुग्ध हो गये थे। कॉनवोल्यूशन टेकनीक का इस्तेमाल करते हुये उन्होंने प्रतिबिम्ब लेखाचित्रों यथा एक्स-रेडियोग्राफी से थियरी ऑव इमेज रीकन्सट्रक्शन को विकसित करने के लिये कोरियर रूपांतरणों का अनुप्रयोग किया। 1971 में उन्होंने ए.बी. लक्ष्मीनारायण

के साथ त्रिआयामी बिम्ब के पुनर्निर्माण पर एक बीजगर्भित शोधपत्र प्रकाशित किया। इस विचार को कैटस्कैन उपकरण के विकास में अपनाया गया, जिसने चिकित्सकीय रोग निदान और शल्य चिकित्सा की उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1978 में उन्होंने फंडामेंटल थियरी और गणितीय दर्शन की ओर ध्यान दिया, जिसने नये बूलियन एलजेबरा वेक्टर मैट्रिक्स फार्मुलेशन (New Boolean Algebra Vector Matrix Formulation) के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

रामचन्द्रन ने एक दर्जन से अधिक राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किये थे। 1977 में उन्हें लंदन की रायल सोसाइटी का फेलो निर्वाचित किया गया। आश्चर्यजनक रूप से रामचन्द्रन को सरकार द्वारा कोई नागरिक पुरस्कार नहीं दिया गया, जिस तरह का पुरस्कार अन्य वैज्ञानिकों को प्रदान किया गया था। चेन्नई में स्थित केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान ने अपने सभागार का नामकरण कोलाजेन की ट्रिपल हेलिकल संरचना को देखते हुये 'ट्रिपल हेलिक्स' (Triple Helix) किया है।

रामचन्द्रन का देहावसान 07 अप्रैल 2001 को हुआ।

हम इस छोटे से आलेख के समापन में 'करेंट साइंस' (Current Science) में पी. बालाराम और एस. रामशेषन की सम्पादकीय श्रद्धांजलि को उद्धृत करना चाहेंगे– "यूजीन गारफील्ड के मुहावरे को उधार लेते हुये कहें तो रामचन्द्रन स्पष्ट रूप से नोबेल क्लास के वैज्ञानिक थे। किन्तु आजकल के मानदण्ड के अनुसार उनका सक्रिय कार्यकाल अल्पकालीन था। पिछले बीस वर्षों में रामचन्द्रन अन्तर्राष्ट्रीय रूप से नहीं दिख रहे थे। यह हमें वर्तमान विज्ञान की एक विडम्बना का स्मरण कराता है। उपलब्धि अकेले यथेष्ट नहीं है। पैकेजिंग और मार्केटिंग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत में जहाँ प्रशासनिक पद प्रायः वैज्ञानिक सफलता का चिन्ह मान लिया जाता है, रामचन्द्रन व्यवस्था में मौलिकतः एक बाहरी व्यक्ति की तरह थे। हमें अभी भी यह सीखना शेष है कि स्वभावगत विलक्षण व्यक्ति प्रायः विज्ञान में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। रामचन्द्रन ने अपना सम्पूर्ण कार्य भारत में ही किया। इस संदर्भ में वे अपने परामर्शदाता सी.वी. रामन के पदचिन्हों पर चले।"

बहुत से असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों के समान ही रामचन्द्रन को प्रायः अपने वातावरण से असहज सम्बंध था। उनके लिये सामान्य योग्यता को स्वीकार कर लेना आसान नहीं था। 30 वर्ष की वय में ही विभागाध्यक्ष का पद मिल जाने से वे अपने सहयोगियों से अलग थलग पड़ गये। वे सहज बौद्धिक संबंध कायम नहीं कर सके, जो विज्ञान को आनन्ददायक बनाता है। किन्तु अपनी प्रतिष्ठा के शिखर पर रहते हुये भी रामचन्द्रन ने वैज्ञानिक विचारों के आदान-प्रदान में अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया। दुर्भाग्य से उनके आसपास के लोग उस स्तर तक नहीं उठ सके जिसकी उनसे राचमन्द्रन को अपेक्षा थी।

प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी
विज्ञान प्रसार, सी-24
कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया
ए.एस.सी. आई बिल्डिंग
नई दिल्ली-110 016
प्रस्तुति : श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

राष्ट्रीय संगोष्ठी

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आगामी **3 तथा 4 नवम्बर** 2001 को इलाहाबाद में राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय, नई दिल्ली तथा माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के उत्प्रेरण व सहयोग से एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है जिसका विषय है –

"इक्कीसवीं सदी में विज्ञान लेखन : चुनौतियाँ और संभावनाएँ"

वैमानिकी क्षेत्र में संभावनाएँ

✍ तुरशन पाल पाठक

कुछ ही दिन पहले मैं इंडियन एयरलाइन्स की आई.सी.–803 फ्लाइट से सी.एस.आई.आर. की एक विशेषज्ञ समिति में भाग लेने दिल्ली से बंगलौर जा रहा था, मेरे साथ विज्ञान प्रगति के सेवानिवृत्त सम्पादक श्री श्याम सुन्दर शर्मा भी थे। हम लोग वायुयान में नाश्ता समाप्त ही कर पाये थे कि एक नियमित सूचना प्रसारित हुई जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त बताया गया कि 'आप इस समय लगभग 11 किलोमीटर की ऊँचाई पर नागपुर से गुजर रहे हैं। इस समय बाहर का तापमान माइनस चालीस डिग्री सेल्सियस और अन्दर का तापमान तेईस डिग्री सेल्सियस है।' अन्दर की बात तो ठीक है लेकिन बाहर –40°C की बात कुछ अटपटी सी लगी, सोचा कुछ गलत तो नहीं सुन लिया। अतः हमने पास ही बैठे शर्मा जी से चर्चा की और सूचना की सत्यता को जानने के लिये काल बटन दबाबर विमान परिचारिका को बुलाया, उन्होंने भी अनभिज्ञता जाहिर की और काकपिट से जानकारी लेकर हमें बताया कि वायुयान से बाहर – 40°C तापमान होने की सूचना सही है।

यह जानकर हम दोनों वायुमण्डल में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में वायुयानों के उड़ने की स्थितियों पर चर्चा करते रहे। बातचीत करते करते बंगलौर आ गया और हम लोग अंतरिक्ष प्रयोगशाला, नाल; बंगलौर के गेस्ट हाउस में ठहर गये। लेकिन मन में एक प्रश्न बार–बार आता रहा कि सवारी विमानों को यह सब झेलना पड़ता है तो हमारी वायु सेना के लड़ाकू विमानों को तो और भी कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता होगा। इतना ही नहीं इन विमानों में तो हथियारों, गोला बारूद, बमों के अलावा मनुष्य के नाम पर जो अकेला ही एकमात्र पाइलट होता है जिसके मन, बुद्धि और शरीर गठन को लक्ष्य प्राप्ति के लिये दुश्मन के कुचक्रों के अलावा वायुमण्डल के भी अनेक झंझटों का सामना करना पड़ता होगा। इन सब बातों को जानने के लिये हमने वातंतरिक्ष प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों से जो भी बैठकों के दौरान हमारे सम्पर्क में आये थोड़ी–थोड़ी बातचीत करना प्रारम्भ कर दिया। इन विशेषज्ञों से जानकारी की कुछ बातें मिलीं, और कुछ बातें हमें वायु सेना के एक पत्रकार सम्मेलन के माध्यम से प्राप्त हुई। मेरे विचार से यह जानकारी वायुसेना के लड़ाकू विमान के पायलट आदि बनने के इच्छुक नवयुवकों और उनके अभिभावकों को होना आवश्यक है अतः इस विधा से जुड़े वैज्ञानिक एवं तकनीकी तथ्यों को लेखनीबद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ। जिससे देश की रक्षा में भविष्य के भावी रणबाँकुरे फाइटर पाइलट आदि के निर्माण में यह प्रारम्भिक जानकारी के रूप में काम आ सके।

वायुसेना में प्रशिक्षित पायलटों की कमी

आज हमारी भारतीय वायुसेना में जितने प्रशिक्षित पाइलटों की आवश्यकता है वे तैयार नहीं हा पाते हैं। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विकास के साथ नये–नये आधुनिक वायुयान निर्मित हो रहे हैं जिन्हें देश की आवश्यकता के अनुसार वायुसेना में सम्मिलित किया जाता रहता है इससे और अधिक पायलटों की आवश्यकता बढ़ती रहती है। सरकार ने 220 पायलट प्रतिवर्ष भर्ती करने की अनुमति दे दी है जबकि प्रतिवर्ष केवल 110–120 पायलट ही भर्ती हो पाते हैं अतः पायलटों की कमी है। इस कमी का एक कारण यह है कि वायुसेना में काफी योग्य पायलट भर्ती किये जाते हैं। इसमें कोई ढील नहीं दी जाती अतः जो यह स्तर पूरा नहीं कर पाते हैं वे भर्ती से वंचित रह जाते हैं। हालाँकि एक बैच में लगभग 110

लोगों का चुनाव पायलट प्रशिक्षण हेतु किया जाता है लेकिन प्रशिक्षण पूरा करते करते इनकी संख्या घटकर केवल 85 से 93 पायलट तक ही रह जाती है। लेकिन इस समय जो बैच प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा है उसमें प्रशिक्षार्थी पायलटों की संख्या केवल 55 ही है।

पायलट बनने के लिये निष्ठा और बुनियादी कौशल होना दोनों ही आवश्यक है। इसके साथ उनमें शारीरिक फिटनेस और प्रचुर अभिरुचि होना भी जरूरी है। लगभग 15 प्रतिशत लोग पहले चरण में छँटनी हो जाते हैं और ठीक इसी तरह दूसरे चरण मतें 10 प्रतिशत लोग और छँट जाते हैं। आप जानते ही हैं कि एक पायलट के हाथ में कम से कम दो से दो सौ करोड़ रुपये का वायुयान होता है और उस पायलट पर प्रशिक्षण के दौरान जो पाँच वर्ष का होता है लगभग 6 करोड़ रुपये खर्च होते हैं। अतः जरा सी अयोग्यता से देश को भारी हानि उठानी पड़ सकती है। इसलिये योग्यता के साथ समझौता किया ही नहीं जा सकता है। अतः पायलटों की कमी होना स्वाभाविक है। इसे पूरा करने के लिये प्रशिक्षित कर्मचारियों की संख्या बढ़ाये जाने, प्रशिक्षण विमान के समय पर मिलने और बुनियादी सुविधाओं के होने की बात भी समय-समय पर कही जाती रहती है। यह जरूरतें तो सरकार समय-समय पर पूरी करती रहती है लेकिन योग्य नवयुवक उपलब्ध कराना एक सीमा तक समाज अथवा जनता का भी उत्तरदायित्व है।

पायलटों को सेंट्रीफ्यूज प्रशिक्षण

यह एक ऐसा उपकरण है जो वास्तविक लड़ाकू विमान के उड़ते समय की संभावित स्थितियों को प्रयोगशाला अथवा प्रशिक्षण संस्थान में ही उपलब्ध करा देता है और उनमें काम करने का अवसर प्रदान कर पायलट को प्रशिक्षित करता है। कहा जाता है कि आधुनिक तकनीक से लैस सेंट्रीफ्यूज लगभग एक सौ करोड़ की लागत का होता है और यह 25 फुट गोलाकार दायरे में घूमने वाले काकपिट से युक्त होता है। भविष्य में हमारे पायलट भी सेंट्रीफ्यूज प्रशिक्षित होंगे क्योंकि अब इसकी व्यवस्था भारतीय वायुसेना प्रशिक्षण हेतु होने जा रही है। जो पिछली व्यवस्था की तुलना में अत्यधिक अद्यतन है।

शारीरिक परीक्षण

अब तक की अनेक दुर्घटना जाँच रिपोर्टों के अनुसार अधिकतर विमान दुर्घटनायें मानवीय कारणों से हुई बताई जाती हैं। इसलिये पायलटों की शारीरिक और मानसिक जाँच नियमित तौर पर होती रहती है। यह पायलट को फुर्तीला बनाये रखने में सहायक होती है। विशेषज्ञ यह सुनिश्चित करते हैं कि जो व्यक्ति लड़ाकू पायलट बनने के लिये चुना गया है क्या वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से इतना चुस्त और हृष्ट पुष्ट है कि वह 50 डिग्री से अधिक और शून्य से चालीस डिग्री नीचे के तापमान में सामान्य रह सकता है। ठीक इसी तरह उड़ान के दौरान पृथ्वी पर गुरुत्वाकार्षण का नौ गुना अर्थात् 9-जी से भी अधिक दबाव बर्दाश्त कर सकता है। लड़ाकू विमान अक्सर आवाज से दो गुनी गति से क्षण भर में आसमान में उड़ जाते हैं उस समय 9-जी गुरुत्वाकार्षण का दबाव पड़ सकता है। इस स्थिति में मांसपेशियाँ सिकुड़ने लगती हैं और खून शरीर से मस्तिष्क की ओर जाने लगता है। इससे पायलट अचेत अवस्था में आ सकता है। काकपिट में अनेक प्रकार के सैकड़ों स्विच होते हैं जिन्हें ठीक से पहचान कर दबाने से अचेतन अवस्था गलती करा सकती है और यदि ऐसा हो जाय जिसकी संभावना पर्याप्त है, तो विमान दुर्घटनाग्रस्त हो सकता है।

गुरुत्वाकर्षण

इसीलिये ऐयरो स्पेस फिजियोलोजी लैब में गुरुत्वाकर्षण की अचानक कमी आदि को बर्दाश्त करने की क्षमता को जाँचा परखा जाता है। एक सामान्य व्यक्ति 9-जी तक सहनशील होता है लेकिन पायलट में 10-जी से अधिक की सहनशीलता होनी चाहिये तभी पायलट को यह भरोसा रहता है कि वह 9-जी से अधिक गुरुत्वाकर्षण को सह सकता है। मिराज-2000 और सुखोई-30 आदि विमानों के उड़ाने में 9-जी से अधिक गुरुत्वाकर्षण दबाव होता है अतः ऐसे विमानों को उड़ाने के लिये पायलट को मानव सेंट्रीफ्यूज में दो सप्ताह का प्रशिक्षण लेना ही होता है। जैसा पहले कहा

जा चुका है नौ अथवा दस–जी की स्थिति में पायलट की मांसपेशियाँ सिकुड़ने लगती है और रक्त मस्तिष्क की ओर बढ़ने लगता है। इसे रोकने के लिये पायलट को एक विशेष प्रकार का एण्टी–जी–सूट पहनना पड़ता है।

तापमान

बात तापमान से प्रारम्भ हुई थी आप जानते ही हैं कि जब तापमान अर्थात् गरमी बढ़ती है तो शरीर ठण्डक बनाये रखने के लिये पसीना छोड़ने लगता है लेकिन इसकी भी एक सीमा है। इसलिये पायलट को काकपिट में बैठाकर यह जाँचा जाता है कि वह कितना तापमान सह सकता है। पायलट को 60°C तापमान में बैठाकर उसके शरीर से पसीना निकलने की दर को मापा जाता है। सामान्यतः एक घंटे की उड़ान में पायलट एक लीटर अथवा कुछ अधिक पसीना निकालता है। लेकिन कुछ विमान इससे अधिक समय तक उड़ते रहते हैं, ऐसा होने पर निश्चय ही पायलट के शरीर से और अधिक पसीना निकलेगा। अतः पायलट शरीर का पसीना उड़ाने की क्षमता को चार घंटे में छः लीटर तक परखा जाता है जो लड़ाकू पायलट के लिये आवश्यक मानी जाती है।

रक्तचाप

आवाज की गति से उड़ते हुय काकपिट में कई बार गर्मी पर्याप्त बढ़ जाती है। इस स्थिति में भी पायलट बेहोशी अनुभव करने लगता है जो दुर्घटना का कारण बन सकती है। इस समय पायलट का रक्तचाप भी प्रभावित होता है। अतः उसका मापा जाना भी आवश्यक होता है। रक्तचाप की विसंगतियाँ भी पायलट के काम काज में बाधा डाल सकती हैं।

आक्सीजन

पर्वतीय क्षेत्रों में उड़ान भरने के लिये पायलट को योग्य बनाने के लिये उसकी ठण्ड की सहनशीलता की भी परीक्षा ली जाती है। ठीक इसी तरह श्वास लेने और फेफड़ों की क्रियाशीलता को भी जाँचा परखा जाता है। इसी प्रक्रिया में कम आक्सीजन सहन करने की क्षमता को भी परखा जाता है। जब आक्सीजन की कमी हो जाती है तो व्यक्ति में हाइपाक्सिया की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति होने पर पायलट सीट पर बैठे बैठे ही बिना शारीरिक प्रतिक्रिया दिखाये, प्राण त्याग सकता है। जब वायुयान ऊँचाई पर उड़ते हैं तो वहाँ आक्सीजन की कमी के कारण यह स्थिति आ सकती है अतः पायलट को हाइपाक्सिया का मुकाबला करने के लिये भी प्रशिक्षित किया जाता है।

रीढ़ की हड्डी

बड़े–बड़े अफसरों की तरह घूमने वाली आरामदेह कुर्सियों की तरह पायलट की सीट नहीं होती है। लेकिन विमान उड़ाने के दौरान पायलट को बाये–दायें घूमते रहना होता है। जब कुर्सी घूमती नहीं है तो यह कार्य रीढ़ की हड्डियों के लचीलेपन के माध्यम से पूरा होता है। अतः यह परीक्षा भी ली जाती है कि रीढ़ की हड्डी की बर्दाश्त क्षमता कितनी है।

नेत्रों की दृष्टि

काकपिट के सैकड़ों स्विचों को समझ लिया जाय और ठीक निर्णय भी ले लिया जाये तो भी उन्हें ठीक से देखने और सही स्विच तक उँगली पहुँचाने में नेत्रों की दृष्टि निर्णायक भूमिका निभाती है। इसलिये इसकी भी पर्याप्त बारीकी से परीक्षा ली जाती है अन्यथा जरा से दृष्टिदोष के कारण पायलट अपने लक्ष्य और मिशन में असफल हो सकता है।

तभी तो विशेषज्ञ कहते हैं कि सामान्य जीवन में किसी अंग के बिना जीवन जिया जा सकता है लेकिन लड़ाकू पायलट का जीवन जीने के लिये शरीर के सभी अंग ठीक ही नहीं बल्कि हर जोखिम में खरे उतरने वाले सर्वोत्तम होने चाहिये।

आशा की किरण : स्वतंत्र वायुसेना इंजीनियरिंग कालेज

भारतीय वायुसेना के पास अपना टेक्नीकल कालेज है लेकिन इसमें इंजीनियरिंग के स्नातक की भर्ती करके प्रशिक्षित किये जाते हैं। स्वतंत्र वायुसेना इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना हेतु सरकार की स्वीकृति से, जो लगभग दो साल में पूरा हो जायेगा, इंजीनियरों और वैज्ञानिक विशेषज्ञों की कमी भारतीय वायुसेना में नहीं रहेगी। यह कालेज टेक्नीकल कालेज की अपेक्षा इस बात में भिन्न होता है कि इसमें इंजीनियरिंग स्नातकों के

.... शेष पृष्ठ 32 पर

मृत्यु के चिकित्सकीय एवं विधिक पहलू

✍ डॉ0 शैलेन्द्र कुमार अवस्थी

भारतवर्ष में मृतक के मृत्यु होने के क्षण के सम्बन्ध में कोई परिभाषा नहीं की गयी है और इसका निर्धारण डाक्टरों के व्यक्तिबन्धी या वैयक्तिक परीक्षण के अनुसार किया जाता है। विश्व में कतिपय ही ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ शरीर के अंगों एवं ऊतकों के निर्माण से सम्बद्ध समस्याओं के कारणवश मृत्यु की मुख्य रूप से परिभाषा की गयी है। भारत देश के समान यूनाइटेड किंगडम में भी मृत्यु होने के कारण के बारे में डाक्टरों के शव परीक्षण रिपोर्ट पर निर्भर करता है। इस परीक्षण में मृत्यु होने के कारण के बारे में अन्वेषण किया जाता है। अनेक दृष्टिकोण से यह प्रणाली अधिक सन्तोषजनक है, कारण कि यह निश्चित सीमा तक नमनशीलता को स्वीकार्य करता है, और जब कहीं कोई जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब ऐसे जटिल मुद्दों के प्रति कठोर विधायिका को भी लागू किया जाता है।

हाल के वर्षों में मृत्यु के क्षण को विशेष महत्व दिया जाने लगा है। कारण कि एक जीवित रोगी के क्षण में जिन ऊतकों एवं अंगों का निर्माण होता है उनका प्रश्नागत मुद्दे के निर्धारण में बड़ा महत्व होता है। इसके पूर्व मृत्यु की परिभाषा मात्र एक शैक्षणिक महत्व रखती थी लेकिन आजकल इसकी परिभाषा करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। ऐसा करने की उपयोगिता मुद्दे के नैतिकता विधिक पहलुओं को निष्कर्ष बिन्दु पर पहुँचने की दृष्टिकोण से है। इतने पर भी ऊतकों के निर्माण का महत्व न केवल मृत्यु की परिभाषा पर विचार में साधन मात्र होता बल्कि कृत्रिम वायु संचार की समाप्ति के रूप में क्या ऊतक या अंग का दावा किया जाना होता है के मुद्दे पर बिना विचार किये हुये ही मस्तिष्क स्तम्भ मृत्यु (Brain stem death) की परिभाषा करने पर भी निर्भर करता है।

मृत्यु का निर्धारण :

जहाँ विकसित राष्ट्रों में प्रायः एक डाक्टर को मृत्यु के तथ्य का निर्धारण करना पड़ता है या इसके हेतुक को प्रमाणित करना पड़ता है। या उसे मृतक के शव को चिकित्सकीय विधिक परीक्षण के लिये भेजना होता है, वहीं यह भारतवर्ष में ज्यादातर व्यवहारिक नहीं है, कारण कि जब दूरस्थ देहाती क्षेत्रों में ऐसी घटनायें होती हैं तब वहाँ डाक्टर की उपस्थिति सुलभ नहीं हो पाती।

इतने पर भी, जहाँ एक डाक्टर नियमित तौर पर एक रोगी की देखभाल करता है चाहे वह रोगी किसी अस्पताल में हो या नगरीय क्षेत्र में, वहाँ रोगी की मृत्यु हो जाने पर उसे तत्काल उसके शव का परीक्षण करना चाहिये और उसे इस तथ्य से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये कि उसकी मृत्यु हो गयी है। यही नहीं बल्कि यदि सम्भव हो तो डाक्टर को रोगी की मृत्यु होने के कारण का भी अन्वेषण करना चाहिये। वास्वत में जहां कोई ऐसी आशंका उत्पन्न हो जाये, वहाँ उसे ऐसे मामले की सूचना समुचित तौर पर पुलिस के माध्यम से चिकित्सा विधिक अधिकारी को अवश्यमेव भेज देनी चाहिये। कभी कभी साधारण घटना में भी, मृत्यु के कारण का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। वास्तव में मृत्यु को परिभाषित करना बड़ा कठिन होता है। ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों त्यों ऐसे प्रश्न का निर्धारण एक निश्चित तरीके से किया जाना शैक्षणिक होता गया कि क्या अमुक व्यक्ति की मृत्यु हुई है यह नहीं और यदि हुई, तो कैसे?

इतने पर भी मृत्यु की परिभाषा के साथ आधुनिक चिकित्सकीय पुर्नजीवित करने वाली तकनीकों के साथ, कृत्रिम श्वसन, यान्त्रिकी विधि से श्वसन क्रिया करने वाले जैसे इस प्रकार के चक्र कृत्रिम पोषण भी

अत्यन्त जटिल हो चुका है जिसका विश्लेषण निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।

1. एक रोगी को कुछ ऐसे कतिपय प्रसंगों में मृतक माना जा सकता है यदि उसका हृदय–श्वसन क्रिया सम्बन्धी प्रणाली अभी भी कार्य कर रही है, फिर भी वह अचेत है और उसकी चेतना से वापस लौटने की पुनः उम्मीद नहीं की जाती है। न लौटने योग्य शब्द अन्यथा जैसे निद्रा, निश्चेतन भी परिभाषा की शर्तों का परिपालन करेगी।

2. उसके शरीर की प्रमुख हृदय श्वसन क्रिया सम्बन्धी कार्य प्रणाली (Cardio Respiratory Function) या

3. उसके शरीर की वास्तविक पेरीफिरोल निष्क्रिय (Peripheral tissue cells) हो चुकी है।

उपयुक्त बातों को एक दूसरे ढंग से निम्नवत् रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

(क) दैहिक मृत्यु (Somatic Death): यह वह दायित्व है जिसमें मृतक की मानव क्रियाकरण के पूर्ण होने की आशा से परे उसे पुनः लौटने की उम्मीद नहीं की जा सकती।

(ख) कोशिकीय मृत्यु (Cellular Death) यह किसी भी रोगी की मृत्यु होने का वह ढंग है जिसमें उसके शरीर की आधारभूत छिद्रवाली इकाइयाँ कार्य करना बन्द कर देती हैं।

जहाँ एक व्यक्ति की स्थायी तौर पर चेतना शून्य हो चुकी है और उसमें कोई उत्तेजना पैदा नहीं हो सकती है, वहाँ उस व्यक्ति के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह मस्तिष्क स्तम्भ मृत्यु (Brainstem Death) की एक अवस्था में है। यदि वह इस स्थिति में है तो उसका श्वसन क्रिया सम्बन्धी केन्द्र विचित्र ढंग से कार्य करने वाले बन जाते हैं, यदि वे ऐसा कार्य नहीं करते हैं, तब वह पोषण और वृद्धि की अवस्था में होता है। इसके बाद की वह स्थिति है जिसमें बड़ी तकनीकियों के विकास पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है। यद्यपि कि वह अपने साथी व्यक्तियों के साथ संदेश का विनिमय नहीं पाता है, फिर भी उसके अंग इतने पर भी उसकी कार्डियो–श्वसन क्रिया सम्बन्धी प्रणाली के कृत्रिम समर्थन के कारण आक्सीजन युक्त रक्त के साथ उमड़ पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, वह शारीरिक विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगशाला में निरीक्षित हृदय–फेफड़े की तैयारी (Heart Lung Preparation) के रूप में विचार रखने वाला हो सकता है। यह तदोपरान्त नैतिक, शारीरिक विज्ञान धार्मिक चर्चा का मुद्दा इस सन्दर्भ में बन सकता है कि क्या वह जीवित है या मर गया है। दर्शन शास्त्र सम्बन्धी प्रवृत्तियों की भिन्नता रखने वाले तथा अनेक धार्मिक उपाधियों के लोग इस दशा पर भिन्न–भिन्न मत रखते हैं। जिन देशों में चिकित्सा सम्बन्धी तकनीक में पर्याप्त विकास हुआ है, वहां भी यह अधिकांशतः स्वीकार किया जाता है कि ऐसे लोग मृतक हैं और यह कि–

(क) खर्चीला समर्थनकारी उपकरण व चिकित्सा एवं नर्सिंग सम्बन्धी सतर्कता प्रयोग निरर्थक उन लोगों पर नहीं किया जाना चाहिये, विशेषकर उस समय जब आरोग्य कर रोगियों की आन्तरिक क्षमता सम्बन्धी उपचार से ध्यान हट रहा है।

(ख) ऐसे मस्तिष्क स्तम्भ मृत्यु (Brainstem Death) के मामले में अन्य पीड़ितों के लाभ के लिये आन्तरिक क्षमता के दावे होते हैं।

सच या प्रमुख बात यह है जहाँ मस्तिष्क स्तम्भ के मृतक हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है वहाँ वह पुनः पूर्ववर्ती स्थिति में लौटा नहीं सकता। कारण है कि इसी सन्दर्भ में तर्क किये जाते हैं। लेकिन अफसोस है कि इस प्रश्न का निर्धारण करना एक आसान बात नहीं है कि क्या वहाँ उस रोगी को पूर्ववर्ती स्थिति में लाया जा सकता है यह नहीं जिसकी मृत्यु मस्तिष्क स्तम्भ मृत्यु के अनुक्रम में हो गयी है। यद्यपि इस मुद्दे पर अनेक देशों की योजनायें कार्यरत हैं जैसे युनाइटेड किंगडम में डाक्टरों द्वारा एक सुन्दर योजना बनायी गयी है लेकिन विधि पहलू, से यदि इसे देखा जाये, तो इसमें कोई विधिक बल नहीं होता है और यह योजना शय्याग्रस्त होने वाले रोगियों की सुरक्षा करने के उद्देश्य से बनायी गयी है।

यदि चक्रीय गति के बन्द होने के बाद गुर्दे निकाल दिये जाते हैं, वहाँ थोड़े समय के लिये सफलता प्राप्त करने का अवसर होता है अतः इस सन्दर्भ में इसे

प्राथमिक तौर पर मृत्यु के मानदण्ड होने के रूप में महत्वपूर्ण माना जा सकता है। जब यकृत, हृदय एवं फेफड़े सदृश्य अंगों का स्थानान्तरण करने की आवश्यकता पड़ती है, तब स्पन्दन हृदय के दान की आवश्यकता पड़ती है।

यद्यपि मृत्यु के भावार्थ के सन्दर्भ में लोगों में बड़ा मतभेद है लेकिन जैविक भाव में किसी व्यक्ति की मृत्यु के अर्थ के मुद्दे पर उसकी मात्रा के निर्धारण में कभी कभी जटिल स्थिति पैदा हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति की संवेदी या स्पर्श चेतना सम्बन्धी क्रियाकलाप बाधित हो जाता है और वह पुनः कभी वापस नहीं लौटती है, वहाँ उसे इसलिये मृतक घोषित कर दिया जाता है क्योंकि वह तदोपरान्त अपने अस्तित्व के बारे में किसी से और कुछ नहीं कर सकता है। ऐसा मात्र तभी होता है जबकि मस्तिष्क स्तम्भ मृत्यु की मात्रा का प्रभाव इतना व्यापक हो जाता है कि वह अपने श्वसन सम्बन्धी, मस्तिष्क स्तम्भ तथा कपालीय तन्तु के क्रियाकलापों पर से नियन्त्रण खो देता है। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा में अन्तिम परिणाम के रूप में पीड़ित व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है और इसे केवल अंगों के दान के द्वारा ही रोका जा सकता है। ऐच्छिक ढंग से श्वसन क्रिया करने की शक्ति के क्षय को एक पूर्णतः मृत्यु को प्रमुख भाग माना जाता था, लेकिन चिकित्साजगत में चरमोत्कर्ष तकनीकी विकास हो जाने के पश्चात् आजकल वैसी मान्यता नहीं है। कारण है कि इस क्षेत्र में कृत्रिम अंगों की सहायता ली जाती है। लेकिन जिन मामलों में मस्तिष्क मृत्यु की घटनायें होती हैं और रोगी के ऐसे अंग को पुनःपूर्ववती अवस्था में लौटाया नहीं जा सकता है, वहाँ यान्त्रिकी द्वारा श्वसन क्रिया को चालू रखना इस अधिकार पर अनैतिक माना जाता है कि जैसा होता है वैसा होने दो।

ऊतकों का दान

जहाँ एक व्यक्ति के सिर में ऐसा दर्द होता है कि वह ठीक नहीं हो सकता और उसका मस्तिष्क स्तम्भ पुनः सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता, वहाँ उसके लिये रोगियों के ऊतकों को दान करने की स्वीकृति प्रदान किया जाना चाहिये। जब एक रोगी की ऐच्छिक श्वसन क्रिया बाधित हो गयी हो और उसे यान्त्रिकी द्वारा आक्सीजन की आपूर्ति की जाती है जिस बिन्दु पर उसकी मृत्यु होने की घोषणा की जाती है। यह समयानुसार एक परिवर्तनशील बिन्दु होता है। वर्तमान समय में चिकित्सा व्यवसाय की एक ऐसी संहिता बनाये जाने की आवश्यकता है जो कि सम्पूर्ण देश में समान रूप से लागू की जाये।

उपर्युक्त प्रसंग में ऐसा कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है कि जिससे एक रोगी के जीवित रहने के अवसरों को दाँव पर लगाकर किसी भी ढंग से कोई परीक्षण किये जायें या वह क्रिया जो उसके उपचार या पोषणीयता के किसी भी पहलू को प्रतिकूल दशा में प्रभावित करे। मात्र प्राप्तकर्ता के अपेक्षाकृत अधिक समीप होने के कारण एक प्रत्याशी दाता को एक दूसरे अस्पताल में उस समय अन्तरित करना, जब कि उस रोगी के बचने की आशा नहीं की जा सकती है, को नैतिक दृष्टिकोण से स्वीकार्य नहीं किया जाता। जहाँ एक सम्भावी दाता की मृत्यु होना अवश्यम्भावी है, वहाँ अगों के दान के प्रश्न को मृत्यु होने के पूर्व ही उसमें रिश्तेदारों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये। इस प्रक्रिया के भी पूर्व मरणासन्न रोगी के रिश्तेदारों को उसकी मृत्यु होने की सूचना दे देनी चाहिये।

मृत्यु होने के क्षण का निर्धारण :

यद्यपि एक रोगी के मृत्यु होने की घड़ी के बारे में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है लेकिन ब्रिटेन में मृत्यु होने से सम्बंधित सभी परिभाषाओं को यथासम्भव अस्वीकार किया जा चुका है।

सन् 1968 के एक विश्व चिकित्सा साहचर्य में निम्नलिखित निर्णय लिया गया–

यदि मृत्यु होने के कारणों का अन्वेषण करना आवश्यक हो, और इसके लिये पर्याप्त संख्या में रोग के कारण का अन्वेषणकर्ता चिकित्सकों की सहायता की आवश्यकता महसूस की जाती हो, तो रोगी की मृत्यु होने के कारण का निर्धारण रोग विषयक निर्णय पर आधारित होता है। यद्यपि वर्तमान समय में औषधि के क्षेत्र कोई भी तकनीक पूर्णतया न तो सन्तोषजनक है और न ही चिकित्सक के सम्पूर्ण निर्णय से किसी भी एक तकनीक

को प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

दाता एवं प्राप्तकर्ता दोनों के हितों की सुरक्षा करने का हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिये। विशेषकर जब कोई जटिल स्थिति पैदा होती है तब ऊतकों के लिये अद्वितीय एवं क्रान्तिकारी प्रौद्योगिकी का सर्वप्रथम प्रयास किया जाता है। चूँकि आजकल ऊतकों के स्थानान्तरण की प्रक्रिया एक सामान्य बात हो गयी है इसलिये वृक्कीय स्थानान्तरण जैसे कि अनैच्छिक प्रचार का खतरा काफी कम हो गया हैं

वास्तव में जहाँ एक रोगी के लिये वृक्क का दान किया जाता है और यदि ऐसे दान द्वारा प्राप्तकर्ता के जीवन की सुरक्षा हो जाती है अर्थात् इस तकनीकी प्रयोग में चिकित्सक को सफलता प्राप्त हो जाती है, तो वहाँ जनहित में इसका व्यापक पैमाने पर प्रचार किया जाना चाहिये।

ब्रिटिश समाज में ऊतकों के स्थानान्तरण का ज्ञापन :

यह ज्ञापन इस विचारधारा का समर्थन करता है कि मानव ऊतक अधिनियम (Human Tissues Act) में संशोधन करने की आवश्यकता है ताकि ऊतकों के स्थानान्तरण के मुद्दे को विधिक पहलू की दृष्टिकोण से स्पष्ट किया जाना चाहिये। विशेषतौर पर इस सन्दर्भ में जाँच पड़ताल किया जाना आवश्यक है कि अस्पतालों के प्राधिकारियों को रोगों के एक अंग के स्थान पर दूसरे अंगों को स्थापित करने की अनुमति प्रदान किया जाना चाहिये या नहीं यह इस बात पर विश्वास न करने वो अस्पताल के प्राधिकारियों पर निर्भर करेगा कि जीवित दाम्पत्य या उसके कोई रिश्तेदार दान के मुद्दे पर किस तरह से आपत्ति करते हैं। रोगी के उपचार के दौरान उपलब्ध समय में विस्तार उसी दशा में किया जाना चाहिये जब उसक किसी अंग को हटाया जाता है और ऊतकों का स्थानान्तरण रोगी के हित के अनुकूलतम हो। जहाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है वहाँ अधिनियम की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये वैयक्तिक तौर पर दाता द्वारा एक हस्ताक्षरित पत्र को भरने की औपचारिकता को अवश्यमेव निभाया जाना चाहिये। कारण कि जब कभी कोई विधिक संकट उत्पन्न हो जाये तब इसे न्यायार्थ बतौर दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सके।

ब्रिटेन में शक्ति प्रदान करने वाले अनेक कम्प्यूटरों के दस्तावेज बनाये गये हैं तथा दाता के पत्रों के चालकों को अनुज्ञप्ति प्रदान किया जा चुका है।

शल्य चिकित्सा के अधीन ऊतकों द्वारा अंग का स्थानान्तरण करने के उद्देश्य से एक प्रस्तावित व्यवसाय की संहिता की स्थापना की गयी जिसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है।

1. एक दाता की मृत्यु को दो डाक्टरों द्वारा प्रमाणित किया जाना चाहिये और इसमें एक डाक्टर के पास कम से कम 5 वर्ष का अनुभव होना चाहिये। इन्हें अंगों का स्थानान्तरण करने वाली टीम या दल का सदस्य नहीं होना चाहिये।

2. वायुसंचार के आवागमन के मार्ग को बन्द करने के निर्णय का सम्बन्ध ऊतकों द्वारा अंग के स्थानान्तरण की शर्तों से नहीं रखना चाहिये। लेकिन ऐसे निर्णय का महत्व रोगी की चोटों या बीमारी के उपचार के दौरान उद्देश्यस्वरूप होता है और उपर्युक्त मानदण्ड को स्वीकृति भी प्रदान की जानी चाहिये।

3. जहाँ यान्त्रिकी द्वारा रोगी के अन्दर वायु संचार करने की प्रक्रिया को बन्द करने का निर्णय लिया गया है वहाँ रोगी के रिश्तेदारों से इस प्रश्न का निराकरण अवश्यमेव किया जाना चाहिये कि क्या वे वायु संचार के पूर्व या पश्चात् ऊतकों द्वारा अंग का सम्भावी अन्तरण करने की इच्छा रखते हैं या नहीं।

4. यह उस शल्य चिकित्सक के ऊपर जिम्मेदारी होती है कि वह इस बात से स्वयमेव सन्तुष्ट हो जाय कि अंग के स्थानान्तरण के पूर्व रोगी की मृत्यु हो गयी है और इस सन्दर्भ में भी पूर्णतया इस बात का समाधान होना अति आवश्यक होता है कि प्रश्नगत प्रक्रिया के अनुपालन में जीवन काल में रोगी तथा उसके रिश्तेदारों की स्वतन्त्र सहमति प्रदान की जा चुकी है।

5. यदि मृतक के रिश्तेदारों को उपरोक्त प्रक्रम में कोई आपत्ति है, तो उसे मान्यता प्रदान किया जाना चाहिये, चाहे भले ही मृतक ने प्रश्नगत मुददे के सम्बन्ध में अपने जीवनकाल में सहमति प्रदान किया था।

6. जिस समय रोगी की मृत्यु होने की सूचना

कारोमिया अन्य चिकित्सकीय अधिकारी को भेज दी जाती है, उस समय अंग स्थानान्तरणकर्ता चिकित्सक ऐसे प्राधिकारियों को किसी उस चिकित्सीय विधिक महत्व से सम्बन्धित सूचना को भेजने के कर्तव्यभार के अधीन होगा, जिस पर कारोनर को उसके मामले से ऊतकों का प्रयोग करने सन्दर्भ सहमत होना पड़ता है।

यद्यपि उपर्युक्त ब्रिटिश मानव ऊतक अधिनियम 1961 के उपबन्धों का भारतीय चिकित्सा विधि से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी यह शव परीक्षण के दौरान मृतक के रिश्तेदारों की अनुमति प्राप्त करने के लिये एक प्रारूप पत्र की उपयोगिता रखता है।

जहाँ किसी की मृत्यु हो जाती है और उसकी मृत्यु होने के सन्दर्भ में कोई चिकित्सीय विधिक अन्वेषण की कार्यवाही नहीं सम्पादित की जाती है वहाँ मानव ऊतक अधिनियम के प्रावधान के अनुसार उन व्यक्तियों की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् मृतक का शव परीक्षण किया जा सकता है लेकिन इसके लिये निम्नवत् बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है–

1. मृतक ने अपने जीवनकाल में ऐसा कोई निर्देश नहीं किया कि मरणोपरान्त उसके शव का परीक्षण किया जाये।

2. मृतक के करीब के रिश्तेदार।

प्रश्नगत शव परीक्षण का विरोध न करते हुये वर्तमान समय में चिकित्सीय व्यवस्था के क्षेत्र में यदि एक मृतक के शव परीक्षण के मुद्दे पर उसके जीवित रिश्तेदारों एवं जीवनकाल में स्वयमेव द्वारा कोई अस्वीकृति न जाहिर की गयी हो, तो इसे स्वीकृति मान ली जाती है और एक साक्षी एवं नजदीक रिश्तेदार की उपस्थिति में, शव के मरणोत्तर परीक्षण हेतु एक पत्र में लिखित अनुमति प्राप्त की जाती है। जहाँ ऐसी प्रक्रिया का अनुपालन किया गया हो, वहाँ मृतक के शव का मरणोत्तर परीक्षण कर्ताओं के विरुद्ध कोई विधिक कार्यवाही नहीं की जा सकेगी

एडवोकेट
133/93 एफ.एल.आई.सी. कालोनी
टैगोर टाउन, इलाहाबाद-6

पृष्ठ 14 का शेष ......

मोटे बच्चों को हर भोजन से पहले सलाद, फल अवश्य खाने को दें जिससे वे अन्य भोजन कम मात्रा में करें। इससे बच्चों का भार धीरे धीरे कम होने लगेगा। मोटे बच्चों को सेब, नाशपाती, गाजर, खीरा, ककड़ी, सलाद ज्यादा खाने के लिये उत्साहित करें। साथ ही घी, तेल, मक्खन, चीज, पनीर, क्रीम, आइसक्रीम, पेस्ट्रीज, चाकलेट, नमकीन, पूरी, कचौड़ी, गरिष्ठ भोज्य पदार्थ, अत्यधिक गोश्त, अंडे कम खाने को दें। मोटे बच्चों को मलाई या क्रीम निकला दूध दें। बच्चे फास्ट फूड, चाकलेट, आइसक्रीम, कोल्ड ड्रिंक, पेस्ट्रीज, केक के शौकीन होते हैं। ये सभी पदार्थ अत्यधिक कैलोरीयुक्त होते हैं और इनमें प्रोटीन, विटामिन, खनिज लवणों की कमी होती है। बच्चों को नियमित रूप से इन्हें खाने की आदत न डालें। इनकी निश्चित मात्रा में यदा कदा दें।

मोटे बच्चों को भोजन के बाद यह बताने को कहें कि उन्होंने क्या क्या खाया है। इन बच्चों को मालूम होना चाहिये कि उन्होंने क्या क्या भोजन किया है। इससे बच्चों को अहसास होता रहेगा कि उन्होंने ज्यादा खा लिया है और वे दुबारा ज्यादा भोजन करने से हिचकेंगे।

बच्चों को धीरे धीरे खाने की आदत डालने के लिये भोजन से पूर्व गर्म सूप परोसें। इससे उन्हें इसके ठंडा होने के लिये इंतजार करना पड़ेगा। धीरे धीरे उनकी धीमे खाने की आदत बन जायेगी।

यदि बच्चे मोटे हैं तो उनका मजाक न बनायें, उनको बेवजह डाँटे नहीं क्योंकि बच्चों में मोटापा स्वयं उनकी गलती से नहीं अपितु माता पिता के लाड़ प्यार या गुणसूत्रों के प्रभाव के कारण होता है जिसमें इनका योगदान कतई नहीं है। अत्यधिक मोटे बच्चों के प्रति सहानुभूति रखें, उन्हें प्यार करें पर भोजन की आदतों पर कड़ाई से नियन्त्रण रखें।

उचित व्यवहार से बच्चों का वर्तमान और भविष्य दोनों स्वस्थ रहेगा।

मेडिकल कालेज
कांगड़ा ऐट टांडा (हिमाचल प्रदेश)

वैज्ञानिक दृष्टि और उत्कृष्ट समाज

✍ विश्व मोहन तिवारी

प्रश्न : आमतौर पर जब वैज्ञानिक दृष्टि की चर्चा होती है तब स्वाभाविक रूप से अंधविश्वास, चमत्कार, ईश्वरीय सत्ता और चतुर्विम जगत पर बहस की स्थिति बन जाती है। क्या इस बातचीत के माध्यम से इस बहस में आप भाग लेना चाहेंगे ?

उत्तर : विश्वास, आस्था तथा अंधविश्वास में बहुत अंतर है। अंधविश्वास तो किसी भी दृष्टि से त्याज्य है, उनका आधार अज्ञान, भय तथा लोभ है। इन पर बहस करने का एक ही उद्देश्य हो सकता है कि उनसे कैसे छुटकारा मिले। विचित्र बात है कि अंधविश्वास भी वैश्विक हैं, बस उनके रूप बदलते रहते हैं। यह कहानी मैंने कहीं पढ़ी है– विश्व प्रसिद्ध उच्चकोटि का वैज्ञानिक नील्स बोर यह कहते थे कि वे अंधविश्वासी नहीं हैं। एक बार एक वैज्ञानिक उनसे मिलने उनके घर गया तो उसने देखा कि उनके दरवाजे पर घोड़े की नाल ठुकी है। उसने आश्चर्यचकित हो नील्स बोर से पूछा कि क्या वे इस अंधविश्वास के अनुयायी हैं ? नील्स बोर ने उत्तर दिया "कतई नहीं।" तब उसने नाल के लगाने का कारण पूछा। नील्स बोर ने उत्तर दिया कि उसके लगाने से उन्हें लाभ होता है तो विश्वास न होते हुये भी उन्होंने उसे लगा दिया है। विश्वास और आस्था अपने अनुभवों, ज्ञान तथा आप्त वचनों पर आधारित होते हैं, इन्हें पर्याप्त ऊहापोह के बाद ही स्वीकार किया जाता है तथा नये अनुभवों, ज्ञान तथा आप्तवचनों के आधार पर इन्हें बदला भी जा सकता है। इनमें भय तथा लोभ का स्थान न्यूनतम होता है। विश्वास और आस्था के बिना तो हम रोजमर्रा का काम भी नहीं कर सकते।

चमत्कार वे घटनायें हैं जिनका कोई वैज्ञानिक आधार या प्रमाण नहीं है। वैज्ञानिक इसलिये चमत्कारों को या तो भ्रम या चालाकी मानते हैं या उन्हें अपने अज्ञान की श्रेणी में डालकर उन पर शोध करते हैं। टेलीपैथी तथा भावातीत अनुभवों का विज्ञान के पास न तो आधार है और न वैज्ञानिक प्रमाण। पहले तो वे इन्हें भ्रामक घटना या चालाकी ही मानते थे। किन्तु अब उन पर शोध हो रहा है। ऐसे भावातीत अनुभव होते हैं जो इन्द्रियों से परे हैं। जो वैज्ञानिक इन्हें सीधा नकार देते हैं वे भी एक तरह से अन्धविश्वास के शिकार हैं।

ईश्वरीय सत्ता सामान्यतया मनुष्य के अपने अनुभवों तथा सोच पर आधारित विश्वास या अविश्वास की ही बात है। अधिकांशतया इन बिरले मनुष्यों को जिन्हें ईश्वर का आभास का अनुभव नहीं होता है, वैज्ञानिक विधि द्वारा जाँचा नहीं जा सकता। स्वयं आइन्स्टाइन क्वाण्टम सिद्धांत की चर्चा के समय कहा करते थे, भगवान पासा नहीं फेंकता, और नील बोल प्रत्युत्तर दिया करते थे, "भगवान को मत आदेश दो कि उसे क्या करना है।" सामान्य से अलग आइन्स्टाइन सृष्टि की रहस्यमयता के कारण भगवान को मानते थे। हमारे धर्म में भक्ति के द्वारा भगवान प्राप्त होता है, किन्तु वह अनुभव उस भक्त का केवल अपना अनुभव होता है– वैज्ञानिक जांच से परे। कठोपनिषद कहता है (यथा– अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं 2.12) अध्यात्मयोग द्वारा अर्थात् ध्यान क्रिया द्वारा उसकी भावातीत अनुभूति की जा सकती है। और यह एक दृष्टि से वैज्ञानिक जांच के लिये उपलब्ध है। कोई भी व्यक्ति ध्यान की प्रक्रिया द्वारा उस अनुभूति को पा सकता है। वैज्ञानिक आजकल भावातीत अनुभवों की जाँच पड़ताल कर रहे हैं। इन्हीं भावातीत अनुभवों के आधार पर हजारों वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों ने दिक्–काल को निपरेक्ष या एब्सोल्यूट नहीं माना, जबकि आइन्स्टाइन पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने दिक्–काल को एब्सोल्यूट न मानकर सापेक्ष माना।

प्रश्न : आपने नाटक, कहानी, कविता, लेख, रेडियो, टेलीविजन, व्याख्यान आदि विभिन्न माध्यमों और विधाओं का सहारा लिया है। किस माध्यम और किस विधा को आप जनमानस के बीच विज्ञान संचार हेतु सर्वोपयुक्त समझते हैं ?

उत्तर : जनमानस 'मुण्डेमुण्डे मतिर्भिन्ना' के आधार पर भिन्न योग्यताओं, रुचियों वाले व्यक्तियों के मेल से बना है। अतएव भिन्न व्यक्ति समूहों के लिये भिन्न माध्यम तथा विधा की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ आज मध्यम तथा उच्चवर्ग के लिये और विशेष स्थानों में निम्नवर्ग के लिये भी टी. वी. इस हेतु बहुत उपयुक्त साधन है। किंतु कुप्रचार के कारण जनमानस अधिकांशतया टी. वी. पर मनोरंजन के हलके फुलके कार्यक्रम देखना पसंद करता है। इसलिये विज्ञान प्रचार प्रसार के कार्यक्रम ऐसे कार्यक्रमों से प्रतिस्पर्धा नहीं ले सकते, अतएव दिये नहीं जा सकते। देश—काल तथा व्यक्ति समूह को देखते हुये भी माध्यम तथा विधायें उपयुक्त हो सकती हैं।

प्रश्न : अक्सर विज्ञान लेखन तथा साहित्य को अलग रखा जाता है। यह बाँटना कहाँ तक सही है ? दोनों विश्वों मे लिखने के आधार पर कृपया अपना विचार रखें।

उत्तर : यह बात सही तो है पर पी.स्नो की एक बहुचर्चित पुस्तक है टू कल्चर्स (दो संस्कृतियाँ) वे भी इनके बीच एक गहरी दरार मानते हैं। इसलिये अक्सर मुझसे यह प्रश्न किया जाता है कि मैं किस तरह इन दो नितांत भिन्न विश्वों में रमण करता रहता हूं। वैज्ञानिकों ने खोजकर पता लगया है कि मस्तिष्क का बायाँ गोलार्द्ध जो कि मुख्यतया तर्कशील है वैज्ञानिकों के लिये उपयोगी है, तथा दाहिना गोलार्द्ध जो कि मुख्यतया कल्पनाशील है साहित्यकारों, कलाकारों के लिये उपयोगी है। मेरा मानना है कि गोलार्द्ध के तार्किक आधार पर एक ऊँचाई पर जाने के बाद वैज्ञानिक को भी अतार्किक कल्पनाशील गोलार्द्ध का सहारा लेना पड़ता है तभी कठिन समस्याओं के तर्कातीत हल तथा जटिल अवलोकनों को समझने के लिये नवीन अवधारणायें निकलती हैं। हो सकता है कि स्वयं वैज्ञानिक को अपनी इस अतार्किक विधि का भान भी न हो। और कवि भी गहरी तार्किक विचारणा के बाद तर्कों के पास जाकर अपनी कल्पनाशीलता का उपयोग कर नवीन रचना प्रस्तुत करता है, और हो सकता है कि स्वयं उस रचना हेतु अपने किये तार्किक कार्य का भान भी न हो। इस विषय में एक और मान्यता प्रचलित है कि विज्ञान का कार्य शुष्क है तथा साहित्य का रसमय। मेरे अनुभव में यह भी सही नहीं है। मुझे वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक कार्यों में उतना ही आनंद आता है जितना साहित्यिक तथा कलात्मक कार्यों में। शुष्कता और रसमयता एक तो स्वयं के दृष्टिकोण तथा लगाव पर भी निर्भर करती है, और दूसरे, उस व्यक्ति की संवेदनशीलता पर भी। कम संवेदनशील व्यक्ति उत्कृष्ट कलाकार तो बन ही नहीं सकता, वह उत्कृष्ट वैज्ञानिक भी नहीं बन सकता। वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी कार्यों के साथ शुष्कता का कुप्रचार विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी—द्वेषी व्यक्तियों ने फैलाया है और फिर 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' वाला नियम तो कार्य करता ही है। इसी नियम का दुरुपयोग विज्ञान विज्ञान जगत तथा मनोरंजन जगत में भोगवाद बढ़ाने के लिये खुलकर किया जा रहा है। और आम जनता बेवकूफ बनते हुये भी खुश है। हमें अपने मन तथा सोच के इस तरह उपनिवेश बनने से हमेशा जागरूक रहना चाहिये। तो, यह तो सही है कि वैज्ञानिक अपनी तर्कणा (बायें गोलार्द्ध) का रचनाशीलता (दाहिने गोलार्द्ध) के बजाय अधिक उपयोग करते हैं। मेरे विचार से तर्कणा शक्ति तथा रचनाशीलता प्रत्येक व्यक्ति में होती है, और अधिकांश कार्यों में आवश्यक भी होती है। कौन किसका कितना विकास करता है या कर सकता है बहुत से कारकों पर निर्भर करता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो दोनों शक्तियों का उपयोग कर सकते हैं और करते हैं। मैं, शायद ऐसा व्यक्ति हूं जिसे इन दोनों भिन्न विषयों में रमण करने में अधिक आनन्द आता है।

अवकाश प्राप्त एयर वाइस मार्शल
नोएडा, उत्तर प्रदेश
- प्रस्तुति : डॉ० मनोज कुमार पटैरिया
प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी
रा०वि०प्रौ०सं०प०, नई दिल्ली

विज्ञान वार्ता

1. वायु के बारे में जानें

कमरे की वायु में अणुओं की संख्या

एक कमरा जो 15 फुट लम्बा, 10 फुट चौड़ा तथा 9 फुट ऊँचा है उसका आयतन 1350 घन फुट होगा यानी 4 x 10^7 घन सेमी या 4 x 10^4 लीटर। इस कमरे में 4 x 10^4 लीटर वायु होगी। चूंकि किसी भी गैस के 22.4 लीटर में 6 x 10^{23} अणु होते हैं अतः 4 x 10^4 लीटर वायु में (4 x 10^4 x 6 x 10^{23})/22.4 यानी 10^{27} अणु होंगे।

वायु के अणु लगभग 0.5 किमी प्रति सेकेण्ड से चलते हैं अतः कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचने में केवल 0.01 सेकेण्ड ही लगेंगे। इस प्रकार प्रति सेकेंड कमरे में वायु के अणुओं की 100 बार अदला बदली हो जायेगी।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त कमरे में दम घुटने की नौबत नहीं आयेगी। आप निश्चिन्त लेटिये या पढ़िये।

श्वास लेते समय प्रौढ़ व्यक्ति प्रति मिनट 6 से 7 लीटर वायु का इस्तेमाल करता है। वह प्रतिमिनट 12–14 बार श्वास लेता है यानी एक बार में जितनी वायु भीतर खींची जाती है या बाहर निकाली जाती है उसका आयतन लगभग 500 मिली0 यानी आधा लीटर होता है। विश्राम की अवस्था मे प्रौढ़ व्यक्ति प्रतिमिनट लगभग 200 मिली0 कार्बनडाइआक्साइड निकालता है। अत्यधिक श्रम या कसरत करते समय प्रतिमिनट 80 लीटर वायु की आवश्यकता पड़ती है और आक्सीजन का उपयोग बढ़कर 3.5 लीटर प्रतिमिनट हो जाता है।

स्पष्ट है कि श्वास लेने के लिये शुद्ध वायु चाहिये ऐसी वायु जिसका 20 प्रतिशत आक्सीजन रहे। किन्तु जिस गति से वायु प्रदूषण बढ़ रहा है उसमें शुद्ध वायु (समुचित आक्सीजन) मिलना दूभर हो गया है।

फेफड़े अधिक से अधिक 2000–3200 मिली0 वायु खींच सकते हैं, ले सकते हैं और इसमें से अधिक से अधिक 750–1000 मिली0 तक वायु निकाल सकते हैं। तब भी फेफड़े में वायु का शेष आयतन 1200 मिली0 रह जाता है।

भरसक शक्ति लगाकर जितनी वायु निकाली जा सकती है उसे प्राण क्षमता (Vital Capacity) कहते हैं। पुरुषों में यह 4.8 लीटर तथा स्त्रियों में 2.1लीटर/मी0^2 होती है। तैराकों तथा गोताखोरों में यह क्षमता बढ़ जाती है। वृद्ध लोगों में यह क्षमता घट जाती है। गर्भावस्था वाली स्त्रियों तथा श्वास रोगियों में यह क्षमता घटी हुई पाई जाती है।

– डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

2. मरणोत्तर रक्तदान

अपने देश में चिकित्सा क्षेत्र में बड़ी भारी प्रगति हुई है। ओपन हार्ट सर्जरी अब छोटे शहरों में की जाती है। रेल, जीप, ट्रकों की संख्या बढ़ने के कारण दुर्घटनाओं की संख्या भी बढ़ी है। अतः रक्त का उपयोग बढ़ गया है। दूसरे तरफ एड्स के डर के कारण ऐच्छिक दाता की संख्या घट रही है। इस कमी को पूरा करने के लिये प्रोफेशनल रक्तदाताओं की मदद लेनी पड़ रही है।

ब्लड बैंकों में जीवित व्यक्ति का सिर्फ एक बोतल खून निकाला जाता है। रशिया में 1930 में डॉ0 युदिन ने सर्वप्रथम एक मुर्दे के शरीर से खून निकालकर जीवित व्यक्ति को देने का सफल प्रयोग किया। 1935 तक डॉ0 युदिन ने मास्को शहर के प्रमुख अस्पताल में 2500 शवों के रक्त का उपयोग किया था। मास्कों में 1965 में चिकित्सा केन्द्रों ने शव–रक्त का पूरा ब्यौरा दिया है।

हर मुर्दे के शरीर से 10–15 बोतल रक्त मृत्यु पश्चात 2 से 6 घंटों में निकाला जाता है। खून निकालने के लिये मुर्दे को ऊपर नीचे होने वाले टेबल पर लिटाया

जाता है। मुर्दे के गले की रक्तवाहिनी से खून निकाले जाने के बाद उसकी निर्दोष होने की जाँच की जाती है। जिन खाली बोतलों में खून जमा किया जाता है उसमें सायट्रेट डालने की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि मुर्दे के शरीर से निकलते हुये रक्त की गुठली तैयार नहीं होती। क्लॉटिंग फैक्टर न रहने के कारण वह ब्लीडिंग डिसआर्डर के मरीजों को नहीं दिया जा सकता। 1965 तक मास्को में हर वर्ष 600–700 मुर्दों का रक्त निकाला जाता था जो उस केंद्र की आवश्यकता पूरी करता था।

कम्यूनिस्ट रशिया में वैज्ञानिक अनुसंधान जोरों पर होते हुये भी बाकी विश्व उससे दूर रहा। शव–रक्त का उपयोग भारत में किस हद तक किया जा सकता है इसका विचार हमें करना चाहिये। हर वर्ष भारत की 100 करोड़ की आबादी में एक करोड़ मौतें होती हैं। इसमें से मात्र 4–5 लाख शवों का रक्त निकाले जाने से 40–50 लाख बोतल रक्त प्राप्त होगा। भारत की जरूरत पूरी करने के लिये शव–रक्त के विज्ञान को जनता, सरकार एवं चिकित्सकों को गंभीरता से लेना अत्यंत आवश्यक है।

– साभार

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम : सहस्त्र छन्दावली
रचयिता : श्री गंगा प्रसाद पचौरी उर्फ 'फुरकान'
सम्पादक : श्री विष्णु दत्त शर्मा
प्रकाशक : शोध प्रकाशन अकादमी
:5/48, गाजियाबाद– 201010 (उ0प्र0)
प्रथम संस्करण : वर्ष 2001, मूल्य : 150.00 रू0

श्री गंगा प्रसाद पचौरी उर्फ 'फुरकान' रचित सहस्त्र छन्दावली इस सहस्त्राब्दी के प्रारंभ का एक उत्कृष्ट छन्द संग्रह है। इस ग्रन्थ में काव्य के लगभग सभी अंगों यथा– भाव, रस, छन्द, अलंकार आदि का समुचित समावेश है। जीवन के विभिन्न पहलुओं पर रचित यह काव्य संग्रह अपने आपमें अनूठा, ज्ञानवर्धक एवं रोचक ग्रन्थ है।

छन्दों का भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही प्रयोग होता आ रहा है। ग्राम्य भाषा में इसे 'छन' कहा जाता है। छन्द अथवा 'छन' में दोहे, चौपाई, सोरठा, रोला, कवित्त, सवैया एवं कुन्डलियाँ आदि आती हैं। कवि 'फुरकान' जी ने छन्दावली में इन समस्त छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु दोहों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है।

दोहे का प्रयोग कुछ इने गिने कवि ही कर रहे थे। अतः कवि 'फुरकान' का यह सद्प्रयास प्राचीन परम्परा को जीवन्तता प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास है।

कवि 'फुरकान' जी ने दोहों को अनेक उपशीर्षक में लिखा है। नेताजी उपशीर्षक में आजकल के नेताओं के चारित्रिक पतन पर अपने करारे व्यंग्य बाणों से घातक और सचेत चोट की है। इसी तरह नयन उपशीर्षक में नयनों को विविध भाव भंगिमाओं का अत्यन्त रोचक भाव परिपूर्ण एवं कलात्मक वर्णन किया है। नारी उपशीर्षक में कवि ने नारी की भावुकता, स्त्री सुलभ चपलता, कोमलता, स्नेह, ममता आदि का वर्णन किया है।

मिश्रित दोहावली उपशीर्षक में विभिन्न विषयों पर उनके हास्य व्यंग्य एवं कटाक्षपूर्ण दोहे विविध इन्द्रधनुषी वातावरण प्रस्तुत करते हैं। दोहों के साथ ही साथ प्रस्तुत संग्रह में विभिन्न विषयों पर सवैया, रोला तथा कुण्डलियाँ भी संग्रहीत हैं। जिससे पुस्तक की रोचकता और भी बढ़ गई है। निश्चय ही 'फुरकान' जी की यह कृति हिन्दी साहित्य जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनायेगी।

डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल'
अवकाश प्राप्त रीडर एवं विभागाध्यक्ष
अध्यात्म कुटीर, 439–ए, बासुकी खुर्द
दारागंज, इलाहाबाद – 211 006

परिषद् का पृष्ठ

1. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जन्मदिवस सम्पन्न

24 अगस्त 2001 को विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जन्मदिवस समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के कुलपति डॉ0 एन.के. सान्याल मुख्य अतिथि एवं लोकसेवा आयोग, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद के अध्यक्ष डॉ0 के.बी. पाण्डेय विशिष्ट अतिथि थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ0 पूर्णचन्द्र गुप्त ने की।

कार्यक्रम का आरम्भ डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल' द्वारा प्रस्तुत 'राष्ट्रभाषा वन्दना' से हुआ। तत्पश्चात् अतिथियों ने स्वामी सत्य प्रकाश जी के चित्र पर माल्यार्पण किया। श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने अतिथियों का स्वागत किया। देवव्रत द्विवेदी, प्रमोद मिश्र तथा उमेश शुक्ल ने अतिथियों को माल्यार्पण किया। आर्य समाज, चौक के प्रधान श्री राधेमोहन गुप्त जी ने अपने संस्मरणों के साथ स्वामी जी द्वारा आर्य समाज को योगदान का वर्णन किया। रसायन विभाग के आचार्य डॉ0 ईश्वरचन्द्र शुक्ल ने स्वामी जी के प्रेरणादायी व्यक्तित्व एवं विनोदप्रियता के कई व्यक्तिगत अनुभव सुनाये।

विशिष्ट अतिथि डॉ0 के.बी. पाण्डेय ने कहा कि स्वामी जी के व्याख्यान इस प्रकार होते थे कि छात्र कभी उनकी कक्षा में ऊबते नहीं थे बल्कि चाहते थे कि सत्यप्रकाश जी की कक्षा लगातार चलती रहे। वे विषय का ज्ञान देने के साथ विषय को पढ़ने व समझने की प्रेरणा देते थे।

मुख्य अतिथि डॉ0 एन.के. सान्याल ने कहा कि स्वामी जी का वैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अवदान रहा है। उन्होंने विज्ञान लेखन के साथ साथ वेदों के भाष्य एवं अन्य आर्य समाज की पुस्तकों का प्रणयन किया।

कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉ0 पूर्णचन्द्र गुप्त ने भी स्वामी जी के सान्निध्य के अपने कई संस्मरण सुनाते हुये उन्हें श्रद्धांजलि दी।

डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने सभी अतिथियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुये विज्ञान परिषद् के उन्नयन में स्वामी जी की भूमिका की चर्चा की।

समारोह के अन्त में परिषद् प्रांगण में वृक्षारोपण किया गया।

इस अवसर पर श्री हरिमोहन मालवीय, डॉ0 के. के. भूटानी, डॉ0 जे.एस. चौहान, डॉ0 के.एन. उत्तम, डॉ0 गोपाल पाण्डेय, श्री विजय चितौरी, डॉ0 दिनेश मणि, आर्य समाज के कई प्रतिनिधि आदि उपस्थित थे।

2. हिन्दी दिवस समारोह सम्पन्न

14 सितंबर 2001 को विज्ञान परिषद् प्रयाग के सभागार में हिन्दी दिवस समारोह का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष डॉ0 पूर्णचन्द्र गुप्त ने की। लोक सेवा आयोग, उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष डॉ0 कृष्ण बिहारी पाण्डेय इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे।

कार्यक्रम के आरंभ में सभाध्यक्ष तथा मुख्य अतिथि ने माँ सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया। डॉ0 दिनेश मणि ने मुख्य अतिथि का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। तत्पश्चात् डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल' ने राष्ट्रभाषा वन्दना प्रस्तुत की। मुख्य अतिथि डॉ0 के.बी. पाण्डेय ने कहा कि देश ने स्वतंत्रता की लड़ाई हिन्दी भाषा के माध्यम से लड़ी थी। आज देश का दुर्भाग्य है कि देश से अंग्रेज तो चले गये पर अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत आज भी देश में प्रतिष्ठापित है। उन्होंने हिन्दी के उन्नयन हेतु बलिदान की भावना से कार्य करने की आवश्यकता जताई।

सभाध्यक्ष डॉ0 पूर्णचन्द्र गुप्त ने कहा कि उत्तर व दक्षिण की भाषाओं के विवाद से ऊपर उठकर सारे देश को आज हिन्दी के प्रचार, प्रसार व प्रयोग की दिशा में प्रयास करने होंगे।

विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने हिन्दी विज्ञान लेखन का विहंगावलोकन प्रस्तुत करते हुये विज्ञान परिषद् के कार्यों पर प्रकाश डाला और कहा कि विज्ञान परिषद् के लिये प्रत्येक दिवस हिन्दी दिवस है।

इस अवसर पर तक्षशिला प्रकाशन से सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'विज्ञान पत्रकारिता के मूल सिद्धान्त' का लोकार्पण मुख्य अतिथि के कर कमलों से किया गया। इस पुस्तक के प्रधान सम्पादक डॉ0 शिवगोपाल मिश्र एवं सह सम्पादक डॉ0 दिनेश मणि और देवव्रत द्विवेदी हैं।

कार्यक्रम में डॉ0 हनुमान प्रसाद तिवारी, डॉ0 जे.एस. चौहान, डॉ0 विमलेश, डॉ0 दिनेश मणि, डॉ0 के. एन. उत्तम, डॉ0 गोपाल पाण्डेय एवं श्री ईश्वर चन्द्र जी ने भी अपने विचार व्यक्त किये। अंत में श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया। समारोह के अन्त में अतिथियों द्वारा विज्ञान परिषद् प्रांगण में वृक्षारोपण किया गया।

इस अवसर पर डॉ0 राजकुमार दुबे, श्री डी.एम. श्रीवास्तव, कुमारी हेमलता पंत, श्री एम.पी. यादव, श्री उमेश शुक्ल, श्री प्रमोद मिश्र, श्री चन्द्रभान सिंह आदि अनेक आमन्त्रित महानुभाव उपस्थित थे।

– देवव्रत द्विवेदी

पृष्ठ 21 का शेष ....

बजाय छात्रों की भर्ती स्कूल शिक्षा के बाद ही की जायेगी। इसलिये वायुसेना को अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्हें ढालने में आसानी होगी। यदि तुलना करें तो वायुसेना का यह कालेज पुणे स्थित सशस्त्र सेना मेडिकल कालेज के समान होगा जिससे तीनों सेनाओं की साठ प्रतिशत से अधिक चिकित्सक की जरूरतें पूरी होती हैं।

वैमानिकी विशेषज्ञ

यह कालेज वैमानिकी के अलावा मैकेनिकल और इलेक्ट्रानिक विषयों में भी पाँच साल का पाठ्यक्रम चलायेगा। इस कालेज से उत्तीर्ण हुये छात्र वायुसेना के मेंटीनेंस कमांड में तैनात किये जायेंगे और यहाँ के छात्र वैमानिकी शोध संस्थाओं में भी नियुक्त हो जायेंगे। भविष्य में वैमानिकी उद्योग का व्यापक विस्तार होने की संभावना है अतः देश में वैमानिकी विशेषज्ञों की माँग बढ़ेगी। आशा की जाती है कि घरेलू जरूरतें पूरी करने के लिये इस इंजीनियरिंग कालेज की विशेष भूमिका होगी। अब भारतीय वायुसेना स्वयं अपने विशेषज्ञ तैयार कर सकेगी जो राष्ट्र सेवा में खरे उतर सकेंगे।

अंतरिक्ष यात्री चयन स्तर

यदि लौट कर फिर चुनाव शिक्षण प्रशिक्षण पर चर्चा करें तो आपको यह जानकर खुशी होगी कि पायलट चयन अत्यधिक वैज्ञानिक और कठिन प्रक्रिया को अमेरिकी अंतरिक्ष तथा वैमानिकी प्रशासन (नासा) ने भी मान्यता प्रदान की है और भारतीय अंतरिक्ष वैमानिकी औषधि शोध संस्थान को अंतरिक्ष यात्रियों के चयन के लिये प्रमाणित किया गया है। दक्षिण एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया में यह इस तरह का एकमात्र संस्थान है। सन् 1966 में यहाँ पहली बार एक मानव सेंट्रीफ्यूज लगाया गया था। उसके स्थान पर अब अद्यतन तकनीक से युक्त सेंट्रीफ्यूज लगाया जा रहा है। अब यहाँ अंतरिक्ष वैमानिकी यात्राओं के लिये भारत को तैयार किया जा सकेगा। भारत के पहले अंतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा का चयन भी इसी संस्थान ने किया था।

इस जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि अब हमारा भारत वायुसेना में लड़ाकू पायलट से लेकर वैमानिकी विशेषज्ञों और अंतरिक्ष यात्रियों तक के चयन और प्रशिक्षण के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय स्तर हासिल कर चुका है। फैसला आपको करना है कि आपको इनमें से किसके लिये अपने आप को तैयार करना है। तो फिर देर किस बात की। मन पक्का कीजिये और वैमानिकी क्षेत्र में आगे बढ़ जाइये।

सेवानिवृत्त वैज्ञानिक
निस्काम, सी.एस.आई.आर.
सी–4–एच/56, जनकपुरी
नई दिल्ली–110 058

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।
6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7- पत्रिका का अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

ISSN : 0373-1200 नवम्बर 2001

सी. एस. आई. आर. तथा डी. बी. टी. नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु०

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 8
नवम्बर 2001

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

मुद्रक

नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग

शादाब खालिद

सम्पर्क

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

आपदा प्रबन्धन : राष्ट्रीय विकास की एक प्रमुख आवश्यकता

✍ डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव

भूमिका

विश्व के मानचित्र पर भारत की भौगोलिक स्थिति, जलवायु और भौतिक परिस्थितियों ने भारतीय महाद्वीप के अनेक क्षेत्रों को प्राकृतिक विपदाओं की प्रधानता वाला क्षेत्र बना दिया है। भारतीय महाद्वीप में विपदाओं का एक लम्बा इतिहास है। उनका दुष्परिणाम मृत्यु, विनाश, गरीबी, मुसीबत और दुखों की एक भयानक तस्वीर प्रस्तुत करता है। इन आपदाओं से मानव जाति का नुकसान कालान्तर से होता आ रहा है। इन प्राकृतिक विपदाओं की त्रासदी और उसके दुष्परिणाम ऐसे महत्वपूर्ण कारण हैं जो हमें प्राकृतिक आपदाओं के प्रबन्धन की दिशा में तत्काल कार्य करने हेतु प्रेरित करते हैं। समय के साथ आपदा प्रबन्धन के क्षेत्र में किये जा रहे कार्य व्यवस्थित ढंग से उभर कर सामने आ रहे हैं। इसमें व्यवस्थित निरीक्षण और शीघ्र सूचना को केन्द्रित किया जाता है जिसके फलस्वरूप उनका समयानुसार ढाँचा तैयार कर सूचनाओं तथा साधनों को प्रभावित क्षेत्रों तक पहुँचाया जा सके। आपदा प्रबन्धन का उद्देश्य जहाँ तक संभव हो सके जानमाल को बचाना तथा मानव जाति को सहायता प्रदान कर उन्हें पुनर्स्थापित किया जा सके। आपदा प्रबन्धन कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य उसे देश के दूर बसे लोगों तक पहुँचाना है। आपदा प्रबन्धन के बारे में जानकारी लेने से पहले आवश्यक है कि प्राकृतिक आपदाओं को सही ढंग से जाना तथा समझा जाये।

आपदायें : स्वरूप तथा प्रभाव

प्राकृतिक आपदा का अर्थ है प्राकृतिक तथा मानवजनित कारणों से आपदाओं का आगमन। भूकंप, चक्रवात, तूफान, सूखा, अतिवृष्टि, बादलों का फटना, बाढ़ का आना, भूस्खलन, आग लगना, दंगे, युद्ध आपदायें सम्पत्ति के साथ–साथ मानव जीवन पर भारी विनाश लाती हैं। कभी–कभी खतरा और आपदा शब्दों को समानार्थक समझा जाता है मगर उनके समान परिणाम नहीं होते, जो विचारणीय है। खतरा एक ऐसी घटना है जो मौजूद स्थान पर ही विनाश लाती है। अगर किसी अल्प जनसंख्या वाले तटीय क्षेत्र मे तूफान का खतरा आता है तो उसको आपदा नहीं कहा जा सकता हालांकि, उसको आपदा तब कहेंगे अगर वह घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र में आता है और जानमाल को भारी नुकसान पहुँचाता है। इसलिये खतरा आपदा की पूर्व सूचना है जो एक भारी विपत्ति में बदल सकती है अगर उसका परिणाम मानवीय, आर्थिक, सामाजिक तथा उपलब्ध ढाँचे को आकस्मिक क्षति पहुँचाये।

ऐसी आपदाओं के परिणाम आम जिंदगी में रुकावट लाते हैं जो आकस्मिक व गंभीर होते हैं। इससे सामाजिक व आर्थिक ढाँचे, स्वास्थ्य एवं संचार साधन प्रभावित होते हैं जिसके परिणामस्वरूप अत्यधिक पिछड़ापन, गरीबी, भुखमरी जैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। विकास के वर्तमान रूप व विविध साधन प्रभावित होते हैं तथा विकास कार्यों को सही ढंग से चलाने में रुकावट पैदा होती है। प्राकृतिक आपदायें जब आती हैं तब वे न केवल मानव मन में बल्कि विशाल जनसूमह तथा सरकार में दहशत फैलाती हैं और सब कुछ बर्बाद कर देती हैं।

आपदाओं में अन्तर उनके प्रवाह, विनाशकारी शक्ति तथा उनके समय सीमा से किया जा सकता है। आपदाओं की शुरुआत तेज या फिर हल्की हो सकती है। आपदायें कहीं भी आ सकती हैं। कहीं लोग इन घटनाओं से परिचित होते हैं तो कहीं अपरिचित। आपदायें चाहे

प्राकृतिक हों या मानवीय या फिर इन दोनों का मिला जुला स्वरूप हों। हालांकि प्राकृतिक एवं मानव द्वारा उत्पन्न की गई विपदाओं मे अन्तर करना कठिन तो है पर फिर भी कुछ घटनायें जैसे भोपाल गैस त्रासदी जो 1984 में हुई, सूरत में प्लेग जो 1994 में आया तथा महामारी जो 1988 में आई, सब मानव द्वारा लाई गई विपत्तियाँ हैं।

शताब्दियों से प्राकृतिक आपदायें भारत के लगभग सभी भागों को नुकसान पहुँचाती आ रही हैं। अक्टूबर 1991 में उत्तरकाशी क्षेत्र में आया भयंकर भूकंप, सितम्बर 1993 में लातूर क्षेत्र का भूकंप तथा 26 जनवरी 2001 को कच्छ तथा गुजरात में आया प्रलयंकारी भूकंप आज भी हमारे स्मृतिपटल पर विद्यमान है। मालपा, रुद्रप्रयाग, तथा पिथौरागढ़ में भूस्खलन तथा पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा अरुणाचल प्रदेश में आयी बाढ़, उड़ीसा तथा गुजरात में आया चक्रवाती तूफान, गढ़वाल हिमालय में बादलों का फटना, अतिवृष्टि, जंगलों में लगी भयंकर आग से जानमाल को भारी क्षति पहुँचायी है। राजस्थान, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश एवं उड़ीसा का सूखाग्रसित होना, हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

देश के विकास कार्यों मे आज जो धीमापन दिखाई देता है, उसके लिये प्राकृतिक व मानवीय आपदायें, जनसंख्या में बढ़ोत्तरी, संसाधनों में कमी इत्यादि महत्वपूर्ण कारण हैं। वर्तमान समय की वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास देश के अनेक क्षेत्रों में नहीं पँहुच सके हैं जिसके कारण समाज के बहुत बड़े भाग तथा उसके राजनैतिक, आर्थिक एवं संगठित ढाँचे को आपदाओं ने ग्रसित कर रखा है।

आपदा प्रबंधन : क्या और कैसे ?

जब भी हम आपदाओं के बारे में बात करते हैं तब हमें उनके परिणाम की भयावह तस्वीर तो सामने आती है परंतु उनसे बचाव तरीके अपनायें तो उनके द्वारा हुआ विनाश लगभग शून्य भी किया जा सकता है। इसी को आपदा प्रबंधन की संज्ञा दी जाती है। आपदा प्रबंधन कार्यक्रम को 6 भागों में विभक्त किया जा सकता है। 1. आपदाओं पर रोक 2. आपदाओं में कमी लाना 3. आपदाओं से निपटना 4. आपदाओं का दबाव 5. आपदाओं से उभरना तथा 6. आपदा एवं विकास।

आपदा प्रबंधन तथा नियंत्रण कार्यक्रम में वे सभी कार्य सम्मिलित हैं जो प्राकृतिक आपदा को विपत्ति में बदलने से बचाते हैं। यह बात साफ है कि प्राकृतिक आपदायें जैसे चक्रवात हो या बाढ़ को रोकने में ज्यादा कुछ नहीं किया जा सकता परन्तु उनके द्वारा किये गये विनाश को कम किया जा सकता है। कुछ बचाव कार्य राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के अंतर्गत आते हैं तथा कुछ आपदा प्रबंधन कार्यक्रम के अंतर्गत आते हैं।

आपदा प्रबंधन कार्यक्रम का एक सबसे जरूरी हिस्सा आपदाओं में कमी लाना है। सरल शब्दों में आपदाओं को नियंत्रित करने का अर्थ है, घनी जनसंख्या वाले क्षेत्रों में आपदाओं के असर को कम करना। ऐसी योजनायें तथा ढाँचे तैयार करना जो विपत्ति निरोधक हों। इसके लिये सही, वृहद सूचना एवं चेतावनी तंत्र तथा जन साधारण को शिक्षित करना तथा बचाव कार्य के लिये आधुनिक उपकरणों की व्यवस्था तथा स्वयंसेवी एवं सरकारी अमले की बड़ी संख्या को खड़ा करना आवश्यक है।

जब प्रबंधन, जल संचय में सुधार लाना, फसल उगाने के विभिन्न तरीके, मवेशी प्रबंधन तथ मिट्टी का संरक्षण भी आपदाओं से बचाव का माध्यम है। ये सब माध्यम विभिन्न प्रकार की आपदाओं में अलग अलग होते हैं

बिना ढाँचे वाले कार्यों के अंतर्गत कुछ माध्यम आते हैं जैसे अनुकूल कानूनी तरीके, नियम एवं कानून, बीमा योजना, शिक्षा एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम (जो आत्मनिर्भर समूह को बढ़ावा दें) सही समय पर आगाह करने वाले तरीके तथा स्वयंसेवी संगठन इत्यादि। बहुवर्गीय एवं लंबे समय तक चलने वाले स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम भी आपदा प्रबंधन के प्रमुख हिस्से हैं।

सही योजना बनाना ही आपदाओं से सामना करने का सही ढंग है। आपदाओं के लिये तैयार रहना एक अच्छी योजना है जो कम समय में एवं लंबे समय में

आने वाली आपदाओं से सामना करने में सहायक होती है चाहे वह केन्द्रीय, राजनैतिक, क्षेत्रीय, तथा सामूहिक हों। आपदाओं के लिये तैयार रहने की योजना स्पष्ट, सही, लचीली, योग्य तथा उपयोग में आसान होनी चाहिये। तैयारी की योजना हर आपदा प्रबंधन समाधान के अंतर्गत ही होनी चाहिये। सूखा, बाढ़, तूफान एवं भूकंप जैसी आपदाओं से निपटने के लिये निरंतर चलने वाली विभिन्न योजनाओं की सहायक योजनाओं तथा उसने उबरने की योजनाओं की भी आवश्यकता होती है।

आपदाओं के लिये तैयार रहने के लिये सबसे पहला कदम उन क्षेत्रों की पहचान करना है, जिनमें आपदाओं का अधिक प्रभाव है। इस प्रकार की जानकारी आपदा प्रबंधन योजनाओं को बनाने में सहायक सिद्ध होगी। विपत्ति के क्षणों में, उनके अधिक प्रभाव वाले क्षेत्रों की जानकारी होने से बचाव एवं सहायता कार्यों में मदद मिलेगी तथा आपदा प्रबंधन कार्यक्रमों की सामाजिक, शारीरिक तथा आर्थिक रूपरेखा तैयार करने में तथा आपदाओं के असर को समझने एवं उनके मूल्यांकन करने में सहायक योजना है। भविष्य के अनुमान से आपदा प्रबंधन में अधिक सहायता मिल सकती है। सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों की मदद से अधिक या कम क्षति के बारे में तथा उनसे निपटने में सहायता मिलती है।

आपदा प्रबंधन के अलग–अलग प्रभावों के बारे में जानकारी की सूची बनाने तथा उन्हें विश्लेषित करने का एकमात्र तरीका है, आपदा मानचित्र। भूकंप सक्रिय क्षेत्रों, औद्योगिक क्षेत्रों, भू उपयोग, स्थलाकृति, जल विज्ञान, भूविज्ञान, जनसंख्या वितरण, आर्थिक व सामाजिक स्थितियों का मानचित्र तैयार कर महत्वपूर्ण आँकड़े जुटाये जा सकते हैं। साथ ही आपदा से अत्यधिक प्रभावित क्षेत्रों में नये विकास कार्यों को बहुत सोच समझ कर ही चलाये जाने की योजनाओं में इससे सहायता मिल सकती है।

क्योंकि संचार साधन ही पहला उपचार है इसलिये तटवर्ती क्षेत्रों में उपग्रह आधारित विश्वसनीय तथा बेजोड़ संचार प्रणाली को संस्थापित किया गया है जिसे आपदा चेतावनी उपग्रह प्रणाली कहते हैं। सही आपदा प्रबंधन के लिये अब कम दबाव वाले क्षेत्रों को 72 घंटे पूर्व ही सूचित किया जा सकता है। हमें जरूरत है सही, विश्वसनीय तथा सही समय पर जानकारी देने वाली चेतावनी प्रणाली की, जो तभी पूरी हो सकती है जब सही पूर्वानुमान मिलें। उन्हीं आपदाओं के सही पूर्वानुमान लगाये जा सकते हैं जो पूर्व अनुमान लगाने योग्य हों। इसी कारणवंश, पूर्वानुमान, भविष्यवाणी तथा पूर्व चेतावनी में आपसी संबंध है जो आपदा प्रबंधन कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग है। इस अच्छी सार्वजनिक सूचना प्रणाली की मदद मिलनी ही चाहिये।

संस्थागत ढाँचे का मजबूत होना भी आपदा प्रबंधन कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिये। कुछ प्रमुख संस्थान एवं विभाग जो बड़ी आपदाओं के आने की सूचना प्रदान कर सकते हैं तथा उनके समाधान, संबंधित परामर्श प्रदान कर सकते हैं, वे निम्नलिखित हैं–

1. सरकारी मंत्रालय तथा विभाग : राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन समिति, आपदा प्रबंधन समूह, कृषि मंत्रालय, जल संसाधन, स्वास्थ्य, रेल, पर्यावरण, परमाणु ऊर्जा, सूचना एवं प्रसारण इत्यादि।

2 अकादमिक एवं प्रशिक्षण संस्थान : भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, यशवंत राव चौहान विकास प्रशासन अकादमी, रुड़की विश्वविद्यालय, इत्यादि।

3. शोध संस्थान : वन अनुसंधान संस्थान, रक्षा एवं विकास संस्थान, विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र, वाडिया हिमालय भूविज्ञान संस्थान इत्यादि।

4. वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थान : वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, भारतीय अंतरिक्ष संस्थान।

5. गैर सरकारी संस्थान : आपदा नियंत्रण संस्थान, अहमदाबाद, बाढ़ मुक्ति अभियान, बिहार, कल्पवृक्ष, पुणे।

6. अंतर्राष्ट्रीय संस्थान : विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस, तथा रेड क्रिसेन्ट सोसाइटी, यू.एन.डी.पी., यूनेस्को, यूनिसेफ तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन।

आपदा पूर्व तैयारी की योजना तथा उस पर किये गये कार्य तभी उपयोगी हैं जब आपदा से होने वाली क्षति की भी पूर्व जानकारी हो। क्षति का पूर्वानुमान सभी आपदाओं के प्रबंधन कार्यों का पहला कदम है तथा आपदा के पश्चात् किये जाने वाले कार्यों में सहायक है। इस प्रकार क्षति का आकलन, अल्प समय में दी जाने वाली आपातकालीन सहायता तथा दीर्घ काल में दी जाने वाली सहायता के लिये भी जरूरी है जिससे आपदा द्वारा किये गये विनाश का सही उपचार हो सके। आपदा में सहायता प्रदान करने वाली सबंधित एजेन्सियों को सर्वप्रथम गुमशुदा लोगों की तलाश करने का कार्य, बचाव कार्य, आश्रय तथा बिजली पहुँचाने का कार्य, खाने के प्रबंध कार्य, खाद्यान्न पहुँचाने का कार्य, मलबा सफाई का कार्य, दूरसंचार के साधन ठीक करने का कार्य, सही तौर पर स्वास्थ्य एवं सफाई अभियान का कार्य सार्वजनिक सूचना, सुरक्षा और कल्याणकारी कार्य करने की जरूरत होती है। सहायता पहुँचाने में सबसे जरूरी कार्य है चीजों के गोदाम तथा उनके संग्रह का होना जो आपदा प्रबंधन का आपातकालीन कार्य है।

मवेशी प्रबंधन आपदा प्रधान कार्यक्रमों में सबसे उपेक्षित क्षेत्र है। एक सही मवेशी सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत आपदा से प्रभावित क्षेत्रों में सर्वप्रथम पशुओं को आश्रय देना, जल प्रबंध करना, दवाइयाँ तथा सुइयाँ उपलब्ध करना, मवेशी सहायता कर्मचारियों तथा पशुओं के डाक्टरों को प्रशिक्षण देना, मृत जानवरों के शवों को हटाना तथा दीर्घकालीन आपदा प्रबंधन कार्यों को स्थापित करना इत्यादि होता है। सहायता प्रदान करने वाले तथा आपदा को सहने वाले दोनों ही की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही आपदा से उबरा जा सकता है।

आपदा प्रबंधन कार्यों में उससे उबरने की स्थिति के अंतर्गत लोगों को दुबारा बसाने का कार्य तथा ढांचागत व्यवस्था को पुनःस्थापित करने का कार्य आता है। आपदा का निपटारा करना एक धीमा कार्य है जो कि आपदा के उपरांत प्रारंभ होता है। तथा आपदा का उत्तर देने के उत्कर्ष तक पहुंचता है। दुबारा करने वाले कार्यों के अंतर्गत आर्थिक एवं सामाजिक ढांचा तैयार करने हेतु पुनर्वास का कार्य आता है। आर्थिक पुनर्वास के कार्य में मुख्यतः कृषि विकास कार्यक्रमों को महत्व दिया जाना चाहिये तथा रोज़गार योजना, कृषि, वन, मिट्टी का संरक्षण, जल संसाधन, लघु उद्योग एवं मज़दूर योजनाओं को तत्काल लागू किया जाना चाहिये।

सामाजिक पुनर्वास का कार्य अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि इस कार्य में दुःखद मानसिक स्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है जो आपदा का सबसे भयंकर परिणाम है। इसके अंतर्गत आंगनबाड़ियों का पुनर्स्थापन, सामुदायिक केन्द्र, महिला/बाल केन्द्र तथा बुजुर्गों के लिये घर आदि आते हैं। विधवाओं, महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों, तथा अपंग लोगों की मदद करना इनका सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिये। शैक्षिक एवं प्रशिक्षण कार्यों का पुनर्स्थापन शीघ्र करना चाहिये। बेघर लोगों को परिचित वातावरण में पुनर्स्थापित करना चाहिये। मानसिक आघात को कम करने के लिये परामर्श देने हेतु कार्यक्रम भी तत्काल लागू करने चाहिये।

पुनर्निर्माण करने का कार्य सामान्यतः स्वास्थ्य संस्थाओं, शैक्षिक एवं शोध केन्द्रों पर निर्भर है। भूकंप तथा तूफान निरोधक इमारतों के निर्माण कार्य को प्रोत्साहित करना चाहिये। पुनर्स्थापन के अंतर्गत मकानों के मज़बूत ढाँचे को तैयार करना भी शामिल है। आपदा से प्रभावित क्षेत्रों में जल्द से जल्द बिजली एवं संचार साधनों को उपलब्ध कराने का प्रबंध करना चाहिये।

आपदा प्रबंधन : भविष्य की सोच

सर्वोत्तम प्रयत्नों के पश्चात् भी आपदायें प्रभावित करती ही हैं। आपदा प्रबंधन चक्र आपदा तथा विकास के सही अर्थ को न जानने के कारण ही आज अधूरा है। विकास अगर सही योजना के अनुकूल न हो तो आपदा को लाता है। अतः यह विचारणीय है कि आपदा द्वारा लाये गये विनाश को विकास की तरफ किस प्रकार मोड़ सकते हैं। यह तभी संभव है जब सरकारी, गैर सरकारी संगठन तथा सेना इकट्ठे कार्य करें। अच्छा नेतृत्व इस कार्य को आसान बनाता है। संसाधनों की बर्बादी तथा दोहरी कोशिशों के लिये भी संबंधित संस्थानों का समवर्गीकरण जरूरी है।

1990–2000 का दशक अंतर्राष्ट्रीय प्राकृतिक विपदा निवारण दशक के रूप में मनाया गया है। इससे लोगों में प्राकृतिक विपदा के खतरों, आपदा प्रबंधन

शेष पृष्ठ 6 पर ....

पादप विषाणुओं के रोकथाम की आधुनिक एवं सरल विधियाँ

प्रो0 एच0 एन0 वर्मा

कृषि को हानि पहुँचाने वाले प्रमुख कारकों में पादप विषाणु कृषि वैज्ञानिकों के लिये चिन्ता का विषय हैं। इनसे होने वाले रोगों से भारी हानि को देखते हुये, कृषि वैज्ञानिकों ने इनकी रोकथाम के लिये विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया है। इन उपायों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है पादपों की अपनी ही रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास। शोधार्थियों के लिये पादप विषाणुओं की रोकथाम का यह सबसे आधुनिक एवं आसान तरीका है। सामान्य रूप से पौधों में प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न करने के लिये कृषि आधारित तकनीकों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इसमें प्रायः उचित सफलता नहीं प्राप्त होती है। आण्विक जीव विज्ञान की आधुनिक तकनीकों का प्रयोग करके पादपों में प्रतिरोधक क्षमता का समावेश कराना अब आसान हो गया है। इन आधुनिक तरीकों में दो मुख्य हैं :–

1. रोगाणु कारक प्रतिरोध : इसके अन्तर्गत विषाणुओं के कोट-प्रोटीन या मूवमेन्ट प्रोटीन या रेप्लिकेज या प्रोटिएज का प्रयोग होता है।

2. अन्य स्रोतों से प्राप्त विषाणु रोधीप्रोटीनों के समावेश या अजैवीय पदार्थों द्वारा उत्पन्न प्रतिरोधः इस को आयातित या प्रेरित प्रतिरोध कहते हैं। आयातित या प्रेरित प्रतिरोध दो तरह का हो सकता है– 1. स्थानीय (Local) तथा 2. सार्वत्रिक (Systemic)।

स्थानीय प्रतिरोध प्रतिरोधक के प्रयोग करने वाले स्थान पर ही उत्पन्न होता है। अधिकतर विषाणुरोधी पादप तत्व इसी समूह के अन्तर्गत आते हैं। ये पादप तत्व विषाणुओं की प्रथम अवस्था में ही सक्रिय होते हैं। स्थानीय प्रतिरोध उत्पन्न करने वाले इन तत्वों की उपयोगिता पर कभी–कभी प्रश्नचिन्ह खड़े किये जाते हैं। लेकिन फाइटोलैका पौधे का विषाणुरोधी तत्व जिसे PAP कहते हैं उसके द्वारा तम्बाकू एवं आलू में विविध विषाणुओं के प्रति उत्पन्न प्रतिरोधी क्षमता ने नयी सम्भावनाओं को जन्म दिया है।

जैवीय या अजैवीय पदार्थों के द्वारा उत्पन्न सर्वत्र आयातित/प्रेरित प्रतिरोध का पादप विषाणुओं से पादपों की सुरक्षा के लिये उपयोग की महत्ता को अब व्यापक मान्यता मिल गयी है। पादप विषाणुओं से सुरक्षा के लिये प्रतिरक्षा के लिये उसी विषाणु की कमजोर इकाई या उससे सम्बन्धित विषाणुओं का उपयोग किया जाता है। प्रतिरक्षा के अन्तर्गत मुख्य रूप से विषाणुओं के कोट/प्रोटीन का प्रयोग प्रतिरोध उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। इस तरह के प्रतिरोध को कोट–प्रोटीन चालित प्रतिरोध कहा जाता है। इस तकनीक से उत्पन्न प्रतिरोध अत्यन्त विशिष्ट होता है एवं उन्हीं विषाणुओं के प्रति कारगर होता है जिनके एमीनो अम्ल में 55 प्रतिशत समानता है। यह तम्बाकू का पौधा जिसमें कि सोयाबीन वाइरस का कोट–प्रोटीन है, अन्य सम्बन्धित विषाणुओं जैसे TMV (टोबैको मोज़ैक वाइरस) के प्रति कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करता है।

जैवीय एवं अजैवीय पदार्थों द्वारा प्रतिरोध उत्पन्न करने हेतु समय में अन्तर होता है। तम्बाकू की एक प्रजाति में TMV के प्रकोप के 7 दिन बाद प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न हुई जबकि थीलैवियाप्सिस बैसिकोला के तत्व की तम्बाकू की पत्तियों पर लगाने से 3 दिन में प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न पायी गयी जो कि 6–8 दिनों में अपनी उच्चतम स्थिति पर पहुँची और फिर कम होना

शुरू हो गयी। कुछ रसायनों जैसे सैलिसिलिक अम्ल द्वारा प्रेरित प्रतिरोध इसके लगाने के 10 दिन बाद देखा गया। जैन्थाई– एन सी तम्बाकू के पौधे पर पालीएक्रिलिक अम्ल को TMV के प्रविष्ट कराने के 2–3 दिन पहले लगाने से इसका प्रभाव अधिकतम पाया गया। वानस्पतिक तत्वों का प्रभाव इसकी तुलना में काफी तेज होता है। साइमेप्सिस टेट्रागोनोलोबा के पौधे के आधार की पत्तियों पर क्लीरोडेन्ड्रम पौधे की विभिन्न प्रजातियों की पत्तियों का निष्कर्ष छिड़कने से उन पत्तियों पर भी MRV (एक प्रकार का पादप विषाणु) प्रभावहीन हो गया जिन पर कोई भी छिड़काव नहीं किया गया था। कार्नेशन के पौधे की पत्तियों एवं पुनर्नवा (बोरहाविया) द्वारा प्रतिरोध प्रेरित करने के लिये भी केवल थोड़े समय की आवश्यकता होती है।

सत्तर के दशक में वनस्पति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि बैंगन के पौधे की पत्तियों के रस द्वारा निकोशियाना ग्लूटिनोसा के पौधे में TMV के प्रति एवं निकोशियाना टेबेकम में TRSV के प्रति सार्वत्रिक प्रतिरोध प्रेरित किया जा सकता है। अब कुछ और पौधों की खोज हुई है जो विभिन्न प्रायोगिक पौधों में विभिन्न विषाणुओं के प्रतिरोध उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। परन्तु विभिन्न पौधों का विभिन्न विषाणुओं के प्रति व्यवहार भिन्न–भिन्न होता है। ऐसा लगता है कि वानस्पतिक तत्वों से उत्पन्न सार्वत्रिक प्रतिरोध की प्रक्रिया की जैव रसायन घटनायें, रोगाणु प्रेरित प्रतिरोध या रसायन प्रेरित प्रतिरोध की घटनाओं से अलग होती हैं।

वानस्पतिक तत्वों द्वारा प्रेरित प्रतिरोध :

उच्च पौधों से प्राप्त अधिकतर विषाणुओं की प्रकृति क्षारीय पायी गयी है। मिराबिलिस जलापा, डाइएन्थ्रय कैरियोफिलस एवं फाइटोलैक्कासा अमेरिकाना के प्रोटीन पौधे के राइबोसोमों को नष्ट कर देते हैं। राइबोसोमों के अप्रभावी होने से प्रोटीन निर्माण रुक जाता है।

BD एवं CA के प्रोटीन विषाणुओं का प्रतिरोध परोक्ष रूप से करते हैं। ये खुद से विषाणुरोधी नहीं हैं परन्तु ये पौधों को विषाणुरोधी प्रोटीन का निर्माण करने के लिये उत्प्रेरित करते हैं जो कि वास्तव में विषाणुरोधी होते हैं। इस तरह ये प्रोटीन पौधों के अन्दर एक विषाणुरोधी प्रोटीन के निर्माण को प्रेरित करके, पौधों की आन्तरिक सुरक्षा प्रणाली को सक्रिय करके एक विषाणुरोधी अवस्था का निर्माण कर देते हैं, इसलिये इन्हें सार्वत्रिक प्रतिरोध प्रवर्तक (SRIs) कहते हैं।

अध्यक्ष, वनस्पति विभान विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

पृष्ठ 4 का शेष.....

योजनाओं की तैयारी तथा पुनर्वास इत्यादि के विषय में न केवल स्थानीय स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर जागरूकता आयी है। इस दिशा में हम आगे बढ़े हैं तथा याकोहामा सम्मेलन में जिन बातों पर जोर दिया गया था उन्हे व्यवहार में लाने की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर पर प्रारंभ हुई है। यह एक शुभ संकेत है।

आपदाओं को कम करने की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जो नवीन सोच उभर कर आयी है उसमें प्राकृतिक तथा मानव जनित दोनों ही प्रकार की आपदाओं के प्रति सचेत रहने की बात सम्मिलित है। इस मुद्दे को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। आपदा प्रबंधन को अत्याधुनिक दृष्टि तथा तकनीक से लैस किया जा रहा है। इसका फल हमें अच्छा ही मिलेगा। मानवता तथा संसाधनों की रक्षा हो सकेगी। इसके लिये हमें पुराने विचारों तथा तरीकों को त्याग कर नये तरीकों तथा संसाधनों का पूरा उपयोग करना होगा।

जब तक प्रकृति है तब तक आपदायें आती रहेंगी पर उनसे कम से कम क्षति हो यही हमारा प्रयास होना चाहिये।

अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
पश्चिमी खण्ड-7,
रामकृष्ण पुरम, नई दिल्ली–110066

बढ़ रहा है 'ई' दायरा

इरफान ह्यूमन

कम्प्यूटर बीती सहस्राब्दि के महान आविष्कारों मे से एक है। कम्प्यूटर के पिता कहे जाने वाले चार्ल्स बाबेज ने इस बात की कल्पना भी नहीं की होगी कि एक दिन यह आविष्कार पूरी दुनिया के जीवन को ही बदल डालेगा। कम्प्यूटर को ई–जीवन (ई–लाइफ) की आत्मा कहना ग़लत न होगा। यहाँ पर 'ई' का अर्थ इलेक्ट्रॉनिक से है जिसमें इंटरनेट की महत्वपूर्ण भूमिका है। इंटरनेट के पिता कहे जाने वाले कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लियोनार्ड क्लीनरॉक ने 2 सितम्बर, 1969 को दो कम्प्यूटरों के बीच संवाद कायम करने में सफलता पाकर एक नई उपलब्धि का सूत्रपात किया। तब डॉ0 क्लीनराक और उनके साथियों को भी नहीं मालूम था कि भविष्य में इंटरनेट से इतनी संभावनायें निकल आयेंगी। एक ज़माना था जब एक परियोजना शीतयुद्ध के काल में अमेरिका को सुरक्षा व्यवस्था से प्रारम्भ हुई थी, वह आज सूचना, स्वास्थ्य, मनोरंजन, ज्ञान–विज्ञान और सर्वाधिक इसके द्वारा फलते–फूलते व्यापार के माध्यम के रूप में विकसित हो गई हैं।

'ई' माध्यम का दखल हमारी जिंदगी में दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। लेखकों, पत्रकारों, चिकित्सकों, अधिवक्ताओं, शिक्षाविदों, शोधकर्ताओं और विशेषतया उच्च शिक्षा ले रहे विद्यार्थियों आदि के लिये इंटरनेट बहुत सहायक सिद्ध हो रहा है। इंटरनेट की मदद से पत्राचार या दूरवर्ती शिक्षा का महत्व बढ़ रहा है। आज कई तकनीकी पाठ्यक्रमों की पढ़ाई घर बैठे होने लगी है। अब विदेश गये बिना ही इंटरनेट के माध्यम से घर बैठे दुनिया के कई बड़े तकनीकी संस्थानों या प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों से डिग्री लेने की सुविधा उपलब्ध हो गई है। ब्रिटिश काउंसिल ने 16 ऐसे विश्वविद्यालयों की सूची बनाई है जो भारतीय विद्यार्थियों के लिये घर बैठे शिक्षा देते हैं। 'ऑन लाइन शिक्षा' की महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें विद्यार्थियों को शारीरिक रूप से कक्षा में उपस्थित होनें की आवश्यकता नहीं रहती। वे घर बैठे ही शिक्षा प्राप्त करने के साथ अपने अन्य कार्य भी जारी रख सकते हैं। ये 'ऑन लाइन कोर्स' नौकरी–पेशा लोगों की समय सूची में पूरी तरह सही बैठते हैं, फिर आपकी इच्छा है कि चाहें दिन में अध्ययन करें या रात में। हंग्रीमाइंड्स डाट काम, एमबार्क डाट काम, तथा साइबेस डाटकाम जैसे पोर्टल विभिन्न विषयों पर हज़ारों की संख्या में पाठ्यक्रमों और कालेजों की सूची उपलब्ध कराते हैं। हाँ, एक और पोर्टल है फ्री एड डाट काम नेट, जो मुफ्त ऑन लाइन पाठ्यक्रमों की जानकारी प्रदान करता है। आज अनेक संस्थानों से विवरणिका और सिलेबस भी ऑन लाइन मिलने लगे हैं। अब तो जिस दिन परीक्षाफल निकलता है उसी दिन उसे इंटरनेट पर प्रदर्शित कर दिया जाता है।

हाल ही में रोगों की जाँच और उनकी चिकित्सा के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी का हस्तक्षेप बढ़ा है जिसमें कोई भी अपनी बीमारी की जाँच और बेहतर चिकित्सा सेवा प्राप्त कर सकता है। इस पूरी व्यवस्था को नाम दिया गया है 'टेलीचिकित्सा'। कई असाध्य रोगों की जाँच और इसके इलाज के लिये अमीर लोग तो विदेश चले जाते हैं लेकिन ग़रीब और आम लोग इस सब का खर्च वहन नहीं कर पाते। लेकिन अब टेलीचिकित्सा प्रणाली ने आम लोगों के लिये भी आशा की किरण जगाई है।

चीन के एक अस्पताल में वहाँ के डाक्टरों ने पहली बार इंटरनेट पर एक 57 वर्षीय हृदय रोगी की ओपेन हार्ट सर्जरी का सीधा प्रसारण किया था। मरीज़ को पिछले पन्द्रह वर्ष से हृदय रोग था और छह महीने

से वह मायोकॉर्डियल इंफारक्शन से पीड़ित था। ऑपरेशन 20 अप्रैल, 2000 को भारतीय समय के अनुसार सुबह सात बजे से शुरू हुआ। इस आपरेशन का अस्पताल की वेबसाइट पर सीधा प्रसारण किया गया था। इंटरनेट पर ऑपरेशन के दौरान डाक्टरों द्वारा धड़कते हुये हृदय के चारों ओर की रक्त कोशिकाओं की काट छाँट को साफ साफ देखा जा सकता था। ऑपरेशन टीम के प्रमुख डॉ0 वू गिंगयू के अनुसार ऑपरेशन को इंटरनेट पर दिखाने का उद्देश्य आम लोगों में इसके प्रति जागरूकता पैदा करना था। यदि आप होम्योपैथिक उपचार तथा एक्यूपंचर पर जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डाट काम्प्लीमेंटरी मेडिसिन डाट काम का निरीक्षण कीजिये। डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डाट नियाम डाट काम की वेबसाइट पर आप आयुर्वेदिक जड़ी बूटियों, इनकी गोलियों, इनके जैम, मसाज तेल तथा अन्य दवायें खरीद सकते हैं।

ज्ञान का अथाह भंडार समझा जाने वाला इंटरनेट अब मार्केटिंग के भी नये नये रास्ते खोल रहा है जिसे नाम दिया गया है 'ई–कामर्स'। अधिकतर वस्तुओं और सेवाओं के बाजार में इंटरनेट को एक महत्वपूर्ण सूचना तकनीक के तौर पर चिन्हित किया जा रहा है– एक ऐसी तकनीक जिसमें अनेक तरह की जानकारियाँ हासिल की जा सकती हैं। इंटरनेट शापिंग के अनेक लाभ हैं। यह सुविधाजनक और किफायती तो है ही, साथ ही समय की बरबादी और डाक में होने वाले विलम्ब को दूर करती है। समुद्री या हवाई यात्रा के जहाज टिकट की बुकिंग से लेकर आडियो या वीडियो कैसेट और सी डीज़, पुस्तकें, कपड़े तथा उपहार आदि सभी कुछ घर बैठे खरीदे जा सकते हैं।

अब जहाँ दुनिया भर में 'ई' का बोलबाला है तो भला शेयर बाजार क्षेत्र कैसे अछूता रह सकता है! 'ई कामर्स' की तरह 'ई ट्रेडिंग' का भी अपना एक महत्व है। ई–ट्रेडिंग ने लाखों पूँजी निवेशकों के लिये बाजार के द्वार खोल दिये हैं। अब इंटरनेट आधारित ट्रेडिंग छोटे निवेशकों के बाजार में प्रवेश का एक अच्छा माध्यम साबित हो रहा है। इस प्रक्रिया में 'ई–ब्रोकिंग' का मार्ग तो प्रशस्त होगा ही, साथ ही बाजार में पारदर्शिता को भी बढ़ावा मिलेगा। हाल ही में भारत में लांच किये गये 'ट्रेडिंग वेबसाइट इंडिया बुल्स डाट काम' से विशेषज्ञों में विश्वास आ गया है कि आने वाले समय में अधिकतर व्यापार नेट के माध्यम से होने लगेगा।

अब 'ऑन लाइन बैंकिंग' की सुविधा भी उपलब्ध हो गई है। नेट के जरिये आप अपने खाते का बैलेंस और अन्य ब्योरा प्राप्त कर सकते हैं। भारत में 'आई.सी.आई.सी.आई.', 'एच.डी.एफ.सी.' और 'सिटी बैंक ऑन लाइन' बैंकिंग सुविधा उपलब्ध कराते हैं। डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डाट सिटी बैंक डाट काम वेबसाइट बैंकिंग और निवेश के विभिन्न उत्पाद व सेवाओं की जानकारी प्रदान करता है। वहीं डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डाट एच डी एफ सी डाट काम बैलेंस की पूछताछ, टर्म डिपाजिट, चेक स्टेटस ब्योरा, सेविंग व करन्ट अकाउन्ट का ब्योरा तथा बैंक स्टेटमेंट की जानकारी आदि सेवायें प्रदान करता है।

यदि जीना है तो खाना है लेकिन अगर खाने में स्वादिष्ट व्यंजन हों तो खाने का मज़ा ही कुछ और होता है। यदि आपको स्वादिष्ट व्यंजन बनाने में रुचि है तो ज़रूरी नहीं कि आप किसी कुकरी क्लास में प्रवेश लें। आप ऑन लाइन विचार विमर्श द्वारा इंटरनेट डाउन लोड द्वारा सैकड़ों पाक विधियाँ सीख सकते हैं। बच्चों के भोजन से लेकर स्वाद पारखियों तक के भोजन की जानकारी के लिये आप डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू फूडवेब डाट काम पर दस्तक दे सकते हैं। यदि आप शाकाहारी हैं और आप इससे संबंधित व्यंजनों की विधियाँ प्राप्त करना चाहते हैं तो डब्ल्यू डब्ल्यूय डब्ल्यू डाट गुडकर्मा कैफे डाट काम तथा डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डाट हंगरसाइट डाट काम पर जा सकते हैं।

अब कम्प्यूटर पर ऑन लाइन आरक्षण सुविधा भी उपलब्ध है। भारतीय उप महाद्वीप के बाजार का 70 प्रतिशत हिस्सा अमैडियस के पास है। छप्पन शहरों में लगभग दो हजार ट्रेवल एजेंसियाँ हैं जिनका काम अमैडियस सिस्टम पर होता है। ये एजेंसियां रेल के टिकट, घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान तथा होटलों की

बुकिंग का काम इसी सिस्टम के माध्यम से करती हैं। ऑन लाइन आरक्षण के लिये आप विजिट इंडिया डाट काम, सत्यम ऑनलाइन डाट काम, यात्रा डाट काम और अमेडियस डाट नेट पर जा सकते हैं।

इंटरनेट के बढ़ते प्रचलन के साथ अब दूर बैठे लोगों से इंटरनेट के माध्यम से बातचीत करने का शौक भी बढ़ता जा रहा है जिसे 'चैटिंग' कहते हैं। यहां आप वैज्ञानिक, राजनीतिक, खेल फिल्म, आर्थिक मुद्दों, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों, अपने निजी मामलों, यहां तक कि प्रेम और यौन जैसे नाजुक विषयों पर भी बातचीत कर सकते हैं। इंटरनेट अलादीन के चिराग जैसा है। इस ई–युग में आप घर बैठे मनचाहे स्थान पर और मनचाहे व्यक्ति के साथ घूम फिर सकते हैं। होली के रंगों का अपना अलग ही मज़ा होता है। इस बार ई–होली भी खेली गई जिसमें ई रंगों का खूब प्रयोग किया गया। कई बेवसाइटों पर होली रंगोत्सव की महत्वपूर्ण जानकारियों के साथ शुभकामनायें भेजने के लिये ई–शुभकामना कार्ड की सुविधा भी प्रदान की गई। हाल ही में सूचना प्रौद्योगिकी यानी आई.टी. को बढ़ावा देने के लिये महाराष्ट्र सरकार ने प्रत्येक माह के अंतिम मंगलवार को ई–मंगलवार के रूप में मनाने का निर्णय लिया है जिस दिन प्रदेश के मंत्री, अधिकारी और सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ एक औपचारिक वातावरण में मिलकर राज्य में आई.टी. विकास को तीव्र करने के उपायों पर विचार किया करेंगे।

संचार के सबसे सुलभ, सस्ते और व्यापक साधन के रूप में आज इंटरनेट दुनिया के कोने कोने में पहुँच चुका है। इसकी बढ़ती लोकप्रियता का कारण यह है कि इंटरनेट मानव जीवन से जुड़े हर विषय और क्षेत्र में अपनी बेजोड़ उपयोगिता रखता है। अब वह दिन दूर नहीं जब लोग सुबह की चाय और नाश्ते के साथ अखबार की जगह इंटरनेट के माध्यम से दुनिया का हाल जानेंगे। ए.सी. कमरों से लेकर खेत–खलिहानों और गाँवों से लेकर 'ई–ढाबों' तक 'ई' का बोलबाला होगा। 'ई–टी' से लेकर 'ई–डिनर' तक की हमारी जीवन शैली में भारी परिवर्तन आयेगा और हमारा जीवन ई मय हो जायेगा।

सम्पादक,
साइंस टाइम्स न्यूज़ एण्ड व्यूज़ रिसर्च
67, अन्टा, शाहजहाँपुर-242 001

वर्ष 2001 के नोबेल पुरस्कार

चिकित्सा

अमेरिका के लैलेंड हर्टवेल, ब्रिटेन के टिमोथी हंट तथा पाल नर्सी नामक तीन वैज्ञानिकों को संयुक्त रूप से औषधि क्षेत्र में अनुसन्धान हेतु।

भौतिकी

अमेरिका के एरिक कारनेल व कार्ल वीमेन तथा जर्मनी के वुल्फगैंग केटरेल को संयुक्त रूप से द्रव्य के व्यवहार को नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तों–क्षारीय परमाणुओं में हल्की गैसों के बोस–आइंस्टीन संघनन की उपलब्धि और संघनित पदार्थों के गुणों के सैद्धान्तिक अध्ययन में उल्लेखनीय कार्य के लिये।

रसायन

अमेरिका के विलियम नोलेस, के. बैरी शार्पलेस तथा जापान के रेयोजी नोयोरी को अणुओं और द्रव्यों के नये गुण के साथ संश्लेषण को संभव बनाने तथा इस तरह एंटीबायोटिकों, शोथरोधी दवाओं और हृदय रोग की दवाओं के बनाने में उपयोगी होने के लिये।

प्रक्षालक

✍ रामचन्द्र मिश्र

वर्तमान दौर में मानव शरीर के शिखर की अंदरूनी खूबसूरती का ख्याल मन से यों उतर गया है और बाहरी खूबसूरती मन में यों चढ़ गई है कि स्वच्छता संबंधी उत्पादों तथा सौंदर्य प्रसाधनों की कोई वैज्ञानिक जानकारी पाये बगैर साबुन, प्रक्षालक केशमार्जक आदि उत्पादों की अंधाधुंध खपत करने की होड़ सी लग गई है। यह भी ख्याल नहीं आता कि साबुन आदि के प्रकार में हो रहे बहुगुणक परिवर्तनों का सही ज्ञान मैल को धोने अथवा अज्ञान मैल को जमने में सहायक हो सकता है। इस लेख श्रंखला के प्रथम भाग में साबुन संबंधी नवीनतम उपभोक्ता मार्गदर्शन देने का प्रयास किया गया था। प्रस्तुत लेख में प्रक्षालकों यानी डिटर्जेंट पर अद्यतन सूचना के साथ संबंधित मुद्दों का विश्लेषण किया गया है।

–सम्पादक

पिछले लेख में एक साबुन रसायनज्ञ का हवाला देते हुये यह कहा गया था कि सारे साबुन साबुन ही हैं, फर्क सिर्फ रंग, गंध और आवरण का है। किंतु यह साबित कर दिया गया था कि अब साबुन साबुन नहीं हैं क्योंकि साबुनरहित साबुन का जमाना आ गया है, जिसे साबुन न कहने की मांग की गई है। परंपरागत रूप से मात्र वनस्पति तेलों से प्राप्त वसा अम्लों के जल में घुलनशील सोडियम लवणों को ही साबुन की संज्ञा दी जाती रही है किंतु नई मानक परिभाषा ने अर्थ में उलटफेर कर दिया है जिसके अनुसार साबुन उन सभी उत्पादों को कहेंगे जो ऐसे प्रक्षालक के रूप में निर्मित किये गये हों जिसमें प्रमुख सक्रिय पदार्थ उन वसा अम्लों के मिश्रण हों जिनमें कम से कम आठ कार्बन परमाणु उपस्थित रहें। जाहिर है कि वसा अम्ल रहित तथा रासायनिक सक्रिय पदार्थों से निर्मित होने वाले कृत्रिम प्रक्षालकों का दौर आने का नतीजा है साबुन की मान्य गुणवत्ता में आमूल उलट फेर। दूसरी ओर उपभोक्ता के स्तर पर इतनी भ्रांतियाँ आई हैं कि वह प्रक्षालक को भी साबुन समझता है। जाहिर है कि प्रक्षालकों की दुनिया की वैज्ञानिक–सैर भ्रांतियों को दूर करने एवं अपेक्षित मार्गदर्शन में सर्वथा सहायक होगी।

व्यापक अर्थ में सभी साबुन प्रक्षालक हैं किंतु वर्तमान व्यवहार में सभी प्रक्षालक साबुन नहीं हैं। वास्तव में प्रक्षालक कहा जाने वाला उत्पाद साबुन से हट कर एक संश्लेषित पदार्थ है, बल्कि कई यौगिकों की संधि है। प्रक्षालक में यह संधि मुख्य क्रियाकारक सक्रिय यौगिक तथा सहायक यौगिकों के बीच होती है ताकि अंतिम उत्पाद स्थिर और दृढ़ बनावट का हो तथा अधिक झाग देने वाला हो। इसीलिये संश्लेषित प्रक्षालक को **साबुनरहित प्रक्षालक** कहना ज्यादा स्पष्ट होगा।

प्रक्षालक से परिचय

अधिकांश संश्लेषित प्रक्षालक दो पृष्ठसक्रिय रसायनों 'एलएबी' (लीनियर एल्किल सल्फोनेट बेंजीन) या 'एओएस' (अल्फा ओलीफीन सल्फोनेट) के साथ 'एसटीपीपी' (सोडियम ट्राई पोलीफास्फेट) योगक और निर्धारित प्रकार के झागकारक, पूरक आदि रसायनों के समुचित मेल से निर्मित होते हैं ताकि अंतिम उत्पाद में उच्च प्रक्षालन क्षमता हो। पृष्ठ सक्रिय रसायन ही प्रक्षालक का प्रमुख घटक है जिसके अणुओं में वसारागी तथा जलरागी समूह होते हैं। पहले समूह द्वारा तेलसहित अन्य मैल को निकाला जाता है, दूसरे समूह द्वारा इन्हें जल में

घोलने और साफ करने की क्रिया होती है ताकि कपड़े मैलरहित साफ धुल सकें। वस्तुतः किसी भी प्रक्षालक के रासायनिक संयोजन द्वारा उसकी प्रक्षालकता का आकलन नहीं किया जा सकता है, बल्कि उसके लिये निर्दिष्ट धुलाई परीक्षा विधि का सहारा लिया जाता है। आज बाजार में विविध घनत्व, झाग क्षमता, रंग और खुशबू वाले डिटर्जेंट पाउडर उपलब्ध हैं जिनमें सफेदी पैदा करने वाले रसायन भी हो सकते हैं। अधिक, मध्यम और कम मूल्य वाले प्रक्षालक पाउडर में सक्रिय पदार्थ की मात्रा क्रमशः 15–18, 11–14, 8–10 फीसदी होती है जबकि बट्टी में 18–20, 14–16 तथा 12–15 फीसदी होती है। घटिया पाउडर में सोडा ऐश मौजूद रहती है।

संश्लेषित प्रक्षालक और साबुन में प्रमुख अंतर यह है कि प्रथम में वसारागी गुण संश्लेषित हाइड्रोकार्बन से प्राप्त होता है और दूसरे में यह गुण वसा अम्लों से पैदा होता है। कठोर जल में साबुन की क्रिया से अघुलनशील तलछट 'लाइम सोप कर्ड' निकलती है जिसके कारण साबुन का क्षय होता है और मैल पूरी तरह धुलती नहीं। प्रक्षालक कठोर जल से अप्रभावित है, यद्यपि इनके द्वारा धुलाई के लिये अत्यधिक जल की जरूरत होती है। प्रक्षालक गर्म और ठंडे दोनों प्रकार के जल में सामन रूप से प्रभावी होते हैं। धुलाई की मशीन के लिये उपयुक्त प्रक्षालक वे हैं जिनमें कम झाग पैदा हो। सिल्क और ऊनी कपड़ों के लिये द्रव या पाउडर प्रक्षालक विशेषतः तैयार किये जाते हैं जिनकी क्रिया मृदु रूप से होती है।

प्रक्षालक का चुनाव व प्रयोग

प्रक्षालक में मौजूद सक्रिय पदार्थ की प्रचुर मात्रा उसकी उत्तमता का एक सूचक अवश्य है किंतु अच्छे प्रक्षालक का चुनाव धुलाई परीक्षा के नतीजों द्वारा ही किया जा सकता है। फिलहाल समस्या यह है कि निर्माता अपने उत्पादों की संरचना की सूचना देने से कतराते हैं और उपभोक्ताओं को दिये गये सूचना के अधिकार का हनन करते हैं। मात्र वजन और कीमत के आधार पर गुणवत्ता की पहचान नामुमकिन है। पाउडर की कितनी मात्रा कितनी मैल को धोता है और कपड़े कितने साफ होते हैं यह उसकी प्रक्षालनीयता पर निर्भर है। अच्छी सफाई के लिये 10 लीटर पानी में 5 ग्राम सक्रिय पदार्थ की मात्रा इष्टतम हो सकती है बशर्ते कि फास्फेट योगक समुचित मात्रा में डाला गया हो। मध्यम गुणवत्ता के प्रक्षालक में यदि सक्रिय पदार्थ की मात्रा 10 फीसदी है तो अच्छी सफाई के लिये 10 लीटर पानी में 50 ग्राम प्रक्षालक घोलना होगा। बट्टी वाले प्रक्षालक को कपड़े पर घिसना होता है और जरूरत से ज्यादा सक्रिय पदार्थ खपाया जाता है। अतः बट्टी प्रक्षालक की कुछ मात्रा व्यर्थ हो जाती है। जाहिर है कि बट्टी का उपयोग कपड़े की कुछ ही जगहों की मैल धोने के लिये उचित होगा जहाँ मैल का जमाव घना हो या मैल जिद्दी हो।

निर्दिष्ट धुलाई के आधार पर कुछ चुने गये प्रक्षालकों की सामान्य प्रक्षालन क्षमता और उसके आधार पर उनकी श्रेणी यो हैं – सर्वोत्तम श्रेणी : गेन – 68, हैंको – 68, सुपर निरमा – 68, श्रेणी दो : मिस्टर व्हाइट – 65, निरमा – 64, टाइड – 65, रिन सुप्रीम – 66, तृतीय श्रेणी : ससा ग्रीन – 62, व्हील – 57।

उपभोक्ता मार्गदर्शन

1. बाजार से अच्छे प्रक्षालक का चुनाव सक्रिय पदार्थ और अन्य घटकों की मात्रा के आधार पर करें। अच्छे प्रक्षालक में 15–18 फीसदी सक्रिय पदार्थ होना चाहिये और उसके साथ फास्फेट योगक, अन्य सहायक पदार्थ, न्यूनतम क्षारीय पूरक पदार्थ होंगे। आइएसआइ चिन्हित प्रक्षालक की गुणवत्ता प्रमाणित होती है।

2. प्रक्षालक की श्रेणी और प्रयोग के निर्देशों के अनुसार प्रक्षालक की इष्टतम मात्रा का ही प्रयोग करें और यदि कम मैल वाले कपड़े धोने हों तो उससे भी कम मात्रा पर्याप्त होगी। घोल बनाने के लिये हाथ डालने की बजाय किसी लकड़ी के टुकड़े का प्रयोग करें। त्वचा से प्रक्षालक का संपर्क न्यूनतम समय तक ही रहे।

3. कपड़ों को पीटना–पटकना अनावश्यक है।

प्रक्षालक का काम ही है कि कपड़े से मैल अलग करे, उसे पानी में लटकाये रखें और कपड़े में दुबारा जाने से रोकें। हाँ, कपड़े को प्रक्षालक से मुक्त करने के लिये कई बार साफ पानी से धोना होगा।

4. जिस क्षेत्र में जल मृदु हो वहाँ साबुन का प्रयोग उपयुक्त होगा किंतु प्रक्षालक का प्रयोग करना ही हो तो पर्याप्त जल की उपलब्धि सुनिश्चित कर लें।

5. जस्ते की सतह वाली बाल्टी का प्रयोग न करें अन्यथा कपड़ों में मोर्चा की तरह के धब्बे बन सकते हैं। कपड़ों को आवश्यक समय से अधिक न भिगोयें।

6. प्रक्षालक की बट्टी या साबुन की बट्टी में घिसने में सहायक मिश्रित पदार्थ कैल्साइट या सिलिकेट की मात्रा मौजूद रहती है। प्रयोग के समय इनकी वजह से त्वचा पर होने वाली क्षति से सावधान रहें। वस्तुतः प्रक्षालक बट्टी के प्रयोग के समय रबड़ के दस्ताने का प्रयोग सर्वथा वांछित है।

मँजाई के पाउडर : उपभोक्ता मार्गदर्शन

संश्लेषित प्रक्षालकों का सहारा कपड़ों में सफेदी की चमकार लाने के अलावा बर्तन–भांडी में दर्पण जैसी चमक लाने के लिये भी किया जा रहा है। अब महिलाओं द्वारा राख से बर्तन घिसने के दिन प्रायः लद चुके हैं और राख की जगह मँजाई का पाउडर मासिक खरीद की वस्तु बन गई है। जाहिर है कि इन नये उत्पाद की संरचना, कार्य, खतरे और सुरक्षा सावधानी के बारे में लोगों को जानकारी नहीं के बराबर है। उपभोक्ता मार्गदर्शन संबंधी प्रमुख तथ्य ये हैं :

1. बर्तन साफ करने के लिये संश्लेषित मँजाई के पाउडर में 80 फीसदी अपघर्षी पाउडर, 0.8–3.0 फीसदी डिटर्जेंट पाउडर, तथा शेष निष्क्रिय पदार्थों युक्त तनूकारक घटक होता है। उपरोक्त घटक क्रमशः घिसाई, सफाई और उपयोग की सुविधा बढ़ाने का काम करते हैं। इसके अलावा अल्प मात्रा में विशिष्ट योगकों का प्रयोग भी कम होता है जो पाउडर की रासायनिक क्रिया में सहायक होते हैं।

2. बर्तन धुलाई हेतु द्रव प्रक्षालक आधारित उत्पाद भी उपलब्ध हैं जो प्रायः अल्फा आलीफीन सल्फोनेट का पानी में 20 फीसदी सांद्र घोल के रूप में होता है। उत्पाद में ऐसे योगज भी होते हैं जो मैल साफ करने की क्रिया में सहायक होते हैं।

3. सामान्य उपयोग के दौरान बर्तन की सफाई धुलाई के बाद प्रक्षालक रसायनों का कुछ अवशेष बर्तन की सतह पर ही जमा रह जाता है। पूर्ण सफाई के लिये लगभग 10 बार पानी से धोने की आवश्यकता पाई गई है। इस प्रकार एक व्यक्ति हर दिन अपने भोजन और पानी आदि के साथ 70 मिलीग्राम डिटर्जेंट पेट के अंदर ग्रहण करता होगा जो सर्वथा हानिकारक है।

4. लंबे समय तक रोजाना शरीर के अंदर डिटर्जेंट के अवशेषों के प्रवेश होने से त्वचा क्षय के अलावा पाचन में बाधा, मुँह में छाले, जीभ की स्वाद ग्रंथियों का क्रमशः क्षय और कैंसर तक की बीमारी हो सकती हैं। मँजाई के पाउडर या घोल में यदि अशुद्धि के रूप में सल्टोन, क्लोरीन ब्लीच आदि की सूक्ष्म मात्रा भी मौजूद होगी तो हानिकारक प्रभाव गंभीर हो सकते हैं।

5. ज्ञातव्य है कि मँजाई के पाउडर/घोल के उत्पादों की संरचना की जानकारी निर्माता नहीं देते हैं और न ही सुरक्षा संबंधी कोई मानक या निर्देश ही उपलब्ध हैं। ऐसी अवस्था में बचाव का रास्ता ही युक्तिपूर्ण होगा।

6. मँजाई के पाउडर/घोल की न्यूनतम मात्रा का उपयोग करना, बर्तन को माँजने–धोने के बाद साफ कपड़े से अच्छी तरह पोंछना और हाथों आदि को कई बार धो–पोंछ कर हानिकारक रसायनों से मुक्त करना अनिवार्य है। अगर उपभोक्ता उपरोक्त सावधानी लेने में समर्थ नहीं हैं तो उन्हें राख का इस्तेमाल ही करना चाहिये।

अध्यक्ष
परीक्षण, उपभोक्ता मार्गदर्शन संघ
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुम्बई

कृषि में जीन क्लोनन

डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

कृषि विश्व की सबसे पुरानी जैव प्रौद्योगिकी है। विगत 10 हजार वर्षों से जिस तरह फसलों की नई नई सुधरी किस्में विकसित करके अधिक उत्पादन किया जा रहा है अपने में बेमिसाल है। यद्यपि प्रारम्भिक प्रयास व्यवस्थित नहीं थे किन्तु इधर कुछ शताब्दियों से प्रजनन द्वारा नई नई किस्में उत्पन्न की जाती रही हैं। किन्तु वैज्ञानिकों के लिये जो सपना अभी साकार होना है वह ऐसी नई किस्म की फसल का पौधा विकसित करना है जिसमें वांछित गुणों का संमेल हो। इसका उत्तर **'जीन क्लोनन'** है जिसमें परम्परागत प्रजनन की घुमावदार प्रविधि को समाप्त कर पौधे के जीन प्ररूप में परिवर्तन किया जा सके।

इसके लिये दो विधियाँ अपनाई जा रही हैं।

1. जीन समावेश : जिसमें पौधे के गुणों को बदलने के लिये क्लोनन अपनाया जाता है। इसमें एक या दो अधिक नई जीनें प्रयोग में लाई जाती हैं।

2. जीन निष्कासन : जिसमें पौधे में विद्यमान एक या अधिक जीनों को निष्क्रिय बनाने के लिये जीनी इंजीनियरी प्रविधियां काम में लाई जाती हैं।

इन दोनों विधियों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में विश्व भर में अनेक जैव प्रौद्योगिकी कम्पनियाँ लगी हुई हैं।

जीन समावेश

किसी पौधे में एक या अधिक नये जीन कोडन को उस पौधे में जिस उपयोगी गुण का अभाव है प्रविष्ट करने के लिये क्लोनन प्रविधियों का सहारा लिया जाता है। इसका सबसे उत्तम उदाहरण है क्लोनित जीनों द्वारा कोडित कीटनाशियों का संश्लेषण करके कीट–आक्रमण का प्रतिरोध करने वाले पौधों का विकास करना।

पौधों पर सभी प्रकार के जीवों, वाइरसों, जीवाणुओं, कवकों तथा पशुओं का आक्रमण होता है, किन्तु कृषि में सबसे बड़ी समस्या कीटों द्वारा उत्पन्न होती है। इनसे होने वाली क्षति को रोकने के लिये फसलों पर नियमित रूप से कीटनाशी छिड़काव किया जाता है। अधिकांश कीटनाशी (यथा पाइरेथ्रायड तथा आर्गेनोफास्फेट) ऐसे विष है जो उस एक कीट को ही नहीं मारते जो कृषि को हानि पहुँचा रहा होता है बल्कि वे अनेक कीटों को मारने वाले होते हैं। इन कीटनाशियों में से कुछ अपनी उच्च विषाक्तता के कारण स्थानीय जैव मण्डल पर पूर्ण प्रभाव डालते हैं जिससे मनुष्यों को भी हानि पहुँचती है। इससे कुछ ऐसे कीट जो पौधे के भीतर रहते हैं या पत्तियों की निचली पृष्ठ पर रहते हैं वे अप्रभावित रह जाते हैं। तो फिर आदर्श कीटनाशी के गुण क्या हों ? यह प्रश्न उठता है। निस्सन्देह कीटनाशी को लक्ष्य बनाये गये कीट के लिये विषाक्त होना चाहिये किन्तु यदि सम्भव हो तो यह विषाक्तता चुनिन्दा हो जिससे वह अन्य कीटों के साथ साथ पशुओं तथा मनुष्यों के लिये अविषाक्त हों। ऐसे कीटनाशी का जैव विघटन होना चाहिये जिससे फसल नष्ट करने के बाद जो अवशेष रह जाये या तो वर्षा जल द्वारा खेत से बाहर बहा ले जाया जाय, वह पर्यावरण में दीर्घ काल तक बना न रहे। ऐसा आदर्श कीटनाशी अभी तक खोजा नहीं जा सका किन्तु अभी तक की खोज से जो आदर्शप्राय कीटनाशी खोजे गये हैं वे डेल्टा एन्टोडाक्सिन हैं जो मृदा जीवाणु बैसिलस थुरिन्जिएंसिस द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

कीट केवल पौधों को ही नहीं खाते, कभी कभी

वे जीवाणुओं को भी अपना लक्ष्य बनाते हैं। फलस्वरूप प्रतिक्रियास्वरूप कई जीवाणुओं को कीट के विरुद्ध सुरक्षा प्रणाली विकसित करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ बैलिसलस थुरिंजिएन्सिस जो स्पोरुलन के समय अन्तरकोशिकीय क्रिस्टलीय पिंड उत्पन्न करता है जिसमें कीटनाशी प्रोटीन रहता है जिसे डेल्टा एण्डोटाक्सिन कहते हैं। यह सक्रियित प्रोटीन कीटों के लिये आर्गेनोफास्फेट कीटनाशियों की तुलना में 80 हजार गुना अधिक विषाक्त होता है और अपेक्षतया वरणात्मक होता है। इस जीवाणु के विभिन्न स्ट्रेन ऐसे प्रोटीनों का संश्लेषण करते हैं जो विभिन्न समूहों के कीटों के लार्वों के विरुद्ध अत्यन्त प्रभावशाली पाये गये हैं।

इस जीवाणु में संचित होने वाला डेल्टा एण्डोटाक्सिन वस्तुतः अक्रिय पूर्वगामी होता है। किन्तु जब कोई कीट इस प्रोटाक्सिन को खा लेता है तो प्रोटीनेजों के द्वारा यह छोटे प्रोटीन में बदल जाता है जो कीट के भीतर ही संलग्न होकर उसे क्षतिग्रस्त कर देता है जिससे कीट पौधे को खा नहीं पाता और भूखों मर जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि बैसिलस थुरिंजिएन्सिस कोई नई खोज नहीं है। फसल सुरक्षा के लिये इसके इस्तेमाल किये जाने का पेटेन्ट 1904 में ही दिया जा चुका था। किन्तु जैव अपघटनीय होने से इसे बारंबार छिड़कने की आवश्यकता पड़ सकती है इसलिये इसको इस्तेमाल करने में संकोच होता रहा है इसीलिये डेल्टा एण्डोटाक्सिन तैयार किये जा रहे हैं जिन्हें बारंबार प्रयुक्त नहीं करना होगा। फलतः या तो इस टाक्सिन की संरचना को परिवर्धित कर दिया जाय या फिर फसल की ही इस टाक्सिन के संश्लेषण करने की प्रौद्योगिकी ढूँढ़ निकाली जाये।

मक्का ऐसी फसल है जिसमें वेधक कीट उत्पात मचाते हैं। ये पत्तियों की निचली सतह पर अंडे देते हैं फलतः ऊपर से छिड़का गया कीटनाशी प्रभावहीन रहता है। सर्वप्रथम सीबा–गीगी प्रयोगशाला (नार्थ कैरोलीना) के जैव प्रौद्योगिकीविदों ने मक्के के पौधे के भीतर डेल्टा एंडोटाक्सिन का संश्लेषण कराने में सफलता प्राप्त की।

इसके बाद धान, कपास, आलू, टमाटर तथा अन्य फसलों में डेल्टा एंडोटाक्सिन उत्पन्न करने के प्रयोग हुये। कई दलहनी फसलों से निकाले गये प्रोटीनेज दमनकारियों के जीनों को अन्य फसलों में स्थानान्तरित किया गया तो उनसे बीजों को क्षति पहुँचाने वाले भृंग लार्वों के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त की जा सकी है।

जीन निष्कासन

इसमें वस्तुतः जीन को हटाया नहीं जाता वरन् उसे निष्क्रिय कर दिया जाता है। जीवित पौधों में किसी जीन विशेष को निष्क्रिय करने के कई साधन हैं। इसमें अब क्लोनित जीन का अनुलेखन किया जाता है तो इस तरह जो आर एन ए बनता है वह सामान्य जीन से उत्पन्न दूत– आर एन ए का विपरीत पूरक होता है। इस विपरीत पूरक को ही **एंटीसेंस आर एन ए** कहा जाता है।

इस विधि का उपयोग टमाटरों के पकने की क्रिया को मन्दित करने के लिये हुआ है। इस तरह किसानों को अपनी फसल बेचने के लिये हरे फल न तोड़कर पके फल तोड़ कर बेचने की सुविधा उपलब्ध हो रही है जिससे फलों का असली स्वाद मिल सकता है और फलों को बाजारों में भेजते समय सड़न उत्पन्न नहीं होती। इसका कारण है ऐंटीसेंस आर एन ए द्वारा पालीगैलेक्टुरोनेज जीन का निष्क्रियकरण, जो फल को जल्दी पका देता है। इसी तरह से स्टार्च सिंथेटेज को निष्क्रिय बनाकर स्टार्च की मात्रा घटाई जा सकती है।

ऐसा टमाटर जीन इंजीनियारी द्वारा तैयार पूर्ण खाद्य पदार्थ का पहला उदाहरण है। ऐसा दावा किया जा रहा है कि इस तरह की फसलों से पर्यावरण पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा और मनुष्य की आँतों के जीवाणु इनसे प्रभावित नहीं होंगे।

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

थार मरुभूमि

डॉ0 एम.एम. हक़
कंवर सिंह

थार मरुभूमि या भारतीय वृहत मरुभूमि का कुछ भाग भारत के राजस्थान प्रदेश में तथा कुछ भाग पाकिस्तान में स्थित है। इस मरुभूमि का कुल क्षेत्रफल लगभग दो लाख वर्ग किलोमीटर है और इसमें में लगभग 180 लाख हेक्टेयर क्षेत्र जो इस मरुस्थल का सारभाग है, वह बीकानेर, जैसलमेर, बाड़मेर, जोधपुर, नागौर, चुरू, पाली तथा जालौर जिलों में पड़ता है। इस मरुभूमि के पश्चिम की ओर सिंधु नदी की सिंचित समतल भूमि है, दक्षिण पूर्व में अरावली की पहाड़ियाँ हैं, दक्षिण में कच्छ का इलाका है तथा उत्तर एवं उत्तर पूर्व में पंजाब की समतल भूमि है। थार मरुभूमि के निर्माण के जो मुख्य कारण हैं उनमें उस क्षेत्र की बरसाती हवाओं का बड़ा योगदान है। ये हवाएँ पर्याप्त मात्रा में वर्षा नहीं लाती हैं इसी कारण यह क्षेत्र निरन्तर सूखे की चपेट में रहता है। इस क्षेत्र में औसत वर्षा 150 मिलीमीटर से 500 मिलीमीटर होती है और जैसे जैसे हम मरुभूमि के पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते हैं, वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। दूसरा कारण यह है कि जो वर्षा इस क्षेत्र में होती भी है वह अनियमित होती है अर्थात् पहले से इसके विषय में पूर्वानुमान लगाना कठिन है। जुलाई से सितंबर के महीने ऐसे होते हैं जब साधारणतः इस क्षेत्र में वर्षा होती है। इस अवधि में सापेक्ष आर्द्रता 65 से 78 प्रतिशत के बीच होती है जबकि गर्मी में यह केवल 36 से 50 प्रतिशत रहती है। मई तथा जून में इस क्षेत्र में बहुत अधिक गर्मी पड़ती है तथा ताप 50 डिग्री सेल्सियस तक चला जाता है। अधिक ताप तथा आर्द्रता की कमी के कारण इस क्षेत्र में वाष्पीकरण की क्रिया तीव्र गति से होती है तथा यह 10 मिलीमीटर प्रति दिन तक पहुँच जाती है। जाड़े के मौसम में जनवरी का महीना सबसे अधिक ठंडा होता है। इस महीने में ताप 5 से 10 डिग्री तक रहता है और पाला पड़ना आम बात है। मई तथा जून के महीनों में धूप भरी आँधी का चलना भी इस क्षेत्र में आम बात है। ऐसी आँधियाँ 140 से 150 किमी प्रति घंटा की रफ्तार तक पहुँच जाती हैं। इन आंधियों के कारण रेत के टीले बनते तथा बिगड़ते रहते हैं। हवा के साथ उड़ने वाली रेत किसी ऐसे स्थान पर जमा हो जाती है, जहाँ पहले समतल था और उससे वहाँ रेत का टीला बन जाता है। साथ ही किसी ऐसी जगह जहाँ रेत का टीला था वहां से रेत के हट जाने के कारण वह स्थान समतल रूप धारण कर लेता है। रेत भरी आँधियों के कारण इस क्षेत्र का जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। आँखों में, मुँह में, नाक में रेत घुस जाती है और शरीर का रेत पर जमना तो आम बात है। इन हवाओं के कारण ही मरुस्थल लहरदार दिखाई देता है और रेत के टीलों के बीच भाकर बनते हैं। यूँ तो रेत के टीले अपना रूप बदलते रहते हैं परन्तु पुराने टीले पूरी तरह या आंशिक रूप से स्थिर रहते हैं। ऐसे टीलों की ऊँचाई 150 मीटर तक हो सकती है। इन टीलों के बीच खारे पानी की झीलें भी पाई जाती हैं जिन्हें ढांढ के नाम से जाना जाता है।

इस क्षेत्र में पाई जाने वाली मिट्टी सात प्रकार की होती है। इन सभी की एक खासियत यह है कि मिट्टी के कण मोटे होते हैं, इनके बीच स्थान काफी होता है जिससे होकर पानी आसानी से नीचे चला जाता है। इस क्षेत्र की मिट्टी में कैल्सियम का जमाव भी होता है इसीलिये मिट्टी खटीमय होती है। आम तौर पर यहाँ की मिट्टी उपजाऊ नहीं होती है। जो पेड़ पौधे यहाँ पाये जाते हैं वह शाकीय वर्ग के होते हैं और थोड़ी मात्रा में छोटी छोटी झाड़ियाँ हो सकती हैं। वृक्षों का दिखाई दे जाना तो अवसरिक ही होता है। इन वृक्षों में बबूल, खेजड़ी इत्यादि सामान्य रूप में पाये जाते हैं। थार मरुस्थल के कुल क्षेत्र का लगभग 2 प्रतिशत ही वनों से ढका है। इस क्षेत्र में काले हिरण, चिंकारा जैसे पशु तथा

पक्षियों में घाघस, बटेर, तीतर, बत्तख, हंस आदि मिलते हैं। इसी क्षेत्र में सौन चिड़िया भी पाई जाती है जो लुप्त होने के कगार पर है।

कुयें, तालाब इत्यादि के अतिरिक्त नहरों की सहायता से इस क्षेत्र में सिंचाई की जाती है। सिंधु नदी पर बना सक्कर बाँध जिसे 1932 में पूरा किया गया था, मरुस्थल के दक्षिणी भाग को सिंचाई की सुविधा प्रदान करता है। इसका लाभ पाकिस्तान के क्षेत्र में पड़ने वाले भाग को मिलता है। गंग नहर सतलुज नदी के पानी को मरुभूमि के उत्तरी भाग में पहुँचाती है। भारत के अधीन थार मरुभूमि की सिंचाई की मुख्य साधन राजस्थान नहर है। यह नहर काफी बडे क्षेत्र में सिंचाई तथा पेयजल की आवश्यकता को पूरा करती है। यह नहर हरीके बांध से आरंभ होती है जहाँ सतलुज तथा व्यास नदियों का संगम है तथा दक्षिण पश्चिम दिशा में लगभग 500 किमी0 की दूरी तय करती है। इस नहर के बनाये जाने से इस क्षेत्र में काफी सुधार हुआ है। वैसे इस नहर के कारण कुछ समस्यायें भी उत्पन्न हुई हैं। नहर के आसपास की भूमि लवणयुक्त हो गई है फिर भी इस नहर से पूरे क्षेत्र के विकास में काफी सहायता मिली है।

थार क्षेत्र में अधिकांश लोग गाँवों में बसते हैं तथा आबादी की सघनता अलग अलग क्षेत्रों में भिन्न भिन्न है। इस क्षेत्र में मुख्य रूप से हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के अनुयायी बसते हैं। इनके रीति रिवाज, अनुष्ठान, वेशभूषा इत्यादि भी अनेक प्रकार के हैं। परन्तु यह सब धर्म पर कम आधारित है। अधिकतर यह सब क्षेत्र अनुसार तथा सामाजिक परम्परा पर आधारित है। इस क्षेत्र में बड़ी संख्या में खानाबदोश भी पाये जाते हैं और इनमें से अधिकांश पशु पालन, दस्तकारी, व्यापार इत्यादि से अपनी जीविका हासिल करते हैं।

वैसे इस क्षेत्र के विषय में जानकारी की कमी कभी भी नहीं रही थी परन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभ होने के उपरान्त अर्थात् 1951 के पश्चात् इस क्षेत्र के विषय में योजनाबद्ध विधि से अध्ययन आरंभ हुआ। ऐसे अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि पिछले पाँच दशक में मरुभूमि का विस्तार लगभग 800 मीटर प्रतिवर्ष की रफ्तार से पूरब की ओर होता रहा था। कुल मिलाकर थार मरुभूमि प्रति वर्ष लगभग 13000 हेक्टेयर उपजाऊ भूमि को अपने अन्दर समाता रहा है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि थार मरुभूमि के विस्तार के क्या कारण हैं ? यूँ तो इस मरुभूमि के बनने में वायुमण्डल, जल की उपलब्धता तथा भौतिक परिवर्तन जो सदियों से हो रहे हैं उन सबका बड़ा योगदान रहा है। परन्तु मरुस्थल के जोर पकड़ने में अर्थात् मरुस्थली स्थिति को प्रबल बनाने में मानव योगदान का भी काफी महत्व रहा है। इस क्षेत्र में शुष्कता को बढ़ाने में जिस चीज का काफी योगदान रहा है वह है वनस्पति तथा भूमि का आवश्यकता से अधिक दोहन। इसका कारण है कि इस क्षेत्र में वनस्पति तथा पशुधन की जनसंख्या काफी ज्यादा हो गई है। साथ ही पहले की अपेक्षा मानव इस क्षेत्र में अपने कार्यकलाप तेजी से बढ़ाता जा रहा है। उदाहरणस्वरूप अगर इस क्षेत्र में उपस्थित जनसंख्या के विषय में विचार करें तो हम पाते हैं कि यहाँ जनसंख्या की वृद्धि की दर बहुत अधिक है। 1901 में इस क्षेत्र की जनसंख्या लगभग 34 लाख थी जो सन् 1971 में 88 लाख से अधिक हो गई। यह बढ़ोत्तरी लगभग 160 प्रतिशत है। इसी अवधि में पूरे राजस्थान प्रदेश में जनसंख्या में हुई वृद्धि केवल 125 प्रतिशत है। कहने का अर्थ है कि पूरे प्रदेश की तुलना में यहाँ की वृद्धि की दर काफी अधिक रही जबकि प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता के मद्देनजर यहाँ वृद्धि कम होनी चाहिये थी। अगर हम पशुधन के विषय में विचार करें तो देखेंगे की इस क्षेत्र में इनकी जनसंख्या भी तेजी से बढ़ी है। 1951 में इस क्षेत्र में लगभग 94 लाख पशुधन था। 1972 के आँकड़ों के अनुसार यह संख्या बढ़कर 155 लाख हो गई। अर्थात् इस पूरे क्षेत्र में न केवल मनुष्यों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है बल्कि पशुओं की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हो रही है। इनका सीधा प्रभाव इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी पर पड़ रहा है। लोग अधिक से अधिक क्षेत्र में खेती करना चाहते हैं। चूंकि यहाँ बहुत कम भूमि इस योग्य है कि खेती का बोझ बर्दाश्त कर सके इसलिये ऐसे क्षेत्र में लोग खेती करना चाहते हैं जो खेती योग्य नहीं है। परिणाम यह होता है कि भूमि की उर्वरता और भी कम हो जाती है तथा शुष्कता बढ़ती ही जाती है। इस क्षेत्र में इसी प्रकार पशुओं की संख्या अधिक होने से इस क्षेत्र की प्राकृतिक वनस्पति पर दबाव बढ़ता जाता है। इस

शेष पृष्ठ 25 पर ....

प्रोबायोटिक भोज्य पदार्थ की उपयोगिता

कुसुम लता पाण्डेय, डॉ0 भुवनेश कुमार
एवं डॉ0 नरेन्द्र कुमार

आजकल बाजार में अनेक प्रकार के प्रोबायोटिक भोज्य पदार्थ मिलने लगे हैं। ये खाद्य पदार्थ स्वास्थ्यवर्धक एवं वृद्धिकारक होते हैं। ये सूक्ष्मजीवाणुओं के संयोग से बनाये जाते हैं। इनमें हानिकाकर जीवाणु नहीं होते हैं। जब प्रोबायोटिक को भोज्य पदार्थ के साथ खाया जाता है तो प्रोबायोटिक में उपलब्ध जीवाणु जन्तु की आँतों के किण्वन में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रोबायोटिक युक्त भोज्य पदार्थ जन्तु की वृद्धि, दुग्ध उत्पादन, अंडा उत्पादन में सहायक हैं। लगातार अध्ययन करने के उपरान्त भारत में कई प्रकार के प्रोबायोटिक बनाये गये हैं जिनकी विभिन्न उपयोगितायें हैं।

प्रोबायोटिक क्या है ?

स्वास्थ्यवर्धक, जीवित खाद्य पदार्थ प्रोबायोटिक कहलाते हैं। प्रोबायोटिक में लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करने वाले जीवित जीवाणु (मुख्यतः लैक्टोबैसिलाई और स्ट्रेप्टोकोकाई के जीवित जीवाणु) के संयोग से बनाये जाते हैं जिनको भोज्य पदार्थों के साथ मिलाकर, पानी में मिलाकर या अकेले ही खाया जा सकता है। सन् 1974 में ऑरगन मेडिकल स्कूल में माइक्रोबाइलोजी के प्रवक्ता रिचर्ड और पारकर ने प्रोबायोटिक की परिभाषा दो ग्रीक शब्द से मिलाकर बनाई। उनके अनुसार ये शब्द 'प्रो और बायोटिक' 'अर्थात् जीवन के लिये' हैं। दूसरे वैज्ञानिक 'फुलर' ने सन् 1989 में प्रोबायोटिक को इस प्रकार परिभाषित किया है– 'प्रोबायोटिक' जीवित सूक्ष्मजीवाणुओं का खाद्य संपूरक तथा इसे ग्रहण करने वाले जन्तुओं की पाचन क्रिया व आँतों का संतुलन बनाये रखने में बहुत सहायक है। सन् 1992 में हेनेवार और हुश ने बताया कि प्रोबायोटिक एक या एक से अधिक जीवित सूक्ष्मजीवाणुओं का सम्मिलित माध्यम है जो कि मनुष्य तथा जन्तुओं के उपयोग में लाया जा सकता है। सन् 1908 में रूसी वैज्ञानिक इलियास मैटनीकाफ ने अपनी पुस्तक प्रोलोंगेशन ऑफ लाइफ में बुलगारिया की जनता की लम्बी आयु का कारण दही, मट्ठा आदि का अधिक सेवन बताया जिससे भोज्य पदार्थ की पाचकता एवं उनका आँतों द्वारा अवशोषण बढ़ जाता है।

साधारण तौर पर प्रोबायोटिक के सूक्ष्मजीवाणु एक स्वस्थ जन्तु की आँतों में जीवाणुओं के साथ संतुलित व्यवहार कर उसकी पाचन क्रिया को बढ़ाते है, पोषक तत्वों के अधिकाधिक अवशोषण में सहायता करते हैं एवं संक्रामक घातक बीमारियों से शरीर को लड़ने की क्षमता प्रदान करते हैं।

प्रोबायोटिक की कार्य प्रणाली

प्रत्येक जन्तु की आँतों में सूक्ष्मजीवाणु होते हैं जो शारीरिक क्रिया के लिये परस्पर संतुलन बनाये रखते हैं। इनमें से कुछ जीवाणु हानिकारक, कुछ लाभदायक और कुछ न तो लाभदायक न ही हानिकारक होते हैं। जिस समय शरीर स्वस्थ रहता है उस समय लाभदायक जीवाणु अपने पूरे प्रभाव में रहते हैं। जब लम्बी बीमारी, भोजन और पानी की खराबी, हवाई जहाज की यात्रा, एन्टीबायोटिक का सेवन आदि के पश्चात् आहारनाल का पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है, तो उस समय ऐसे जीवाणु जो शरीर के लिये अनुपयोगी होते हैं, अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। हानिकारक जीवाणु शरीर में बहुधा कम मात्रा में होते हैं। लेकिन जब किसी भी कारण से शरीर कमजोर हो जाता है तो हानिकारक जीवाणुओं

की संख्या में वृद्धि हो जाती है जिससे कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। यदि उस समय प्रोबायोटिक संवर्ध भोजन में दिया जाय तो पुनः आंतों की बिगड़ी हालत में सुधार हो जायेगा। प्रोबायोटिक के सेवन से जो लाभदायक लैक्टोबेसिलाई जीवाणु शरीर के अंदर जायेंगे वे आँतों में स्थित हानिकारक जीवाणुओं को मार कर शरीर को रोगमुक्त कर देंगे।

जब फरमेन्टेड दूध, मट्ठा, दही का सेवन किया जाता है जिनमें लैक्टिक अम्ल के जीवाणु मौजूद हों, तो आँतों में पहुँचकर लैक्टोबेसिलाई जीवाणु आंतों के हानिकारक जीवाणुओं को समाप्त करने में बहुत महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। वे सरल कार्बोहाइड्रेट से बड़ी मात्रा में लैक्टेड बनाने में सहायक होते हैं जिसके कारण अधिक मात्रा में अम्ल का निर्माण होने लगता है। अम्ल के बढने से आहार नाल का पी0एच0 स्तर कम हो जाता है। कम पी0एच0 होने के कारण हानिकारक जीवाणु, जैसे ई0 कोलाई आदि की वृद्धि कम हो जाती है जिससे इन जीवाणुओं द्वारा होने वाले रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार पक्षियों व स्तनियों के आहारनाल की बाहरी पर्त पर जिसे एपिथीलियम सरफेस कहते हैं, लैक्टोबेसिलस जीवाणु जुड़े रहते हैं। जिस समय हानिकारक जीवाणु अपने प्रभाव में होते हैं तो उस समय प्रोबायोटिक देने से, प्रोबायोटिक में उपस्थित लैक्टोबेसिलाई आहारनाल की एपिथीलियम परत के बाहरी भाग में संयुक्त होकर हानिकारक जीवाणुओं को बाहर से घेर लेते हैं जिसके कारण हानिकारक जीवाणु अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते हैं। मुर्गियों को दाने के साथ प्रोबायोटिक देने से उसमें उपस्थित लैक्टोबेसिलाई जीवाणु कोलीफार्म और सालमोनैला जीवाणुओं के ऊपर हावी होने लगते हैं जिससे जीवाणु अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार यदि चूजों को लैक्टोबेसिलस संवर्ध खिलाया जाय तो उनके ड्योडिनम, इलियम और सीकम में 24 घंटे के अंतराल में संतुलित रूप से लैक्टिक अम्ल के जीवाणु पैदा हो जाते हैं। ये जीवाणु राशन खाने के बाद चूजों के पाचन तंत्र (आँतों या आहार नाल) में किसी भी कारण से कोई गड़बड़ी होने से रोकते हैं। इस तरह जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं।

प्रोबायोटिक का उपयोग

प्रोबायोटिक पोल्ट्री, घोड़ों यहाँ तक कि मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुये हैं। लम्बी बीमारी के पश्चात् जब शरीर कमजोर हो जाता है तो उस समय प्रोबायोटिक का सेवन करना चाहिये क्योंकि प्रोबायोटिक में हानिकारक जीवाणुओं से लड़ कर समस्याओं को सुलझाने की शक्ति होती है। साधारणतया ये समस्यायें कालेस्ट्रम का सेवन करते समय, छोटे बच्चों को दूध छुड़वाते समय, भोजन में अचानक बदलाव आने पर, अचानक स्थान परिवर्तन होने पर, मौसम में परिवर्तन तथा लम्बे समय तक ऐन्टीबायेटिक का उपचार करने पर बढ़ जाती हैं। जिन पशुओं से अधिक कार्य लिया जाता है या किसी प्रकार का दबाव पड़ जाता है उनमें प्रोबायोटिक उपचार के बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त हुये हैं।

सूक्ष्मजीवाणु प्रोबायोटिक के साथ क्रिया करके आँतों की कोशिकाओं को अत्यधिक क्रियाशील बना देते हैं जिससे गैस्ट्रिक अम्ल और पित्त रस में भी प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है जिसके कारण ये छोटी आँत से बड़ी आंत में आसानी से आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रोबायोटिक की अन्य बहुत सी उपयोगितायें हैं– जैसे 1. प्रोबायोटिक प्रतिरोधित रोधन व्यवस्था (इम्यून सिस्टम) को मजबूत बनाता है। 2. संक्रामक रोगों से बचाता है। 3. कैंसर पैदा करने वाले पदार्थों को विनष्ट करके शरीर को कैंसर से मुक्त करने में सहायक है। 4. रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा को बढ़ाने से रोकने में सहायता करता है। 5. हानिकारक जीवाणुओं से बचाने में सहायक है तथा शरीर में होने वाले अपच व पेचिश को बढ़ने से रोकता है। 6. उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) को रोकता है और अचानक आँतों में होने वाले ट्यूमर को बढ़ने से रोकता है। 7. लैक्टोज के उपापचयन में सहायक है और जिनको

शेष पृष्ठ 29 पर.....

जियें तो जियें कैसे

✍ संकट मोचन प्रसाद 'ध्रुव'

सन् 2001 से 21वीं सदी शुरू हो चुकी है जिसमें हमारे जीवन का एक–एक पल विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की नवीनतम गतिविधियों व उपलब्धियों से आच्छादित हो गया है। अतः आजकल के वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग की माँग और सुविधा को ध्यान में रखते हुये अब परम्परागत जीवन शैली दिनोंदिन उबाऊ सी लगने लगी है। सच्चाई तो यह है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की रफ्तार के अनुसार हम अपने विचारों, भावनाओं, क्रियाकलापों और जीवन यापन के अन्य साधनों व आवश्यकताओं को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करने में अधिकांशतः असफल होते जा रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हम अपने व्यक्तिगत व निजी लाभ के लिये केवल एक उपभोक्ता के रूप में उपयोगी ज्ञान–विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा उन्नत कला कौशल को ग्रहण करने पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित करते हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रति हमारा जो वर्तमान नजरिया है उसके अनुसार हमें भौतिक आनन्द की अनुभूति तो ज्यादा से ज्यादा मिल रही है परन्तु हम दिनों–दिन धनाभाव, स्वस्थ जीवन के अभाव, सुविधाओं के अभाव, शिक्षा, रोजगार के अभाव तथा अन्य नयी मुसीबतों, दुश्चिंताओं के घेरे में फँसते जा रहे हैं। तो इससे छुटकारा पाने के लिये क्या करें ? कुछ सुत्र हैं–

1. वैज्ञानिक सोच अपनायें। किसी भी भ्रान्ति, सन्देह तथा अफवाह से सदैव सतर्क रहें।
2. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मनोवृत्ति, जिज्ञासा एवं कार्य व्यवहार को सकारात्मक ढंग से अपने दैनिक क्रियाकलापों में विकसित करें।
3. हर लौकिक–अलौकिक घटना, प्रसंग, जानकारी, स्थान, वस्तु व व्यक्ति आदि को पहले अच्छी तरह जानें–बूझें, जाँचें–परखें तब सुदृढ़ तर्कों तथा निर्विवादित प्रमाणों के आधार पर ही अपना विचार दें और स्वीकार करें।
4. सामाजिक अन्धविश्वासों, कुरीतियों, कुप्रथाओं, कुपरम्पराओं तथा हर रूढ़िवादी विचारधारा व मान्यताओं का वैज्ञानिक विश्लेषणों और वैज्ञानिक मूल्यांकनों द्वारा ही पर्दाफाश करें।
5. ज्ञान–विज्ञान का बेहतर ढंग से निरन्तर अर्जन करें और उपयोगी ज्ञान–विज्ञान का अधिकाधिक प्रसार भी अवश्य करें।
6. उपयोगी प्रौद्योगिकियों, तकनीकी कला कौशल को अवश्य खोजें। विकास हेतु स्वयं भी उत्साहित हों तथा दूसरों को भी प्रोत्साहित करें।
7. अचानक या सुनियोजित ढंग से घटित होने वाली चमत्कारिक घटनाओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही अपनायें तथा उनकी सत्यता या वैज्ञानिक रहस्य (यदि कोई छिपा हो तो) को ठोस सबूतों के साथ ही अवश्य उजागर करें।
8. प्रकृति की हर धरोहर व सम्पदा की रक्षा के लिये उपयोगी विज्ञान को प्रति क्षण आगे बढ़ाते रहें।
9. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित संस्थानों, संगठनों, व्यक्तियों, पत्र–पत्रिकाओं, टी0वी0 चैनल्स व अन्य साधनों और उनके कार्यक्रमों एवं गतिविधियों से अवश्य जुड़े रहें।
10. विज्ञान शिक्षा, विज्ञान साक्षरता, विज्ञान जागरूकता, वैज्ञानिक कार्य को जन–जन तक पहुँचायें।

उपरोक्त के अतिरिक्त कई अन्य महत्वपूर्ण सृजनात्मक व शान्तिदायक कार्य हैं जिनको अमल में लाने से हम न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन को स्वस्थ, कुशल व दीर्घ आयुमय बना सकते हैं अपितु अपनी वर्तमान पीढ़ी, जीवित सन्तानों और आगे आने वाली सन्तानों सहित समूचे जीव जगत, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि को मिलकर जीवित रखने के लिये किसी भी ज्ञात व अज्ञात दुष्कर्म और पाप से बचाने में स्वयं समर्थ हो सकेंगे।

📖 वैज्ञानिक अधिकारी
विज्ञान लोकप्रिय एवं संचार कार्यक्रम
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद्, उ0प्र0, लखनऊ

कचरा खरीदें और मुफ्त में रोग पायें

✍ डॉ0 आर.सी. गुप्ता

शायद आप बड़े प्रसन्न होंगे कि 1 अप्रैल 2001 से भारत में 1479 नई वस्तुएँ आयातित की जाने लगी हैं। इनमें अधिकांश वे वस्तुएँ हैं, जो हमारे आहार का अंग बन सकती हैं। अब मांस, मदिरा, सिगरेट, इत्यादि पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध नहीं रहेंगे। इस तरह से मांस या उनके उत्पाद, हर प्रकार की शराब और सिगरेट आसानी से मिलेगी। साइकिल अब 600 रु0 में, टी0वी0, फ्रिज तथा धुलाई मशीन तीनों अब केवल 18 हजार रु0 में मिल जायेंगे, अब उनके लिये 50–55 हजार रुपये खर्च नहीं करने पड़ेंगे। दूध 6 रुपये में डिब्बाबन्द मिलेगा और मुर्गे की टाँग के लिये अब 70–80 रु0 किलो की जगह केवल 25–30 रुपये ही देने पड़ेंगे। हर तरफ लाभ ही लाभ दिखाई दे रहा है। विदेशों में पैदा होने वाले सुन्दर, स्वादिष्ट फल अब दिल्ली में नहीं, आसपास के अन्य शहरों में भी बिकने लगे हैं और अब तक जो वस्तुयें कुछ समय पूर्व तक समाज के कुछ लोग ही खा पी सकते थे या प्रयोग कर सकते थे अब वे मध्यवर्गीय लोगों के द्वारा भी प्रयोग में लाई जा सकेंगी। पर शायद आप लोगों ने पूरी तरह से सोचा नहीं ? क्या यह सब विदेशी मांस, फल, दूध, मुर्गे की टाँग, मदिरा, सिगरेट आपको स्वास्थ्य दे पाएँगे या फिर हमें रोगी ही बनायेंगे ?

वर्तमान में जीवनयापन की गति में जितनी तीव्रता आई है, उतनी ही तीव्रता से लोगों ने औषधि प्रयोग को अपने दैनिक जीवन में बढ़ाया है। यही कारण है कि अन्न, जल और वायु की भाँति औषधि सेवन भी उनके जीवनयापन की अनिवार्यता बनती जा रही है। कुछ लोग तो आज ऐसी व्यवस्था में पहुँच गये हैं कि वे औषधि के बिना जी नहीं सकते हैं। यह विवशता या बुराई भी उसी पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की देन है जिसने अन्य बुराइयों को भारतीय जन–जीवन में घोल दिया है। पाश्चात्य देशों में तथाकथित सुसंस्कृत और सभ्य समाज की स्थिति यह है कि बिना औषधि के न तो उन लोगों को खाना हजम होता है और न ही नींद की गोली लिये बिना उन्हें रात को नींद आती है। सुख की नींद तो बड़ी बात है, अपना पेट साफ रखने या निर्बाध शौच के लिये भी नियमित रूप से टेबलेट्स लेना उनकी विवशता है। रक्तचाप, मधुमेह तथा शरीर की अन्य वैकारिक स्थिति से बचने के लिये वे नियमित रूप से विभिन्न प्रकार की गोलियों या अन्य औषधियों का आश्रय लेते रहते हैं। इन औषधियों के कुप्रभाव से बचने के लिये और औषधियाँ लेनी पड़ती हैं। आज यह सब पाश्चात्य संस्कृति की नियति बन गई है और उसी नियति ने भारतीय जन–जीवन में प्रवेश कर लोगों को तथाकथित सुसंस्कृत और सभ्य बनाना प्रारम्भ कर दिया है। उसी का परिणाम है कि भारतीय जन जीवन उस ओर उन्मुख हो गया है, जिस ओर कृत्रिमता जीवन संवारती है और प्रकृति से उसका नाता टूटता जाता है।

विगत लगभग चार पाँच दशाब्दि पूर्व के भारतीय जन जीवन, उनके रहन सहन, आहार विहार आदि की ओर यदि दृष्टिपात किया जाये तो लगता है कि हम प्रकृति के अधिक निकट थे, प्रकृति की सुरम्य गोद में हमारा जीवनयापन होता था, प्राकृतिक परिवेश में अनुस्यूत हमारा आहार–विहार था और वही हमारी स्वास्थ्य रक्षा का सुदृढ़ आधार था। बिना औषधि सेवन के हम स्वस्थ और सुखी जीवन व्यतीत कर रहे थे। औषधि का प्रयोग केवल बीमार होने की स्थिति में ही आवश्यक होता था।

किन्तु धीरे धीरे स्थिति में बदलाव आया और अब तो स्थिति बिलकुल ही बदल गई है।

आजादी के पहले मधुमेह या डायबिटीज कुछ ही लोगों को होता था (शायद 0.5 प्रतिशत से कम) और प्रायः उन्हीं लोगों को होता था जो शारीरिक काम नहीं करते थे और गरिष्ठ से गरिष्ठ भोजन करते थे। पर अब यह रोग सभी वर्गों में तेजी से बढ़ रहा है और भारत में ही लगभग 2 करोड़ व्यक्ति मधुमेह से पीड़ित हैं। कुछ समय पूर्व तक गाँवों में कब्ज की शिकायत करने वालों को बड़ी ही हेय दृष्टि से देखा जाता था पर अब क्या है ? इसी तरह हम बहुत सी बीमारियां स्वयं मोल ले रहे हैं। मधुमेह ही नहीं, उच्च रक्तचाप, नींद की कमी या कैंसर अब गाँवों में भी पँहुच गया है और सभ्य और सुसंस्कृत होने का यही मापदंड है तो गाँव वाले भी पीछे क्यों रहना चाहेंगे? रोगी आप हो नहीं रहे हैं आप रोग खरीद रहे हैं।

कुछ दिनों पूर्व मेरी 6–वर्षीया पौत्री मुझे समझा रही थी– बाबा आप भी चाकलेट खाया करिये, दो गिलास दूध के बराबर एक चाकलेट होती है, फिर उसमें विटामिन, कैल्सियम भी होता है। वह वही बात कह रही थी जो वह दिन में पच्चीसों बार टी0वी0 पर सुनती है। मैं उसे कैसे समझाऊँ कि एक चाकलेट, कैल्सियम के हिसाब से 2 गिलास के बराबर और कीमत के हिसाब से 7 गिलास के बराबर होती है और यदि चाकलेट विटामिन और कैल्सियम दे भी दे, पर प्रोटीन, मिनरल, वसा, सूक्ष्म पोषक तत्व इत्यादि कहाँ से देगी ? मैं उसे कैसे समझाऊँ कि चाकलेट में सीसा की मात्रा इतनी अधिक है कि उसे खाने वाले बच्चों का विकास ही रुक जाता है या फिर 7–8 साल की उम्र में ही दाँतों में खोखलापन आ जाता है और फिर दंतचिकित्सक के पास दौड़ना पड़ता है। अमेरिका के 32 प्रतिशत बच्चे (15 साल से कम आयु के) चाकलेट, च्युइंगम इत्यादि मीठी चीजें खाने के साथ अपने दाँत हमेशा के लिये खराब कर बैठे हैं। इसी तरह हमें बताया जा रहा है कि मदिरा या शराब बड़े लाभ की चीज है।

शायद गलत कार्य करने वाले अपने कार्यों को सही साबित करने के लिये एक मुखौटा बना लेते हैं जिससे वह गलत बात को सही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आज से 50 वर्ष पूर्व मेरे एक अध्यापक थे– काय चिकित्सा के (खाने पीने के शौकीन पर शायद दूसरों की जेब पर ही, उन्हें मधुमेह था उच्च रक्तचाप था, नींद भी कम आती थी, पढ़ाने लिखाने में कम रुचि थी आज तो बिलकुल ही नहीं है) और रिसर्च के नाम पर तो जो भी कहा जाये– थोड़ा है (भगवान उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे)। उनके शोध परीक्षण के आँकड़े उसी हिसाब से बनते थे, जो वह चाहते थे और उनका एक प्रिय वाक्य था मदिरापान के लिये– When Alcohol can preserve the dead, why not living अर्थात् जब अल्कोहल से मृत कोशिकायें सुरक्षित रखी जा सकती हैं तो जीवित क्यों नहीं ? अब उनसे कौन कहे कि अगर जीवित कोशिकाओं को अल्कोहल में डाल दीजिये तो वे मर जायेंगी। पर उन्हें शराब पीने के लिये कोई शगूफा, कारण या मुखौटा चाहिये और उन्होंने बना लिया था। वही बताते रहते थे, अपने मित्रों को और अपने शिष्यों को भी।

अभी कुछ समय पूर्व एक सम्माननीय हृदय रोग चिकित्सक का एक दैनिक को दिया गया साक्षात्कार छपा था– उनका कहना था कि '1–2 गिलास शराब पीने से हृदय रोग कम हो जाते हैं। उनका कहना था कि यद्यपि फलों के रस से भी लाभ पहुँचता है पर शराब से अधिक पहुँचता है क्योंकि उसमें जीवनरक्षक तत्व (Micronutrient and Antioxidants) अधिक होते हैं और फिर उन्होंने यह भी समझाया कि शराब से मानसिक तनाव कम हो जाता है। फिर इस तरह की बात चिकित्सा पत्रिका में भी कही गई है! क्या आप नहीं समझ सकते कि यह हमसे और हमारी जनता से कितना बड़ा खिलवाड़ किया जा रहा है ? शराब, वह किसी भी रूप में क्यों न हो, इतना अवश्य है कि भारत जैसे गरम देश के लिये जहाँ तापमान 48–50° तक हो जाता है लाभकारी नहीं हो सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह ठंडे देशों के

शेष पृष्ठ 32 पर ....

राष्ट्रीय पक्षी मोर की रक्षा आवश्यक

विगत कई वर्षों से राजस्थान में मोरों के झुंड के झुंड मरने के समाचार प्रकाशित होते रहे हैं। इनकी मृत्यु का कारण मोरों द्वारा कीटनाशी से सिक्त बोये गये अन्नों को चुनचुनकर खाना बताया जाता रहा है।

हरियाणा में इस राष्ट्रीय पक्षी की संख्या में आने वाली कमी को वन्य प्राणी संरक्षण विभाग ने गंभीरता से लिया है। दिसम्बर 1999 में जिला महेन्द्रगढ़ में जब अनेक मोरों की मौत हो गई तो मोरों के मरने के कारणों का अध्ययन करने की जिम्मेदारी हिसार स्थित चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय को सौंपी गई थी। फलतः पशु विष विज्ञानी, पैथोलोजी विशेषज्ञ तथा अन्य विशेषज्ञों की टीम वहाँ गई। टीम ने मृत मोरों के शवों का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन से पता चला कि बीमार तथा मृत मोरों के शरीर में खेती में काम आने वाली दवा क्लोरपाइरिफास के अवशेष थे।

इस अध्ययन से जो विशेष तथ्य उभर कर सामने आया वह यह था कि केवल नर मोर ही मौत के शिकार हुये हैं। इन मोरों ने खेतों में बोये गये गेहूँ के बीज चुगे थे। ये बीज तुरन्त ही खेतों में बोये गये थे।

हरियाणा में मोरों की अधिकांश मौतें अक्टूबर से दिसम्बर की अवधि में होती हैं जब गेहूँ की बुआई की जाती है। अध्ययन दल ने पाया कि किसान गेहूं के बीजों के साथ क्लोरपाइरिफास की पाँच गुनी अधिक मात्रा डालते हैं। दवा की पैकिंग के ऊपर स्पष्ट लिखा रहता है कि प्रति किलो गेहूँ बीज के साथ केवल डेढ़ मिलीलीटर दवा डाली जाये।

इस तरह यह पता चला कि मोरों की मौत का कारण बीजों का पेस्टीसाइडों द्वारा गलत उपचार है। यह संस्तुति की जाती है कि दवामिश्रित बीजों को खेत में बोने के पूर्व एक दिन सुखाया जाये। छिड़काव की मशीनों, उपचारित बीजों को घर के छोटे बच्चों की पहुँच से बाहर रखने का भी निर्देश दिया गया है। इस जानकारी का स्वागत किया जाना चाहिये। किसानों को अपने इस लोकप्रिय एवं उपयोगी पक्षी के जीवन का ध्यान रखना होगा।

श्रद्धांजलि

विज्ञान परिषद् प्रयाग के पूर्व सभापति एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो० राम सहाय जी का 22 सितंबर 2001 को इलाहाबाद में निधन हो गया। विज्ञान परिषद् परिवार की ओर से प्रो० सहाय को विनम्र श्रद्धांजलि।

बाल दिवस पर विशेष

हिन्दी में बाल विज्ञान लेखन

✍ डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

जब वर्ष 1979 को अन्तर्राष्ट्रीय 'बाल वर्ष' घोषित किया गया तो डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे ने बालकों के लिये कई पुस्तकों का सम्पादन किया। उसके बाद से ही बाल विज्ञान विषयक साहित्य में विविधता देखने को मिलने लगी है। किन्तु दुर्भाग्यवश बच्चों के लिये अच्छी अच्छी विज्ञान पत्रिकायें अभी तक नहीं निकल पाई हैं। एकमात्र 'चकमक' ऐसी पत्रिका है जो बालकों के लिये है जिसमें बालकों की लेखनी से ही निरसृत रचनायें रहती हैं।

स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी में बच्चों के लिये एक भी पत्रिका न थी। धीरे धीरे बाल सखा, किशोर भारती, चम्पक, नन्दन, चन्दामामा जैसी पत्रिकायें प्रकाश में आईं जिनसे बच्चों में पठन रुचि बढ़ी किन्तु इनमें विज्ञान का पुट नगण्य होता था। केवल परीलोक की कथायें रहती थीं। कुछ बाल विज्ञान विषयक पुस्तकें अवश्य लिखी गईं जो सचित्र, सस्ती तथा रोचक थीं। इनके लेखकों में श्री व्यथित हृदय, श्री केशवसागर, श्री रामचन्द्र तिवारी, श्री भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, श्री जगपति चतुर्वेदी, श्री सुरेश सिंह, श्री रमेश वर्मा, श्री सन्तराम वत्स्य प्रभृति उल्लेखनीय हैं। अनुमान है कि स्वतंत्रतापूर्व मात्र तीन दर्जन बालोपयोगी विज्ञान पुस्तकें लिखी गईं। पहली पुस्तक 1910 में छपी थी किन्तु 1931 के बाद ही पूर्वोक्त लेखकों ने लिखना शुरू किया। इधर के वर्षों में मनमोहन सरल, हरसरन सिंह विश्नोई, श्री जय प्रकाश भारती, डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे, श्री विश्वम्भर प्रसाद 'गुप्तबन्धु', श्री शुक्रदेव प्रसाद, श्री पृथ्वीनाथ पाण्डेय, डॉ0 चन्द्रविजय चतुर्वेदी तथा दिलीप साल्वी की कृतियाँ देखने को मिलती हैं।

प्रारम्भ में इंडियन प्रेस इलाहाबाद, शकुन प्रकाशन दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, आत्माराम एण्ड सन्स के अलावा नेशनल बुक ट्रस्ट ने बाल विज्ञान की पुस्तकें छापने में रुचि ली। इनमें मौलिक पुस्तकों के अलावा अंग्रेजी तथा बंगला की पुस्तकों के अनुवाद भी थे। कई कोश तथा विश्वकोश भी प्रकाशित हुये। विज्ञान परिषद् प्रयाग ने स्वतन्त्रता से पूर्व बच्चों के लिये 'सरल विज्ञान सागर' नामक कोश निकाला था जिसके सम्पादक स्वनाम धन्य डॉ0 गोरख प्रसाद थे। राजपालं एण्ड सन्स तथा भारत सरकार की ओर से भी बच्चों के लिये विश्वकोश छापे गये।

यह तथ्य है कि हमारें विज्ञान लेखकों की कृतियाँ उतनी आकर्षक नहीं बन पातीं जितनी कि विदेशी पुस्तकें होती हैं। किन्तु हमारे लेखकों में देश के बच्चों के मनोविज्ञान को परख कर तदनुकूल विषयों का चुनाव बहुत ही प्रासंगिक दिखता है। इधर बाल विज्ञान की पुस्तकों की सरकारी खरीदारी को ध्यान में रखते हुये अनेक नये नये प्रकाशकों ने नये नये लेखकों से पुस्तकें लिखवाई हैं। दुर्भाग्यवश इनमें सतही ज्ञान ही परोसा मिलता है। भाषा और शैली का उतना ध्यान नहीं रखा गया। इसलिये विगत 50 वर्षों में जिस बाल विज्ञान लेखन को पुष्ट और प्रौढ़ हो जाना चाहिये था वह अति विश्रृंखलित रूप में देखने को मिलता है।

फिर भी विगत 20 वर्षों में कुछ नये प्रयास किये हैं जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत हो रहा है। 1980 के दशक में डॉ0 आत्माराम के सुझाव पर 'भारतीय विज्ञान संवर्धन संस्थान' ने बच्चों के लिये कई पुस्तकें निकालने की योजना बनाई थी किन्तु उसमें से ओजोन की छतरी, विज्ञान बस्ते में, बैक्टीरिया अदालत में जैसी कुछेक पुस्तकें ही निकल पाई।

इसी तरह सी.एस.आई.आर. नई दिल्ली ने भी कविता में लिखी विज्ञान की पुस्तकें छापीं। दिल्ली के ही एक प्रकाशन 'पुस्तकायन' ने 1987 में बच्चों के लिये 75 पुस्तकें छापने की एक योजना स्वामी सत्यप्रकाश के परामर्श से बनाई थी जिसमें विज्ञान परिषद् प्रयाग की महती भूमिका थी। इस योजना के अन्तर्गत 2 दर्जन से

डा. हरिकृष्ण देवसरे

एम ए (हिन्दी) 1960, पीएचडी 1968, 1960–84 तक आकाशवाणी से सम्बद्व रहे। अन्तर्राष्ट्रीय बालवर्ष 1979 में बालसाहित्य के चार मानकग्रन्थ। बाल साहित्य पर शोध, अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद, टीवी पर बच्चों के लिए धारावाहिकों का लेखन, 1968 से 1995 तक की अवधि में विविध संस्थाओं द्वारा सम्मानित। सम्प्रति विज्ञान प्रसार फेलो, विज्ञान से सम्बधिन्त उनकी रचनाएं।

बच्चों के लिए विज्ञान संबंधी सामान्य पुस्तकें

विश्व प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक, हमारे विज्ञान मंदिर, दूरबीन, सागर पर चलते जलयान, नील गगन पर उडते विमान, पाँव से पंखों तक, एकदिन यहाँ भी, संकेत अपने–अपने, देखा परखा सच, दुनिया की खोज, नन्हें साथी, वैज्ञानिकों की जीवन कथाएँ।

बाल विज्ञान कथा संग्रह

चन्दू चटपट, गिरना एक स्काईलैब का, धुँए की घाटी, एक टिकट में दो मजे, आज का न्यूटन।

बाल उपन्यास

आओ चन्दा के देश चलें, मंगलग्रह में राजू, ला वेनी, होटल का रहस्य, अंतरिक्ष के रहस्य, डॉ. बोमा की डायरी, एक और भूत, उडती तश्तरियाँ।

रेडियो के लिए विज्ञान-धारावाहिक

रा.वि.प्रौ.सं.प. और आकाशवाणी का संयुक्त प्रोजेक्ट : विज्ञान–विधि के 13 एपीसोड का लेखन।

दूरदर्शन के लिए विज्ञान धारावाहिक लेखन : प्रोडक्शन

1 छोटी–सी बात : 13 एपीसोड
2 देखा परखा सच : 5 एपीसोड
3 ऐसा क्यों होता है? : 13 एपीसोड

अधिक बाल विज्ञान की रोचक, आकर्षक एवं ज्ञानप्रद पुस्तकें छप चुकी हैं। इसमें कुछ नये लेखक सामने आये हैं यथा विजय चितौरी, डॉ0 दिनेश मणि, श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ0 डी.डी. ओझा, डॉ0 अरविन्द मिश्र, श्री दर्शनानन्द आदि।

विगत एक दशक में 'विज्ञान प्रसार' नई दिल्ली ने बच्चों के लिये उपयोगी विज्ञान की पुस्तकें छापी हैं जो सचित्र होने के साथ ही रोचक भी हैं। इन पुस्तकों के सम्पादन में डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे का भी प्रभूत योगदान है।

बच्चों के लिये उत्तमोत्तम रचनाओं का संग्रह एवं सम्पादन अत्यावश्यक है। इस दिशा में डॉ0 हरिकृष्ण देवसरे का प्रयास सराहनीय है। दिल्ली में जयप्रकाश भारती तथा हरिकृष्ण देवसरे उच्च श्रेणी के बाल विज्ञान लेखक हैं। इलाहाबाद में भी श्री शुक्रदेव प्रसाद, पृथ्वीनाथ पाण्डेय, श्री विजय चितौरी ने काफी विज्ञान साहित्य प्रस्तुत किया है। आवश्यकता है कि समस्त बाल विज्ञान साहित्य का आलोकन किया जाये; उसकी निष्पक्ष समीक्षा की जाये और बच्चों के लिये विविध विषयों में पुस्तकें लिखी लिखाई जायें। आज नाटक के क्षेत्र में बाल विज्ञान पर केवल प्रेमानन्द चन्देला की कृति 'बैक्टीरियां अदालत में' ही प्राप्य है।

बाल विज्ञान की एक समग्र मासिक पत्रिका की आवश्यकता बनी हुई है। विज्ञान परिषद् ने 1980 में ही सी.एस.आई.आर. के समक्ष बाल विज्ञान पत्रिका निकालने की एक योजना प्रस्तुत की थी किन्तु उस पर अमल नहीं हो सका। नेहरू के देश भारत में भारत के भावी कर्णधारों के लिये इस विज्ञान के युग में विज्ञान की कोई सचित्र रोचक मासिक पत्रिका का न होना सरकार और जनता की अकर्मण्यता का द्योतक है। काश, कि जल्दी ही मानव संसाधन विकास मंत्रालय इधर ध्यान देता।

डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

पृष्ठ 16 का शेष ....

संबंध में हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि इस क्षेत्र में ढीठ प्रकार के पशुओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है जैसे बकरियाँ कारण है कि यहाँ गाय, भैंस इत्यादि आसानी से चराई नहीं कर सकतीं वहां बकरियां चर लेती हैं। इसलिये जानवर रखने वाले इनकी संख्या बढ़ाने में अधिक रुचि लेते हैं। परन्तु वे यह तथ्य भूल जाते हैं कि बकरियाँ मरूभूमि को बनाने में गाय, भैंस की अपेक्षा बहुत अधिक दक्षता रखती हैं। कारण है कि बकरे–बकरियाँ हरियाली का तिनका तिनका चर जाते हैं यहां तक कि सूखी घास को भी नहीं छोड़ती हैं। यही कारण है कि जब भी यहाँ सूखा पड़ता है, गाय, भैंस इत्यादि की जनसंख्या तेजी से घट जाती है जबकि बकरे–बकरियों को तरजीह देते हैं चाहे इस कारण इस क्षेत्र में मरुभूमि का विस्तार ही क्यों न हो जाये। इस सम्बंध में एक और तथ्य है कि जिस पर हमें विचार करना चाहिये। इस क्षेत्र में अनेक प्रकार की घासें उगती हैं जो पशुओं के चारे के लिये आदर्श सामग्री हैं। परन्तु मानव ऐसे घास के बीज को जमा करने लगा है तथा इन्हें खाद्य सामग्री के रूप में उपयोग में लाने लगा है। इस कारण ऐसी घासें पूरी तरह से फल फूल नहीं पातीं और समय के साथ इनकी सघनता में कमी आ रही है। इसका प्रभाव पशुचारा की उपलब्धता पर तो पड़ता ही है, साथ ही मिट्टी के कटाव को बढ़ावा देने, शुष्कता को तीव्र करने में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है।

इस प्रकार थार मरुभूमि का क्षेत्र बहुत ही प्रतिकूल परिस्थिति सामने लाता है और इस परिस्थिति को अधिक बिगाड़ने की पूरी जिम्मेवादी स्वयं हम पर है। इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है इस क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन आवश्यकता से अधिक किया जाना। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी को अच्छी तरह समझें तथा उसके अनुरूप खुद को ढालें। इस संबंध में जोधपुर स्थित मरूभूमि शोध संस्थान काफी सराहनीय कार्य कर रहा है।

निदेशक तथा सहायक सम्पादक
'पर्यावरण'
पर्यावरण एवं वन मंत्रालय भारत सरकार

तत्व-114

डॉ0 ओम प्रभात अग्रवाल

पचीस फरवरी 1999 को 'नवीन तत्वों के संश्लेषण के जादूगर ग्लेन टी0 सीबोर्ग का देहांत हो गया। सीबोर्ग ने न केवल ई.एम. मैकमिलन, जे. डब्ल्यू केनेडी एवं ए. सी. वाल के साथ मिलकर, अत्यधिक रेडियोसक्रियता के कारण भूपर्पटी से कब के मिट चुके प्लूटोनियम तत्व का संश्लेषण यूरेनियम के माध्यम से किया बल्कि **एक्टिनाइड श्रेणी** के अधिकांश परायूरेनियम तत्वों का भी श्रेय प्राप्त किया। उनके देहावसान के साथ विकिरण रसायन के एक गौरवशाली युग का पटाक्षेप हो गया।

यह सीबोर्ग की प्रखर वैज्ञानिक प्रतिभा का ही कमाल था कि उन्होंने नये से नये तत्वों का निर्माण करने के साथ इस बात की भी प्रागुक्ति की कि भविष्य में संश्लिष्ट होने वाले तत्वों की सूची काफी लंबी हो सकती है। ऐसा माना जाता था कि परमाणु क्रमांक 100 पार करते ही परमाणु के न्यूक्लियस में प्रोटानों की संख्या इतनी अधिक होती जायेगी कि उनके परस्पर प्रतिकर्षण पर न्यूक्लीय संरक्षक बलों द्वारा विजय प्राप्त करना दुष्कर हो जायेगा। फलस्वरूप, न्यूक्लियस का विखंडन शीघ्र से शीघ्रतर होता जायेगा और नये गुरुतर अति भारी तत्वों का निर्माण संदिग्ध होगा। परन्तु सीबोर्ग ने सैद्धांतिक परिकलनों के आधार पर प्रागुक्ति की कि स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है, बल्कि कतिपय अत्युच्च परमाणु क्रमांकों वाले संश्लिष्ट तत्वों में रेडियोएक्टिव क्षय की प्रवृत्ति उलट सकती है तथा तत्कालीन मान्यता के विपरीत उनमें पर्याप्त स्थायित्व हो सकता है। 1998 में सीबोर्ग के जीवन का वह स्वर्णिम क्षण था जब उनकी यह क्रांतिकारी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई तथा दुबना में रूसी एवं अमेरिकी वैज्ञानिकों ने साथ साथ कार्य करते हुये परमाणु क्रमांक 114 वाले एक सर्वथा नये तत्व को जन्म दिया, जिसका नामकरण सीबोर्ग बहुत पहले ही कर चुके थे– एका लेड (आइयूपैक नाम–उनउनक्वाडियम)।

परमाणु क्रमांक 107 से 109 तक के संश्लिष्ट तत्वों की एक सेकंड से भी काफी कम अर्ध आयु की तुलना में इसकी 30 सेकंड की अर्ध आयु निश्चित रूप से स्थायित्व की सूचक है। यह एक भिन्न बात है कि इसके केवल मात्र एक परमाणु का संश्लेषण किया जा सका। संश्लेषण के लिये Pu-244 न्यूक्लाइड पर Ca-48 से बमबारी करनी पड़ी।

परमाणु क्रमांक 103 (Lr) के साथ 5f आंतर संक्रमण श्रेणी समाप्त होती है। परमाणु क्रमांक 104 से 112 तक के तत्वों के एक नई संक्रमण श्रेणी (6d श्रेणी) के सदस्य होने की आशा की गई थी जो काफी सीमा तक फलीभूत हो चुकी है। 104 से 109 परमाणु क्रमांक वाले तत्वों के संश्लेषण की अंतिम पुष्टि हो चुकी है। इनके नामकरण पर विभिन्न राष्ट्रीयता वाले इनके सर्जक वैज्ञानिकों में काफी विवाद रहा परंतु अंततः निम्नलिखित नामों एवं प्रतीकों (Symbols) पर सहमति बन गई है–

104 रदरफोर्डियम – Rf (पहले का नाम कुर्शोटोवियम -Km)
105 डुबनियम – Db (पहले का नाम हाह्नियम -Ha)
106 सीबोर्गियम – Sg
107 बोरियम – Bh (अमेरिकी वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तावित नाम नील्सबोरियम)
108 हैसियम – Hs
109 माइटनेरियम – Mt

तत्व 104 एवं 105 के बारे में प्रारंभ में यह शंका थी कि वे 6d श्रेणी के सदस्य और क्रमशः हैफ्नियम (Hf) एवं टैन्टेलम Ta के सजातीय हैं भी या नहीं। उदाहरणार्थ, Db (105) का जलीय रासायनिक आचरण Ta के ऐसे आचरण के संगत नहीं पाया गया बल्कि इसके कुछ गुण तो 5f श्रेणी के प्रोटोऐक्टिनियम (91) से मिलते जुलते

सिद्ध हुये। कैलिफोर्निया प्रयोगशाला की लारेंस लिवरमोर राष्ट्रीय प्रयोगशला के न्यूक्लीय रसायन के आचार्य रोनाल्ड लफहीड के अनुसार यह गड़बड़ी मुख्यतः आपेक्षिकीय प्रभावों के कारण है जो कतिपय अधिक भारी तत्वों में यथेष्ट परिलक्षित होती है। यह प्रभाव जैसे गोलीय कक्षक के इलेक्ट्रानों के शक्तिशाली स्क्रीनिंग इफेक्ट से पैदा होता है जिसके कारण d एवं f जैसे कक्षकों का इलेक्ट्रानी विन्यास आदर्श नहीं रह पाता, फलस्वरूप, रासायनिक आचरण में भी विचलन पैदा होता है। दृष्टव्य है कि Th (90) एवं Pa (91) भी प्रारंभ में विवादित रहे थे कि आचरण के आधार पर इन्हें अंतर संक्रमण तत्व गिना भी जाय या नहीं। Rf एवं Db के बारे में ऐसी शंकायें तब निराधार सिद्ध हुईं जब Sg (106) का जलीय रसायन अपने सैद्धांतिक सजातीय मालिब्डेनम एवं टंगस्टन के अनुरूप पाया गया। Sg के छः परमाणुओं की सृष्टि संभव हुई थी जिनमें SgO_4^{2-} (सीबोर्गेट आयन) के निर्माण की स्पष्ट प्रवृत्ति देखी गई। इतने कम सीबोर्गियम परमाणुओं के संश्लेषण के बाद लफहीड ने कहा था कि आगे नये तत्वों का संश्लेषण संभवतः रुक जायेगा क्योंकि अब आशा और भी कम परमाणुओं के सृजन की होगी तथा अर्ध आयु इतनी नगण्य कि प्रयास व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं। फिर भी तत्व 114 का संश्लेषण संभव हुआ। वैसे दावा तो तत्व 112, 116 एवं 118 का भी किया गया है परन्तु उनका सत्यापन अभी शेष है। कठिनाई वही कि बनने के साथ ही परमाणु विघटित हो जाते हैं।

तत्व 114 के अभूतपूर्व स्थायित्व (विशेष संदर्भ में) का कारण है– उसमें न्यूट्रानों एवं प्रोटानों, दोनों की ही उपस्थिति माया (मैजिक) संख्याओं में होना (क्रमशः 164 एवं 114)। ये माया संख्यायें न्यूक्लियस के शेल (अथवा कक्ष) मॉडल पर आधारित हैं तथा उसे अत्यधिक स्थायित्व प्रदान करती हैं। एक उदाहरण है– $^{208}_{82}Pb$ का (प्रोटॉन – 82, न्यूट्रान 126, दोनों ही माया संख्यायें) जिसमें चरम स्थायित्व है। संभव है कि तत्व 114 के आगे पीछे के तत्वों (108, 118 आदि) में अतीव क्षणभंगुरता मुख्यतः इसलिये है क्योंकि उनमें न्यूट्रानों एवं प्रोटानों की माया संख्यायें अनुपस्थित हैं। इसी दृष्टि से अब वैज्ञानिकों का सारा प्रयत्न (विशेष तौर पर तत्व 114 के अनुभव के उपरांत) तत्व 126 (प्रोटॉन 126, न्यूट्रॉन 184, पुनः दोनों ही माया संख्यायें) के संश्लेषण की ओर केन्द्रित होगा। एक तो इसलिये कि सैद्धांतिक परिकलनों के आधार पर आशा की जाती है कि इसमें तत्व 114 से भी कहीं अधिक स्थायित्व होगा तथा दूसरा यह कि इसमें एक सर्वथा नई प्रकार की उपकक्षा (5g) की उपस्थिति की तीव्र संभावना है। वस्तुतः तत्व 126 एक ऐसी नई अंतर संक्रमण श्रेणी का सदस्य होगा जिसमें इसके 13 नहीं बल्कि 31 साथी (परमाणु क्रमांक 122–153) और होंगे। कारण यह कि इनमें 6f एवं 5g उपकक्षाओं का ऊर्जा अंतर इतना कम होगा कि दोनों में इलेक्ट्रॉन साथ साथ भर सकते हैं। सीबोर्ग एवं रूसी वैज्ञानिक गोल्डैन्सकी का तो निश्चित मत है कि अंततः ऐसी आंतर संक्रमण तत्व श्रेणी प्रकाश में अवश्य आयेगी।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि स्थायित्व से संबंधित सैद्धांतिक परिकलनों एवं संश्लिष्ट तत्वों की वास्तविक अर्ध आयु में काफी अन्तर पाया जाता है। तत्व 114 में इतने अधिक स्थायित्व की प्रागुक्ति थी कि वैज्ञानिकों ने भूपर्पटी में उसकी गत उपस्थिति के चिह्न ढूँढने तक का प्रयत्न किया और दुबना की प्रयोगशाला में लेड के कुछ नमूनों में स्वतः विखंडन के ऐसे चिह्न मिले भी जो तत्व 114 के हो सकते हैं। फिर भी संश्लिष्ट तत्व की अर्ध आयु निकली मात्र 30 सेकंड। ऐसा इसलिये क्योंकि संश्लेषण की त्वरित न्यूक्लाइडों द्वारा बमबारी की विधि से निर्मित न्यूक्लियस में ऊर्जा इतनी अधिक एकत्रित (संश्लेषण के दौरान) हो जाती है कि माया अंकों द्वारा प्राप्त स्थायित्व डगमगा जाता है। यही कारण संश्लेषण में अत्यंत कम संख्या में परमाणुओं के सर्जन का भी है। इसलिये तत्व 126 कितना स्थायी होगा यह कहा नहीं जा सकता यद्यपि स्थायी होना ही चाहिये। जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि क्षणभंगुरता से स्थायित्व की ओर एक वैज्ञानिक यात्रा, जिसकी आधारशिला सीबोर्ग ने रखी थी, प्रारंभ हो चुकी है।

तत्व 106 का नामकरण सीबोर्ग के नाम पर कर विश्व की वैज्ञानिक बिरादरी ने उनके कार्य की महानता को तो स्वीकार किया ही है, उनकी मेधा का भी समुचित अभिनंदन किया है।

श्री वेंकटेश भवन
445-बी (नया-273) देव कालोनी
रोहतक - 124 001

बायोलॉजिकल बम

कल तक जो लोग परमाणु बम को दुनिया का सबसे बड़ा खतरा मानते थे आज वे जैविक बमों की आशंका से ग्रस्त हैं। ऐसा नहीं है कि जैविक बम का एक धमाका दुनिया को ध्वस्त कर देगा लेकिन यह तय है कि बे आवाज गिरने वाला यह बम हजारों लाखों लोगों को तिल तिलकर सड़ने और मरने की कगार पर खड़ा कर सकता है। इससे होने वाली महामारी के विस्फोट को जब तक समझा जायेगा, तब तक वह जाने कितनी जिंदगियों को तबाह कर दे। यही दुनिया की आज सबसे बड़ी चिंता है।

वास्तव में जैविक बम हथियारों का किफायती होना इसके पक्ष में सबसे बड़ी बात है।

बायो बम असल में गरीबों का बम है। विशेषज्ञों का मानना है कि एक वर्ग किलोमीटर में इलाके में किसी जैविक बम का असर देखना हो, तो मात्र एक डॉलर खर्च करना पड़ेगा। यानी 50 रुपये भी पूरे नहीं। वहीं पारंपरिक हथियारों से इतने इलाके को ध्वस्त करने के लिये करीब 2000 डॉलर लगते हैं। अर्थात् 96000 रुपये के करीब।

इसे सुस्त लोगों का परमाणु बम भी कहा जाता है क्योंकि अधिकतर जैविक हथियारों का निर्माण बहुत ही आसान है। इसे तैयार करने में ज्यादा मेहनत नहीं लगती। न ही इसके लिये ज्यादा संसाधनों की और किसी बड़े सेटअप की जरूरत होती है। छोटे से छोटा आतंकी संगठन थोड़े से प्रयासों से जैविक हथियार हासिल कर सकता है। जबकि कोई भी राष्ट्र जिसके यहाँ आधुनिक औषधि–निर्माण और मेडिकल उद्योग पर्याप्त मात्रा में विकसित हैं जैविक हथियारों का बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सकता है। जैविक हथियार बनाने वाले राष्ट्रों की संख्या में दिनोंदिन इज़ाफ़ा हो रहा है। 1989 में यह संख्या 10 थी। आज ज्यादा है लेकिन ऐसा अनुमान है कि अत्याधुनिक जैविक हथियार बनाने की क्षमता और विशेषज्ञता रखने वाले देशों में ईरान, ईराक, उत्तर कोरिया, सीरिया, लीबिया, चीन, जापान, अमेरिका, रूस तथा पूर्व सोवियत संघ के कुछ देश शामिल हैं।

कैसे होता है नुकसान ?

जैविक हथियार मुख्य रूप से व्यक्ति के श्वसन तंत्र को नुकसान पहुँचाते हुये उसे मृत्यु के मुँह में धकेलते हैं। साँस में तकलीफ, मांसपेशियों में जकड़न, त्वचा में खुजली, पेट में गड़बड़ी इसका शिकार होने के कुछ तात्कालिक लक्षण हैं। प्रभावितों के व्यवहार में भी बदलाव आता है।

कौन बना सकता है ?

कोई भी देश जिसके फार्मास्युटिकल और मेडिकल उद्योग विकसित हैं, आसानी से बड़े पैमाने पर जैविक हथियार बना सकता है। वैसे दुनिया के किसी भी देश ने अभी तक यह स्वीकार नहीं किया है कि उसने जैविक हथियार विकसित किये हैं।

कितनी लागत है ?

एक बायोलॉजिकल बम की लागत सामान्य परंपरागत हथियार से 2000 गुना कम, परमाणु हथियार से 800 गुना कम और रासायनिक हथियार से 600 गुना कम आती है। इसी कारण से इसे गरीब आदमी का पमाणु बम कहा बया है।

क्या कर रहे हैं विज्ञानी ?

जैविक हथियार चूँकि मुख्य रूप से नलिका के रास्ते ही हमला करते हैं, इसलिये विज्ञानी शरीर के इसी अंग को ज्यादा प्रतिरोधक बनाने का प्रयास कर रहे हैं।

जैविक खतरों के विशेषज्ञ वर्जीनिया (अमेरिका) के हेडरोन में डिफेंस कॉन्ट्रेक्टर कनात्जन एलिबिकोव के अनुसार विज्ञानी एक ऐसा इनहेलर तैयार करने में जुटे हैं, जिसमें साइटोकिंस नामक अणु माइक्रो कैप्सूल के रूप में होंगे और जो शरीर में होने वाली किसी भी तरह की क्षति या उसमें फैलने वाले जहर को बेअसर करेंगे। इस इनहेलर का प्रयोग जैविक हमले का पता लगते ही किया जा सकेगा। साथ ही इस हमले का शिकार हो चुके व्यक्ति भी इसका उपयोग कर सकेंगे, ताकि अधिक नुकसान से बचा जा सके।

खास बातें

- जैविक हथियारों को आसानी से छुपाया जा सकता है।
- इन्हें तैयार करने के लिये बड़े सेट-अप की जरूरत नहीं होती है।
- जैविक बम या प्राकृतिक रूप से फैलने वाली महामारियों में फर्क करना बहुत मुश्किल है।
- जैविक खतरों के प्रति दुनिया 1925 में ही आगाह हो गई थी और जिनेवा घोषणापत्र में इस पर चिंता व्यक्त की जा चुकी थी। इस खतरे पर गंभीरता से विचार करते हुये विश्व में 1972 में जैविक हथियारों के उत्पादन को प्रतिबंधित कर दिया गया।

कुछ जैविक बम

एंथ्रेक्स बम, बॉटुलिज्म बम, प्लेग बम, चेचक बम तथा टुलारेमिया बम। **-(साभार)**

पृष्ठ 18 का शेष ....

दूध नहीं पचता उनमें सुधार करता है। 8. कैल्सियम के अवशोषण को सुधारता है। जिन लोगों की हड्डियों में कैल्सियम का अवशोषण कम हो जाता है, विशेषकर 'महिलाओं में उसे' दूर करने में सहायक है। 9. प्रोबायोटिक में विटामिन व पाचक प्रोटीन निर्माण करने की क्षमता के कारण इसका पेप्टिक अल्सर के उपचार में प्रयोग किया जा सकता है।

प्रोबायोटिक के प्रकार

आजकल बाजार में कई प्रकार के प्रोबायोटिक मिलते हैं जो लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं के विभेद हैं। अधिकतर उपयोग में लाये जाने वाले ग्राम धनात्मक जीवाणु होते हैं जैसे लैक्टिबेसिलस एसिडोफिलस, लैक्टोबेसिलस बुलगैरिकस, लैक्टोबेसिलस प्लैन्टेरियम, स्ट्रेप्टोकोकस फेसियंस, स्ट्रेप्टोकोकस लैक्टिस, स्ट्रेप्टोकोकस थर्मोफिलस आदि। इस प्रकार के जीवाणुओं को अकेले या किसी अन्य के साथ मिलाकर प्रोबायोटिक बनाते हैं।

प्रोबायोटिक कई रूपों में बाजार में उपलब्ध हैं- जैसे पाउडर, जेली, कैप्स्यूल। कुछ केवल लैक्टोबेसिलस प्रजाति के ही बनते हैं और कुछ लैक्टोबेसिलस के साथ यीस्ट, यीस्ट संवर्ध, एन्जाइम्स, औद्योगिक किण्वन से उत्पन्न उत्पाद आदि से। सामूहिक रूप से आँतों के रोगाणुक परिस्थिति विज्ञान में लैक्टोबेसिलाई के बहुत अच्छे परिणाम मिले हैं।

जीव-जन्तुओं में कई प्रकार से दबाव व भार पड़ते रहते हैं जिससे आहार नाल या पाचन तंत्र के हानिकारक जीवाणु बहुत प्रभावी हो जाते हैं और जन्तुओं को कई तरह से हानि पहुँचाते हैं- जैसे डायरिया, वृद्धि में कमी, भूख न लगना आदि। ऐसी अवस्था में वे पदार्थ जिनमें लैक्टिक अम्ल अधिक बनता हो भोजन के साथ देने से हानिकारक जीवाणुओं को बढ़ने से रोकता है तथा शरीर को स्वस्थ रखने में सहायता करता है- वृद्धि दर में बढ़ोत्तरी, भूख का बढ़ना तथा आँतों में पड़ने वाले दबाव को रोकता है।

ऐन्टीबायोटिक के लम्बे उपचार के बाद भोजन के साथ प्रोबायोटिक देना चाहिये क्योंकि एन्टीबायोटिक के लगातार सेवन से कभी-कभी पाचन क्रिया कमजोर हो जाती है, एलर्जी हो सकती है, भूख कम लगती है, आविषालुता (टॉक्सिसिटी) व जीवाणु प्रतिरोधिता हो जाती है।

रक्षा कृषि अनुसंधान प्रयोगशाला
पिथौरागढ़-262 501

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : दूर संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी
लेखक : डी.डी. ओझा तथा सत्यप्रकाश।
प्रकाशक : ज्ञानगंगा, दिल्ली। **संस्करण :** 2001, **पृष्ठ संख्या :** 198, **मूल्य :** 200.00 रु0।

दूर संचार के ऐतिहासिक परिदृश्य तथा सूचना प्रौद्योगिकी के नवीनतम पक्षों को उजागर करने के उद्देश्य से हिन्दी में लिखी गई यह पहली पुस्तक है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं– अतीत में संचार के साधन, दूरसंचार साधनों का विकास, टेलीफोन, टेलीविजन, संचार एवं उपग्रह, दूरसंचार एवं कम्प्यूटर, इंटरनेट तथा दूर संचार क्रान्ति एवं सूचना प्रौद्योगिकी का भविष्य। इस पुस्तक के प्रथम चार अध्याय अब एक प्रकार से ऐतिहासिक महत्व के ही द्योतक हैं किन्तु अगले चार अध्यायों में अति महत्वपूर्ण सामग्री दी गई है। चाहे वह अन्तर्राष्ट्रीय संचार उपग्रह हो, सैटेलाइट फोन अथवा इरीडियम सैटेलाइट फोन या फिर टेलीटेक्स्ट, वीडियोटेक्स्ट अथवा टेलीकान्फ्रेंस हों। इंटरनेट अध्याय में भारत में इंटरनेट का शुभारम्भ, वेबसाइट इन्टरनेट से मिलने वाली सुविधायें, इससे उत्पन्न समस्याओं का विस्तृत विवरण दिया गया है।

अध्याय 8 में सूचना प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में ई कामर्स, ई बिजिनेस, ई प्रोक्योरमेन्ट, ई गवर्नेन्स, टेलीप्रेजेंस, हैम रेडियो, मोबाइल, इंटरनेट फोन, एम कामर्स के बारे में आधुनिकतम सामग्री का समावेश हुआ है। इतना ही नहीं, कुछ सर्वथा नई प्रणालियों यथा ई यूनिवर्सिटी, ई कन्ट्रोल, ई क्लाथ, ई परामर्श, ई प्रकाशन का समावेश होने से पुस्तक अत्यन्त रोचक बन गई है।

पुस्तक के अन्त में सूचना प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण परिभाषायें भी दी हुई हैं।

कुल मिलाकर पुस्तक अत्यन्त सन्तुलित है। हर अध्याय में चित्रों का समावेश हुआ है। लेखकद्वय में से एक इंजीनियर होने से पुस्तक में प्रामाणिकता की छाप लग गई है।

पुस्तक की शैली रोचक है और भाषा यथासम्भव सरल रखी गई है। पारिभाषिक शब्दों का निर्वाह सही ढंग से हुआ है।

यह पुस्तक सूचना प्रौद्योगिकी में रुचि रखने वाले छात्रों एवं अध्यापकों के लिये लाभप्रद तो है ही साथ ही सभी पुस्तकालयों के लिये वांछनीय है। लेखक तथा प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

डॉ0 शिवगोपाल मिश्र

सम्मान

'विज्ञान' मासिक के पूर्व संपादक एवं वरिष्ठ विज्ञान लेखक डॉ० देवेन्द्र शर्मा को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा 'विज्ञान भूषण' सम्मान से सम्मानित किया गया है। 'विज्ञान' परिवार की हार्दिक बधाइयाँ!

परिषद् का पृष्ठ

1. प्रो0 सालिगराम भार्गव स्मृति व्याख्यान

विज्ञान परिषद् प्रयाग के सभागार में 22 सितंबर 2001 को प्रो0 सालिगराम भार्गव स्मृति व्याख्यान आयोजित किया गया। इस अवसर पर लखनऊ विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो0 एच.एन. वर्मा ने 'पादप विषाणुओं की रोकथाम की आधुनिक एवं सरल विधियाँ' विषय पर रोचक भाषण प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के अध्यक्ष प्रो0 जी. एल. तिवारी ने की।

प्रो0 वर्मा ने अपने रोचक एवम् विद्वतापूर्ण व्याख्यान में स्लाइडों तथा पारदर्शियों के माध्यम से पादपों में विषाणुओं के कारण होने वाले रोगों का विस्तृत विवरण देते हुये विषाणुरोधी प्रोटीनों द्वारा उनके निवारण और रोकथाम के उपाय बताये। उन्होंने कहा कि जैवीय और अजैवीय पदार्थों द्वारा उत्पन्न सर्वत्र आयातित/प्रेरित प्रतिरोध का पादप विषाणुओं से पादपों की सुरक्षा के लिये उपयोग की महत्ता को अब व्यापक मान्यता मिल गई है। इसके अंतर्गत मुख्यतः विषाणुओं के कोट–प्रोटीन का प्रयोग किया जाता है। सोयाबीन मोजैक वाइरस के कोटं–प्रोटीन द्वारा तंबाकू के पौधे में उत्पन्न प्रतिरक्षा पोटैटो वाइरस के प्रति कारगर होती है।

उन्होंने इस संबंध में लखनऊ विश्वविद्यालय में दशकों से किये जा रहे शोधकार्यों की जानकारी दी।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ0 जी.एल. तिवारी ने विषाणु नियंत्रण की विधा की प्रशंसा करते हुये इस दिशा में अन्य स्थानों पर किये जा रहे शोधकार्यों के बारे में बताया।

कार्यक्रम का आरंभ डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल' द्वारा प्रस्तुत सरस्वती वन्दना से हुआ। अध्यक्ष तथा व्याख्यानदाता ने क्रमशः प्रो0 सालिगराम भार्गव के चित्र पर माल्यार्पण किया। श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने प्रो0 भार्गव तथा प्रो0 वर्मा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया। डॉ0 अशोक कुमार गुप्त एवं देवव्रत द्विवेदी ने माल्यार्पण द्वारा व्याख्यानदाता एवं अध्यक्ष का स्वागत किया। कार्यक्रम के अन्त में परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

2. प्रो0 रामदास गौड़ स्मृति व्याख्यान

केन्द्रीय औषधि अनुसन्धान संस्थान, लखनऊ के सभागार में 27 सितम्बर 2001 को विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा प्रो0 रामदास गौड़ स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता इलाहाबाद और गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो0 वी.डी. गुप्ता ने की। इस अवसर पर संस्थान के निदेशक डॉ0 सी.एम. गुप्ता ने 'इक्कीसवीं सदी में औषधि विकास और अनुसन्धान' विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत किया।

डॉ0 सी.एम. गुप्त ने अपने व्याख्यान में औषधि अनुसन्धान के वर्तमान परिदृश्य को दर्शाते हुये कहा कि अभी तक औषधि निर्माण में प्रमुखतया रसायनों का उपयोग किया जाता था किन्तु अब इस दिशा में प्रोटीनों, न्यूक्लियोटाइडों और जीन थिरैपी का महत्व बढ़ गया है। आने वाले दिनों में औषधि अनुसन्धान में जैव प्रौद्योगिकी की सबसे बड़ी भूमिका रहेगी।

अध्यक्ष प्रो0 वी.डी गुप्त ने कहा कि नैनो टेक्नोलॉजी और सूक्ष्मजैविकी के विकास तथा जैव प्रौद्योगिकी के बढ़ते उपयोग से आने वाले दिनों में हमें अनेक चमत्कार देखने को मिलेंगे।

कार्यक्रम के आरम्भ में सुनील कुमार पाण्डेय तथा विश्व मोहन गौड़ ने अध्यक्ष और वक्ता का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। डॉ0 सुनील कुमार पाण्डेय ने रामदास गौड़ और अध्यक्ष प्रो0 वी.डी. गुप्ता ने व्याख्यानदाता का परिचय प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का संचालन देवव्रत द्विवेदी ने किया।

इस अवसर पर केन्द्रीय औषधि अनुसन्धान संस्थान के अनेक वैज्ञानिक उपस्थित थे।

3. जैव प्रौद्योगिकी कोश की समीक्षा बैठक

विज्ञान परिषद् द्वारा तैयार किये जा रहे जैव प्रौद्योगिकी परिभाषा कोश के अंतर्गत अभी तक तैयार की गई परिभाषाओं को अंतिम रूप देने के लिये विशेषज्ञ समिति की एक बैठक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग नई दिल्ली में 24 और 25 सितम्बर को सम्पन्न हुई। इस अवसर पर शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डॉ0 राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव ने कोश निर्माण की प्रगति पर संतोष व्यक्त करते हुये कहा कि विज्ञान परिषद् ने वैज्ञानिक शब्दावली निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है।

दो दिनों तक चली इस बैठक में विशेषज्ञ समिति ने दो हजार से अधिक परिभाषाओं को अंतिम रूप दिया। विशेषज्ञ समिति में डॉ0 शिवगोपाल मिश्र, प्रो0 बी.डी. सिंह, डॉ0 कृष्णा मिश्रा, डॉ0 जी.एल. तिवारी, श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ0 अशोक कुमार गुप्ता, डॉ0 दिनेश मणि, डॉ0 गोपाल पाण्डेय, डॉ0 सुनील कुमार पाण्डेय, देवव्रत द्विवेदी, श्री नरेन्द्र सिंह चौहान, श्रीमती अवन्तिका त्रिपाठी और श्री अशोक सेलवटकर थे।

– देवव्रत द्विवेदी

पृष्ठ 21 का शेष ......

लिये जहाँ तापमान -5^0 तक हो जाता है, लाभकारी है क्योंकि वह शरीर को अपना तापमान सही रखने में सहायक होती है। जो वस्तु अमेरिका, कनाडा या अलास्का के लिये लाभप्रद है भला वह भारत के लिये कैसे लाभप्रद होगी ? पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को तो अपना सामान बेचना है। क्या मजे की बात है कि जो देश अपने नागरिकों को साफ, शुद्ध पानी नहीं दे सकता वह अपने नागरिकों को स्कॉच व्हिस्की पिलवायेगा और फिर शायद इन सबके साथ ही आयेगा गायों का रोग (Mad Cow Disease)। और आखिर यह रोग गायों को कैसे हुये और फिर मनुष्यों में कैसे पहुँच गया, आप ही सोचिये ! जब हम गाय जैसे शुद्ध शाकाहारी ही नहीं, घास फूस पत्तियाँ चर के खाने वाले जीवों को एक खूंटे से बाँध देंगे, उसकी प्राकृतिक और नैसर्गिक क्रियाओं को बिल्कुल सीमित कर देंगे और उसे केवल Milk Cow या Milk Beef में बदल देंगे और उसके भोजन में प्राकृतिक पदार्थ न होकर हारमोन, विटामिन, एन्टीबायोटिक और गाय के ही खून और हड्डी का भोजन होगा तो स्वाभाविक है कि ऐसी गाय की जीवनदायिनी शक्ति तो कम हो ही जायेगी और फिर कोई भी बैक्टीरिया या वायरस उसे रोगी तो बना ही देगा। गाय रोगी हुई तो उसे गाड़ दिया गया– हजारों गायें केवल इंग्लैण्ड में ही गाड़ दी गयीं। अभी हाल में 12 लाख मुर्गियाँ भी मार दी गयीं क्योंकि उन्हें भी फ्लू हो गया था जो मनुष्यों को भी मार सकता था। इंग्लैण्ड और हांगकांग में तो यह कर दिया गया या करना पड़ा, क्योंकि वहाँ का समाज बहुत जागरूक है, वरना वे आसानी से अपना समस्त रोग सहित सामान भारत जैसे देशों को भेज देते या फिर भेज रहे हैं और हम भी बीफ से सनी McDonald की आलू की French Fries खाकर अपने को धन्य समझते और साथ ही मुफ्त में पाते Mad Cow Disease जहाँ इस रोग को समझने वाले चिकित्सक ही नहीं हैं।

खुशी मनाइये कि अब भारत विदेशों से अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ या कचरा सस्ते दामों पर मँगा सकता है। आइये कचरे खाने की खुशियाँ मनायें।

78–बी, टैगोर टाउन
इलाहाबाद–2

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से :

1- रचनायें टंकित रूप में सुलेख रूप में कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।

2- रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।

3- अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

4- रचना के साथ भेजे गये चित्र किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।

5- नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिए नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर विचार किया जा सकता है।

6- हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।

7- पत्रिका का अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से :

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से :

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन दरें निम्नवत् हैं :-
भीतरी पूरा पृष्ठ 1000रु०, आधा पृष्ठ 500रु०, चौथाई पृष्ठ 250रु०,
आवरण द्वितीय तथा तृतीय 2500 रु०, आवरण चतुर्थ 4000रु०

भेजने का पता :

प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद
फोन नं. (0532) 460001
ई-मेल vigyan1@sancharnet.in
वेब साइट www.webvigyan.com

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, मुम्बई तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विज्ञान परिषद् प्रांगण मे वृक्षारोपण करते
उ० प्र० लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष
डॉ० कृष्ण बिहारी पाण्डेय
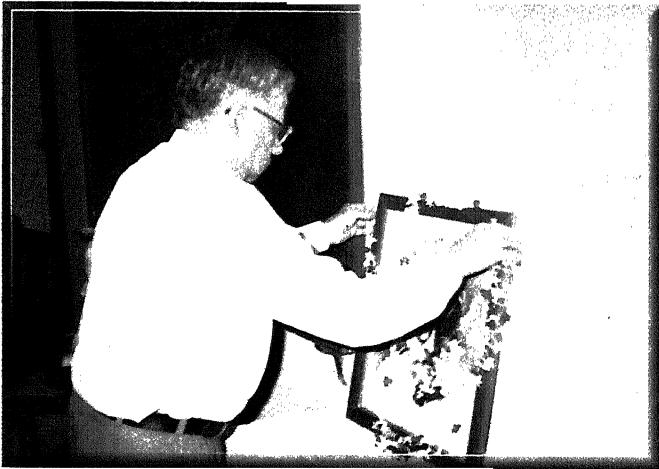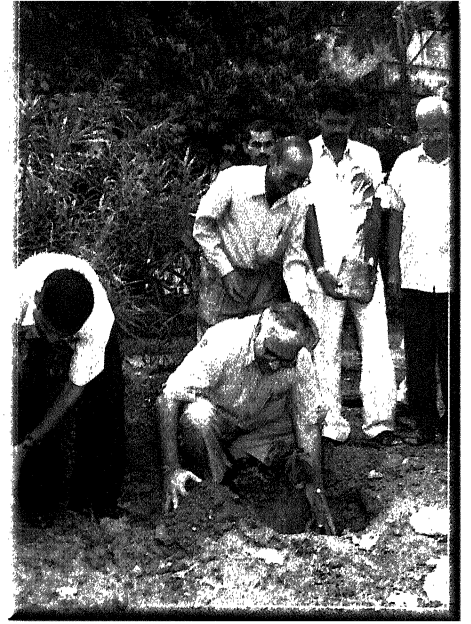
प्रो० सालिगराम भार्गव के चित्र पर
माल्यार्पण करते
प्रो० एच. एन. वर्मा

'विज्ञान पत्रकारिता के मूल सिद्धान्त'
पुस्तक का लोकार्पण करते
डॉ० कृष्ण बिहारी पाण्डेय

ISSN : 0373-1200
दिसम्बर 2001
सी. एस. आई. आर. तथा डी. बी. टी. नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित
मूल्य : 7.00 रु०

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

- काला आजार
- केश मार्जक
- मानव जीनोम
- कच्छीय वन
- सूचना प्रौद्योगिकी

Peptide bond

Valine — Leucine — Serine — Tyrosine — Proline —
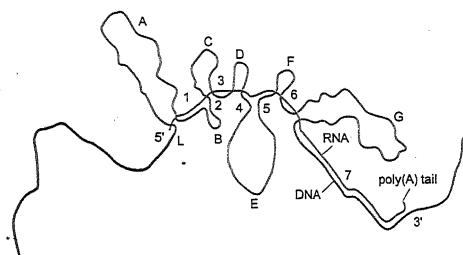
विज्ञान परिषद्
प्रयाग

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 9
दिसम्बर 2001

मूल्य
आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति
डॉ0 (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक
डॉ0 शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक
नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग
शादाब खालिद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

मानव जीनोम तथा इससे आगे

✍ डॉ0 लालजी सिंह

मानव जीनोम घटना क्रम के प्रारम्भिक प्रारूप की पूर्णता की घोषणा (26 जून, 2000 को) विज्ञान के इतिहास में, शायद चन्द्रमा पर मनुष्य के उतरने के समान एक अति महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। नेचर और सांइस में 15 फरवरी, 2001 को मानव जीनोम घटनाक्रम के प्रारम्भिक प्रारूप का प्रकाशन 12 वर्ष से भी बहुत पहले शुरू किए गए अत्यधिक महत्वाकांक्षी कार्य की पराकाष्ठा है, जो भविष्य के लिए आश्चर्य तथा आशाओं से भरी है।

आयुर्विज्ञान का भविष्य

आनुवंशिकी में एक स्वाभाविक क्रांति हो रही है जो नई सहस्त्राब्दि में नैदानिक क्रांति लाने वाली है। आनुवंशिकी हर जगह है। प्रत्येक कुछ सप्ताहों में जीन तथा मानव के सामान्य व्यवहार के बीच एक संभव संबंध पर नवीन अध्ययन रिपोर्ट आ जाती है। पूरे विश्व में आनुवंशिकीविज्ञ डी एन ए परीक्षण के लिए स्वयंसेवकों से रक्त या कपोल कूर्ची का योगदान देने तथा उन्हें भरने के लिए प्रश्नावली देने को कह रहे हैं। यद्यपि अधिकतर रोग जैसे मधुमेह, अतिरिक्त दाब, हदय–धमनी रोग तथा सामान्य मानसिक रोग परिवारों में होते हैं परन्तु मेन्डेलीय नियमों का पालन नहीं करते। यह समझना कठिन है। परन्तु लागों के स्वास्थ्य पर इनका प्रभाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। एक चिकित्सक को सभी रोगों को समझना होगा। बहुत अधिक सामान्य रोग जैसे हृदय रोग, प्रमस्तिष्क संवहनी, वातस्फीति, श्वसनी शोथ, निमोनिया, इनफ्लूएन्जा, कैंसर, मधुमेह, एड्स, आत्महत्या तथा यकृत रोग मृत्यु के मुख्य कारण हैं तथा इन सभी में आनुवंशिकी सम्मिलित होती है। इसलिए हमें मृत्यु के इन सभी कारणों की आनुवंशिक जड़ों को, विशेषकर उन्हें, चिकित्सीय चौकसी या जीवन शैली में परिवर्तन जिनके जोखिम को कम करे, अनावृत करना चाहिए।

नई सहस्त्राब्दि में नैदानिक प्रक्रिया

शायद 20 वर्षो में नवजात शिशुओं से डी.एन. ए. लेना तथा युग्मजी विकल्पी रूप के लिए 50 या अधिक जीनों का विश्लेषण करना संभव हो जायेगा जिनके कारण नवजात अनेक सामान्य रोगों जैसे हृदय वाहिका, कैंसर, स्वप्रतिरक्षा या उपापचयी की ओर प्रवृत्त होता है। प्रत्येक त्रुटिपूर्ण जीन के लिए चिकित्सीय विध ान होगा जो त्रुटिपूर्ण जीन की कमियों का परिगमन करेगा। इस प्रकार आयुर्विज्ञान प्रतिक्रियात्मक ढंग (पहले से बीमार लोगों को स्वस्थ करना) से सुरक्षात्मक प्रकार को (लोगों को स्वस्थ रखना) बनेगा। रोगनिरोधी आयुर्विज्ञान को अधिकतर लागों को रोग रहित सामान्य, स्वस्थ तथा बौद्धिक रूप से जागृत जीवन जीने में समर्थ करना चाहिए।

अब से 10 वर्ष बाद, 18 वर्ष की उम्र में यदि कोई व्यक्ति अपने चिकित्सक के पास जाता है, परीक्षण कराता है, अवस्थाओं की विचारणीय सूची के लिए जोखिम का सही पूर्वानुमान लगा लिया जाएगा, जिसके लिए प्रभावी हस्तक्षेप उपलब्ध होगा और इसके बाद चिकित्सीय निगरानी, आहार तथा जीवन शैली का कार्यक्रम होगा, जिससे जोखिम कम हो जाएगा। इस प्रकार के कार्यक्रम वास्तविक निरोधक औषधि होंगे, जो एक जीन प्ररूप विशिष्ट आधार पर प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि ये हमारे वर्तमान "एक साइज सभी के लिए उपयुक्त" सिफारिशों का प्रतिरोध करते हैं।

मानव जीनोम तथा भविष्य की चुनौतियाँ

किसी जीव की प्रत्येक कोशिका में आनुवंशिक पदार्थ का कुल अंश जीनोम कहलाता है। मानव में, क्रोमोसोम के 23 युग्म होते हैं जिनमें आनुवंशिक पदार्थ जिसे डी.एन.ए. कहते हैं, पाया जाता है। यह चार मुख्य इकाइयों जिन्हें ए (एडिनीन), टी (थायमीन), जी (गुआनीन)

तथा सी (साइटोसीन), कहते हैं, से बनता है। मानव जीनोम अनुक्रमी कार्यक्रम प्रत्येक क्रोमासोम में व्यवस्थित बेसों (क्षारकों) के अनुक्रम को निर्धारित करता है, जो कि सुवर्णिक भाग के 96 प्रतिशत से अधिक भाग में होता है। मानव जीनोम में 3.12 बिलियन बेस युग्म होते हैं, जिनमें तीस से चालीस हजार जीन पाए जाते हैं, जो कुल जीनोम के 2 प्रतिशत से भी कम है। भविष्य की चुनौती वर्तमान में अज्ञात अधिकतर जीनों तथा जीनोम के 98 प्रतिशत जिसे वैज्ञानिक लेग जंक कहते हैं, के कार्य निर्धारणों की होगी।

मानव जीनोम अनुक्रमण कार्यक्रम के पूरा होने के दौरान अनेक प्रौद्योगिकियों का उद्भव हुआ, जिससे उस स्तर तक जीनोम विश्लेषण की सामर्थ्य आई है, जो पहले अविचारणीय थी। ये उभरती हुई प्रौद्योगिकियाँ जिनमें सूचना, तुलनात्मक जिनोमिक्स, डी.एन.ए. चिप, प्रोटिओमिक्स तथा संरचनात्मक जैविकी शामिल हैं, जीनों के कार्य निर्धारण में भी सहायता करती हैं। सभी जीनों के कार्य जानने के बाद मानव रोगों के लिए ट्रांसजेनिक जन्तुओं के मॉडल बनाकर नई औषधियों की खोज के लिए इस ज्ञान का उपयोग करना होगा। दुर्भाग्य से ये प्रौद्योगिकियाँ अत्यन्त मँहगी हैं। हमारे जैसे गरीब देशों के लिए सभी सुविधाएं प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा अनुसंधान संस्थान में जुटाना कठिन है। चूंकि भविष्य की औषधियाँ इस सुविधा को प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध कराने के लिए व्यक्तिगत जीन रूप पर आधारित होने जा रही हैं, इसलिए देश में अनेक साधन केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता है, जिससे कि भारत को जीनोम घाटी बनाने के लिए उनका जाल बिछाकर जनता की भागीदारी (टीम इंडिया) की जाए।

सहस्त्रों लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले जटिल रोगों की आनुवंशिक नींव का पता लगाने के लिए चिकित्सकों, महामारीविदों, आनुवंशिकवेत्ताओं, गणितज्ञों तथा कम्प्यूटर विशेषज्ञों में संधि रहित सहयोग की आवश्यकता होगी।

कोशिकीय और आण्विक
जीव विज्ञान केन्द्र (सी.सी.एम.बी.)
हैदराबाद

डॉ० एस.के. जोशी को पुराछात्र सम्मान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर से 15 नवम्बर 2001 को विशेष दीक्षान्त समारोह के अवसर पर डॉ० एस.के. जोशी को मानव संसाधन तथा विज्ञान प्रौद्योगिकी एवं समुद्र विज्ञान मन्त्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी द्वारा पुराछात्र सम्मान प्रदान किया गया। इस अवसर पर डॉ० एस.के. जोशी ने पुरानी स्मृतियाँ सुनाईं। डॉ० जोशी का जन्म 6 जून 1935 को उत्तरांचल के अनप्रा गाँव में हुआ था। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र रहे और 1962 में भौतिकी की डाक्टरेट डिग्री हासिल की। वे सी.एस.आई.आर. के महानिदेशक पद तक ऊपर उठे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने ऐसे अनेक वैज्ञानिकों को जन्म दिया है।

विज्ञान परिषद् प्रयाग के कोषाध्यक्ष को डी.एस-सी. उपाधि

इसी अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डॉ० अशोक कुमार गुप्ता को डी.एस–सी. की उपाधि से अलंकृत किया गया। उन्होंने डॉ० शिवगोपाल मिश्र के निर्देशन में अपना शोध कार्य सम्पन्न किया जो फसलों पर पेस्टीसाइडों के प्रभाव से सम्बन्धित है।

परिषद् के आजीवन सभ्य डॉ० अजय वर्मा को इसी दीक्षान्त समारोह में डी.फिल. की उपाधि प्रदान की गई। उन्होंने भी डॉ० शिवगोपाल मिश्र के निर्देशन में शोध कार्य पूरा किया।

हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश द्वारा सुप्रसिद्ध बाल विज्ञान लेखक डॉ० हरिकृष्ण देवसरे को वर्ष 1998 के 'बाल साहित्य' सम्मान से सम्मानित किया गया।

सबों को परिषद् की बधाइयाँ !

कालाजार - कल और आज

रमेश धीमान

सन् 1824–25 के दौरान, असम के जैसोर जिले में बुखार से काफी लोग मर रहे थे, गाँव के गाँव खाली हो रहे थे लेकिन यह पता नहीं चल पा रहा था कि आखिर इस बीमारी का कारण क्या है। इस बीमारी को स्थानिक रूप से कई नामों से जाना जाता रहा है जैसे– ज्वर विकार, सरकारी बीमारी (असम में), कालाजार, काला बुखार, काला दुख (बिहार में), डम डम फीवर (कोलकाता में), बर्दवान फीवर (बर्दवान, पं. बंगाल) में । शाब्दिक अर्थ के अनुसार कालाजार ऐसा बुखार है जिसमें मनुष्य को बुखार आता है और उसकी त्वचा का रंग काला पड़ जाता है।

सर लीशमान ने लन्दन में एक सिपाही की प्लीहा में एक विशेष परजीवी पाया। इसी के साथ–साथ सन् 1903 में मद्रास (अब चेन्नई) में कुछ बुखार के रोगियों की प्लीहा की लेप पट्टिका की जाँच करने पर सर डोनोवान ने कुछ छोटे आकार की संरचना देखी। सर रोनाल्ड रॉस ने इन परजीवियों कर नाम लीशमानिया रखा। बाद में इन दोनों वैज्ञानिकों के नाम पर इस परजीवी को लीशमान डोनोवन बॉडी (एल.डी. बॉडी) कहा जाने लगा। जब बीमारी के कारणों का पता नहीं चला तो सन्1925 में ले. कर्नल एस.आर. क्रिस्टोफर्स की अध्यक्षता में एक कालाजार आयोग का संगठन किया गया, जिसका नेतृत्व बाद में ले. कर्नल एच.ई. शोर्ट ने किया।

कालाजार संक्रमण की खोज, किसी भी कीटजनित रोग के आविष्कार का एक उत्तम उदाहरण है। किसी गाँव में रोगियों के घरों का अक्सर आसपास पाया जाना, रोगियों का गांव के कच्चे घरों में रहना, पहली मंजिल पर रहने वाले लोगों में कालाजार न होना, पूरे गांव के घरों में रोगियों का विस्तार न होना, आदि तथ्यों से यह सोचा गया कि संक्रमण करने वाला कारक ऐसा है जो घर के अन्दर ही रहता है। गन्दगी को ध्यान में रखते हुए यह सोचा गया कि यह रोग मिट्टी में रहने वाले आंत्रकृमि, नेमेटोड (गोलकृमि) द्वारा होता है। यदि रोगवाहक कोई कीट है तो वह अधिक दूरी तक नहीं उड़ सकता, जैसे पिस्सू, खटमल आदि। इन उपरोक्त सभी दिशाओं में परीक्षण करने के बाद कालाजार ग्रस्त रोगियों के घरों से पकड़ी गई बालू मक्खी में कालाजार के परजीवी पाये गए, जिससे बालू मक्खी की भूमिका पर आविष्कार प्रारम्भ हुआ।

वास्तव में कालाजार व बालू मक्खी का संबंध सन् 1914 में ही दृष्टिगत हुआ था, जब एफ.पी. मैकी द्वारा फ्लीबोटोमस अर्जेन्टिपस नाम की बालू मक्खी का विच्छेदन करने पर उसमें कालाजार का परजीवी पाया गया। वैसे मैकी को उस समय बालू मक्खी की पहचान के बारे में मालूम नहीं था। बाद में सन्1924 में नालेस, नेपियर तथा स्मिथ द्वारा पी. अर्जेन्टिपस को कालाजार रोगियों पर रक्तपान कराने के पश्चात् जब उनका विच्छेदन किया गया तो उनमें भी लीशमानिया डोनोवनी परजीवी पाए गए। इसके बाद सबका ध्यान कालाजार संक्रमण में बालू मक्खी की भूमिका पर केन्द्रित हो गया। ले. कर्नल शोर्ट के निर्देशन में काफी परीक्षण किए गए। सन् 1926 में प्राकृतिक रूप से घरों से पकड़ी गई पी. अर्जेन्टिपस में लीशमानिया डोनोवनी परजीवी पाया गया। सन् 1942 में स्वामीनाथ एवं अन्य ने लीशमानिया परजीवी से संक्रमित, पी. अर्जेन्टिपस बालू मक्खियों को पाँच व्यक्तियों से रक्तपान कराया जिससे उनको कालाजार का संचरण पी. अर्जेन्टिपस नामक बालू मक्खी द्वारा होता है।

कुल मिलाकर कालाजार प्रसार करने वाले घटक निम्न लिखित हैं।

परजीवी

कालाजार रोग रक्त में रहने वाले प्रोटोजुआ वर्ग के परजीवी, लीशमानिया द्वारा होता है, जिसकी संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रजातियाँ हैं, जैसे– लीशमानिया डोनावनी चागासी (अमेरिका), लीशमानिया इन्फेन्टम (मेडिटेरेनियन व अफ्रीकी क्षेत्र) तथा लीशमानिया डोनोवनी (भारत, नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका)।

संरचना की दृष्टि से लीशमानिया परजीवी मुख्यतः दो अवस्थाओं में पाया जाता है। कशेरूकी जीवों में एफ्लेजिलेट अवस्था (बिना फ्लेजिलम के) तथा अकशेरुकी (जैसे रोगवाहक कीटों में) प्रोमेस्टिगोट अवस्था में पाया जाता है। एफ्लेजिलेट परजीवी का आकार एक अंडाकार रूप में तथा परिमाण 1.5–2.5 माइक्रोमीटर होता है जो रक्त की श्वेत रक्त कणिकाओं मुख्यतया मोनोसाइट्स व लिम्फोसाइट्स में पाया जाता है जहाँ यह परजीवी द्विगुण विभाजन (बाइनेरी फिशन) द्वारा प्रजनन करता है। इस परजीवी की संरचना में एक बड़ा न्यूक्लियस (केन्द्रक), एक काइनेटोप्लास्ट, ब्लीफेरोप्लास्ट तथा उससे जुड़ा एक्सोनीम (जहां से प्रोमेस्टिगोट का फ्लेजिलम निकलता है) होता है। परजीवियों की संख्या में लगातार वृद्धि होने के कारण अन्ततः श्वेत रक्त कणिकाएं फट जाती हैं और परजीवी रक्त में फैल जाते हैं तथा दूसरी श्वेत रक्तकणिकाओं को प्रभावित करते हैं। श्वेत रक्त कणिकाओं के बार–बार संक्रमित होने तथा फटते रहने से उनकी संख्या लगातार घटती जाती है और इस अवस्था को ल्यूकापीनिया (श्वेतकोशिकाअल्पता) कहते हैं, जो कालाजार रोग की प्रारंभिक पहचान बताता है।

मनुष्य के शरीर में यह परजीवी रेटिकुलोएन्डोथीलियल (जालीय–अन्तःकला) प्रणाली यानी अस्थि मज्जा, प्लीहा व यकृत में अधिक पनपता है जिससे प्लीहा व यकृत का आकार बढ़ जाता है, जो रोग के लक्षण व पहचान बताते हैं। वैसे एमेस्टिगोट परजीवी लिम्फ नोड्स (लसीका पर्व), नाक की म्यूकोसा (श्लेष्मा) व रोगियों के मूत्र में भी विसर्जित होते पाए गए हैं।

प्रोमेस्टिगोट अवस्था के परजीवी का आकार 15 से 25 माइक्रोमीटर तक होता है और फ्लेजिलम (कशाभ) 25–28 माइक्रोमीटर तक लम्बा होता है जिससे परजीवी को बालू मक्खी की आहार नली की दीवारों में कोशिकाओं से जुड़कर प्रजनन करने तथा चलने में सहायता मिलती है।

रोगवाहक कीट

विश्व में बालू मक्खी की दो प्रजातियाँ यथा – फ्लीबोटोमस और लुटजोमिया, कालाजार प्रसार में रोगवाहक कीट की भूमिका निभाती हैं। विश्व के विभिन्न भागों में कालाजार का संक्रमण निम्नलिखित बालू मक्खियों की प्रजातियों द्वारा होता है, जैसे – फ्लीबोटोमस अर्जेन्टिपस (भारत, नेपाल बांग्लादेश एवं श्रीलंका), पी. एरियेसी (फ्रांस), पी. पर्फिलेवी (मेडिटेररेनियन क्षेत्र), पी. कोकेसियस, पी. मंगोलेन्सिस एवं पी. एन्ड्रेजेवी (रूस), पी. मार्टिनी (केन्या), पी. ओरिएन्टेलिस (सूडान व अफ्रीका के कुछ अन्य क्षेत्र), पी. चाइनेन्सिस (चीन), पी. पापातसी (ईराक), लुटजीमिया लोन्गीपाल्पिस (दक्षिणी व मध्य अमेरिका)।

बालू मक्खी, विशेषतया पी. अर्जेन्टिपस का आकार 1.5–5.5 मिलीमीटर होता है। विश्राम की अवस्था में ये अपने दोनों पंख अंग्रेजी के अक्षर "वी" के आकार में रखती हैं। ये ऐसे स्थानों पर पाई जाती हैं जहाँ नमी हो, इसलिए ये बहुधा कच्चे घरों व गौशालाओं में पाई जाती हैं। इनके पंख काफी कमजोर होते हैं इसलिए बालू मक्खी एक बार में एक दो मीटर तक ही उड़ सकती है। पंख कमजोर होने के कारण ही बालू मक्खी घरों के अन्दर प्रायः कोनों में फर्श से लगभग 6 फीट ऊँचाई तक बैठी हुई पाई जाती । जैसाकि इसके नाम से विदित है, बालू मक्खी बालू में अपने अण्डे देती है जिसमें नमी हो, अंडों से लगभग 5–7 दिन में लार्वा (डिंभक) निकलता है जो मिट्टी/रेत में उपस्थित कार्बनिक अवयवों को अपना भोजन बनाता है। लार्वा की 4 अवस्थाएँ होती हैं और

अन्त में लगभग 20 दिन में प्यूपा अवस्था बन जाती है। प्यूपा से वयस्क बालू मक्खी बनने में 7–8 दिन लग जाते हैं। कुल मिलाकर बालू मक्खी का जीवन चक्र 28 डिग्री सेल्सियस तापमान व 75 प्रतिशत आपेक्षित आर्द्रता पर लगभग 30 दिन में पूरा जोता है।

बालू मक्खी का जीवन चक्र तापमान व आपेक्षित आर्द्रता द्वारा काफी प्रभावित होता है। वर्ष में दो बार बालू मक्खी की आबादी शीर्ष पर पहुँचती है (विशेषता बिहार में), एक बार मार्च/अप्रैल तथा दूसरी अगस्त/सितम्बर में। दिसम्बर एवं जनवरी में बालू मक्खियों की सघनता सबसे कम (लगभग नगण्य) हो जाती है। एक वर्ष में बालू मक्खी की लगभग 7–8 पीढ़ियाँ पनप पाती हैं। बालू मक्खी के अन्दर परजीवी प्रवेश करने से लेकर बालू मक्खी संक्रमित होने तक लगभग 10 दिन लग जाते हैं, इसलिए कालाजार संक्रमण के लिए बालू मक्खी की आयु लगभग 10 दिन अवश्य होनी चाहिए। भारत में कालाजार संक्रमण का सबसे उचित समय अक्टूबर/नवम्बर माह होता है, जब इसके लिए वातावरण का तापमान व आपेक्षिक आर्द्रता सबसे ज्यादा उपयुक्त होती है और बालू मक्खियों की जीवन अवधि भी अधिक होती है।

परपोषी

भारत, बांग्लादेश व नेपाल में मनुष्य ही कालाजार रोग का परपोषी माना जाता है। वैसे अन्य देशों में कुत्ते, लोमड़ी, चूहे, अलाक्षणिक रूप से लीशमानिया परजीवी के स्रोत का कार्य करते हैं। वहाँ परपोषी व बालू मक्खी के बीच प्राकृतिक अवस्था में लीशमानिया परजीवी का संक्रमण होता रहता है। जहाँ जन्तु परपोषी का कार्य करते हैं वहाँ कभी–कभी अचानक इस चक्र में मनुष्य आ जाता है तो जन्तुओं से प्राप्त लीशमानिया परजीवी का संक्रमित बालू मक्खी द्वारा ग्राहय मनुष्य के अन्दर संक्रमण हो जाता है। जहाँ मात्र मनुष्य ही परपोषी का कार्य करते हैं वहाँ बालू मक्खियों की सघनता में अचानक वृद्धि तथा मनुष्यों की प्रतिरोध क्षमता में कमी के कारण मनुष्य तथा बालू मक्खी के बीच सम्पर्क अधिक हो जाता है तथा कालाजार की महामारी की संभावना बढ़ जाती है।

संचरण

कालाजार के रोगी में लीशमानिया परजीवी परिसरीय रक्त परिसंचरण में आते हैं। जब उपयुक्त मादा बालू मक्खी किसी कालाजार रोगी का रक्तपान करती है तो उसकी आहार नली में रक्त के साथा लीशमानिया परजीवी भी प्रवेश कर जाते हैं। इस समय परजीवी एमेस्टिगोट अवस्था में होते हैं। लगभग एक दो दिन में परजीवी फ्लेजिलम युक्त अवस्था में परिवर्तित हो जाते हैं और बालू मक्खी की मध्य आहार नली की आन्तरिक दीवारों से लटक कर द्विगुण विभाजन द्वारा प्रजनन करते हैं। लगभग 8 दिन बाद परजीवी आहार नली की दीवारों से अलग होकर पुनः आहार नली के अग्रभाग की ओर जाने लगते है और 9वें/10वें दिन आहार नली के सबसे अगले भाग बक्कल (मुखीय) प्रकोष्ठ में इकट्ठे हो जाते हैं। ऐसी संक्रमित बालू मक्खी जब किसी स्वस्थ मनुष्य का रक्तपान करने का प्रयास करती है तो आहार नली में रक्त का प्रवेश न होकर, बक्कल प्रकोष्ठ में इकट्ठे परजीवी मनुष्य के रक्त में प्रविष्ट कर जाते हैं। हाल के वर्षों में इस संचरण की प्रक्रिया में बालू मक्खियों द्वारा लिया गया फ्रक्टोज आहार व उनकी लार ग्रन्थियों में उपस्थित स्राव की भूमिका को भी स्पष्ट किया गया है।

मनुष्य के रक्त में प्रोमेस्टिगेस्ट अवस्था के परजीवी लगभग 3–4 घण्टों में श्वेत रक्त कणिकाओं द्वारा निगल लिये जाते हैं और इनका फ्लेजिलम समाप्त हो जाता है और यह एमेस्टिगोट अवस्था में परिवर्वित हो जाते हैं।

मनुष्य के शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता पर निर्भर करता है कि ये परजीवी लगातार प्रजनन करके मनुष्य को रोगी बना दे या फिर शरीर की श्वेत रक्त कणिकाएँ सभी परजीवियों को पूर्णतः नष्ट कर मनुष्य को

रोगमुक्त रहने दें। रक्त परिसंचरण के माध्यम से श्वेत रक्त कणिकाओं के अन्दर प्रविष्ट लीशमानिया परजीवी, लसीका पर्व, यकृत, प्लीहा व अस्थि मज्जा में प्रवेश कर जाते हैं। शरीर की प्रतिरोध क्षमता के अनुसार परजीवी कभी–कभी केवलं त्वचा तक ही सीमित रह जाते हैं, कुछ यकृत में रह जाते हैं और ऐसे व्यक्ति बिना कोई लक्षण दिखए कालाजार संचरण में स्रोत का कार्य करते हैं।

यदि श्वेत रक्त कणिकाएँ परजीवियों को समाप्त न कर पाएं तो मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है और उसके शरीर में श्वेत रक्त कणिकाओं की संख्या लगातार कम होने लगती है, यकृत व प्लीहा का आकार बढ़ने लगता है, हल्का बुखार रहने लगता है और काफी दिनों बाद उसका शरीर काला पड़ने लगता है (लीशमानिया परजीवी त्वचा के डर्मिस वाले भाग में इकट्ठे हो जाते है)। श्वेत रक्त कणिकाओं की संख्या कम होने से रोगी के शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता क्षीण होने लगती है और उसे यक्ष्मा, लीवर सिरोसिस, न्यूमोनिया, आदि जैसी अन्य दूसरी बीमारियाँ घेर लेती हैं। यदि समय पर इलाज न कराया जाए तो रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

कालाजार का विस्तार

विश्व में कालाजार भारत, चीन, तुर्की, पश्चिमी मध्य एशिया, सूडान, केन्या, सोमालिया, इथिओपिया, मोरोक्को, तुनिशिया और मेडिटेरेनियन क्षेत्र, दक्षिण अमेरिका (वेनिजुएला) से उत्तरी अर्जेन्टीना व पूर्वी ब्राजील में पाया जाता है।

भारत में कालाजार असम, मेघालय, बिहार, पश्चिम बंगाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, तटीय उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश एवं तमिल नाडु में, स्थानिक रूप से विद्यमान रहा है, कुछ छुट–पुट रोगी जम्मू एवं कश्मीर, गुजरात, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल व चंड़ीगढ़ से भी प्रकाश में आए हैं लेकिन यह सिद्ध नहीं हो सका कि यहाँ पर बीमारी स्थानिक रूप से विद्यमान है या इन रोगियों ने किसी दूसरे स्थान से बीमारी प्राप्त की। कालाजार के विस्तार के लिए कुछ भौतिक तत्व जैसे तापमान, आपेक्षिक आर्द्रता, मिट्टी, आदि काफी महत्वपूर्ण माने गए हैं।

कालाजार के स्थानिक विस्तार में महत्वपूर्ण

–तापमान (7.22–37.7 डिग्री सेल्सियस)
–वार्षिक औसत आपेक्षित आर्द्रता, कम से कम 70 प्रतिशत
–नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी की प्रधानता
–धरती के नीचे पानी का उच्च स्तर
–वर्षा, 125 से.मी. प्रति वर्ष से अधिक
–समुद्र स्तर से 2000 फीट से कम ऊँचाई वाले स्थान

भारत में लगभग 6 करोड़ लोग कालाजार के जोखिम वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं, और आजकल नवनिर्मित झारखण्ड राज्य सहित बिहार के 51 जिले में से 28 जिलों में (मुख्यतया उत्तरी बिहार के सभी जिले व व दक्षिणी बिहार के गंगा नदी के तट के समीपवर्ती जिले), पश्चिम बंगाल के 8 जिलों व उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले में कालाजार स्थानिक रूप से पाया जाता है।

चूँकि कालाजार के लक्षण मलेरिया, टाइफॉयड, यक्ष्मा, लीवर सिरोसिस, ब्रूसेलारुग्णता, इत्यादि बीमारियों से मिलते हैं इसलिए इस रोग की सही जाँच नितान्त आवश्यक है। इस परिस्थिति में जबकि कालाजार की जाँच कठिन है और निजी चिकित्सकों द्वारा इलाज किए गए रोगियों की सही संख्या का सरकारी आंकड़ों में समावेश न हो पाने से बीमारी की सही स्थिति का जायजा नहीं मिल पाता, केवल एक झुकाव का पता ही चलता है। सन् 1991 में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया, जिससे बिहार में कालाजार को नोटिफाइएबल बीमारी (गैर सरकारी डाक्टरों आदि को कालाजार रोग की सूचना सरकारी स्तर पर देनी है) घोषित किया गया।

जांच प्रक्रिया

ग्रामीण स्तर पर जहाँ पर यह बीमारी अधिक होती है, कालाजार रोगी को ढूँढना, अर्थात् उनकी पहचान

करना काफी कठिन है। वर्तमान में कालाजार के निदान के लिए अस्थि मज्जा में एल.डी. बॉडीज (ली. डोनोवनी) का मिलना आवश्यक माना जाता है। यदि किसी रोगी ने कालाजार संबंधित कुछ औषधि ले रखी हो तो उसमें परजीवी का मिलना कठिन हो जाता है। वैसे अस्थि मज्जा से निष्कासित पदार्थ को संवर्धन माध्यम (कल्चर मीडियम) में रोपण करने से परजीवियों का प्रदर्शन आसान हो जाता है। अनुसंधान स्तर की प्रयोगशालाओं में ही संवर्धन की सुविधा उपलब्ध होती है।

कालाजार नियंत्रण

कालाजार नियंत्रण के निए अक्सर दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक हैः प्रथम रोगियों को ढूँढकर उनका इलाज करना और द्वितीय घरों व गौशालाओं के अन्दर रोगवाहक कीट नियंत्रण के लिए कीटनाशक का छिड़काव करना।

रसायन चिकित्सा

सर्वप्रथम सर उपेन्द्रनाथ ब्रहमचारी ने सन् 1922 में कलकत्ता (अब कोलकाता) में रहते हुए यूरिया स्टिबामिन नामक औषधि का आविष्कार किया जो कालाजार रोगियों के लिए वरदान सिद्ध हुई। यह औषधि एक पाउडर के रूप में थी जो आसुत जल में घोलकर शिरा में सुई (इन्ट्रावेनस) से दी जाती थी। वयस्क मनुष्य के लिए इसकी मात्रा 0.05 ग्राम से 0.2 ग्राम तक थी, (सप्ताह में 2–3 बार, कुल 10–15 इंजेक्शन)। इस औषधि का कोई प्रतिकूल प्रभाव भी नहीं था। दुर्भाग्यवश इस औषधि का फार्मूला उपलब्ध न होने के कारण औषधि का निर्माण नहीं हो सका। सन् 1960 के बाद एक पेन्टावैलेन्ट एन्टीमनी कम्पाउन्ड, सोडियम स्टिबोग्लुकोनेट (एस ए जी) कालाजार रोगियों के लिए प्रथम श्रेणी की औषधि के रूप में मानी गई। इस औषधि की इंजेक्शन मात्रा शरीर के वजन के अनुसार (एक दिन में अधिकतम मात्रा 850 मि.ग्रा.) है। इस दवाई से इसके सभी रोगी ठीक नहीं हो पाते और लगभग 10 प्रतिशत में इसके हानिकारक प्रभाव देखे गए हैं।

प्रारम्भ में एस ए जी इलाज की अवधि 10 दिन थी। बिहार में कालाजार रोगियों पर किये गए परीक्षणों में औषधि अवधि 20 दिन बढ़ाने से रोगियों में ठीक होने की दर बढ़ी व प्रतिरोध क्षमता कम हो गई। फिर यह अवधि 30 दिन करने से यह और भी अधिक सुधरी। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी भारत में किए गए परीक्षणों के आधार पर इस औषधि द्वारा उपचार की अवधि 30 दिन तक कर दी। एस ए जी द्वारा 40 दिन का इलाज भी अध्ययनों में बेहतर पाया गया। आज एस ए जी द्वारा उपचार करने से उपचार दर लगभग 58 प्रतिशत रह गई है। बिहार के कुछ भागों में औषधि से 90 प्रतिशत तक लोग ठीक हो गये और कहीं पर लगभग सभी लोग प्रतिरोध विमुख पाये गए। इस औषधि से 7–10 प्रतिशत रोगियों में हृदय विषाक्तता पाई गई और 5–10 प्रतिशत की मृत्यु भी हो गई। इन सब बातों के परिप्रेक्ष्य में अब इस औषधि के कालाजार की प्रथम श्रेणी की औषधि होने पर प्रश्नचिन्ह सा लग गया है।

जो रोगी एन्टीमनी औषधि से ठीक नहीं हो पाये उनका पेन्टामिडीन इसएथियोनेट (वेलकम लेबोरेटरीज) द्वारा उपचार किया जाता है। इस औषधि की मात्रा 4 मि. ग्रा./कि.ग्रा. शरीर के वजन के अनुसार, 15 इंजेक्शन एक दिन छोड़कर, शिरा में या काफी गहरी मांस पेशी में दी जाती है। इस औषधि द्वारा मधुमेह, सदमा या हृदय विषाक्तता हो जाती है। शुरू में इस औषधि द्वारा 99 प्रतिशत रोगियों का सफलतम उपचार हो पाया लेकिन जो रोगी ठीक हो जाते हैं उनमें से प्रारंभ में 21 प्रतिशत में पुनः रोग उभर आता है। इस प्रकार लगभग 78 प्रतिशत रोगी ही ठीक हो पाते हैं। आजकल पेन्टामिडीन के विरुद्ध भी परजीवी में प्रतिरोध उत्पन्न होने लगा है।

एम्फोटेरेसिन बी औषधि जो वास्तव में फफूँदी संदूषण के विरुद्ध बनाई गई थी, कालाजार उपचार में भी काफी सफल पाई गई। अध्ययनों में 0.5 मि.ग्रा./कि. ग्रा. शरीर के वजन के अनुसार एम्फोटेरेसिन बी के 5 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल में 14 इन्जेक्शन (प्रतिदिन एक)

देने से 98 प्रतिशत उपचार दर पाई गई। 1.0 मि.ग्रा. /कि.ग्रा. की मात्रा 0.5–0.75 मि.ग्रा./कि.ग्रा. की मात्रा से बेहतर पाई गई। इस औषधि द्वारा भी कुछ प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ हो जाती हैं।

ट्यूमर (अर्बुद) के विरुद्ध विकसित औषधि मिल्टेफोसिन (50 मि.ग्रा. कैपसूल, एस्टामेडिका, जर्मनी) मुख द्वारा दी जाती है। इसकी प्रतिदिन की मात्रा 100–200 मि.ग्रा. (कुल मिलाकर 2100–3850 मि.ग्रा.) है। इस औषधि की विभिन्न मात्राओं के प्रयोग से फेज–2 परीक्षणों में 95 प्रतिशत तक रोगी ठीक हो पाये। अधिक दिन तक औषधि देने से रोगियों में कुछ अवांछनीय पार्श्व प्रभाव भी पाये गए। उपचार की अवधि कम करने से इन समस्याओं का हल हो सकता है। इस औषधि के कालाजार उपचार में काफी कारगर सिद्ध होने के संकेत मिले हैं। वाल्टर रीड आर्मी इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च, वाशिंगटन द्वारा विकसित मुख द्वारा ली जाने वाली एक अन्य औषधि डब्ल्यू आर–6026 (सिटामाक्वीन) के भी कालाजार में उपयोगी पाए जाने की संभावना है।

रोगवाहक कीट नियत्रंण

अभी तक मच्छरों के समान ही बालू मक्खी के नियंत्रण के लिए घरों एवं गौशालाओं में डी डी टी का छिड़काव एक ग्राम प्रति वर्ग मीटर की दर से वर्ष में दो बार–मार्च/अप्रैल तथा जून/जुलाई में किया जाता है ताकि इनकी सघनता शीर्ष पर पहुँचने से पहले ही कम हो जाए। वैसे अभी तक पी. अर्जेन्टिपस में डी डी टी के प्रति प्रतिरोध क्षमता उत्पन्न नहीं हुई है।

जैव नियंत्रण के अन्तर्गत बालू मक्खी के नियंत्रण के लिए अभी कोई भी विधि उपलब्ध नहीं है। वैसे जैवनाशी (बैसिलस स्फेरिकस व बैसिलस थूरिंजिएन्सिस) के प्रयोगशाला परीक्षण स्तर पर बालू मक्खी की प्रथम अवस्था के डिंभकों में एक से पाँच दिन में शत–प्रतिशत मर्त्यता देखी गई है।

बालू मक्खी से बचाव के लिए मच्छरदानियों का प्रयोग, दूसरे अन्य साधनों, जैसे शरीर पर लगाने वाली क्रीम, सिट्रोनेला तेल, नीम तेल आदि, बालू मक्खी के काटने से बचाव करते हैं। बालू मक्खी के आकार को ध्यान में रखते हुए साधारण मच्छरदानियां लाभदायक सिद्ध नहीं हुईं क्योंकि उनके छिद्रों से बालू मक्खी अन्दर प्रवेश कर सकती है, इसलिए बालू मक्खी से बचाव के लिए घने तारों वाली मच्छरदानियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। मच्छरदानियों को कीटनाशकों द्वारा संसिक्त करके प्रयोग करने की विधि भी बालू मक्खी से बचाव के लिए प्रयोग में लाई गई है लेकिन भारतवर्ष में अभी इस विषय पर परीक्षण होने बाकी हैं।

-साभार

सहायक निदेशक
मलेरिया अनुसंधान केन्द्र
दिल्ली

विज्ञान पत्रिका पुरस्कृत

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ने वर्ष 2000 के लिये विज्ञान परिषद् प्रयाग की मासिक पत्रिका 'विज्ञान' को 20 हजार रूपये का पुरस्कार घोषित किया है।

भारत में सूचना प्रौद्योगिकी

राकेश पाठक

सूचना प्रौद्योगिकी एक वृहद अवधारणा है, जिसमें सूचना प्रक्रिया और उसके प्रबन्ध सम्बन्धी सभी पहलू शामिल हैं। कम्प्यूटर हार्डवेयर, सॉफ्टवेयर और सूचना प्रणालियों का आधार है जिनका डिजाइन तैयार करने, उन्हें विकसित करने और उनके संचालन या प्रबन्ध का काम सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा किया जाता है।

सूचना तकनीक के क्षेत्र में पिछले एक दशक में आई क्रान्ति ने अब अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया है। आज एक छोटे से कम्प्यूटर का पुश बटन दबाकर विश्व के किसी भी कोने से सम्पर्क कायम किया जा सकता है। एक छोटे से मोबाइल फोन से आप न केवल संदेश, बल्कि चाहें तो अपने अतिगोपनीय दस्तावेज की फोटोकापी इच्छित व्यक्ति तक पहुँचा सकते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी ने दैनिक कार्य से लेकर चिकित्सा, स्वास्थ्य, कृषि, बैंकिंग, बीमा के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन का आधार बना दिया है। घर बैठे किसी भी पुस्तकालय की पुस्तक पढ़ना अथवा किसी भी चिकित्सक से परामर्श करना अब साधारण सी बात हो गयी है। इन्टरनेट के माध्यम से विश्व के सभी बेहतरीन डिपार्टमेन्टल स्टोर से खरीदारी करना पड़ोस की दुकान से सामान खरीदने से ज्यादा आसान हो गया है।

सूचना के क्षेत्र में इस नई क्रान्ति का सूत्रपात 19वीं शताब्दी के टेलीग्राफ के आविष्कार के साथ हो गया था। बाद में रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, सेल्युलर फोन, कम्प्यूटर, दूरसंचार उपग्रह, टेलीविजन, इन्टरनेट, वीडियोफोन, प्रिन्टर, मल्टीमीडिया इत्यादि ने इस प्रौद्योगिकी को वर्तमान क्रान्तिकारी स्वरूप प्रदान किया इन सबमें कम्प्यूटर की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कम्प्यूटर के बिना सूचना प्रौद्योगिकी के वर्तमान स्वरूप की कल्पना करना बेमानी है। आज पूरे विश्व में औद्योगिक रूप से समाज ऐसे सूचना में परिवर्तित होता जा रहा है जो कम्प्यूटर के बिना एक सेकेण्ड भी जीवित नहीं रह सकता।

भारत में कम्प्यूटर का प्रवेश 1950 में इकाई संसाधन मशीनों तथा डेस्क टॉप कम्प्यूटर्स के रूप में हुआ। भारत में सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति की शुरुआत कुछ मंद रही क्योंकि हमारे यहाँ जड़ता बहुत अधिक थी और मजदूर संघों तथा प्रबन्ध समितियों को इस बारे में कुछ भ्रान्तियाँ थीं किन्तु कम्प्यूटर नीति 1984, इलेक्ट्रानिक नीति 1985 और सॉफ्टवेयर नीति 1986 से इन समस्याओं पर काबू पाने में मदद मिली। उद्योग और अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण के साथ भारत अब सूचना प्रौद्योगिकी का केन्द्रबिन्दु बन गया है। सूचना प्रौद्योगिकी कार्यदल के गठन से इस क्षेत्र में हो रही क्रान्ति में तेजी आई है।

प्रारम्भिक वर्षों में कम्प्यूटरों का उपयोग मुख्य रूप से वैज्ञानिक गणनाओं के लिये किया जाता था, किन्तु 80 के दशक तक वेतन बनाने और आवश्यक प्रबन्धन जैसी गतिविधियों के अलावा कम्प्यूटरों का उपयोग, संचालन क्षमता बढ़ाने के लिये किया जाने लगा। 90 के दशक के अंत तक सूचना प्रौद्योगिकी संस्कृति महानगरों से बाहर, जिला स्तर तक प्रसारित हो गयी। भारतीय हार्डवेयर विनिर्माताओं ने बढ़ती माँग की चुनौती का सामना किया और ऐसे पी0सी0 यानी निजी कम्प्यूटरों का उत्पादन स्थानीय आधार पर किया, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बाजार में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। इससे कम्प्यूटर सस्ते हो गये और उन्हें न केवल दफ्तरों बल्कि घरों में रखना सम्भव हो गया।

1991 में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत के साथ–साथ भारत को सूचना के एक राष्ट्रीय राजमार्ग की आवश्यकता महसूस होने लगी। 1994 में

सूचना राजमार्ग के रूप में इंटरनेट की सुविधा मिलना भारत के लिये महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। उदारीकरण के लाभ को जन–जन तक पहुँचाने की राष्ट्रीय नीति के अंतर्गत 1995 से इसे जनसाधारण के लिये मुक्त कर दिया गया। पूर्व में यह सुविधा केवल शिक्षण संस्थानों, अनुसंधानशालाओं तथा सरकारी उपक्रमों को ही उपलब्ध थी।

सूचना प्रौद्योगिकी का सफल प्रयोग एक विश्वसनीय संचार नेटवर्क पर निर्भर करता है। देश के कोने कोने को जोड़ने के लिये निकनेट, एरनेट, आईनेट जैसे राष्ट्रीय कम्प्यूटर नेटवर्क स्थापित किये गये। इन नेटवर्कों का इस्तेमाल रेलवे आरक्षण प्रणाली, विमान आरक्षण प्रणाली, बैंकिंग व्यवस्था और संसद व राज्य विधानसभा चुनावों के सीधे प्रसारण के लिये व्यापक रूप में किया जा रहा है। भारत सरकार ने सूचना विज्ञान संस्कृति को बढ़ावा देने के लिये और सूचना प्रौद्योगिकी के सभी स्तरों पर आवश्यक अत्याधुनिक विकल्प उपलब्ध कराने के लिये राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केन्द्र की स्थापना की, जो सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रमुख संगठन है।

भारत सरकार ने यह स्वीकार करते हुये कि अस्सी के दशक से देश में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुआ विकास अपर्याप्त रहा है, भारत को सूचना प्रौद्योगिकी साफ्टवेयर के क्षेत्र में महाशक्ति और सूचना क्रान्ति के युग में एक अग्रणी राष्ट्र बनाने का फैसला किया है। सरकार की मान्यता यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी मानव जीवन के हर पहलू को बदल सकने में सक्षम है इससे 21वीं शताब्दी का समाज, ज्ञान पर आधारित होगा। इस दिशा में पहला कदम उठाते हुये वर्तमान नीतियों और कार्यविधियों में कई संशोधन किये गये। 1998 में देश में प्रति 500 व्यक्ति एक पी0सी0/सेट टॉप बाक्स था जिसे सन् 2008 तक 50 व्यक्ति प्रति बाक्स पर लाने का फैसला किया गया है। इसी के साथ उन्हें विश्वव्यापी इंटरनेट/एक्स्ट्रानेट/इन्ट्रानेट की सुविधा भी उपलब्ध करानी है जिससे आर्थिक सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल अधिक से अधिक हो सके। सन् 2008 तक सभी के लिये सूचना प्रौद्योगिकी का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये ऐसी नीतियाँ बनाई गयी हैं कि नागरिकों में तेजी के साथ सूचना प्रौद्योगिकी चेतना पहुँचे, इसके लिये कई प्रकार के प्रशिक्षण एवं प्रचार प्रसार विधियों का प्रावधान है। देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी संस्कृति को फैलाने के लिये सरकार ने दो वर्षों तक सूचना प्रौद्योगिकी सम्बन्धी सभी उत्पादों पर 100 प्रतिशत मूल्य ह्रास प्रदान किया। साफ्टवेयर और सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग को बैंक 5 वर्षों तक प्राथमिकता क्षेत्र का उद्योग मानेंगे। नई नीति में सूचना प्रौद्योगिकी के अधिकतम उपयोग प्रत्येक मंत्रालय/विभाग अपने कुल बजट का 1 से 3 प्रतिशत सूचना प्रौद्योगिकी के लिये रखेगा। प्रत्येक मंत्रालय/विभाग 5 वर्ष के लिये सूचना प्रौद्योगिकी कार्यक्रम तैयार करेगा और सभी सरकारी एवं सार्वजनिक पदों के लिये सूचना प्रौद्योगिकी का ज्ञान अनिवार्य होगा।

देश में सूचना प्रौद्योगिकी और उस पर आधारित शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के लिये ऑपरेशन नालेज शुरू किया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में कम दाम वाले कम्प्यूटरों की खरीद योजनायें शुरू की जा रही हैं ताकि हर स्कूल, अध्यापक और छात्र के लिये यह सुविधा उपलब्ध करायी जा सके। सरकार ने घोषणा की है कि सन् 2003 तक प्रत्येक स्कूल, पॉलीटेक्निक कॉलेज और विश्वविद्यालयों में इन्टरनेट सुविधा उपलब्ध होगी। सूचना प्रौद्योगिकी और साफ्टवेयर विकास पर राष्ट्रीय टास्क फोर्स की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित सभी तैयार माल पर शून्य सीमा शुल्क लगाने की तारीख 1 जनवरी 2005 से घटाकर 1 जनवरी 2003 कर दी है और अनेक किस्म के हिस्से–पुर्जों के लिये यह पहली जनवरी 1999 से ही लागू है।

इसी के साथ सूचना प्रौद्योगिकी बिल 2000 का पारित होना भी सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत का महत्वपूर्ण कदम है। इसके द्वारा इलेक्ट्रानिक डाटा एक्सचेन्ज एवं इन्टरनेट सहित किसी भी इलेक्ट्रानिक माध्यम से किये जाने वाले सभी सौदों को कानूनी

शेष पृष्ठ 15 पर ....

जीवन के महत्वपूर्ण घटक – अमीनो अम्ल

✍ संजयवीर, पी.एस. रावत, एच.के. पाण्डेय तथा नरेन्द्र कुमार

आज से लगभग 5 अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का जन्म माना जाता है। पृथ्वी के जन्म के साथ ही जीव उत्पत्ति के कई पहलू जुड़े हुये हैं जिसमें एक महत्वपूर्ण पहलू है अमीनो अम्ल का बनना। पुरातन वातावरण आज के जैसा नहीं था। जिस ऑक्सीजन की वजह से आज धरती संभव है उस वक्त यह गैस हमारे वातावरण में नहीं थी। पुरातन वातावरण हाइड्रोजन, मीथेन, अमोनिया आदि गैसों के अतिरिक्त पानी के वाष्प कणों का बना हुआ था। परा बैंगनी किरणों को रोकने वाली ओजोन परत न होने के कारण पराबैंगनी किरणें सीधी धरा पर पड़ती थीं। पृथ्वी की सतह आग की भट्टी के समान गरम थी जिसमें ज्वालामुखी विस्फोट तथा वज्रपात आदि प्रक्रियायें भी सतत रूप से चलती रहती थीं।

वाष्प कणों पर पराबैंगनी किरणों के प्रभाव ने पानी के अणुओं को तोड़कर ऑक्सीजन तथा ओजोन गैसों को जन्म दिया। यह प्रक्रिया लाखों वर्षों तक चलती रही। मूसलाधार बारिश ने आग सी तपती धरा को ठण्डा किया। उसी वजह से आज धरती पर जीवन संभव हो पाया।

सबसे पहले अकार्बनिक अणुओं ने मिलकर कार्बनिक अणुओं को जन्म दिया। यह माना जाता है कि मीथेन तथा अमोनिया से हाइड्रोसायनिक अम्ल बना जिसने आगे चलकर अमीनो अम्ल, प्यूरीन, पिरिमिडीन आदि कार्बनिक अणुओं का निर्माण किया।

मिट्टी के कणों ने जैव अणुओं के सांद्रण में सहायता की, जिसके फलस्वरूप बडे–बड़े अणुओं (प्रोटीन, न्यूक्लिक अम्ल आदि) बने। इसी वातावरण में बहुत सारे जैव अणुओं के द्वारा प्रोटोबायोंटस का उदय हुआ जिनमें अपने भीतरी वातावरण को बाहरी वातावरण से अलग रखने की क्षमता थी तथा ये टूटकर दूसरे प्रोटोबायोंटस को जन्म देने में भी सक्षम थे। इन्हीं प्रोटोबायोंटस ने आगे चलकर सरलतम कोशिकाओं का रूप लिया।

अमीनो अम्ल में जैसा कि नाम से ही विदित है, में कम से कम एक अमीनो मूलक तथा एक अम्लीय मूलक होता है। अमीनो अम्ल प्रोटीन के घटक हैं। इनके अम्लीय तथा अमीनो मूलक पेप्टाइड बंध बनाते हैं। इन पेप्टाइड बंधनों से बहुत सारे अमीनो अम्ल प्रोटीन का रूप लेते हैं। अमीनो अम्ल की मात्रा जैविक संगठनों में यूँ तो लगभग 150 होती है लेकिन प्रोटीन के निर्माण में केवल 20 अमीनो अम्ल ही भाग लेते हैं। ये सभी एल्फा-L अमीनो अम्ल होते हैं। कुछ प्रोटीन जैव उत्प्रेरक का कार्य करते हैं जिन्हें एन्जाइम कहते हैं। एंजाइम उपापचय प्रतिक्रियाओं में अहम भूमिका अदा करते हैं।

अमीनो अम्लों को निम्न दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है।

1. आवश्यक अमीनो अम्ल (Essential Amino Acids)
2. अनावश्यक अमीनो अम्ल (Non-Essential Amino Acids)

आवश्यक अमीनो अम्ल का संश्लेषण जन्तु शरीर नहीं कर सकता और ये हमें अपने भोजन से ही प्राप्त होते हैं। इसी वजह से इनको 'न्यूट्रिसनल एसेंसिअल' अमीनो अम्ल भी कहा जाता है। ये सभी अमीनो अम्ल जन्तु शरीर के उचित विकास हेतु अतिआवश्यक हैं। आवश्यक अमीनो अम्ल इस प्रकार हैं– फिनाइलएलानिन, आइसोल्यूसिन, ल्युसिन, मेथियोनिन, हिस्टीडीन, थ्रियोनिन, वैलिन, लाइसिन और ट्रिपटोफैन।

अनावश्यक अमीनो अम्लों का संश्लेषण हमारे शरीर में ही हो जाता है अतः इन्हें भोजन में लेने की आवश्यकता नहीं है। भोजन में नहीं लेने की वजह से इन्हें अनावश्यक अमीनो अम्ल कहा जाता है। हालांकि ये अमीनो अम्ल भी शरीर के उचित विकास हेतु आवश्यक, हैं। ये इस प्रकार हैं– ग्लाइसिन, एलानिन, प्रोलिन, ऐसपार्टिक एसिड, ग्लुटैमिक एसिड, आर्जिनिन, सिरिन, ऐस्पेरेजिन, ग्लुटैमिन, टायरोसिन तथा सिस्टिन।

कभी कभी तो केवल एक अमीनो अम्ल के बदन जाने मात्र से ही प्रोटीन का वास्तविक रूप ही बदल जाता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रोटीन की कार्य करने की क्षमता कम या बिल्कुल ही खत्म हो जाती है। अतः प्रोटीन में अमीनो अम्लों का सिर्फ पाया जाना ही नहीं अपितु उचित स्थान पर पाया जाना भी आवश्यक होता है। अमीनो अम्लों के अपने–अपने विशेष गुण होते हैं जो प्रोटीन फोल्डिंग (Protein Folding) में योगदान देते हैं। प्रोटीनों का उचित आकार उनकी कार्यक्षमता के लिये परम् आवश्यक होता है। इसकी सूचना हरएक जीव के डी0एन0ए0 से होती है। लाल रक्त कणिकाओं में पाया जाने वाला हीमोग्लोबिन प्रोटीन रक्त में आक्सीजन ले जाने का कार्य करता है। यह प्रोटीन चार पेप्टाइड श्रृंखलाओं का बना होता है। इस प्रोटीन की बीटा पेप्टाइड श्रृंखला के छठवें स्थान पर वैलिन अमीनो अम्ल पाया जाता है। यदि यह अमीनो अम्ल ग्लुमैटिक एसिड द्वारा हटा दिया जाये तो प्रोटीन का वास्तविक रूप तथा कार्यक्षमता बदल जाती है जिसके फलस्वरूप इस प्रोटीन की आक्सीजन परिवहन क्षमता बहुत कम हो जाती है। इस विकार को सिक्ल सेल अनिमिया (Sickle Cell Anemia) कहते हैं।

अमीनो अम्ल तंत्रिका तंत्र में संदेशवाहक (Neutotransmitters) का कार्य करते हैं। तंत्रिका तंत्र में ये संदेशवाहक की सूची में ग्लुमैटिक एसिड और ग्लाईसिन अमीनो अम्ल शामिल हैं। इनके अलावा अम्लों के व्युत्पन्न से पैदा हुये हस्टिैमिन–5, हाइड्राक्सिट्रिप्टैमिक, गामा–अमीनो ब्यूटिरिक एसिड आदि शामिल हैं।

प्रोटीन बनाने के अलावा अमीनो अम्ल कोशिका में अनेक अन्य भूमिकायें भी अदा करते हैं। अमीनो अम्लों की उपापचयता में गड़बड़ी कई प्रकार के जन्मजात रोगों का कारण बनती है। अमीनो अम्ल जनित कुछ जन्मजात रोग निम्नलिखित प्रकार से हैं:

1. फिनाइलकीटोनुयूरिआ (Phenylketonuria)

यह पी.के.यू. द्वारा दर्शाया गया है। यह आनुवांशिक रोग है तथा जन्म लेने वाले 12,500 शिशुओं में से एक में पाया जाता है। इस रोग में अमीनो अम्ल फिनाइलएलानिन, टाइरोसिन अमीनो अम्ल में नहीं बदल पाता है। इसका कारण फिनाइलएलानिन हाइड्रोक्सीलेज एंजाइम की कमी होती है। रोगी के रक्त में लगभग बीस गुना तक फिनाइलएलानिन अमीनो अम्ल बढ़ जाता है। रोगी द्वारा फिनाइलएलानिन अमीनो अम्ल की अधिकता वाले खाद्य पदार्थ के कम सेवन से भी इस विकार को काफी हद तक कम किया जा सकता है। समय से उचित उपचार नहीं किये जाने पर भयंकर मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं।

2. एल्कैप्टोनयूरिया (Alkaptonuria)

इस विकार में रोगी का मूत्र वायु के संपर्क में आते ही काला पड़ जाता है। इससे होमाजैंटिसिक एसिड अमीनो अम्ल ऐसिटोएसिटिक एसिड अमीनो अम्ल में रूपांतरित नहीं हो पाता है। इस विकार में होमॉजैंटिसेक आक्सीडेज एंजाइम की कमी हो जाती है, होमॉजैंटिसिक एसिड की शरीर में अधिकता हो जाती है जो मूत्र द्वारा मिलकर शरीर से बाहर निकलता है। 250,000 जन्मे बच्चों में से एक में पाया जाता है।

3. एलबिनिज्म (Albinism)

इसमें त्वचा का रंग (मैलेनिन) नहीं बन पाता है, इस रोग को सूरजमुखी या श्वेत कुष्ठ भी कहते हैं। मैलेनिन सूर्य की किरणों के दुष्प्रभाव से हमारी रक्षा करता है। मैलेनिन की कमी वाले रोगियों में कैंसर का ज्यादा खतरा पाया जाता है जो कि सूर्य की किरणो में अल्ट्रा वायलेट किरणों की वजह से होता है। मैलेनिन का संश्लेषण करने वाले एंजाइम टायरोसिनेज की कमी हो जाती है। रोगी की त्वचा तथा बाल सफेद हो जाते हैं। यह 33000 बच्चों में से एक में पाया जाता है।

4. मैपल सिरप मूत्र विकार (Maple Syrup Urine Disease)

यह 250,000 नवजात शिशुओं में से एक में पाया जाता है। यह आइसोल्यूसिन, ल्युसिन तथा वैलिन अमीनो अम्लों के उपापचय में त्रुटियों की वजह से हो है जिसके फलस्वरूप हिस्टीरिया का दौरा, मंद बुद्धि तथा रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। इसमें कीटो एसिड डिहाइड्रोजिनेल एंजाइम की कमी हो जाती है।

5. आर्जीनिमिआ और हाइपरअमोनिया (Arginemia and Hyperamonia)

यह विकार अमीनो अम्ल और यूरिया चक्र में आर्जीनेज एंजाइम की कमी के कारण उत्पन्न होता है। इस स्थिति में रक्त में अमोनिया तथा आर्जीनिन बढ़ जाते

.......शेष पृष्ठ 17 पर

केशमार्जक

✍ रामचन्द्र मिश्र

टी वी चैनलों पर केशमार्जक का प्रचार - युद्ध जिस गर्मजोशी के साथ अनवरत लड़ा जा रहा है उससे यही लगता हे कि शैम्पू मनुष्य की अनिवार्य जरूरत सी है। ज्ञातव्य है कि केशमार्जक रसायनों के जब कारखाने नहीं थे तब प्रकृति द्वारा केशमार्जित सुंदरियों के लंबे घने बालों में महाकवि भी बेबस उलझ जाया करते थे। किंतु अब नग्न प्रदर्शन के दौर में केशों को घोड़े के अयाल जैसे लहराते हुये दिखाया जाता है और फिर इसकी सफाई संवार के लिये नाना प्रकार के केशमार्जकों की कृत्रिम आवश्यकता पैदा की जाती है। इस लेख श्रृंखला के पहले दो लेखों द्वारा व्यक्तिगत सफाई हेतु साबुन, डिटर्जेन्ट, मंजाई पाउडर आदि पर उपभोक्ता मार्गदर्शन प्रस्तुत किया गया था। इस लेख के द्वारा हम आपको केशमार्जकों के विज्ञान की दुनिया में ले चल रहे हैं।

- सम्पादक

संश्लेषित केशमार्जक मोटे तौर पर डिटर्जेन्ट के घोल के रूप में होते हैं। इनमें उपस्थित पृष्ठीय सक्रिय रसायन 'एओएस' (एल्फा ओलीफीन सल्फोनेट), लॉरील सल्फेट और लॉरील ईथर सल्फेट हो सकते हैं। वैसे साबुन आधारित केशमार्जकों का भी निर्माण होता है जो बहुधा नारियल के तेल पर आधारित होते हैं। उपरोक्त सक्रिय पदार्थों का चुनाव और उसकी सांद्रता आवश्यक झाग पैदा करने तथा तेलयुक्त मैल साफ करने के दृष्टिकोण से किया जाता है। स्वाभाविक है कि इन डिटर्जेन्ट घोलों में कई योगज संतुलित मात्रा में मिलाये जाते हैं ताकि अंतिम उत्पाद में उपभोक्ता द्वारा अपेक्षित सभी गुण हों।

केशमार्जक में मिलाये जाने वाले योगज हैं– झागकारक रसायन, अनुकूलन यौगिक, स्थिरीकारी तथा परिरक्षक रसायन, श्यानता–सुधारक, आपार्यताकारक, प्रशामक, रंजक और सुगंध रसायन। केशमार्जक द्रव स्वच्छ पारदर्शक या गहरा अपारदर्शक खसखसी रचना के द्रव अथवा घोल के रूप में हो सकते हैं। पाउडर और बट्टी के रूप में भी केशमार्जक उपलब्ध हैं जिनमें अनुकूलक पदार्थ मिले होते हैं। दरअसल केशमार्जक उत्पाद शाकाहार और मांसाहार दोनों श्रेणी में उपलब्ध हैं। केशमार्जकों के कई अन्य प्रकार भी हैं जो सामान्य केश या तैलीय केश या शुष्क केश के लिये उपयुक्त बनाये जाते हैं।

केशमार्जक का मुख्य कार्य बालों को मैलरहित करना है, किंतु अब बहुप्रयोजनीय केशमार्जक उपलब्ध हैं जो निर्माताओं के दावे के अनुसार केश में कोमलता और चमक पैदा करते हैं या केश अनुकूलक की क्रिया करते हैं। कुछ विशिष्ट प्रकार के केशमार्जक रूसी हटाने के और बाल को पोषण प्रदान करने वाले भी बताये जाते हैं। अब औषधीय या हर्बल केशमार्जक भी प्रचारित किये जा रहे हैं। केशमार्जक की वैज्ञानिक सच्चाई क्या है, इनकी उपादेयता क्या है, प्रचार संबंधी दावे कितने सत्य हैं, इनके उपयोग के दूरगामी प्रभाव क्या हैं, सुरक्षा की स्थिति क्या है, इन सब प्रश्नों के हल के बगैर केशमार्जकों के उपयोग का नतीजा वही होगा जो अज्ञान के कारण हो सकता है।

केशमार्जक की क्रिया एवं सुरक्षा

केशमार्जक का सीधा संबंध सिर के बालों मात्र से ही नहीं बल्कि त्वचा से भी है। केशमार्जक प्रायः महिलाओं द्वारा इस्तेमाल में लाये जाते हैं। औसतन एक महिला के सिर पर 100,000 केश होते हैं। प्रत्येक केश एक मृत ऊतक है जिसकी सजीव जड़ सिर की त्वचा के नीचे होती है। इनमें से 80,000 से 90,000 केश सक्रिय

वृद्धि के दौर में होते हैं जिनमें प्रोटीन संश्लेषण होता रहता है। 1000–3000 केशों में कोशिकीय चयापचय उतार पर होता है और शेष केश निष्क्रिय या झड़ने की अवस्था में होते हैं। रोजाना लगभग 100 बालों का झड़ना कोई अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि साथ–साथ इनकी भरपाई होती रहती है। सिर की त्वचा पर वसामय ग्रंथियों का जाल बिछा होता है जिनसे एक चिपचिपा वसामय द्रव निकलता रहता हैं। इस द्रव में वसा अम्लों के अलावा कुछ हाइड्रोकार्बन तथा कोलेस्टेराल भी होता है। इस द्रव में पायसीकरण मुलम्मा चढ़ जाता है। सूक्ष्म जैविक संदूषण से त्वचा की रक्षा करना इस द्रव का एक प्रमुख कार्य है। द्रव की प्रकृति अम्लीय होती है और क्षारीयता का संपर्क प्रतिकूल असर डालता है और अगर ऐसा हुआ तो 7.5 पी–एच से सामान्य तक आने में एक घंटा समय लग जाता है।

यह स्वाभाविक है कि केशमार्जक के प्रयोग से वसामय द्रव की क्षमता का क्षय न हो अन्यथा निरंतर प्रभाव की अवस्था में अत्यधिक द्रव–निष्कासन की अवस्था पैदा हो सकती है, केश चिपचिपे हो सकते हैं, कालांतर द्रव निष्कासन में गिरावट आ सकती है और अंततः केश भंगुर और मलिन पड़ सकते हैं जिसके कारण केश झड़ने लगते हैं। खराब रूप से निर्मित कई केशमार्जकों के इस्तेमाल का यही नतीजा निकलने में आता है।

केशमार्जक के इस्तेमाल से केशों में जमा मैल और वसामय द्रव के अवशिष्ट पूर्णतः घुल जाने चाहिये और सिर की त्वचा भी मैलरहित होनी चाहिये। सुरक्षित केशमार्जक की पहचान यह है कि वसामय द्रव का अधिक बहाव न हो, त्वचा पर प्रदाह न हो, आँखों में क्षोभ या जलन न हो, इसके कोई भी घटक कैंसरजनक न हों, और केश की नैसर्गिक चमक बरकरार रहे।

केशमार्जक द्रव इतना गाढ़ा हो कि हथेली पर ठहर सके और सिर की त्वचा और केश में फैलाया जा सके। बालों और त्वचा की सफाई के बाद केशमार्जक पूर्णतः धुल जाना चाहिये और इससे लसलसाहट जैसा फूहड़पन नहीं पैदा होना चाहिये। इसकी पहचान यह है कि भीगे बालों में कंघी लगाना आसान हो और उलझे न हों, और साथ ही सूखने के बाद बाल मुड़कर घुँघराले न बनें। ऐसा तभी होगा जब बालों के स्नेहक कवच का पूरा सफाया न हो, अन्यथा बालों का वही नतीजा होगा जैसा संक्षारक डिटर्जेन्ट पाउडर का हाथों की त्वचा पर होता है।

केशमार्जक में उपस्थित अनुकूलक पदार्थ लेनोलिन, खनिज तेल, अंडे से प्राप्त वसा, सिलिकोन, रेजिन और कुछ अमोनियम यौगिक मैल की सफाई करने और बालों के नैसर्गिक वसा कवच को बचाने की परस्पर विरोधी क्रियाओं में संतुलन रखते हैं। ऐसा न होने पर बालों में स्थैतिक विद्युत बनने और बालों के बिखरने की अवस्था पैदा हो सकती है। दूसरी ओर अनुकूलक रसायन त्वचा पर या बाल पर जमने नहीं चाहिये अन्यथा बाल छरहरे और धूमिल पड़ सकते हैं।

विशिष्ट केशमार्जक

जिस तरह साबुन सभी साबुन होते हैं उसी प्रकार प्रक्षालक सभी प्रक्षालक और केशमार्जक सभी केशमार्जक होते हैं। फर्क बहुधा निर्माताओं द्वारा प्रचारित काल्पनिक गुणों के कारण हो सकता है। इस प्रकार आज बाजार में औषधीय शैम्पू, हर्बल शैम्पू, कंडीशनिंग शैम्पू आदि नामों के कई उत्पाद उपलब्ध हैं। यह उपभोक्ताओं पर निर्भर है कि केशमार्जकों के काल्पनिक गुणों के बहकावे में न जाकर इन उत्पादों को दिमाग लगा कर आँख खोलकर सही उत्पाद खरीदें।

ज्ञातव्य है कि मानव केश मृत ऊतकों से बने हैं तथा कथित 'केश पुष्टिकारक रसायनों' द्वारा केशों को सजीव बनाने के दावे काल्पनिक हैं। केश में अच्छी वृद्धि और चमक अच्छी खुराक और रोगमुक्त सेहत से पैदा होती है न कि किसी साबुन या केशमार्जक से। कुछ केशमार्जकों और केश तेलों में विटामिन ई डाल कर केशों को पोषण प्रदान करने के दावे किये जाते हैं। खुराक में विटामिन ई छिड़कता रहे तो कोई फायदा नहीं हो सकता क्योंकि बाल और त्वचा विटामिन ई का शोषण और चपापचय नहीं कर सकते।

हाँ, रूसी, जूँ, त्वचा संदूषण आदि दूर करने के दावे के साथ बेचे जाने वाले केशमार्जकों में कुछ विशिष्ट रसायन अवश्य डाले जाते हैं जिनके लाभ व हानि दोनों का लेखा–जोखा करना आवश्यक होगा। 'जीवाणुनाशी केशमार्जकों में एक रसायन ट्राईक्लोसन या रिसार्सिनाल या फिर सिर्फ फीनाल हो सकता है जो जूँ आदि का सफाया कर सकते हैं। ऐसे कुछ केशमार्जकों में

जाने–पहचाने कीटनाशी रसायन भी डाले जाते हैं, जैसे– संश्लेषित पाइरैथ्रायड या फेनोथ्रीन जो बहुधा घरेलू या कृषि संबंधी कीटनाशक कार्यों में इस्तेमाल में लाये जाते हैं। जूँ और रूसी हटाने के लिये केशमार्जकों में अब सेलेनियम डाईसल्फाइड भी डाला जाता है जो लंबे समय तक क्रिया की स्थिति में कैंसरजनक साबित हो सकता है। दूसरी ओर जिंक पैराथिआन को सेलेनियम डाइ आक्साइड की अपेक्षा सुरक्षित बताया जा रहा है किंतु सुरक्षा जाँच संबंधी कोई अधिकारिक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इसी तरह 'डाईआक्सेन' का उपयोग भी कैंसरजनक हो सकता है।

सारांशतः शैम्पू के प्रयोग द्वारा त्वचा या शरीर के अन्य रोगों का उपचार करने की बात असंगत है और अगर ऐसा न होता तो शैम्पू भी भेषज पदार्थ की श्रेणी में आता, न कि श्रृंगार प्रसाधन के रूप में इसके उपयोग हेतु डाक्टर की सलाह आवश्यक होती।

हर्बल शैम्पू के संबंध में भी अज्ञान की स्थिति चिंतनीय है। ऐसे उत्पादों में एक या दो प्राकृतिक प्रक्षालकों के साथ कई योगज और परिरक्षक रसायन होते हैं जिनमें अशुद्धता के रूप में फार्मल्डिहाइड और पारा के यौगिक हो सकते हैं। बहुधा प्राकृतिक पदार्थों के साथ ऐसे विषाक्त संश्लेषित पदार्थों की सहक्रिया गंभीर रूप से अनिष्टकर हो सकती है, सांस के रोग, त्वचा के असाध्य रोग आदि बुरे प्रतिफल हो सकते हैं। इन केशमार्जकों द्वारा लंबे, मुलायम और चमकीले बाल हासिल करने के दावे किये जाते हैं जो निराधार होते हैं। ऐसे हर्बल शैम्पू से अच्छा तो विश्वसनीय गुणवत्ता का शैम्पू ही भला है।

प्राचीन समय से केश सौंदर्य हेतु शिकाकाई, रीठा, मेंहदी, भृंग, मेथी, ब्राह्मी, आंवला आदि प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग सुरक्षा के साथ होता रहा है किंतु इनमें कोई संश्लेषित रसायन नहीं मिलाये जाते थे। शिकाकाई और रीठा की बट्टियां वस्तुतः ठोस केशमार्जक हैं। इनके कुछ संगत अनुकूलक पदार्थों के मेल से पूर्ण गुणसंपन्न शैम्पू तैयार होते हैं। इनके उपयोग से बालों के मैल की पूर्ण रूप से सफाई होने के साथ ही रूसी और जूं हटाने में भी मदद मिलती है और बाल मुलायम और चमकीले दिखते हैं। इनसे बालों का झड़ना भी रुकता है। आवश्यकता यह है कि प्राकृतिक पदार्थों पर आधारित जांचे परखे हुये केशमार्जक जो उपयोगी और सुरक्षित साबित हों, उनका अधिकाधिक उत्पादन हो और उनके निरापद होने के संबंध में अधिकारिक सूचना उपलब्ध कराई जाये।

फिलहाल बाजार में जो शैम्पू अतिरंजित दावे के साथ उपलब्ध हैं उनकी गुणवत्ता और सुरक्षा संबंधी जानकारी अनुपलब्ध है जिसे निर्माताओं से प्राप्त करना एक उपभोक्ता का अधिकार है। इसलिये केशमार्जक संबंधी उपभोक्ता मार्गदर्शन मात्र इन शब्दों में ही दिया जा सकता है :

साबुन, प्रक्षालक सभी, शैम्पू महके तेल
गुणता की पहचान कर, फिर रख इनसे मेल।

2/203 देवदर्शन, डोंगरीपाडा
घोडबन्दर मार्ग, पोस्ट–कवेसर
ठाणा–400601 (महाराष्ट्र)

पृष्ठ 10 का शेष ......

मान्यता प्रदान कर दी है। साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी बिल यह सुनिश्चत करता है कि दस्तावेजों को इलेक्ट्रानिक रूप में भी रखा जा सकता है। इसी प्रकार पहले सभी दस्तावेजों पर हस्तलिखित हस्ताक्षर अनिवार्य थे जबकि वर्तमान कानून के अंतर्गत डिजिटल हस्ताक्षर भी स्वीकृत होने लगे हैं तथा इस बिल में पहली बार 'साइबर क्राइम' की भी व्याख्या की गयी है जिसमें कम्प्यूटर प्रणाली की हैकिंग, वाइरसों का निर्माण एवं किसी कम्प्यूटर प्रणाली को जबरदस्ती हथियाने को अपराध की श्रेणी में शामिल किया गया है।

सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 पारित करके भारत ने विश्व को यह संदेश दे दिया है कि हम ऐसी डिजिटल शक्ति हैं जिसका लोहा सारी दुनिया को मानना होगा। इससे दुनिया को यह संदेश भी गया है कि भारतीय साइबर स्पेस पर विजय पाने को कटिबद्ध है।

ई–415, हुडको कालोनी,
कमला नेहरू नगर, जोधपुर

भोजन के लिये विकल्पी प्रोटीन स्रोत

✍ ज्योति भाई

अनाज, मछलियाँ और मांस सारी दुनिया में मनुष्य के परम्परागत भोजन स्रोत रहे हैं। लेकिन तेजी से बढ़ रही जनसंख्या को पेट भरने के लिये ये भोजन स्रोत पर्याप्त नहीं हैं इसलिये अभी से वैज्ञानिकजन परम्परागत भोजन स्रोत के विकल्पों की खोज में जुट गये हैं। आज भी विकासशील देशों में सन्तुलित भोजन का भारी अकाल है। विशेषतः प्रोटीन युक्त भोजन तो लोगों को नसीब नहीं हो पाता। आर्थिक स्थिति से सम्पन्न व्यक्ति किसी तरह से प्रोटीन युक्त खाद्य (मांस, मछली, अंडा) जुटा भी लेते हैं लेकिन गरीब लोगों को ऐसा खाद्य उपलब्ध नहीं हो पाता।

प्रोटीन के सीमित स्रोतों ने वैज्ञानिकों को कुछ नये क्षेत्रों में प्रोटीन की खोज के लिये प्रेरित किया। यह क्षेत्र है कीड़े–मकोड़ों का। हमारे देश में आदिम जनजातियों में यद्यपि आज भी कीड़े–मकोड़े शौक से खाये जाते हैं लेकिन अभी इनका प्रयोग समाज के अन्य वर्गों में मान्य नहीं है। एक अध्ययन से पता चला है कि कीड़ों–मकोड़ों में 30 प्रतिशत तक प्रोटीन पाया जाता है। जबकि मांस, मछली, अंडे तथा मुर्गा में प्रोटीन की मात्रा क्रमशः 21.5, 18.9, 6,4 तथा 20.2 प्रतिशत होती है।

चूहे बहुत बदनाम प्राणी हैं। ये आदमी के हिस्से का बहुत सारा अनाज तो चट ही कर जाते हैं, साथ–साथ प्लेग जैसी महामारी भी फैलाते हैं। यूँ तो चूहों से दुनिया के बहुत सारे देश परेशान हैं लेकिन चीन उनमें सबसे आगे रहा है। चीन में चूहों ने पिछले दो सालों में तीन अरब किलोग्राम अनाज और लाखों किलोग्राम रुई और गन्ना खाया। चूहों के कारण किसानों को अपनी पैदावार में पाँच से दस प्रतिशत का नुकसान हो रहा है। चूहों से मुक्ति पाने के लिये चीन में जो बहुत सारे प्रयास किये गये, उनमें चूहों को भोजन के रूप में अपनाने की सलाह भी एक है। चीनियों को यह बताया जा रहा है कि चूहे खाना फायदेमंद है क्योंकि इससे प्रोटीन की कमी पूरी होगी। यही नहीं, चूहे खाने से मोटापे रोग पर भी काबू पाया जा सकता है। चीन के अनेक रेस्तराओं में अब चूहों का मांस परोसा जाने लगा है। चूहों के मांस की प्रोसेसिंग के लिये भी अनेक इकाइयाँ स्थापित की जा रही हैं।

भारत के अनेक आदिवासी इलाको में चूहे और साँप के मांस खाये जाते हैं। चूहों की अपेक्षा सांप का मांस खाना ज्यादा अच्छा माना जाता है। सांप खाने वाले साँप पकड़ने के बाद उसका सिर अलग कर देते हैं, फिर शेष भाग खा जाते हैं। इस परम्परा को चीन ने और आगे विकसित किया है। अब वहाँ साँप का मांस प्रतिष्ठित होता जा रहा है। चीन के दक्षिणी प्रांतों में साँप का मांस खाना लोकप्रिय हो रहा है। 'हुनाना' प्रांत में तो सांप के मांस की अनेक दुकानें भी हैं।

पृथ्वी पर जन्तुओं की कुल संख्या का सबसे बड़ा भाग कीड़ों–मकोड़ों का है। एक अनुमान के अनुसार इनकी संख्या करीब 80 प्रतिशत है। कीड़ों की लगभग 10 लाख प्रजातियाँ अब तक खोजी जा चुकी हैं। इनकी इस विशाल संख्या को देखकर ही मानव ने इन्हें अपने भोजन में सम्मिलित करने की योजना बनाई है। कीड़ों को भोजन के रूप में उपयोग करने के पीछे सबसे सशक्त तर्क यह है कि इनकी जनन क्षमता आश्चर्यजनक रूप से बहुत तेज है। सामान्य अवस्था में कीड़ों के एक जोड़े से एक वर्ष में 5–6 करोड़ कीट पैदा हो सकते हैं।

आज भी संसार के अनेक भागों में कीड़े खाये जाते हैं। लहलहाते खेत–खलिहानों व फसलों को कुछ ही समय में चट कर देने वाली टिड्डियों को कौन नहीं जानता है। सिंध, अरब तथा बलूचिस्तान के मरूस्थली क्षेत्रों में टिड्डियों को अधिक मात्रा में इकट्ठा करके उन्हें नमक, मसाले के साथ उबाला जाता है। उबालने के पश्चात् उन्हें सुखाकर सुरक्षित रखा जाता है। प्रचुर मात्रा में प्रोटीन होने के कारण इन सुखाई गई टिड्डियों को वहाँ के निवासी बड़े शौक से खाते हैं।

चीनी लोग 'तिलचट्टे' और 'सिल्कवर्म' को,

जावा निवासी 'दीमक' तथा एक प्रकार का कीट 'डिमो' (लार्वों) को, इटली के किसान 'काकचेफरों' को और अनेक यूरोपवासी 'कोचीनियल' कीटों को खाते हैं। अफ्रीका, एशिया, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में भी अनेक जातियाँ ऐसी हैं जो कीटों को खाती हैं। इन भागों में कीटों को सब्जियों, फलों तथा अन्य खाद्यों के रूप में खाया जाता है। कहीं–कहीं तो इनका प्रचलन इतना है कि इन्हें मुख्य भोजन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

दीमकों में वसा, प्रोटीन, फास्फेट तथा पोटाश काफी मात्रा में पाया जाता है। एक विश्लेषण के अनुसार सुखाई गयी दीमक में 44.4 प्रतिशत वसा तथा 36 प्रतिशत प्रोटीन होता है। भारत, अफ्रीका तथा थाईलैण्ड में आज भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो दीमकों को खाती हैं। वे लोग इन्हें भून कर अथवा चर्बी में तलकर रख लेते हैं और बड़े चाव से खाते हैं। अफ्रीका के कुछ भागों में दीमकों से बने खाद्य इतने लोकप्रिय हैं कि वे बाजार में भी बिकते हैं।

लाल चींटी जो लगभग सारे भारत में पायी जाती है यह भी एक अच्छा खाद्य पदार्थ है। थाईलैण्ड, मलाया व म्यांमार आदि देशों में भी यह सर्वत्र पायी जाती है। मध्य आकार की इस चींटी का रंग लाल होता है। यह पेड़ों पर बांबी बनाकर रहती है। म्यांमार तथा थाईलैण्ड में इन लाल चींटियों को स्वादिष्ट खाद्य समझा जाता है। यहाँ के निवासी इन चींटियों से बने खाद्य के इतने प्रेमी हैं कि इन्हें पीसकर तथा कढ़ी में मसाले की भांति भी इसका प्रयोग करते हैं।

भारत तथा चीन के कुछ भागों में, जंगली रेशमी कीट के प्यूपे सुस्वादु समझे जाते हैं। इन्हें रेशम निकालने के बाद गर्म पानी में पकाकर अथवा आग पर भूनकर खाया जाता है। भारत में यह कीट साधारण तौर पर आसाम, बंगाल, कश्मीर तथा दूसरे राज्यों में पाया जाता है। रेशम के कीटों पर अध्ययन करने से पता चलता है कि इनमें आठ एमीनो अम्ल पाये जाते हैं, जिनमें से चार की मनुष्य को जरूरत होती है। इसके अलावा अनेक भारतीय आदिम जातियाँ मधुमक्खी के छत्तों में स्थित मधुलार्वों तथा प्यूपों को खाती है। अपने देश के अनेक हिस्सों में फुदक्कों को खाने की प्रथा काफी पहले से है। भारत के अलावा थाईलैण्ड तथा अफ्रीका में भी इनको भूनकर खाया जाता है। दरअसल इनमें काफी मात्रा में प्रोटीन तथा अन्य पोषक तत्व होते हैं।

आदिवासी और पिछड़े समाज में, कीड़े–मकोड़ों को पकड़ने और खाने का तरीका बहुत पुराना रहा है। इधर जब से सभ्य समाज का ध्यान भी इस ओर गया है, तब से कीड़े–मकोड़ों को पकड़ने की नई विधियाँ खोजी जा रही हैं। अनेक कीड़े ऐसे होते है जिनके डंक होते हैं। इसी तरह कुछ ऐसे भी हैं, जो जहरीले स्राव निकालते हैं। इन चीजों से बचने के तरीके खोजे जा रहे हैं। यही नहीं, किन–किन कीड़ों से, कैसे और कौन से लजीज खाद्य विकसित किये जा सकते हैं। इस पर भी लगातार प्रयोग हो रहा है। अब वह दिन दूर नहीं जब कीड़े–मकोड़े से बने डिब्बाबन्द खाद्य पदार्थ खाने की मेज पर होंगे, जो स्वादिष्ट होने के साथ–साथ स्वास्थ्यवर्द्धक भी होंगे।

ग्रामोदय प्रकाशन, घूरपुर
इलाहाबाद

पृष्ठ 12 का शेष .....

हैं और मंद बुद्धि विकारों का कारक बनते हैं।

6. होमोसिस्टीनयुरिआ (Homacystinuria)

इस विकार में सिस्टाथिऑन बीटा–सिंथेज एंजाइम की कमी के कारण, मिथयोनिन, अमीनो अम्ल की उपापचय गड़बड़ा जाता है जिसके लक्षण आँखों के गम्भीर दोष, हड्डियों की विकृति तथा कमजोरी आदि हैं। यह 200,000 नवजात शिशुओं में से एक में पाया जाता है।

7. हिस्टीडीनेमिया (Histidinemia)

यह विकार हिस्टीडीन अमीनो अम्ल की उपापचय अभिक्रिया में त्रुटि उत्पन्न हो जाने के कारण होता है जिसमें हिस्टोडेज एंजाइम की कमी हो जाती है। इस रोग के लक्षण वाणी दोष तथा कुछ रोगियों में मानसिक विकार आदि हैं।

यद्यपि उपरोक्त अमीनो अम्ल जनित रोग आनुवांशिक खराबी की वजह से होते हैं, फिर भी अगर इनसे होने वाले रोगों का पता लगाकर, सम्बन्धित अमीनो अम्लों से युक्त खाद्य पदार्थो की उचित मात्रा लेने से बीमारियों से काफी हद तक छुटकारा पाया जा सकता है।

रक्षा अनुसंधान प्रयोगशाला
पिथौरागढ़ (उत्तरांचल)

कच्छीय वन

शिवेन्द्र कुमार पाण्डे

कच्छीय वनस्पतियाँ, समुद्र तटों पर नदियों के मुहानों व उनके ज्वार से प्रभावित अन्तरस्थलीय क्षेत्रों में पायी जाती हैं। ये खारे पानी को सहन कर सकती हैं और समुद्री पानी में आंशिक रूप से जलप्लावित होने पर भी फलने फूलने की क्षमता रखती हैं। इन्हें अंग्रेजी में Mangrove (मैन्ग्रोव) कहा जाता है।

समुद्रतटीय क्षेत्रों को विघटनकारी समुद्री लहरों की महाशक्ति से लगातार जूझना पड़ता है जिसमें सुरक्षा व संरक्षण के लिये प्रकृति ने नई प्रकार के प्रतिरोधक स्वतः स्थापित किये हैं। उष्णकटिबंधीय समुद्र कई प्रकार की कोरल–खाड़ियों से भरे पड़े हैं जो सबसे पहले इन लहरों के प्रभाव को तटीय क्षेत्रों में कम करते हैं। इसके पश्चात् बालू–घाट, कीचड़ व कच्छीय वनस्पति, लहरों का प्रभाव झेलते हुये उसकी गति को कम कर अपने नियंत्रण में ले लेते हैं। इन्हें समुद्र क्षेत्रों की सुरक्षा का एक प्राकृतिक प्रतिरक्षा कवच कहा जा सकता है।

उद्‌भव स्थान– विश्व की उष्णकटिबंधीय समुद्र तटीय रेखा का 60 से 70 प्रतिशत भाग कच्छीय वनस्पतियों से आच्छादित है। पर इन समुद्रतटों में उगने वाली सभी वनस्पतियों को कच्छीय नहीं मानते हैं क्योंकि यह शब्दावली कुछ विशेष प्रकार के पेड़–पौधों के समूहों के लिये उपयोग की जाती है जिनका भौगोलिक परिवेश निम्नलिखित विशिष्टता लिये हो–

1. **उष्णकटिबंधीय तापमान** – सबसे उत्तम विकास जहां वर्ष के सबसे ठंडे महीने में औसतन तापमान 20^0 से ऊपर और मौसमी तापमान परिसर 5^0 से ज्यादा नहीं।

2. **महीन बलुआ मिट्‌टी** – उच्च कोटि का विकास दलदली तटों, महीन गाद (सिल्ट), चिकनी मिट्‌टी व जैव तत्वों से भरपूर कीचड़ वाले स्थानों में जहां पौधे पनप सकते हैं।

3. **सुरक्षित समुद्री तट** – नदी मुहानों के आड़ लिये सुरक्षित तट जहां लहरों व ज्वार का वेग कम होता है, अन्यथा शक्तिशाली लहरें व ज्वार पौधों को उखाड़ मिट्‌टी के साथ बहा ले जाते हैं।

4. **वृहत ज्वारीय परिसर** – बहुत चौड़े व सपाट ज्वारीय तटों में उनका विकास सबसे अच्छा होता है, जैसे सुंदरवन क्षेत्र में।

5. **खारा पानी** – इनकी उत्पत्ति ज्वारीय अधिकृत क्षेत्रों तक सीमित है, जहाँ पानी खारा होता हैं जबकि साफ पानी में उगने वाले पौधे खारे पानी में नहीं पनप सकते।

खारा होने के अलावा समुद्री पानी में नाइट्रोजन की बहुत कमी होती है, जो जीवन विकास और जीवित ऊतकों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस कमी को नदियों द्वारा समुद्र तटों तक बहा कर लाये पानी में मृत वनस्पति व जीव पदार्थ पूरा करते हैं। इस कारण ज्वार नदमुख क्षेत्रों का पानी बहुत उपजाऊ होता है जिसके साथ तालमेल बैठा कर प्रकृति ने स्थानीय पर्यावरण के अनुकूल कच्छीय वनस्पतियों को जन्म दिया है। मुख्य भूमि से दूर, खुले समुद्र का पानी अनुपजाऊ होता है और केवल 'कोरल लीफ' जैसे स्वपोषण तंत्रों को ही आश्रय देने की क्षमता रखता है।

बरसात के समय नदियां अपने प्रवाह क्षेत्र से काफी मात्रा में मिट्‌टी बहा कर समुद्र तटों तक लाती हैं, जो नदी मुखों व समुद्र तटों के संगम स्थल पर फैल कर जमा होने लगता है और यदि वहाँ का स्थलाकृतिक परिवेश उल्लिखित पाँच विशिष्टतायें लिये हुये है, तब वहाँ छोटे–बड़े डेल्टाओं का जन्म होता है जिनमें कच्छीय वनस्पतियाँ उगती हैं।

संरचनात्मक विशिष्टतायें

कच्छीय वनस्पतियों में समुद्र से जमीन का उद्धार करने की अद्भुत क्षमता होती है। पर यह कहना कठिन है कि इनके कारण मलवा जमा होना आरंभ हुआ या मलवे के कारण इन वनस्पतियों ने जड़ पकड़ना व विकसित होना आरंभ किया। प्रश्न कुछ ऐसा है कि 'मुर्गी पहले पैदा हुई या अण्डा'।

लेकिन एक बात अवश्य है कि उनकी जड़ संरचना मलवे के जमने में सहायक होती है और एक बार जब यह वनस्पति किसी स्थान पर विकसित हो जाती है तब नदियों द्वारा लाया गया मलवा वहाँ लगातार जमा होने लगता है। फलस्वरूप ऐसे स्थानों पर जमीन ऊपर उठने की प्रक्रिया चालू होने लगती है और तब समुद्र तट का वह भाग जो छिछला या पानी के भीतर ज्वारीय फ्लैट था, ठोस रूप धारण करने लगता है जिसकी परिणति से एक अंतराल पश्चात् डेल्टाओं का उद्भव होता है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है, कलकत्ता महानगरी। कुछ वर्ष पूर्व 'भूमिगत रेल सेवा' निर्माण के लिये खुदाई करने समय कलकत्ता में कई स्थानों पर पीट (कोयला निर्माण श्रृंखला का प्रथम चरण) की मोटी परतें पाई गयीं, जिनमें कई कच्छीय वनस्पतियों के अवशेष देखने में आये। इनकी भूमिगत उपस्थिति स्पष्ट संकेत प्रदान करती है कि दूर अतीत में, कलकत्ता महानगरी क्षेत्र, वर्तमान सुंदरवन का अंग था, जो विश्वभर में सबसे बड़ा कच्छीय वन प्रदेश है।

प्रजनन की परिस्थितिकी के साथ इन्होंने अद्भुत अनुकूलन क्षमता दर्शायी है। ये वनस्पतियाँ कम ऊँचाई (9 मीटर तक) के घने जंगलों के रूप में पायी जाती हैं। इनकी जड़ और बीज उत्पादन व्यवस्था अनोखी होती है। मुलायम व असंगठित क्षेत्रों से जुड़े रहने के कारण इन्होंने भौतिकीय अनुकूलन विधि को अपनाया है।

इनकी जड़ संरचना को निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है, जिसमें मुख्य हैं –

1. तने के ऊपरी भाग से बहुत सारी जड़ें निकल कर नीचे की ओर झुकती व मुख्य तने से दूर फैलती हुई मलवे तक पहुँचकर उसे जकड़ लेती हैं।

2. जड़ समस्तर रूप में फैलती है और उनमें से कई जड़ें ऊपर नीचे की ओर एक 'मुड़े घुटने' के समान निकलती हैं।

3. जड़ समस्त रूप में ही फैलती है, पर अन्य जड़ें ऊपर की ओर निकलती हैं।

उल्लिखित तीनों स्थितियों में नई जड़ों का कुछ भाग मलवे/दलदल की सतह के बाहर होता है, जिनमें उपस्थित छिद्रों के माध्यम से ये पेड़ आक्सीजन ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइआक्साइड का बहिष्कार करते है। जैसे–जैसे जमीन ऊपर उठती है, इन नई जड़ों से नये पेड़ों के तने उभरते हैं जिनके माध्यम से इनकी प्रजनन क्रिया गतिमान रहती है और पुरानी जड़ें धीरे–धीरे मलवे के भीतर समाती रहती हैं।

दलदलीय व असंगठित पर्यावरण परिवेश के अंतर्गत बीज प्रजनन के लिये भी इन पेड़ों ने विशेष अनुकूलन विधि अपनायी है। मुख्य पेड़ से अलग होकर दलदल में गिरने के पूर्व ही इनके बीज अंकुरित हो जाते हैं (जिस प्रकार एक पौधे की कलम स्थानान्तरण के लिये तैयार हो), ताकि गिरने के साथ–साथ अपनी जड़ जमा सके। कई बार तो, बीज अभी मुख्य पेड़ से अलग नही हुआ होता है, लेकिन बीज से अंकुरित प्रारंभिक जड़ें नीचे की ओर बढ़ती हुई दलदल में जड़ पकड़ लेती हैं और बीज बाद में पेड़ से अलग होता है। इसके अलावा इनका बीज गूदे से भरा, एक साहुल (प्लम बाब) के समान काफी भारी होता है ताकि दलदल में गिरने पर, उसके भीतर गहराई तक घुस सके। ये बीज पानी द्वारा बहा ले जाने पर भी कई दिनों तक जीवित रह सकते हैं। इन्हें उद्भिद बीजधारी (विविपरस) कहा जाता है।

ये वनस्पतियाँ 'नमक सहनशीलता गुणों' के आधार पर भिन्न–भिन्न स्थानों पर स्थापित होती हैं और इसका नियंत्रण समुद्री ज्वार द्वारा होता है। समुद्रतटीय रेखा के नजदीक ज्वार का प्रभाव सबसे अधिक होता है और अन्तरस्थलीय भागों की ओर आगे बढ़ने पर पानी/दलदल में नमक की मात्रा धीरे–धीरे कम होती रहती है। इसलिये सबसे ज्यादा नमक सहनशील पेड़ समुद्रतटीय रेखा के साथ–साथ पाये जाते हैं, फिर

अन्तरस्थलीय क्षेत्र की ओर बढ़ने पर उससे कुछ कम नमक सहनशीलता वाले पेड़ क्रमशः अलग–अलग समूहों में स्थापित होते हैं। अन्त में जमीन ऊपर उठने पर जब मीठे पानी का क्षेत्र आ पहुँचता है, तब कच्छीय वनस्पति क्षेत्र समाप्त हो जाता है।

भारत में कच्छीय वनस्पतियाँ- कहाँ और क्यों ?

भारत तीन दिशाओं में समुद्र से घिरा हुआ है। भारत की समुद्रतटीय रेखा, पश्चिम में पाकिस्तान की सीमा से गुजरात, कोनकन, मलाबार घाट होते हुये कन्याकुमारी में ऊपर की ओर घूमती हुई कोरमण्डल और बंगाल के सुंदरवन पार करती हुई बंगलादेश की सीमा से मिलने तक लगभग 5500 किलोमीटर लम्बी है। इसके किनारे–किनारे स्थित एक पट्टीनुमा संकीर्ण भूभाग एक अद्वितीय स्थलाकृतिक विविधता से परिपूर्ण है, जो भारतीय उपमहाद्धीप को एक अपरिष्कृत रत्नों के हार के समान शोभायमान करता प्रतीत होता है। इस संकरे क्षेत्र में जीवन के अनेक रूप दिखाई देते हैं, जिनमें से एक है 'कच्छीय वनस्पति'। इसके अलावा अण्डमान–निकोबार द्वीपसमूहों में भी कच्छीय वनस्पति पाई जाती है।

भारत में कच्छीय वनों का आच्छादन
(फारेस्ट सर्वे आफ इंडिया, देहरादून-1999)

प्रदेश	वर्ग किलोमीटर	प्रतिशत
पश्चिम बंगाल	2125	43.63
उड़ीसा	215	4.41
आंध्र प्रदेश	397	8.15
तमिलनाडु	21	0.43
कर्नाटक	3	0.06
महाराष्ट्र	108	2.22
गोवा	5	0.10
गुजरात	1031	21.17
अण्डमान निकोबार	966	19.83
कुल जोड़	4871	100.00

भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों में कच्छीय वनस्पति के विस्तार में इतनी विभिन्नता क्यों है– इसे समझने के लिये हमें भारत के नदी–तंत्र भूविज्ञान व उनके प्रवाह क्षेत्र के स्थलाकृतिक परिवेश को समझना होगा।

भारतीय नदी तंत्र

भारत में नदियों के उद्‌गम के दो स्थल हैं– हिमालय पर्वत श्रृंखलायें और डेकन पेनिनसुला। गंगा, ब्रह्मपुत्र और उनकी सहायक नदियों (कुछ एक को छोड़) का उद्‌गम हिमालय पर्वतों से होता है। और महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती व अन्य नदियाँ डेकन पेनिनसुला से निकलती हैं। पर ये सभी नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं और अपने जल का अवतरण पूर्वी तट पर बंगाल की खाड़ी में करती हैं। यद्यपि गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि का उद्‌गमस्थल पश्चिमी घाट है, जो अरब सागर के बहुत पास है, फिर भी ये नदियाँ पूर्व की ओर ही बहती हैं। केवल अपवादस्वरूप नर्मदा, ताप्ती और कुछ अन्य छोटी नदियाँ पश्चिमी तट की ओर बहती हुई अरब सागर से जा मिलती हैं। पर ऐसा क्यों ?

भूवैज्ञानिक दृष्टि से डेकन पेनिनसुला की चट्टानें अचल व आदिकाल (उम्र 350 से 300 करोड़ वर्ष) की हैं। आरंभ के करोड़ों वर्ष तक 'वर्तमान डेकन पेनिन्सुला' एक बहुत बृहत महा–भूखण्ड का हिस्सा था, जिसके मध्य में स्थित 'पश्चिमी घाट' आदियुगीन जल–विभाजक की भूमिका निभा रहे थे। लगभग 3/4 करोड़ वर्ष पूर्व हिमालय पर्वतों के उद्‌भव के समय की भौगोलिक हलचल के समय इस बृहत महा–भूखण्ड का उत्तरी भाग दबाव के आने पर, नीचे की ओर झुकता चला गया जिसके फलस्वरूप विंध्याचल पहाड़ियों में समानान्तर दिशा में दो बड़े भ्रंशों (फाल्ट्स) का उद्‌भव हुआ और इस महा–भूखण्ड का आधा पश्चिमी भाग टूट कर अरब सागर में विलीन हो गया व बचे हुये पूर्वी भाग (वर्तमान डेकन पेनिनसुला) की ढाल कुछ टेढ़ी हो कर पूर्व दिशा की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में जा समाई। नर्मदा और ताप्ती ने उल्लिखित नवनिर्मित गहरे और मृदा भरे भ्रंशों का अनअधिकार ग्रहण कर अपना मार्ग स्थापित किया और पश्चिमी दिशा की ओर बहना आरंभ किया। इन दोनों नदियों ने अपने यात्रा मार्ग की घाटियाँ भूक्षरण द्वारा स्वयं निर्माण नहीं किया है।

हिमालय पर्वत श्रृंखलायें अभी अपने यौवन काल में हैं, जहाँ पर्वत निर्माण कार्य वर्तमान में भी सक्रिय है और इनकी ऊंचाई में लगातार वृद्धि हो रही है। फलस्वरूप वहां ढाल परिवर्तन, ग्लेसियरों के खिसकने, भूस्खलन, मृदा कटाव, आदि जैसी गतिविधियाँ लगातार क्रियाशील रहती हैं। यहाँ से निकलने वाली प्रमुख नदियों (गंगा और ब्रह्मपुत्र) का नदी–तंत्र व आवाह क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इन नदियों को दो स्रोतों– बर्फ गलने व मानसून वर्षा से जल प्राप्त होता है। पहाडी इलाकों में ढाल तीव्र होने के कारण ये काफी वेग से बहती हैं और बरसात के मौसम में उल्लिखित गतिविधियाँ बहुत बढ़ जाती हैं। इसका एक ज्वलंत उदाहरण है मध्य अगस्त 1998 में धारचुला व पिथौरागढ़ क्षेत्र के माल्पा गाँव में भूस्खलन आदि की घटनायें हिमालय वन में आये दिन घटती रहती हैं। इसलिये बरसात के दिनों में ये नदियाँ अपने साथ भारी मात्रा में मलवा लेकर मैदानी इलाके तक पहुंचती हैं। इसके पश्चात् एक लम्बा सफर अल्युविअल मृदा भरे मैदानी क्षेत्रों में तय कर ये नदियाँ बंगाल की खाड़ी में अपना जल अवतरण करती हैं। मैदानी इलाके में सफर करते समय इनका वेग मन्द होने लगता है और इनमें प्रवाहित मलवा वहाँ बैठने लगता है जिसके कारण इन क्षेत्रों की उर्वरता में वृद्धि होती है। पर इस मलवे का एक बड़ा भाग समुद्र तट पर पहुँच जाता है। बंगाल की खाड़ी के समीप पहुँचने पर इन नदियों का वेग बहुत कम हो जाता है और नदीमुखों के रास्ते ज्वार का पानी अन्दर घुस कर इनके द्वारा लाये गये मीठे पानी से रुक–रुक कर मिश्रिम होता रहता है। इस आगे–पीछे की ठेला–ठेल के कारण इन नदियों का मलवा नदीमुखों के आसपास के क्षेत्रों में फैलकर जमने लगता है। फलस्वरूप इस क्षेत्र में समृद्ध कच्छीय द्वीपीय व आड़ लिये हुये जंगलों ने जन्म लिया है जो सुन्दरवन नाम से प्रख्यात विश्व का सबसे बड़ा कच्छीय वनस्पति क्षेत्र (51,800 वर्ग किलोमीटर) है। इसका अधिकतर भाग बंगलादेश व एक छोटा हिस्सा (4266 किलोमीटर) भारत के प्रान्त पश्चिम बंगाल में अवस्थित है।

दूसरी ओर महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती आदि नदियाँ, अपने उद्गमस्थल (डेकन पेनिनसुला) के अंतर्गत ही ज्यादा यात्रा करने के पश्चात् थोड़ा बहुत सफर मैदानी इलाके में तय कर समुद्र से मिलती हैं। अन्य कई छोटी नदियाँ अपने उद्गमस्थल, डेकन पेनिनसुला के अंतर्गत ही पूर्ण यात्रा कर अरब सागर में समा जाती हैं। इन कारण, इन नदियों के मलवे की मात्रा में भी कमी होती है। जो इन नदियों के आवाह क्षेत्र के आकार व उसके भीतर वर्षा और यात्रा पथ की भूशिलाओं के वितरण व उम्र पर आधारित है। भिन्न–भिन्न प्रकार की अवस्थाओं में यात्रा करने के पश्चात् समुद्र से मिलने के फलस्वरूप इन नदियों के नदीमुख का परिवेश भी अलग–अलग रूप धारण करता है, जिसका निर्धारण समुद्रतट के समीप इन नदियों की जल प्रवाह गति, मलवे की मात्रा व स्थलाकृतिक भू–रचना और ज्वारीय वेग के ऊपर निर्भर करता है।

महानदी का उद्गम, मध्य प्रदेष के रायपुर पठारों से होता है जब कि गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, आदि नदियां पश्चिम घाट से निकलती हैं। पश्चिमी घाटों की पूर्वी ढलान मन्द होने के साथ–साथ मैसूर–प्लेटो और तमिलनाडु के भीतरी मैदानी भागों तक फैली हुई है। इनको दक्षिण–पश्चिम मानसून की तीव्रता सहन करनी पड़ती है और इस क्षेत्र में प्रतिवर्ष 1500 मिलीमीटर से ज्यादा वर्षा होती है। डेकन पेनिनसुला की चट्टानें आदिकाल की 'हार्ड राक्स' हैं और इस क्षेत्र के नदी–तंत्र अपने निर्माण के अंतिम चरण पर पहुंच चुके हैं। इसलिये इनकी घाटियाँ चौड़ी व छिछली होने के साथ–साथ समतल व मामूली ढाल लिये स्थलाकृतिक परिवेश में यात्रा करते दिखाई देती हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि वे अपनी निर्माण परिकाष्ठा प्राप्त कर रही हैं। भारी वर्षा के बावजूद इनकी घाटियों में मृदा कटाव, भूस्खलन आदि हिमालय क्षेत्र की अपेक्षा बहुत कम होता है। इनके नदीमुखों के आसपास भी गंगा–ब्रह्मपुत्र के नदीमुख समान ही प्रक्रिया देखने में आती है, पर इनमें मलवे की कमी और स्थलाकृतिक परिवेश कम अनुकूल होने के कारण इन किनारों में कच्छीय वनस्पति जंगल, सुंदरवन जैसा विशाल संरक्षण करने में असमर्थ रहे हैं। लेकिन

पूर्वी तट के किनारे–किनारे नदियों द्वारा लाये गये मलवे की खूब चौड़ी पट्टियाँ देखने में आती हैं और महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदीमुखों में डेल्टाओं का उद्भव हुआ है, जहाँ कच्छीय वनस्पति जंगल पाये जाते हैं।

डेकन पेनिनसुला से निकल कर पश्चिम दिशा में बहने वाली दो प्रमुख नदिया, नर्मदा और ताप्ती, मध्य प्रदेश के अमरकन्टक और सतपुड़ा प्लेटो से क्रमानुसार निकलती हैं। पर गुजरात को छोड़कर पश्चिमी तट में नदियां अपने साथ बहुत कम मलवा लाती हैं और इनके नदीमुखों में डेल्टाओं का जन्म नहीं हुआ है। नर्मदा और ताप्ती में भी नहीं। इसका मुख्य कारण है कि इन्हें दक्षिण पश्चिम मानसून और समुद्री ज्वार के प्रचण्ड वेग से जूझना पड़ता है। इसके अलावा पश्चिमी घाटों की पश्चिमी ढाल काफी तीव्र है, इसलिये इस क्षेत्र में कई नदियों के नदीमुख का पानी समुद्रतट के समीप एक चिमनी के समान खुलकर समुद्री लहरों से टकराता है। इस प्रकार मिश्रित यह पानी, समुद्रतट के आसपास के क्षेत्रों में फैला रहता है और जहाँ कहीं भी स्थलाकृतिक परिवेश उसे धारण करने योग्य हो, यह मलवा वहाँ जमने लगता है। अनुकूल परिस्थिति में इन स्थानो पर कच्छीय वनस्पति जन्म लेती है। गुजरात के तटों में खारी मृदा से युक्त दलदलों की प्रधानता देखने में आती है, जिनमें अप्रवाही नदीमुख कच्छीय वनस्पति भी पायी जाती है। इसके अलावा कच्छ की खाड़ी के भीतर कुछ द्वीपों में समुद्र तटीय प्रकार के आड़ लिये हुये कच्छीय वनस्पति जंगल पाये जाते हैं।

भूवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर समझ में आता है कि वर्तमान पश्चिम बंगाल व बंगलादेश के निचले दक्षिणी भूभाग का उद्भव लगभग 5000 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ। उस समय बिहार की राजमहल पहाड़ियों से लेकर बंगलादेश के सिलहट क्षेत्र तक का समूचा इलाका, ऊँची नीची भूमि से जुड़ा एक समुद्रीताल (लगून) था। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा भारी मात्रा में लाये मलवे के वहाँ जमा होते रहने के कारण डेल्टाओं का निर्माण होना आरंभ हुआ और उन्होंने शनैः शनैः कच्छीय वनस्पतियों के संयोग से दक्षिण की ओर अग्रसर होते हुये इस समुद्रताल से भूमि प्राप्त करना आरंभ किया। जैसे–जैसे यह उठी हुई जमीन सूख कर मनुष्य के रहने लायक अवस्था प्राप्त करने लगी, वहा गाँव व शहर स्थापित होने लगे। इस प्रकार प्राप्त भूमि में मनुष्य द्वारा वहां स्थापित होने का इतिहास 1000 वर्षों से ज्यादा पुराना नहीं है। ज्ञात रहे कि कलकत्ता महानगरी ने अपनी 300वीं वर्षगांठ का उत्सव वर्ष 1990 मनाया था।

इन समुद्रतटो पर निर्माण की यह क्रिया आज भी गतिमान है, पर अब यह मुख्यतः बंगलादेश वाले भाग में ही ज्यादा सक्रिय है। भारत के पश्चिम बंगाल वाले समुद्रतटों में सन् 1770 के पश्चात् से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। पर मानव दखल के कारण सुंदरवन लगातार सिकुड़ते जा रहे हैं, चाहे वह भारत में हो या बंगलादेश में हो। कुछ दूर अतीत में इन वनों की सीमा हुगली (गंगा) नदी के पूर्वी तट से ही आरंभ हो जाती थी। सन् 1764 व 1772 में तैयार कलकत्ता के नक्शों में वर्तमान 'साल्ट लेक सिटी' क्षेत्र का 'भैंसा दलदलों' के रूप में दर्शाया गया है, जो इसका एक प्रमाण है। लेकिन ये भैंसे आजकल समूचे सुंदरवन में नहीं दिखाई देते हैं और वैज्ञानिक समुदाय इतने छोटे अंतराल में इनके विलोप के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पा रहा है।

कच्छीय वनों का आर्थिक महत्व

समुद्रतटों में भटकाव और अन्तरदेशीय सूखा (इनलैण्ड ड्राउट) रोकने में कच्छीय वन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जिसके लिये मानव को किसी प्रकार का आर्थिक बोझ नहीं उठाना पड़ता है।

प्रकृति ने कच्छीय वनों के रूप में, एक प्राकृतिक प्रयोगशाला स्वयं निर्माण कर हमें दी है, चाहे वे वर्जीनिया के मनहूस दलदल हों, फ्लोरिडा के घासीय कच्छ हों, इन्डोनेशिया के दलदल हों, या अपने ही देश में गंगा–ब्रह्मपुत्र नदीमुखों में स्थित 'सुंदरवन' हों। इन क्षेत्रो में हम देख सकते हैं कि किस प्रकार 'जीवन' को सहारा देने के कारण वह फिर से भौतिक तत्व का रूप ले लेता है। हम यह भी देख सकते हैं कि पुराने समय के दलदल पीट का

रूप ले रहे हैं या लुप्त हो जाते हैं और हम यह भी ज्ञात कर सकते हैं कि ऐसा क्योंकर होता है। भविष्य के पर्यावरण सुरक्षा कार्यक्रमों के निर्माण में इन क्षेत्रों के लगातार अध्ययन से बहुत लाभ मिलेगा, क्योंकि ये स्वयं में प्रकृति द्वारा स्थापित पर्यावरण सुरक्षा के अंग हैं।

जैविक विविधता पाये जाने के कारण कच्छीय वन जीन निकायों की क्षमता रखते हैं जिसके सहारे ये भविष्य में अपनी जाति की रक्षा व अनेकरूपता बनाये रखने में समर्थ हैं। हमें याद रखना होगा कि 60 के दशक में हुई 'हरित क्रान्ति' एक जंगली फसल से प्राप्त नवीन जनन द्रव्य (जर्म प्लाज्म) के उपयोग में संभव हुई थी। कच्छीय वनों को समुचित व पूर्ण संरक्षण देना मानव धर्म होना चाहिये।

भारतीय कच्छीय वनों में विशेष प्रकार के पशु–पक्षी निवास करते हैं। सुंदरवन क्षेत्र में विश्व भर के सबसे ज्यादा बाघ पाये जाते हैं। बाघ का स्थान प्राकृतिक खाद्य श्रृंखला सूचीस्तम्भ (पिरामिड) के शीर्ष में हैं और पारिस्थितिकीय संतुलन बनाये रखने में बाघ की मुख्य भूमिका होती है। ऐसा समझा जाता है कि बाघ के जीवित रहने पर पारिस्थितिक तंत्र के अंतर्गत सभी जीवन स्वरूप यथावत् गतिमान रहते हैं, मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं है। बाघ का मुख्य आहार है हरिण व सुअर जो यहां बहुतायत में पाये जाते हैं। इनके अलावा लंगूर, बंदर, उड़न लोमड़ी, उदबिलाव, गोह, साँप आदि यहाँ के अन्य स्थायी निवासी हैं। कई अन्य मांसाहारी जीव, जैसे जंगली बिल्ली व नेवले इन वनों में शिकार के लिये आना जाना तो करते हैं, पर स्थायी रूप में निवास नहीं करते। कई प्रकार के केकड़े व असंख्य कीड़े–मकोड़े भी यहाँ पाये जाते हैं। पानी की मुख्य धारा में यहाँ घड़ियाल व कछुवे भी बहुत मिलते हैं।

पक्षियो में मुख्यतः प्रवासी (माइग्रेटरी) होते हैं। इनकी कई जातियाँ, जाड़े के मौसम में उत्तरी गोलार्ध व ठंड से बचने के लिये यहाँ आती हैं।

यदि इन वनों में हरिण व सुअर की संख्या कम हो जाये, तो बाघ को भोजन प्राप्त नहीं होगा और वह ज़ंगलों से बाहर निकल कर मनुष्य के पालतू जानवरों पर हमला करेगा। मनुष्य अपने जानवरों की सुरक्षा के लिये बाघ को मारने लगेगा। इसके विपरीत यदि वनों में बाघ समाप्त हो जायें, तब हरिण व सुअर आदि छोटे जीवों की संख्या इतनी बढ़ जायेगी कि उन्हें भोजन की तलाश में जंगलों से बाहर निकलना होगा और मानव अपनी फसलो की सुरक्षा के लिये उन्हें मार देगा। इसलिये वनों में जानवरों की संख्या संतुलन बनाये रखने में बाघ की उपस्थिति बहुत आवश्यक है अन्यथा चूहे, चींटी, जैसे छोटे जीव मानव का जीना हराम कर देंगे।

पतंगे / तितलियाँ कुछ जीवों का आहार बनने अलावा परागण (पालीनेशन) का कार्य करते हैं, और यदि ये न हों तो नई वनस्पतियों का जन्म कठिन हो जायेगा। कीड़े–मकोड़े कई प्रकार के जीवों का आहार बनने के साथ मृत पेड़–पौधों (जिन्हें अन्य जानवर नही खाते) और परभक्षियों द्वारा मारे गये शिकार के बचे–खुचे भाग से अपना भोजन प्राप्त कर, जहाँ एक ओर जमीन से अनावश्यक पदार्थों की सफाई करते हैं, तो दूसरी ओर उनकी क्षय क्रिया तीव्र कर पेड़ पौधों के विकास के लिये उनमें निहित पौष्टिक पदार्थों के पुनः आवर्तन में सहायक बनते हैं।

कच्छीय वन प्रदेश कई प्रकार की मछलियों के अण्डजनन क्षेत्र होते हैं। इनमें मौजूद वनस्पतियों और जीवों के अंश व पौष्टिक पदार्थ नाना प्रकार के समुद्री जीवों के लिये भोजन उपलब्ध कराते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में मत्स्यकी को सहारा देते हैं। इन प्राकृतिक आवासों में संसार की सबसे अधिक चित्ताकर्षक व प्राणाधार समुद्री नर्सरियाँ विद्यमान हैं। आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण 10 प्रतिशत उष्णकटिबंधीय समुद्री मछलियाँ अपने जीवन–चक्र की एक अवस्था इनके ज्वारनदीमुख क्षेत्र में अवश्य व्यतीत करती हैं।

घड़ियाल और प्रवासी पक्षी अपने कार्यकलापों द्वारा मत्स्यकी के विकास में एक अहम भूमिका निभाते हैं। नदियाँ अपने मलवे के साथ कई मृत जीव भी लाती हैं, जिनका भोजन कर, घड़ियाल इन क्षेत्रों में सफाई के रखवाले की भूमिका निभाते हुये, बड़ी परभक्षी मछलियों (जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मछलियों को खाती हैं)

को खा कर मत्स्यकी की मदद करते हैं। घड़ियाल द्वारा अपने शिकार का पीछा करने पर, अन्य मछलियाँ पानी के भीतर भागने लगती हैं और उनकी प्रभावशाली लम्बी–चपटी पूँछ तैरते समय पानी को जोरदार ढंग से छपछपाते हुये ठेलती है, जिसके फलस्वरूप पानी में वायुमिश्रण द्वारा मछलियों को उनकी आवश्यकतानुसार आक्सीजन मिलती रहती है। पानी के भीतर इस प्रकार की हलचल मछलियों के विकास के लिये बहुत आवश्यक हैं, क्योंकि भिन्न–भिन्न मछलियाँ पानी के अंदर अलग–अलग गहराइयों में जीवनयापन करती हैं। घड़ियालों की गतिविधियों के अध्ययन के फलस्वरूप, आधुनिक मछली फार्मों में वातक यंत्रो का उपयोग कर एक ही तालाब में कई जाति की मछलियों का पालन संभव हुआ है।

इसी प्रकार, प्रवासी पक्षी भी तैरने, खेलने व आखेट की अपनी कार्यवाई द्वारा वायु मिश्रण में सहायक होते ही हैं, लेकिन उनका बीट सीधे पानी में घुलने से कार्बन, नाइट्रोजन और पोटैशियम की मात्रा वहाँ लगातार बढ़ती रहती है जिससे मछलियों के लिये प्राकृतिक आहार जीवपुंज समृद्ध होते हैं और मछलियें की संख्या बढ़ती है। कीड़े–मकोड़ों की खोज में ये पक्षी जमीन को अपनी चोचों से खोदते रहते हैं और प्लवक उत्पादन में वृद्धि लेती है, जो मछलियों का एक प्रमुख आहार है। इसके अलावा ये पक्षी टैडपोल, अपतृण (अर्थात् मछलियो के जीवन चक्र की चौथी अवस्था) के विकास में सहायक होते हैं। पानी में मछलियों की उपस्थिति स्पष्ट संकेत प्रदान करती है कि उस क्षेत्र की पारिस्थितिक व्यवस्था स्वस्थ है और वहाँ पक्षियों को परजीवी (पैरासाइट) छूत व अन्य किसी बीमारी का भय नहीं है और स्वच्छ पर्यावरण के कारण पक्षियों की मृत्यु दर भी वहाँ कम होती है।

विशेषज्ञों की राय में एक ही तालाब में मछली और बतख पालन करने से जहाँ एक ओर पानी की सतह व गहराई का पूरा उपयोग किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर वातक यंत्र की आवश्यकता नहीं रहती और दोनों प्राणियों को बाहर से अतिरिक्त भोजन भी कम देना पड़ता है, जिस कारण आर्थिक लाभ भी अधिक होने लगता है।

एक लेख में अन्य सभी जीवनस्वरूपों के कार्यकलापों का वर्णन करना संभव नहीं है। पर इतना समझना अवश्य है कि कोई भी प्राकृतिक देन निरुद्देश्य नहीं है। प्रत्येक जीवन प्राकृतिक संतुलन बनाये रखने में योगदान करता है और सब आपस में जुड़े रहकर एक दूसरे पर आश्रित होते है, जैसे एक परिवार के सदस्य खून के रिश्ते से आपस में जुड़े होते हैं और मानव भी इसका एक अंग है।

कच्छीय वनों का प्रत्यक्ष आर्थिक महत्व भी कम नहीं है। ऊर्जा के लिये ये लकड़ी उपलब्ध कराते हैं। इनमें पाये जाने वाले विशिष्ट पेड़–पौधों के माध्यम से शाकाहारी जीव अपना आहार प्राप्त करते हैं, जैसे फल, फूल, शहद, साग, चारा आदि। इन जंगलों में औषधि निर्माण के लिये वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। यहां से प्राप्त 'टेनिन' का उपयोग चर्म, स्याही, प्लास्टिक, बायलर वाटर, आदि उद्योगों में किया जाता है।

(क्रमशः)

छवि निकुंज
बाँस बंगलो कम्पाउंड
चौथी क्रासिंग, राँची रोड,
पुरूलिया – (प0 बंगाल)

वैज्ञानिक पुस्तकें पुरस्कृत

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा वर्ष 2000 के लिये बीरबल साहनी पुरस्कार (बीस हजार रुपये) : 'मानवता का अभिशाप तपेदिक' पर डॉ० रमाकान्त को, डॉ० सम्पूर्णानन्द पुरस्कार (बीस हजार रुपये) : 'ब्लैक होल' पर श्री वीरेन्द्र प्रताप सिंह को और अनुशंसा पुरस्कार (आठ हजार रुपये) : 'आनंद पक्षी निहारन का' पर श्री विश्वमोहन तिवारी को दिया गया है।

अति सममिति

✍ आर. रामचन्द्रन

लगभग पिछले तीन दशकों से, प्रकृति के आधारभूत कणों और उनके मध्य क्रियाशील अंतर्क्रियात्मक बलों को (गुरुत्व–बल को छोड़ कर) पर्याप्त शुद्धता के साथ आधारभूत कणों के मानक–निर्देश (स्टैन्डर्ड मॉडल) द्वारा व्याख्यायित किया जाता रहा है। परंतु आज इस सिद्धांत को चुनौती दी जा रही है। ब्रुकहैवेन नेशनल लेबोरेटरी, अमेरिका में किये गए एक उच्च परिशुद्धता वाले त्वरक प्रयोग (हाई प्रिसीजन ऐक्सीलरेटर एक्सपेरीमेंट) में म्यूआन नामक आधारभूत कण का चुंबकीय क्षेत्र में व्यवहार उपर्युक्त सिद्धांत के परिणामों से असंगति प्रदर्शित कर रहा है।

उक्त प्रयोग, जिसमें ग्यारह विश्व–स्तरीय वैज्ञानिक संस्थानों के 68 वैज्ञानिक भाग ले रहे हैं उसकी परियोजना के प्रबंधक जेरीबंस का कहना है "हम 99 प्रतिशत निश्चित हैं कि वर्तमान मानक निदर्श द्वारा हमारे प्रदत्तों की व्याख्या नहीं की जा सकती।" एक अन्य सहयोगी संस्थान बोस्टन विश्वविद्यालय के ली. राबर्ट्स का कथन है "यह कार्य भौतिकी के नवीन आयाम, उदाहरण के लिए अतिसममिति (सुपरसिमिट्री), के द्वार खोल सकता है, जो मानक निदर्श से परे है।" जनवरी 2001 तक वैज्ञानिकों को यह ज्ञात नहीं था कि उनके पाँच वर्षों से चल रहे म्यूआन जी–2 (जी माइनस टू) के परिणाम मानक–निदर्श के अनुमानों के अनुकूल होंगे या नहीं। ये उत्तेजक परिणाम 8 फरवरी को ही घोषित किये गए।

मानक–निदर्श के अनुसार विश्व की संरचना दो प्रकार के कणों–लेप्टानों और क्वार्कों–द्वारा हुई है। प्रत्येक वर्ग में दो–दो के समूहों में तीन–तीन परिवार हैं। उनके मध्यगत अंतर्क्रियात्मक बलों, जिनका आज उपलब्ध ऊर्जा मापनी (सैकड़ों गीगा इलेक्ट्रान वोल्ट, जहाँ गीगा $=10^9$) पर निरीक्षण किया जा सकता है। विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा निर्बल नाभिकीय बल (जो रेडियोधर्मिता का कारण है) और शक्तिशाली नाभिकीय बल (जो नाभिक को बाँधे रखते हैं) हैं। इलेक्ट्रान लेप्टान वर्ग का सदस्य है। इलेक्ट्रान और इलेक्ट्रान–न्यूट्रीनो इलेक्ट्रान परिवार निर्मित करते हैं। अन्य लेप्टान कण क्रमशः म्यूआन (इलेक्ट्रान से 200 गुना भारी), म्यूआन–न्यूट्रीनो एवं ताओ (इलेक्ट्रान से 3500 गुना भारी) तथा ताओ–न्यूट्रीनो हैं। क्वार्क वर्ग में छह क्वार्क कण हैं जो न्यूट्रान और प्रोटान जैसे परमाणु नाभिक कणों के घटक होते हैं।

मानक निदर्श में तीनों अंतर्क्रियात्मक बलों की व्याख्या कतिपय मध्यस्थ कणों द्वारा की जाती है। यह बल तब उत्पन्न होते हैं जब अंतर्क्रियात्मक कणों के बीच विशिष्ट वाहक कणों का विनिमय किया जाता है। विद्युत चुम्बकीय बल भारहीन फोटोन कणों के मध्य विनिमयय द्वारा, निर्बल नाभिकीय बल भारयुक्त **W+, W-** (डब्ल्यू बोसानों) और **Z** – बोसान द्वारा, तथा शक्तिशाली नाभिकीय बल भारहीन अष्ट ग्लूआनों द्वारा उत्पन्न होते हैं।

सभी मूलभूत कणों में घूर्णन का एक आंतरिक क्वांटमयांत्रिक गुण उपस्थित रहता है। बड़े कणों की व्याख्या में इस गुण का कोई सादृश्य नहीं पाया जाता परंतु इसकी कल्पना अपने अक्ष के चारों ओर घूमते लट्टू की गति से की जा सकती है। यह आंतरिक घूर्णन केवल ½ के पूर्णांकी गुणकों के मान ले सकता है अतः इसका मान $\pm$ ½, 0, $\pm$ 1,..... ही हो सकता है। लेप्टान और क्वार्क कणों के लिए इसका मान ½ होता है और उन्हें **फर्मियान** कहा जाता है। दूसरी ओर बल–वाहक कणों का आंतरिक घूर्णन मान 1 होता है और इन्हें **बोसान** (सत्येन्द्र नाथ बोस के नाम पर) पुकारा जाता है।

मानक निदर्श की सीमाओं में लेप्टानों और क्वार्क कणों की उपर्युक्त बलों के माध्यम से अंतर्क्रिया की व्याख्या गाज सममिति के गणितीय सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। गाज–सममिति के माध्यम से ही

उक्त तीन प्रकार के बलों की एक एकीकृत गणितीय संरचना में व्याख्या की गयी है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि मानक निदर्श एक विस्तरित होता हुआ सिद्धान्त है और ऊर्जामापनी पर उच्च ऊर्जा की ओर जाने में कोई नवीन भौतिकी सामने नहीं आएगी। परंतु **अति सममिति** एक ऐसी नवीन भौतिकीय अवधारणा है जिसकी मान्यता है कि ½ घूर्णन मान वाले फर्मिआनो और पूर्णांक घूर्णन मान वाले बोसानों के मध्य एक गणितीय सममिति अस्तित्व में है।

अति सममिति की इस मान्यता से कुछ अन्य निष्कर्ष भी प्राप्त होते हैं। यह कुछ अन्य अज्ञात और अब तक अनिरीक्षित कणों के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी करती है। मानक निदर्श का न्यूनतम अति सममिति विस्तार अब तक ज्ञात सभी कणों के अति गुरू सहभागी कणों के अस्तित्व को आवश्यक मानता है। दूसरे शब्दों में, लेप्टानों और क्वार्कों के साथ अतिगुरू लेप्टानों और क्वार्को का अस्तित्व भी होगा जिनका घूर्णन मान शून्य होगा। यह सभी मिल कर एक सुपर परिवार निर्मित करेंगे। इसी प्रकार बल–वाहकों अथवा गाज बोसानों के अतिगुरु, ½ घूर्णन मान वाले, सहयोगी भी होंगे, जिनको **गागिनो कण** की संज्ञा दी गयी है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है : क्या यदि अति सममिति का अस्तित्व हो, तो नियमेतर यादृच्छिक ऊर्जाएं अपने को निम्न ऊर्जा स्तरों के प्रयोगों में व्यक्त करेंगी? ब्रुकहैवेन प्रयोगशाला के प्रयोग इंगित करते हैं कि 'अज्ञात भौतिकी' के लिए साक्ष्य निश्चय ही पाये गए हैं।

वास्तव में, ब्रुकहैवेन प्रयोग को म्यूआन कण के चुंबकीय आवेग के असंगत घटक की शुद्ध जाँच के लिये (प्रति दस लाख में 1.3) निर्मित किया गया था। किसी कण का चुंबकीय आवेग उस शक्ति को प्रदर्शित करता है जिससे वह कण किसी चुंबकीय क्षेत्र से संबद्ध होता है और प्रत्येक घूर्णन युक्त आवेशित कण एक द्विध्रुवी चुंबक की भाँति व्यवहार करता है जिसका कुछ न कुछ चुंबकीय आवेग भी होता है। शुद्ध सापेक्षता के अंतर्गत क्वांटम प्रभाव ½ घूर्णन वाले कणों, इलेक्ट्रानों और म्यूआनों के चुंबकीय आवेग में कुछ ऐसा योगदान कर देते हैं जिसकी व्याख्या नहीं हो पाती। इस असंगति की व्याख्या और मात्रात्मक मापन की एक सुविधापूर्ण विधि गायरो चुंबकीय अनुपात या जी–कारक के मान का अध्ययन है।

गायरो चुंबकीय अनुपात सामान्य रूप में प्रयोगात्मक कण के चुंबकीय आवेग और आंतरिक घूर्णन कोणीय आवेग का अनुपात होता है। अपने सरलतम रूप (डिराक समीकरण) में यह सिद्धांत जी=2 या जी–2=0 मान देता है। यह उस स्थिति में होता है जब कण पूर्णरूपेण बिंदु की भांति व्यवहार करता है। दूसरे शब्दों में, सभी दिशाओं में इसके पदार्थ और आवेश का वितरण एकसमान ही होता है।

वास्तविक परिस्थितियों यह आदर्श मान प्राप्त नहीं होता। जी कारक का 2 से विचलन उस असंगति का द्योतक है। उदाहरण के लिये, प्रोटान कण के लिए जी–2=3.6 होता है और असंगति की अधिकता इस कण के घटक–कणों (क्वार्क और अन्य उदासीन कण) के असमान मात्रात्मक वितरण के कारण होती है। इलेक्ट्रान और म्यूआन के लिए जिन्हें लगभग बिंदु ही माना जा सकता है, जी–2 का मान लगभग 0.002 प्राप्त होता है। यह मान कण के 'आभासी क्षेत्रों' (वर्चुअल फील्ड्स) से अंतर्क्रिया का परिणाम है और इसे 'रेडियेटिव संशोधन' पुकारा गया है।

उक्त आभासी क्षेत्र हाइजेनबर्ग के अनिश्चतता सिद्धान्त से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार इलेक्ट्रान या म्यूआन जैसा आवेशित कण अनवरत रूप से फोटानों का उत्सर्जन और अवशोषण करता रहता है, जिससे घटती–बढ़ती तीव्रता वाला विद्युतचुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। वाह्य चुंबकीय क्षेत्र में गतिशील कण के कारण वाह्यक्षेत्र कण के वैद्युतिक क्षेत्र और परिवर्तित होते हुए क्षेत्र से प्रभावित होता है। मूलभूत (जी–2) का मान कण के आभासी क्षेत्र की अंतर्क्रियाओं के मध्यमान का मापक है। वास्तव में, जटिल आभासी प्रक्रियाओं –भारी W और Z कणों का उत्सर्जन और शोषण क्षणभंगुर आभासी क्वार्क–प्रतिक्वार्क या इलेक्ट्रान–पाजिट्रान युग्मों का उत्सर्जित आभासी फोटानों द्वारा सर्जन हो सकते हैं जो (जी–2) के मान में योगदान करते हैं। अर्थात् (जी–2) का मान शक्तिशाली एवं निर्बल नाभिकीय बलों तथा विद्युतचुम्बकीय बलों के सम्मिलित प्रभावों का कण के चुम्बकीय आवेग पर प्रभाव का मापन करता है। मानक निदर्श में उक्त सम्मिलित प्रभावों की गणना 10 लाख में 0.6 की परिशुद्धता तक की जा सकती है।

मानक निदर्श में इलेक्ट्रान और म्यूआन कणों के लिए (जी–2) के मान की गणना अत्यंत परिशुद्धता से की गयी है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि म्यूआन के लिये (जी–2) की गणना ने केवल परिशुद्धता से की जा सकती है, वरन् इसका मापन भी अत्यंत परिशुद्ध रूप में किया जाना संभव है। अतः जितनी अधिक परिशुद्धता से (जी–2) का मापन संभव है, उसी रूप में इसकी समझ भी कि चुम्बकीय आवेग में किन–किन क्वांटमयांत्रिक प्रभावों का योगदान है और यह भी कि मानक निदर्श कितना उपयुक्त है। अर्थात् (जी–2) का शुद्धतापूर्ण मापन मानक निदर्श सिद्धान्त के लिये एक शक्तिशाली परीक्षण हो जाता है। यदि मानक निदर्श के परे भी कोई भौतिकी है और वह भौतिकी इस प्रकार की हो कि म्यूआन जी–कारक में योगदान करती हो तो इन अंतरों को उन्नत तकनीक के प्रयोग द्वारा अधिक परिशुद्धता से प्रेक्षित होना चाहिये। वास्तविक स्थिति तो यह है कि थोड़े समय पहले तक मानक निदर्श से प्राप्त परिणाम वास्तविक मापन से अच्छी सहमति प्रदर्शित करते रहे हैं।

मानक निदर्श के पश्चात् जो निदर्श प्रस्तुत किये गये हैं, उदाहरण के लिये अति सममिति निदर्श, वे मानक–निदर्श द्वारा प्रस्तावित मूलभूत कणों की तुलना में अधिक गुरुतर कणों के अस्तित्व की भविष्यवाणी करते हैं। अपने (इलेक्ट्रान की अपेक्षा) अधिक मात्रा के कारण म्यूआन कण इन प्रस्तावित गुरुतर कणों के आभासी क्षेत्र से इलेक्ट्रान की अपेक्षा अधिक संवेदनशीलता प्रदर्शित करता है। यह बढ़ी हुयी संवेदनशीलता मात्रा के वर्ग के समानुपाती होती है। चूंकि म्यूआन इलेक्ट्रान की अपेक्षा 200 गुना भारी है अतः इसका (जी–2) मान भारी आभासी कणों के उत्सर्जन और शोषण के प्रभाव के लिए 40,000 गुना अधिक संवेदनशीलता प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि म्यूआन (जी–2) का मापन प्रायोगिक भौतिकी में महत्वपूर्ण रहा है।

(जी–2) का मापन 1962 से ही किया जाता रहा है। 1970 में सर्न (यूरोपियन लेबोरेटरी फार पार्टिकिल फिजिक्स, जेनेवा) में इलेक्ट्रान और म्यूआन दोनों के (जी–2) मान समान प्राप्त हुए थे। वर्तमान प्रयोग सर्न–प्रयोग की तुलना में 5.6 गुना अधिक परिशुद्धता से किया जा रहा है जिसमें (जी–2) के मान मानक निदर्श की गणनाओं से अधिक प्राप्त हुए हैं जिससे संकेत प्राप्त होता है कि मानक निदर्श के परे भी आभासी प्रभाव क्रियाशील हैं।

ब्रुकहैवेन प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों ने आल्टर्नेटिंग ग्रेडियन्ट सिन्क्रोट्रान द्वारा धनात्मक आवेशित म्यूआन कणें की तीव्र ध्रुवित किरण का उपयोग किया है। एक ध्रुवित किरण में उसके घटक कणों के घूर्णन एक ही दिशा में होते हैं। ब्रुकहैवेन प्रयोग में सभी कणों के घूर्णन आवेग की दिशा में थे। 3.09 गीगावोल्ट की ऊर्जा वाली ध्रुवित म्यूआन किरण को विश्व के सबसे विशाल 14 मीटर व्यास वाले वृत्ताकार अतिचालक चुंबक में जिसमें गति की दिशा के लंबवत् समान चुंबकीय क्षेत्र कार्य कर रहा था, निर्देशित किया गया। जब इस वलय में म्यूआन कण लगभग प्रकाश की गति से गतिशील होते हैं तो उनको वृत्ताकार क्षेत्र में निश्चित करने के लिये विद्युत क्षेत्र का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् गतिशील ध्रुवित म्यूआन कण–धारा को अँगूठी या छिद्रित वलय आकार के चुंबकीय छल्ले में संग्रहीत किया जाता है। इस संपूर्ण विन्यास को 'म्यूआन भंडारण वलय' (म्यूआन स्टोरेज रिंग) की संज्ञा दी गयी है। म्यूआन के चुंबकीय आवेग में विचलन का मापन अति संवेदनशील यंत्रों द्वारा किया जाता है।

प्रयोग का मूल सिद्धान्त यह है कि जब म्यूआन वलय में वृत्ताकार गति करता है, तो इसका घूर्णन जो प्रारंभ में म्यूआन की दिशा में गतिशील था, अपने ऊपर लंबवत् कार्य कर रहे चुंबकीय क्षेत्र के कारण और घूम जाता है और किसी घूमते हुए लट्टू के सदृश अग्रगामिता या पुरस्सरण प्रदर्शित करने लगता है। यह अग्रगामिता प्रभाव इसलिए उत्पन्न होते हैं क्योंकि चुंबकीय क्षेत्र कण के घूर्णन को क्षेत्र की दिशा में लाने के लिए बल–आघूर्ण (टार्क) का प्रयोग करता है। उसी प्रकार जैसे एक छड़ चुंबक अपने को चुंबकीय क्षेत्र में स्थापित करता है। यदि म्यूआन अपने अक्ष पर घूम न रहे होते तो ऐसा ही होता। परंतु म्यूआन अपने अक्ष पर घूर्णित अवस्था में रहते हैं, अतः अपने को चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में स्थापित करने के स्थान, म्यूआन घूर्णन का अक्ष क्षैतिज दिशा में अग्रगामिता प्रदर्शित करने लगता है। अग्रगामिता की दर कण पर क्रियाशील बल–आघूर्ण चुंबकीय आवेग की मात्रा और म्यूआन की घूर्णन गति पर निर्भर होती है। इन दोनों स्थितियों के अंतर का शुद्धतापूर्ण मापन (जी–2) मान का सीधा समानुपाती होता है।

सर्वाधिक संभव अंतिम व्याख्या के अनुसार मानक निदर्श या तो अपर्याप्त है या गलत।

म्यूआन की अग्रगामिता का मापन

म्यूआन एक अस्थायी कण है और नाभिकीय अपक्षय द्वारा पाजिट्रान (इलेक्ट्रान का धनावेशित प्रतिकण) और दो न्यूट्रानो में परिवर्तित होता रहता है। 3.09 गीगावोल्ट ऊर्जा का म्यूआन औसत रूप से 64 माइक्रोसेकेण्ड (10^{-6} से.) अस्तित्व में रहता है। उत्सर्जित पाजिट्रान की घूर्णन दिशा मूल म्यूआन की होती है। पाजिट्रान ऊर्जा के मापन से नाभिकीय अपक्षय के समय म्यूआन की घूर्णन दिशा की सूचना प्राप्त हो सकती है। एक उपकरण द्वारा इन पाजिट्रान कणों के समय और ऊर्जा का मापन भी किया जाता है। उक्त घटना चक्र के समय सापेक्ष प्रदत्त किसी भी नाभिकीय अपक्षय के चरघातांकी (एक्सपोनेंशल) लेखाचित्र के समान होते हैं, परंतु अग्रगामिता के कारण उसमें कुछ लहरें (विगिल्स) उत्पन्न हो जाती हैं। यही घूर्ण–अग्रगामिता आवृत्ति (स्पिन प्रिसीशन फ्रीक्वेंसी) 'जी–2' के मान प्राप्त करने के लिए शुद्धता से मापित की जाती है। इस प्रयोग में लगभग एक अरब म्यूआन–अपक्षय प्रक्रियाओं का विश्लेशण किया गया है और प्राप्त मान मानक निदर्श द्वारा प्राप्त मानों से महत्वपूर्ण अंतर प्रदर्शित करते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार प्राप्त परिणामों के मानक निदर्श से संगति या अंतर को सांख्यिकीय अंतर (या त्रुटि) स्वीकार करने की प्रायिकता बहुत ही न्यून है। इसके अतिरिक्त प्रयोगकर्ताओं ने लगभग 4 अरब परिणाम और प्राप्त किये हैं, जिनके विश्लेषण द्वारा त्रुटि की संभावना और कम हो जाएगी। दूसरी संभावनात्मक व्याख्या यह भी हो सकती है कि मानक निदर्श मूलतः सही है परंतु (जी–2) की गणना के लिये प्राप्त प्रायोगिक प्रदत्तों की त्रुटियाँ इस विचलन के लिए उत्तरदायी हैं। क्वार्क–प्रतिक्वार्क के सापेक्षता–संशोधन की गणना भी एक ऐसा ही प्रदत्त है जो (जी–2) की गणना में प्रयुक्त होता है। यह अनुमानित मान इलेक्ट्रान–पाजिट्रान संघट्टकों नामक त्वरण–उपकरणों द्वारा अनेक वर्षों से किये जाने वाले प्रयोगों से प्राप्त हुआ है। यद्यपि इसकी त्रुटि मानक निदर्श के प्रस्तावित (जी–2) की तुलना में बहुत कम है परंतु चीन, रूस और अमेरिका से प्राप्त समान प्रयोगों के प्रदत्तों से इसकी अनिश्चिंतता और भी कम की जा सकेगी ऐसा ब्रुकहैवेन अनंसंधान दल का विश्वास है।

ब्रुकहैवेन अनुसंधान दल के अनुसार "एक नवीन भौतिकी निश्चित रूप में अस्तित्व में है जो म्यूआन (जी–2) कारक को एक विशेष स्तर पर प्रभावित कर रही है।" परंतु मापन से यह संकेत प्राप्त नहीं होता कि इस नवीन भौतिकी की प्रकृति क्या है। किसी भी दशा में, ब्रुकहैवेन प्रयोगों के निष्कर्ष भविष्य में अमेरिका में फर्मीनेशनल ऐक्सीलरेटरी लेबोरेटरी के ट्रेवाट्रान कोलाइडर और सर्न के विशाल हैड्रान कोलाइडर या भावी इलेक्ट्रान–पाजिट्रान कोलाइडर या म्यूआन कोलाइडर प्रयोगों के लिये एक दिशा निधार्रित कर रहे हैं। यदि मानक निदर्श की गणनाओं के विरुद्ध कुछ अतिगुरु कणों का अस्तित्व होता है तो उक्त प्रयोगों द्वारा उनका प्रत्यक्ष प्रेक्षण संभव हो सकेगा।

वास्तव में अनेक सैद्धांतिक भौतिक विज्ञानियों का विश्वास है कि ब्रुकहैवेन प्रयोग के परिणाम अति सममिति के लिये साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। सेंटर फार थ्योरिटिकल स्टडीज, भारतीय विज्ञान संस्थान बंगलूर की रोहिणी गाडबोले का कहना है "सैद्धांतिक और प्रायोगिक परिणामों के अंतरों के प्रदत्तों का परिमाण और विस्तार ट्रेवाट्रान विशाल हैड्रान कोलाइडर इत्यादि के भावी प्रयोग अति सममिति का अस्तित्व और अनस्तित्व सिद्ध करने के लिए उचित है। विश्लेषण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाने के पश्चात् प्राप्त अतिरिक्त परिणाम इस चित्र को और स्पष्ट करने में सहायक होंगे।

म्यूआन उपसंरचना (सबस्ट्रक्चर) और W-बोसान उपसंरचना के निदर्श भी विचलन की व्याख्या क लिये नवीन विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका अर्थ है कि म्यूआन और निर्बल नाभिकीय बल–वाहक W-बोसान भी स्वयं मूलभूत कण न हों और उनकी उपसंरचनाएं उच्च ऊर्जा स्तर पर प्राप्त हों। प्रत्येक दशा में ब्रुकहैवेन प्रयोग नवीन भौतिकी का अग्रदूत है और यह निश्चित है कि मानक निदर्श के परे भी विश्व का अस्तित्व है।

अनुवाद-
राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप
ए.पी.एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बस्ती–272001

पुस्तक समीक्षा

(1)

पुस्तक : 1000 जीव-जन्तु प्रश्नोत्तरी
लेखिका : श्रीमती मेनका गाँधी
अनुवादक :श्री विनय भूषण
प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, 205–बी चावड़ी बाजार, दिल्ली – 110 006,
संस्करण : प्रथम, 2001, **पृष्ठ संख्या** : 175
मूल्य : 150.00 रूपये।

समीक्ष्य पुस्तक की लेखिका श्रीमती मेनका गाँधी का नाम पाठकों के लिए नया नहीं है। आप भारत सरकार के सामाजिक एवं अधिकारिता विभाग में राज्यमंत्री हैं। आप दो बार भारत सरकार के वन एवं पर्यावरण मंत्रालय में राज्यमंत्री रह चुकी हैं और पर्यावरण एवं जीव जन्तुओं के संरक्षण के क्षेत्र में अपने योगदान के लिए सारी दुनिया में जानी–मानी जाती हैं। श्रीमती गाँधी राजनीतिज्ञ, पत्रकार और लब्धप्रतिष्ठ लेखिका हैं और आपकी "द एनिमल लॉज ऑव इंडिया", "द पेंग्विन बुक ऑव हिन्दू नेम्स", "ब्रह्माज हेयर : ऑन द माइथॉलोजी ऑव इण्डियन प्लांट्स" जैसी पुस्तकें विशेष रूप से चर्चित रही हैं। अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से सामाजिक कार्यों के लिए आपको अनेकानेक सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमान पुस्तक "रूपा एण्ड कम्पनी" द्वारा प्रकाशित "1000 एनिमल क्विज" का हिन्दी रूपान्तरण है।

पूरी पुस्तक 24 अध्यायों में विभक्त है (150 पृष्ठ) और सभी वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर पुस्तक के अंत में "उत्तरमाला" (पृष्ठ 151–175) के अंतर्गत दिए गए हैं। यथा 1. चतुर–चपल, 2. धरती एक जीव अनेक, 3. उपयोग–दुरूपयोग, 4. भाषा (जन्तु विज्ञान की), 5. पर्यटकों की पथ–प्रदर्शिका, 6. जानवर भी इंसान हैं, 7. वैज्ञानिक नाम, 8. परिवार, 9. वानर–जगत्, 10. स्तनधारी, 11. पक्षी, 12. सरीसृप, 13. दुनिया में सफाई एक और दुनिया, 14. मकड़ी –वंश, 15. सूक्ष्मजीव, 16. मछली, 17. समुद्री जीव, 18. उभयचर, 19. हत्या और ध्वंस, 20. सृष्टि की सीढ़ी, 21. किसने कहा था, 22. कल्पना और यथार्थ, 23. अजब–गजब, 24. और भी बहुत कुछ।

पृष्ठ 9 से लेकर पृष्ठ 150 तक सभी पृष्ठों पर नीचे उस पृष्ठ पर अंकित प्रश्नों के उत्तर के लिए कौन सा पृष्ठ देखें, इसका निर्देश दिया गया है।

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि सीमित पृष्ठों में ही तरह–तरह के जीव–जन्तुओं के वैज्ञानिक नाम, उनके उपयोग, उनके निवास स्थान, स्वाभाव, शिकार, भोजन आदि से संबंधित ढेरों जानकारियाँ दी हुई हैं। ये जीव–जन्तु किसी देश विशेष के न होकर वरन् सारे संसार के हैं। इनमें थलचर, जलचर, उभयचर, नभचर, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी सम्मिलित हैं। इस प्रकार यदि संक्षेप में कहें तो पुस्तक अपने कलेवर में "गागर में सागर" की उक्ति को चरितार्थ करती है। यह किताब नहीं, जानकारियों का खजाना है। और तो और, अनेक जीव–जन्तुओं के वैज्ञानिक नाम भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार पुस्तक आम पाठकों के साथ ही साथ जीव विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है।

अनुवाद की भाषा, सरल, सहज एवं बोधगम्य है। इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक पाठकों के ज्ञान के विस्तार की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखती है। छपाई बढ़िया है, मुद्रण की त्रुटियाँ नहीं के बराबर हैं, किन्तु अनुवाद के विषय में 2–3 बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

1. पहली तो यह कि अनेक प्रश्नों के अंतर्गत दिए गए विकल्प को कम कर दिया गया है। इसे पहले अध्याय "चतुर–चपल" के अंतर्गत् मूल अंग्रेजी पुस्तक में प्रत्येक प्रश्न में 4 अथवा 5 विकल्प दिए हुए हैं, किन्तु वर्तमान अनूदित पुस्तक में विकल्पों की संख्या अधिकतर 3 अथवा कहीं–कहीं 4 या 5 है। इसी प्रकार पूरी पुस्तक

में विकल्प कम कर दिए गये हैं। इससे सही उत्तर पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, किन्तु जीव–जन्तुओं के नामों की जानकारी कम हो जाती है।

2. दूसरा यह कि वैज्ञानिक नामों के उच्चारण के विषय में यह उल्लखित नहीं है कि अनुवाद के लिए किस शब्द कोष का उपयोग किया गया है। मुझे ऐसा लगता है कि भारत सरकार के शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित विज्ञान विषयक शब्दकोष की सहायता नहीं ली गई है। इसलिए अधिक न लिखते हुए मात्र एक उदाहरण ही देना चाहूँगा। जैसे पृष्ठ 59 पर प्रश्न संख्या 378 में नील गाय का वैज्ञानिक नाम बोसेल्फा गुसत्रागोकामेलुस मुद्रित है किन्तु इसका उच्चारण शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित वृहत् पारिभाषिक शब्द संग्रह, विज्ञानः खंड 1 में बोसेलेफसट्रेगोकेमेलस (Boselaphus tragocamelus) दिया हुआ है। इसी प्रकार के बहुत से वैज्ञानिक नामों के उच्चारण में पाठकों को असुविधा हो सकती है।

3. बहुत से प्रश्नों का क्रम मूल पुस्तक में कुछ और तथा अनुवाद में कुछ और है (वैसे इससे उन्हें, जिन्होंने मूल अंग्रेजी पुस्तक न देखी हो कोई असुविधा नहीं होगी)।

साफ–सुथरी छपाई बढ़िया कागज, आकर्षक मुखपृष्ठ वाली यह पुस्तक कुल मिलाकर उपयोगी है और मजबूत जिल्द होने के कारण निजी और स्कूलों, कॉलेजों के पुस्तकालयों में रखने योग्य़ है। मंहगाई को देखते हुए मूल्य उचित है। लेखक, अनुवादक, प्रकाशक और मुद्रक सभी बधाई के पात्र हैं।

प्रेचमन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व सम्पादक 'विज्ञान'

(2)

पुस्तक : **कम्प्यूटर-इंटरनेट प्रश्नोत्तरी**
लेखक : विनय भूषण,
प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली – 110 006,
प्रथम संस्करण : 2001, **पृष्ठ संख्या** : 170,
मूल्य : 150.00 रूपये।

सत्साहित्य प्रकाशन द्वारा कई विषयों पर प्रश्नोत्तरियों का प्रकाशन हुआ है। इसी श्रृंखला की एक कड़ी है श्री विनय भूषण द्वारा लिखित 'इन्टरनेट–कम्प्यूटर प्रश्नोत्तरी'।

कम्प्यूटर तथा इन्टरनेट आज बहुत ही आवश्यक विषय बन गये हैं। सभी प्रकार के विद्यार्थियों को कम्प्यूटर का सरल ज्ञान आवश्यक है। पुस्तक में कम्प्यूटर–इन्टरनेट सम्बन्धी एक हजार प्रश्न हैं जो ऑब्जेक्टिव रूप में एक प्रश्न के चार उत्तर दिखाता है जिसमें सबसे उपयुक्त उत्तर एक ही है।

लेखक ने कम्प्यूटर सम्बन्धी 19 अनुभागों में प्रश्नों की संरचना की है। प्रश्नों की संख्या व इनका चयन विषय की गम्भीरता पर आधारित है। सभी प्रश्नों को इस प्रकार सँजोया गया है कि विषय विशेष एक क्रम से पनपें व पढ़ने वाले को एक अनुक्रम में अध्ययन का लाभ प्राप्त हो। सभी प्रश्नों के सही उत्तर पुस्तक के अन्त में क्रमवार दिये गये हैं।

प्रश्न सरल हैं और इनकी संख्या भी पर्याप्त है। अच्छा होता यदि विषय ज्ञान के लिये कुछ कठिन प्रश्नों का भी चयन किया जाता। कम्प्यूटर में गणित का विशेष स्थान है अतः कम्प्यूटर सम्बन्धित सरल गणित के प्रश्नों का भी होना आवश्यक होता है जो इस प्रकाशन में नहीं हैं।

पुस्तक का प्रस्तुतिकरण काफी अच्छा है। पुस्तक सजिल्द है। प्रिन्टिंग भी सुन्दर है। पुस्तक का दाम, अन्य पुस्तकों की तुलना में अधिक है। अंग्रेजी के शब्दों को देवनागरी में प्रतिलिपित किया गया है अतः पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न होती है। अच्छा होता यदि इन शब्दों को अंग्रेजी में साथ–साथ लिखा जाता। आशा है प्रथम प्रयास के बावजूद यह कृति विद्यार्थियों के लिये उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

प्रो० के.के. भूटानी
डाइरेक्टर, यू.पी.टेक
इलाहाबाद

विज्ञान लेखन के भविष्य पर गंभीर मंथन

इक्कीसवीं सदी में विज्ञान लखन का स्वरूप कैसा होगा, लेखकों को किन समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना होगा और विज्ञान समाज को किस दिशा में ले जायेगा इन सभी प्रश्नों का समाधान खोजने के लिये देश के विभिन्न भागों से आये हुये तीन दर्जन प्रतिभागियों ने विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा 3–4 नवम्बर को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी, इक्कीसवीं सदी में विज्ञान लेखन : चुनौतियाँ और संभावनाएँ में अपने विचार व्यक्त किये। इनके अतिरिक्त 2 दर्जन स्थानीय विज्ञान लेखकों ने भी संगोष्ठी में भाग लिया।

इस संगोष्ठी का आयोजन राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय, नई दिल्ली तथा उच्च एवं माध्यमिक शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली के उत्प्रेरण एवं समर्थन से किया गया।

संगोष्ठी का उद्घाटन सुप्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी गोरखपुर और इन्दौर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ0 देवेन्द्र शर्मा जी के कर कमलों से हुआ। इस अवसर पर डॉ0 शर्मा ने कहा कि, विज्ञान का परिदृश्य तेजी से बदल रहा है, ऐसे में भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन की महती आवश्यकता है और इसके लिये हमें अपनी वैज्ञानिक शब्दावली को समृद्ध करना भी जरूरी है। किसी भी भाषा के विकास के लिये यह महत्वपूर्ण है कि इसमें निरंतर नये शब्दों का समावेश होता रहे।

उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष तथा विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका के मुख्य सम्पादक डॉ0 चंद्रिका प्रसाद ने कहा कि विज्ञान लोकप्रियकरण की दिशा में हमने काफी प्रगति की है। विज्ञान की शिक्षा का माध्यम अब अंग्रेजी भाषा की जगह हिन्दी हो गई है।

इस अवसर पर राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् के प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी डॉ0 मनोज पटेरिया ने कहा कि शोध संस्थाओं में कार्य कर रहे वैज्ञानिकों की भाषा जनसामान्य की भाषा से भिन्न होती है जिसके कारण विज्ञान लेखकों की भूमिका आज अत्यंत महत्वपूर्ण है।

कार्यक्रम का आरम्भ डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल' द्वारा प्रस्तुत सरस्वती वन्दना से हुआ। मुख्य अतिथि तथा अध्यक्ष द्वारा सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण एवं दीप प्रज्ज्वलन के पश्चात् मंचासीन अतिथियों डॉ0 देवेन्द्र शर्मा, डॉ0 चन्द्रिका प्रसाद, डॉ0 के.बी. पाण्डेय, डॉ0 वी.डी. गुप्ता, डॉ0 एन.के. सान्याल, डॉ0 एम.डी. तिवारी, डॉ0 मनोज पटेरिया, डॉ0 एच.पी. तिवारी आदि का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया गया। तत्पश्चात् विज्ञान परिषद् प्रयाग के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने अतिथियों का स्वागत करते हुये संगोष्ठी के आयोजन के उद्देश्य पर प्रकाश डाला।

इस अवसर पर विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा डॉ0 कृष्ण बिहारी पाण्डेय, डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा, डॉ0 आर.सी. शर्मा, डॉ0 आर.एन. भार्गव तथा श्री रामेश्वर परिहार को 'विज्ञान पार्षद' की उपाधि से सम्मानित किया गया।

इसके अतिरिक्त डॉ0 डी.डी. ओझा तथा श्री राधाकान्त अंथवाल को 'विज्ञान प्रदीप' की उपाधि देकर सम्मानित किया गया।

कार्यक्रम के अंत में विज्ञान परिषद् प्रयाग के उप सभापति डॉ0 हनुमान प्रसाद तिवारी ने सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया। उद्घाटन समारोह का संचालन संगोष्ठी के संयोजक श्री प्रेमचंद्र श्रीवास्तव ने किया।

संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में वक्ताओं ने जिन विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये वे इस प्रकार हैं:–

1. विभिन्न भारतीय भाषाओं में लोकप्रिय विज्ञान लेखन का भविष्य।
2. विभिन्न वैज्ञानिक क्रांतियों का लोकप्रिय विज्ञान लेखन पर प्रभाव।
3. इक्कीसवीं सदी के लिये विज्ञान लेखकों की आवश्यकतायें
4. विभिन्न भारतीय भाषाओं के विज्ञान साहित्य का अन्य भाषाओं में अनुवाद।
5. विभिन्न विधाओं में विज्ञान लेखन।

संगोष्ठी के उद्घाटन के पश्चात् प्रथम सत्र की अध्यक्षता करते हुये इलाहाबाद और गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो0 वी.डी. गुप्ता (लखनऊ) ने जैव प्रौद्योगिकी के विस्तार तथा मानव क्लोनिंग के कारण उत्पन्न सामाजिक

समस्याओं के प्रति सजग रहने पर बल दिया। इस सत्र में जिन विद्वानों ने विचार व्यक्त किये वे इस प्रकार हैं– डॉ0 विनोद कुमार ललोरिया, डॉ0 दिनेश मणि, श्री दर्शनानन्द, डॉ0 प्रभाकर द्विवेदी, डॉ0 सुरेन्द्र नाथ, डॉ0 राजेश्वर प्रसाद (सभी इलाहाबाद), डॉ0 प्रिय कुमार चौबे, डॉ0 अरविंद मिश्रा (दोनों वाराणसी)। इस सत्र की रिपोर्टिंग डॉ0 हेमचन्द्र जोशी (नई दिल्ली) ने की।

द्वितीय सत्र की अध्यक्षता करते हुये 'विज्ञान प्रसार' नई दिल्ली के प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी डॉ0 सुबोध महन्ती ने विज्ञानसंचार के विभिन्न आयामों के बारे में बताते हुये अच्छी पुस्तकों की आवश्यकता बताई तथा विज्ञान लेखकों को समग्र दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया।

इस सत्र में डॉ0 राजीव रंजन उपाध्याय (फैजाबाद), रविन्द्र खरे (जबलपुर), डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा (गाजियाबाद), डॉ0 हेमचन्द्र जोशी (नई दिल्ली), श्री उमेश शुक्ला तथा देवव्रत द्विवेदी (इलाहाबाद) ने भी विचार प्रकट किये। इस सत्र की रिपोर्टिंग डॉ0 डी.डी. ओझा (जोधपुर) ने की।

दूसरे दिन तृतीय सत्र की अध्यक्षता करते हुये राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् नई दिल्ली के प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी डॉ0 मनोज पटेरिया ने कहा कि विज्ञान लोकप्रियकरण के लिये स्थानीय समस्याओं को स्थानीय स्तर पर उठाने की आवश्यकता है। विज्ञान संचार को अंतिम आदमी तक ले जाने के लिये सरल अभिव्यक्ति आज की जरूरत है।

इस सत्र में डॉ0 श्रवण कुमार तिवारी (वाराणसी), डॉ0 सुबोध महन्ती (नई दिल्ली), डॉ0 रामचन्द्र मिश्रा (मुंबई), डा रामहरि सिंह (नई दिल्ली), डॉ0 सुभाष चन्द्र लखेड़ा (नई दिल्ली), डॉ0 के.के. भूटानी, श्री विजय चितौरी, डॉ0 सुप्रभात मुकर्जी (सभी इलाहाबाद), मोहम्मद खलील (नई दिल्ली), श्री शुकदेव प्रसाद, श्री एम.पी. यादव, डॉ0 गोपाल पाण्डेय (सभी इलाहाबाद) ने अपने विचार प्रस्तुत किये। इस सत्र की रिपोर्टिंग श्री दर्शनानन्द ने की।

संगोष्ठी के अंतिम सत्र की अध्यक्षता श्री राधाकान्त अंथवाल (नई दिल्ली) ने तथा रिपोर्टिंग डॉ0 राम हरि सिंह (नई दिल्ली) ने की। इस सत्र में डॉ0 डी.डी. ओझा (जोधपुर), डॉ0 रजनीकांत (नई दिल्ली), डॉ0 आर.सी. शर्मा (जोधपुर), डॉ0 आर.एन. भार्गव (जोधपुर), कुमारी हेमलता पंत (इलाहाबाद), डॉ0 प्रभाशंकर शुक्ल (चित्रकूट), डॉ0 उमाशंकर मिश्र (चित्रकूट), मुहम्मद इशरत खान (इलाहाबाद), डॉ0 पवन सिरोठिया (चित्रकूट), डॉ0 पृथ्वीनाथ पाण्डेय, डॉ0 शीतलाप्रसाद वर्मा, श्री राजेन्द्र प्रसाद, प्रो0 आर.सी. गुप्ता (सभी इलाहाबाद) ने अपने विचार रखे।

समयाभाव के कारण जो प्रतिभागी अपनी बात न रख सके उनमें श्री सुनील कुमार पाण्डेय (संत कबीर नगर), श्री सत्यव्रत द्विवेदी (मिर्जापुर), श्री अनिल तिवारी (देवरिया), श्री शैलेन्द्र मिश्रा (फैजाबाद), डॉ0 ईश्वर चन्द शुक्ला, श्री प्रमोद मिश्र, श्री बलराम यादव तथा अन्य कई स्थानीय प्रतिभागी शामिल रहे।

संगोष्ठी के समापन समारोह में विज्ञान प्रसार नई दिल्ली के डॉ0 सुबोध महन्ती तथा राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् नई दिल्ली के डॉ0 मनोज पटेरिया ने अपने–अपने संगठनों की गतिविधियों तथा परियोजनाओं के बारे में विस्तार से चर्चा की। श्री सुभाष लखेड़ा (नई दिल्ली) ने संगोष्ठी की संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं जिनका सभी ने अनुमोदन किया।

अध्यक्ष डॉ0 देवेन्द्र शर्मा ने संगोष्ठी के सफल आयोजन हेतु विज्ञान परिषद् को बधाई दी तथा विज्ञान लेखकों का आह्वान किया कि इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ पिछली सदी से अलग और बढ़कर हैं जिनके लिये लेखकों को सजग रहना होगा। अन्त में विज्ञान परिषद् प्रयाग के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्रा ने सभी आगन्तुक अतिथियों को प्रति आभार व्यक्त किया। समापन समारोह का भी संचालन संगोष्ठी के संयोजक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया।

3 नवम्बर की रात्रि में सभी प्रतिभागियों के मनोरंजनार्थ एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन विज्ञान परिषद् सभागार में किया गया जिसमें जिला सूचना विभाग के युवा जादूगर नागेन्द्र प्रताप सिंह ने जादू का रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसकी सभी ने सराहना की।

इस संगोष्ठी के सफल आयोजन हेतु परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ0 शिवगोपाल मिश्र के कुशल मार्ग निर्देशन में परिषद् के जिन पदाधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं ने अथक परिश्रम किया, वे हैं– संगोष्ठी के संयोजक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, सह–संयोजक डॉ0 अशोक कुमार गुप्ता, डॉ0 सुनील कुमार पाण्डेय, सर्वश्री देवव्रत द्विवेदी, उमेश कुमार शुक्ल, प्रमोद कुमार मिश्रा, चन्द्रभान सिंह, एम.पी. यादव, शादाब खालिद, उमेश कुमार, बलराम यादव, नरेन्द्र कुमार सिंह यादव, रजनीश सिंह, राजाराम, पन्नालाल। ये सभी साधुवाद के पात्र हैं।

– देवव्रत द्विवेदी

विज्ञान परिषद् प्रयाग

सुप्रसिद्ध विज्ञान लेखक डॉ० विष्णु दत्त शर्मा

द्वारा अपने सुपुत्र

स्वर्गीय श्री प्रवीण कुमार शर्मा

की स्मृति में स्थापित

प्रथम प्रवीण स्मृति सूचना प्रौद्योगिकी पुरस्कार 2001 हेतु

सूचना प्रौद्योगिकी विषयक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकें

आमंत्रित करता है।

नियम :-

- ❑ प्रथम प्रवीण स्मृति सूचना प्रौद्योगिकी पुरस्कार हेतु वर्ष 2000 तथा 2001 में प्रकाशित पुस्तकें ही विचारार्थ स्वीकार होंगी।
- ❑ पुरस्कार की राशि रू0 5000.00 (पाँच हजार रूपये) होगी।
- ❑ पुरस्कार हेतु प्रविष्टियाँ भेजते समय पुस्तक की तीन प्रतियाँ तथा पुस्तक के मौलिक होने का प्रमाण पत्र संलग्न करना आवश्यक है।
- ❑ पुरस्कार का निर्णय विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा नियुक्त एक निर्णायक मण्डल द्वारा किया जायेगा। डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा निर्णायक मंडल के स्थायी सदस्य होंगे।
- ❑ पुरस्कार हेतु प्रविष्टियाँ 31 मार्च 2002 तक विज्ञान परिषद् प्रयाग के पास पहुँच जानी चाहिये।
- ❑ विज्ञान परिषद् प्रयाग से सम्बन्धित अधिकारी इस पुरस्कार हेतु नामांकन नहीं कर सकते।
- ❑ पुरस्कार के लिये पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागी पुरस्कार के लिये उपयुक्त नहीं समझे जायेंगे।

प्रविष्टियाँ निम्न पते पर भेजें-

प्रधानमंत्री

विज्ञान परिषद् प्रयाग

महर्षि दयानन्द मार्ग

इलाहाबाद-211 002 (उत्तर प्रदेश)

फोन 0532-460001